

अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद एवं ज्ञानसार के सन्दर्भ में

उपाध्याय यशोविजयजी का अध्यात्मवाद

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं (राज.)
(मान्यविश्वविद्यालय से पी-एच.डी. उपाधि हेतु स्वीकृत शोध प्रबन्ध)



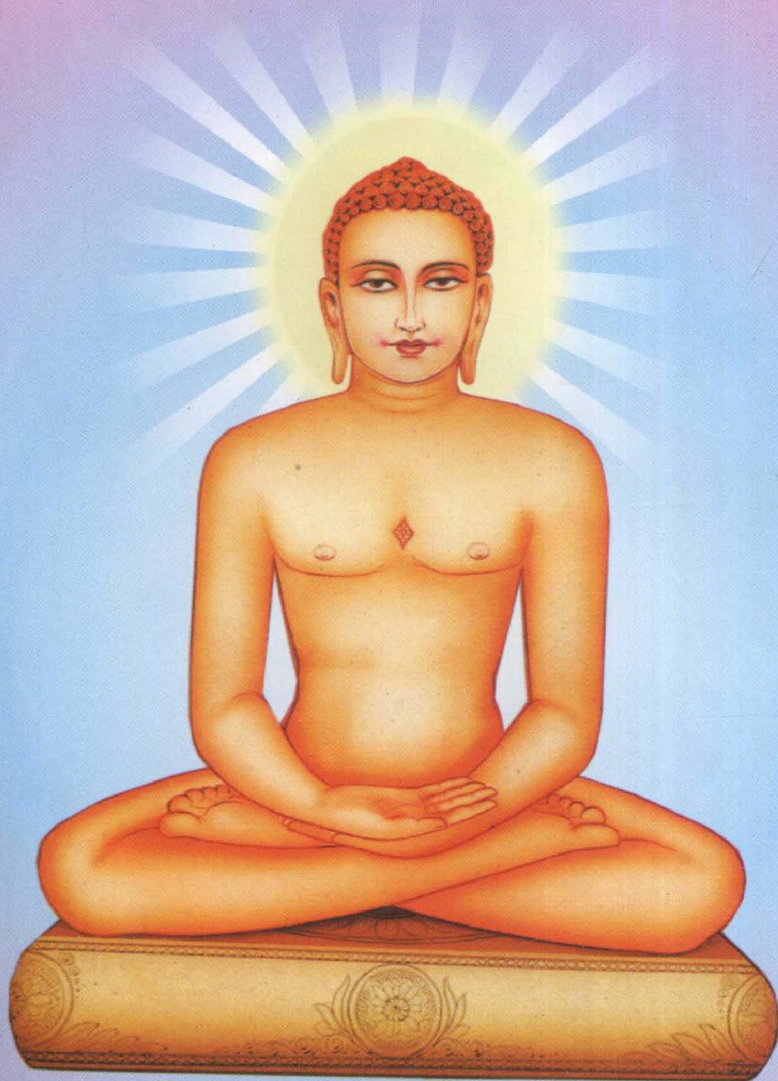
लेखिका

साध्वी (डॉ.) प्रीतिदर्शनाश्री

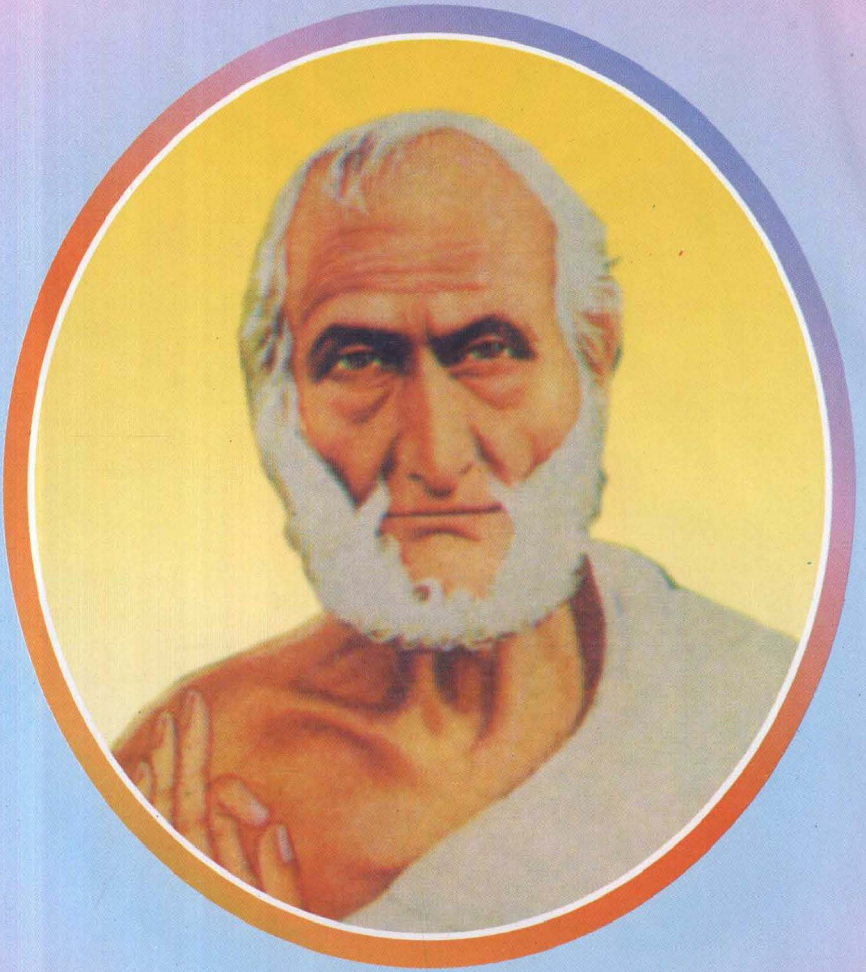
प्राच्यविद्यापीठ शाजापुर (म.प्र.)

पर उपलब्ध प्रकाशन

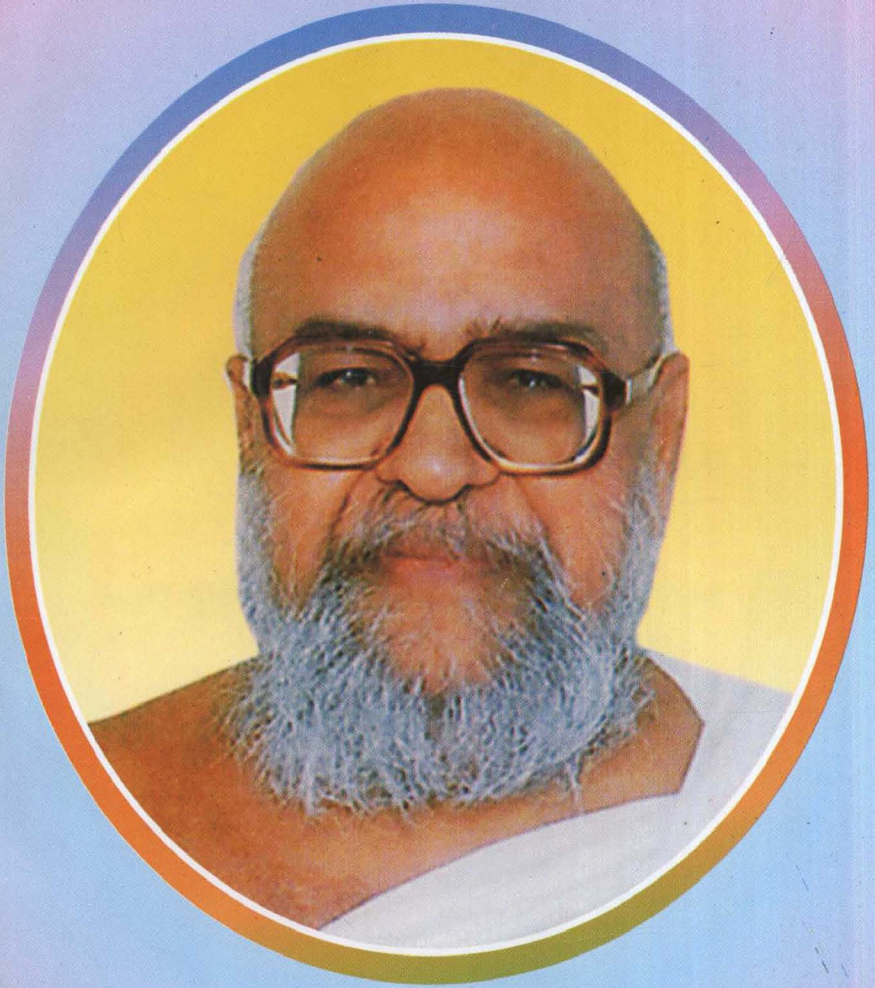
1. जैन दर्शन के नव तत्व
2. Peace and Religious Harmony
3. अहिंसा की प्रासंगिकता
4. जैन धर्म की ऐतिहासिक विकास यात्रा
5. जैन गृहस्थ के षोडशसंस्कार
6. जैन मुनि जीवन के विधि-विधान
7. अनुभूति एवं दर्शन
8. जैन विधि-विधानों के साहित्य का बृहद् इतिहास
9. प्रतिष्ठा, शान्तिक्कर्म, पौष्टिक कर्म एवं बलि विधान
10. प्रायश्चित्त, आवश्यक, तप एवं पदारोपण विधि
11. जैन दर्शन में समत्व योग
12. जैन दर्शन में त्रिविध आत्मा की अवधारणा
13. जैनधर्म में ध्यान की ऐतिहासिक विकास यात्रा
14. प्राकृत और संस्कृत जैन साहित्य में गुणस्थान की अवधारणा
15. उपदेश पुष्पमाला
16. सुक्तिरत्नावली
17. अध्यात्मसार
18. उपा. यशोविजयजी का अध्यात्मवाद
19. ऋषिभाषित का दार्शनिक अध्ययन
20. सागर जैन विद्या भारती भाग 1 से 7
21. जैन, बौद्ध और हिन्दू धर्म दर्शन के संदर्भ में भारतीय आचार शास्त्र - एक अध्ययन खण्ड 1 एवं 2



महावीर स्वामी



विश्वपूज्य श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.



आ. श्री विजय जयन्तसेन सूरिजी म.सा.



समत्व साधिका परम पूज्य महाप्रभाश्रीजी म. सा.

अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद एवं ज्ञानसार के सन्दर्भ में

उपाध्याय यशोविजयजी का अध्यात्मवाद

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं (राज.)

(मान्यविश्वविद्यालय से पी-एच.डी. उपाधि हेतु स्वीकृत शोध प्रबन्ध)

◆ दिव्य आशीर्वाद ◆

प.पू. गुरुदेव आचार्य श्रीमद्विजयराजेन्द्र सूरीश्वरजी म.सा.

◆ आशीर्वाद ◆

प.पू. राष्ट्रसंत गुरुदेव आचार्य श्रीमद्विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजी म.सा.

◆ दिव्य आशीर्वाद ◆

पू. गुरुवर्या सुसाध्वी दादीजी श्री महाप्रभाश्रीजी म.सा.

◆ आशीर्वाद ◆

मालवमणि पू. सुसाध्वीश्री स्वयंप्रभाश्रीजी म.सा.

◆ लेखिका ◆

साध्वी (डॉ.) प्रीतिदर्शनाश्री

◆ प्रकाशक ◆

श्री राजेन्द्र सुरि जैन शोध संस्थान

८७/२, विक्रम मार्ग, टॉवर चौक, एस.एम. कॉम्पलेक्स
फ्रीगंज, उज्जैन (म.प्र.)

अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद् एवं ज्ञानसार के सन्दर्भ में
उपाध्याय यशोविजयजी का अध्यात्मवाद

लेखिका -

साध्वी डॉ. प्रीतिदर्शनाश्री

शोध निर्देशक -

डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक -

श्री राजेन्द्र सूरि जैन शोध संस्थान

८७/२, विक्रम मार्ग, टॉवर चौक, एस.एम. कॉम्प्लेक्स, उज्जैन (म.प्र.)

प्राप्ति स्थान -

१. श्री राजराजेन्द्र तीर्थ दर्शन पब्लिक चेरिटेबल ट्रस्ट
श्री जयन्तसेन म्युजियम, श्री मोहनखेड़ा तीर्थ
मु.पो. राजगढ़, जिला-धार (म.प्र.)
२. श्री राजेन्द्र सूरि जैन ज्ञान मन्दिर
नयापुरा, उज्जैन (म.प्र.)
३. प्राच्य विद्यापीठ
दुपाड़ा रोड, शाजापुर (म.प्र.)

अवतरण -

चैत्र पूर्णिमा, वि.सं. २०६६

दिनांक ६ अप्रैल, २००६

सर्वाधिकार - प्रकाशकाधीन

मूल्य : रुपये २००/-

मुद्रक -

आकृति ऑफसेट

५, नईपेठ, उज्जैन (म.प्र.)

दूरभाष : ०७३४-२५६१७२०

मो. : ९८२७२-४२४८६, ९८२७६-७७७८०

Email : akratioffset@rediffmail.com

समर्पण

मेरी अनन्त आस्था के केन्द्र
मेरे संयमदाता, जीवन निर्माता
मेरे उज्ज्वल भविष्य के मार्गदर्शक
प्रशान्त गम्भीर, सरल एवं सहज स्वभावी
परमोपकारी परम पूज्य गुरुदेव
आचार्य श्रीमद् विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजी म.सा.
एवं
मुझे अज्ञानान्धकार से निकालकर
ज्ञानरूपी प्रकाश में लाने वाली
जिनकी अंगुली पकड़कर
मैंने संयम मार्ग पर चलना सीखा
जिनका अल्प सान्निध्य
मेरे स्मृतिकोश में धरोहर रूप सुरक्षित है
जिनका दिव्य आशीर्वाद
आज भी हर पल मेरा पथ प्रशस्त कर रहा है
उन सरल स्वभावी साध्वीरत्ना दादीजी म.
मम पू. गुरुवर्या सुसाध्वी श्री महाप्रभा श्रीजी म.सा.
के चरणों में
सविनय, सश्रद्धा, सभक्ति सादर समर्पित... ।

गुरु चरणोपासिका
साध्वी प्रीतिदर्शनाश्री

ममाशीर्वचनम्

परम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी की परम्परा में जितने भी आचार्य/मुनिराज हुए हैं, उनमें से अधिकांश ने अपनी साधना के साथ ज्ञानार्जन के क्षेत्र में भी कीर्तिमान स्थापित किये हैं। उन्होंने अपने अध्ययन मनन और चिन्तन से जो ज्ञान प्राप्त किया, उसे अपने तक सीमित न रखते हुए अपने प्रवचनों के माध्यम से जन-जन में वितरित किया है, साथ ही उसे पुस्तिका का स्वरूप प्रदान कर स्थायी रूप से जिज्ञासुओं के लिए उपलब्ध कराया। स्मरण रहे कि यदि ये आचार्य जिनवाणी आगम साहित्य के रूप में हमें उपलब्ध नहीं कराते तो आज इस ज्ञान-निधि से हम वंचित रहते।

जैनाचार्यों ने यद्यपि जैन विद्या के लगभग सभी पक्षों पर अधिकारपूर्वक लिखा है तथापि उनका मूलचिन्तन आत्मा से सम्बन्धित रहा है और आत्मा को केन्द्र में रखकर जो चिन्तन किया जाता है, वह अध्यात्म है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि जैनाचार्यों के चिन्तन का विषय मूल रूप से अध्यात्म ही रहा है। इतर विषयों पर तो उन्होंने स्वान्तः सुखाय अथवा जनता को जानकारी उपलब्ध करवाने के लिए लिखा। जैनाचार्यों द्वारा लिखित साहित्य आज हमारी अमूल्य धरोहर है।

इतना ही नहीं अनेक जैनाचार्यों ने विभिन्न राजा/महाराजाओं को प्रतिबोध देकर अपने-अपने राज्य में कुछ समय सीमा में आखेट आदि न करने के फरमान भी जारी करवाये, जो अहिंसा धर्म की स्थापना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। हमारी आचार्य परम्परा में प्रख्यात आचार्य श्री हीर विजय सूरिश्वरजी म.सा. हुए हैं, जिन्होंने मुगल सम्राट् अकबर को प्रतिबोध प्रदान किया था। इन्हीं आचार्यश्री की शिष्य परम्परा में मुनिश्री जयविजयजी म.सा. हुए हैं। इन्हीं मुनिश्री जयविजयजी म.सा. के सुशिष्यरत्न उपाध्याय श्री

यशोविजयजी म.सा. हुए हैं, जो अपने अध्यात्मपरक साहित्य के लिए प्रख्यात हैं। वैसे अध्यात्म पर अन्य अनेक आचार्यों ने लिखा है, किन्तु उपाध्याय श्री यशोविजय म.सा. ने जितना अधिकारपूर्वक लिखा उतना शायद किसी ने नहीं लिखा।

अध्यात्म विषय पर उपाध्याय श्री यशोविजय जी म.सा. के अनेक ग्रन्थ हैं। उनमें से अध्यात्मसार, अध्यत्मोपनिषद् एवं ज्ञानसार अधिक प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण हैं। ममाज्ञानुवर्तिनी सुसाध्वी श्री प्रीतिदर्शनाश्रीजी म. ने इन्हीं तीन ग्रन्थों के सन्दर्भ में उपाध्याय यशोविजय का अध्यात्मवाद विषय पर कठोर अध्ययनसामपूर्वक अनुसन्धानकर शोध ग्रन्थ लिखा और उस आधार पर जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूँ (राज.) ने साध्वीजी को पी-एच.डी. की उपाधि से अलंकृत किया है, जो हमारे लिये गौरव की बात है। इतना ही नहीं साध्वीजी ने अपने अनुसन्धान की अवधि में अध्यात्मसार ग्रन्थ का हिन्दी में विवेचना सहित अनुवाद कार्य भी किया है, जिसका प्रकाशन भी हो चुका है। यह हिन्दी अध्यात्मसार जिज्ञासुओं एवं स्वाध्याय प्रेमियों के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

साध्वीजी का प्रस्तुत शोध प्रबन्ध अध्यात्म रसिकों के लिए उपयोगी प्रमाणित होगा, ऐसा विश्वास है। साध्वीजी ने जिस लगन, निष्ठा, उत्साह एवं परिश्रमपूर्वक उक्त शोध प्रबन्ध तैयार किया, उसके लिए वे अभिनन्दन की पात्र हैं और इससे उनके उज्ज्वल भविष्य की प्रतीति होती है। यही अपेक्षा है कि उनकी लेखनी इसी प्रकार सतत् प्रवहमान बनी रहे और वे इसी प्रकार का लेखन करते हुए ग्रन्थ जन-जन के लिए उपलब्ध कराती रहें। इसी आशा और विश्वास के साथ मैं उनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ।

श्री राजेन्द्र नगर तीर्थ (नेल्लोर)
गुरु सप्तमी पर्व, २०६५
३ जनवरी, २००६

- आचार्य विजय जयन्तसेन सूरि

भूमिका

अध्यात्म का मार्ग ऐसा मार्ग है जो व्यक्तियों की मानसिक, वाचिक एवं कायिक प्रवृत्तियों का परिष्कार परिमार्जन और अन्ततः परिशोधन कर साधक को परम निर्मल शुद्ध परमात्मा स्वरूप तक पहुँचा देता है। जिसके हृदय में अध्यात्म प्रतिष्ठित है, उसके विचार निर्मल, वाणी निर्दोष और वर्तन निर्दम होता है। आध्यात्मिक जीवन शैली से ही जीवन में वास्तविक शांति एवं प्रसन्नता प्राप्त होती है। जो केवल भौतिक जीवन में अत्यन्त आसक्त रहते हुए आध्यात्मिक जीवन के आस्वादन से असंस्पृष्ट रहता है वह अधूरा है, अशांत है, दुःखी है।

आज भौतिक विकास की दृष्टि से मानव अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका है। विज्ञान ने अनेक सुख-सुविधाओं के साधन उपलब्ध करा दिए हैं। लेकिन सारे विश्व में अशांति ज्यों कि त्यों बनी हुई है। हिंसा और आतंक से पूरा विश्व सुलग रहा है। अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष, राष्ट्रीय संघर्ष, सामाजिक संघर्ष एवं पारिवारिक संघर्ष में निरन्तर वृद्धि हो रही है। शहरीकरण और औद्योगीकरण की अति के अनेक दुष्परिणाम सामने आ रहे हैं। विश्व के सामने समस्याओं का अंबार लगा हुआ है। जितनी सुख सुविधाएँ बढ़ रही हैं। उतनी ही अशांति तनाव व संघर्ष भी बढ़ रहे हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि (सर्वे कामा दुहावह) किसी भी वस्तु की कामना मनुष्य के मन में अशांति को उत्पन्न करती है। जितनी इच्छाएँ उतना दुःख आज व्यक्ति आवश्यकताओं के लिए नहीं इच्छाओं की पूर्ति के लिए दौड़ रहा है। आवश्यकता पूर्ति तो सीमित साधनों से भी हो जाती है, किंतु इच्छाओं की पूर्ति कभी नहीं होती है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त होती हैं। उनकी पूर्ति होना असंभव है। इच्छाओं के जाल में फँसकर आज व्यक्ति अपनी शांति, संतोष, सुख को भस्मीभूत कर रहा है। एक इच्छा पूरी होने पर दूसरी जागृत हो जाती है। और अशांति का प्रवाह निरंतर बना रहता है। उ. यशोविजय जी ने ज्ञानसार में बहुत मार्मिक बात कही है- “सरित्सहस्रदुष्पूरसमुद्रोदरसोदरःतृप्तिमानेन्द्रियग्रामो, भवतृप्तोऽन्तरात्मना”

हजारों नदियाँ सागर में गिरती हैं, फिर भी सागर कभी तृप्त नहीं हुआ, उसी प्रकार इन्द्रियों का स्वभाव भी अतृप्ति का है अल्पकाल के लिए क्षणिक तृप्ति

अवश्य होगी किन्तु क्षणिक तृप्ति की पहाड़ी में अतृप्ति का लावा रस बुदबुवाहट करता रहता है। आज मनुष्य भौतिक सुख सुविधाओं के बीच में भी अतृप्ति का अनुभव कर रहा है, क्योंकि वह आध्यात्मिक मूल्यों को भूल चुका है। सम्यक् समझ के अभाव में स्व को भूलकर शरीर के स्तर पर ही सारा जीवन केन्द्रित हो गया है। अधिकांश मनुष्यों का दृष्टिकोण पदार्थवादी हो गया है आध्यात्मिक मूल्यों का निरंतर ह्रास हो रहा है। वर्तमान में वर्धमान समस्याओं का समाधान तब ही हो सकता है कि जब व्यक्तियों को ठीक मार्गदर्शन मिले जिससे उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन आए, उनकी जीवन शैली में सुधार हो। यह मार्गदर्शन अध्यात्मज्ञान ही दे सकता है। आध्यात्मिक जीवनशैली ही व्यक्ति को अंशाति, हिंसा, क्रूरता, उपभोक्तावाद, भ्रष्टाचार, अनैतिकता, प्रदूषण आदि के खतरों से बचने के लिए संयम का सुरक्षा कवच प्रदान कर सकती है।

अध्यात्म के अभाव में सम्पूर्ण विद्या वैभव, विलास, विज्ञान शांति देने में समर्थ नहीं है। आज तनाव ग्रसित वातावरण में अध्यात्म की आवश्यकता महसूस की जा रही है। आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है। सुखप्रद, शांतिप्रद, कल्याणप्रद, संतोषप्रद जीवन व्यवहार हेतु अध्यात्म की आवश्यकता को देखते हुए डॉ. सागरमलजी जैन के निर्देशान में मैंने यह विनम्र प्रयास किया है। उपाध्याय यशोविजयजी द्वारा प्रस्तुत अध्यात्म के विभिन्न सिद्धान्तों के स्वरूप को प्रस्तुत करने हेतु इस शोध प्रबन्ध को 'नो अध्यायों' में विभाजित किया गया है।

प्रथम अध्याय उपाध्याय यशोविजयजी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से सम्बन्धित है। उपाध्याय यशोविजयजी विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में एक विद्वान एवं एक आध्यात्मिक संत के रूप में प्रसिद्ध हुए। उन्होंने धर्म, दर्शन, अध्यात्म, न्याय, योग आदि सभी पक्षों पर बहुत ही सूक्ष्मता से चिन्तन किया है। उनके जीवन के विषय में अनेक दंतकथाएँ एवं किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। इस अध्याय में उनके जीवन परिचय के साथ गुरुपरम्परा, विद्याभ्यास और उनकी साहित्यिक कृतियों का परिचय दिया है।

द्वितीय अध्याय में अध्यात्मवाद का अर्थ एवं स्वरूप पर प्रकाश डाला गया। इसके अन्तर्गत अध्यात्मवाद का व्युत्पत्ति परक अर्थ, अध्यात्मवाद का उपाध्याय यशोविजयजी द्वारा गृहीत सामान्य अर्थ, नैगम आदि सप्तनयों की अपेक्षा से अध्यात्म का स्वरूप चित्रित करते हुए अध्यात्म के अधिकारी कौन हो सकते हैं? इसका वर्णन किया है। अध्यात्म के विभिन्न स्तर बताए हैं। धर्म और अध्यात्म में क्या अंतर है ? धर्म और अध्यात्म किस भूमिका पर एक हो

जाते हैं? इस पर विवेचनात्मक चिंतन प्रस्तुत किया है। साथ ही भौतिक सुख और आध्यात्मिक सुख की तुलना करते हुए आध्यात्मिक सुख की श्रेष्ठता को सिद्ध किया है। भौतिक जीवन दृष्टि के स्थान पर आध्यात्मिक जीवन दृष्टि के माध्यम से ही विश्व में सुख शांति की उपलब्धि हो सकती है, इस बात पर विशेष बल दिया है।

तृतीय अध्याय में अध्यात्मवाद के तात्त्विक आधार आत्मा के स्वरूप पर चिंतन किया गया है। आत्मा के स्वरूप की चर्चा करते हुए उसकी अवधारणा प्रकार, आत्मा के कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व, स्वभावदशा एवं विभावदशा, तथा अंत में अनंतचतुष्टय का वर्णन किया। जैनधर्म विशुद्धरूप से आध्यात्मिक धर्म है उनका प्रारंभिक बिन्दु है आत्मा का संज्ञान और उसका चरम बिन्दु है अत्मोपलब्धि आत्मा को जानने के बाद कुछ जानने योग्य बाकी नहीं रहता है परंतु जिसने इस आत्मा को नहीं जाना उसका वस्तुगत ज्ञान निरर्थक है, यह विचार इस अध्याय में प्रस्तुत किया है।

चतुर्थ अध्याय में अध्यात्मवाद में साधक, साध्य और साधना मार्ग का परस्पर संबंध बताया गया है। साधक जीवात्मा और साध्य परमात्मा के स्वरूप पर चिंतन करते हुए जीव जिन साधनों द्वारा अपने आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है उन साधनों की चर्चा तथा उनका आत्मा से एकत्व किस प्रकार है अर्थात् साधक और साध्य भिन्न-भिन्न है या अभिन्न आदि प्रश्नों पर विशद विवेचना प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। साथ ही उपाध्याय यशोविजय जी की दृष्टि में योगचतुष्टय-शास्त्रयोग, ज्ञानयोग, क्रियायोग, और साम्ययोग की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है।

पंचम अध्याय ज्ञानयोग की साधना से संबंधित है। इसके अंतर्गत ज्ञान के विभिन्न स्तर एवं प्रकार, शास्त्रज्ञान और आत्मानुभूति में अन्तर पदार्थज्ञान और आत्मज्ञान, आत्मज्ञान की श्रेष्ठता का प्रश्न, ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का भेदाभेद, अध्यात्म के क्षेत्र में अनेकान्त दृष्टि का स्थान तथा साम्प्रदायिक राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय एवं पारिवारिक संघर्षों की समाप्ति में अनेकान्तवाद की व्यापकता पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है।

षष्ठम अध्याय में क्रियायोग की साधना पर विवेचना प्रस्तुत की है। अनादिकाल से जीव को स्वच्छंदाचार पसंद है। इसलिए जीवन को ज्ञान की बात मीठी लगती है और क्रिया की बात कड़वी लगती है। उपाध्याय यशोविजयजी की

दृष्टि में जो व्यक्ति मात्र ज्ञान से मोक्ष प्राप्त करने की बात करते हैं, वे मुख में कवल डाले बिना ही तृप्ति की आकांक्षा करते हैं। क्रियायोग की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए छः आवश्यकों का वर्णन किया गया है। साथ ही शुद्ध क्रिया और अशुद्ध क्रिया, शुभ व्यवहार अशुभ व्यवहार ज्ञान होने पर क्रिया की आवश्यकता, क्रियायोग का प्रयोजन, ज्ञान का परिपाक क्रिया में, क्रियायोग की साधना विधि, क्रिया का परिपाक असंग अनुष्ठान में आदि बिन्दुओं पर गहन चिंतन प्रस्तुत किया है।

सप्तम अध्याय में साम्ययोग की साधना का वर्णन करते हुए साम्ययोग का स्वरूप, समत्व आत्मस्वभाव, विषमता के कारण, ममता के विभिन्न रूप, राग-द्वेष और कषाय, समता के तीन स्तरः-सम, संवेग निर्वेद, समता और मध्यस्थभाव साम्ययोग और सामायिक, ज्ञानयोग भक्तियोग और क्रियायोग का साम्य में समन्वय, योग साधना के परिणाम-सुख भ्रांति का निराकरण कषायों का क्षय, अनाग्रह दृष्टि का विकास, साक्षी भाव का विकास, ज्ञानाहंकार का विलय आदि विषयों पर विस्तार से चर्चा की है।

अष्टम अध्याय आत्मा के आध्यात्मिक विकास से संबंधित है। आत्मा ही परमात्मा है किंतु जीव अपने परमात्मा स्वरूप को भूल कर मोह और अज्ञान के अधीन हो संसार के सुखों में मग्न है। अतः भ्रम जाल रूपी सांसारिक सुखों से प्रीति कम करके अनंत ज्ञानादि आत्मीय गुणों पर प्रीति बढ़े तथा आत्मा परमात्मपद की सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त करे इस लक्ष्य से आत्मा की तीन अवस्थाओं का चित्रण तथा चौदह गुणस्थान की अवधारणा उनका स्वरूप, गुणस्थान के आधार पर आध्यात्मिक विकास का क्रम तथा चौदह गुणस्थानों का त्रिविध आत्मा से सम्बन्ध आदि पर विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

नवम अध्याय उपसंहार के रूप में है। इसके अंतर्गत आधुनिक वैश्विक समस्याओं के निराकरण में अध्यात्मवाद का क्या अवदान है? विश्व शांति के लिए अध्यात्मवाद की क्या उपयोगिता है? इन प्रश्नों के समाधान खोजने का प्रयास किया गया है। विश्व की वर्तमान स्थिति पर दृष्टिपात करें तो हम पायेंगे कि आज पूरा विश्व अनेक समस्याओं से जूझ रहा है, हमने निम्नलिखित समस्याओं पर प्रकाश डालते हुए उनका अध्यात्मवाद से समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। उपभोक्तावादी संस्कृति का विकास उसके दुष्परिणाम, बढ़ता हुआ प्रदूषण शस्त्रों की प्रतिस्पर्धा, युद्ध का उन्माद, मानसिक तनाव, अपराधों की वृद्धि नशाखोरी, सम्प्रदायवाद, अध्यात्मविहीन राजनीति आदि।

आध्यात्मिक जीवन शैली अशांत से शांत, नीरस से सरस, दुःखद से सुखद, अपूर्ण से संपूर्ण तथा बिन्दु से सिन्धु बन जाने का चमत्कारी उपक्रम है।

इस महत्प्रयास में विषय निर्वाचन की प्रारम्भिक अवस्था से लेकर शोध के मुद्रण के अंतिम पड़ाव तक विभिन्न प्रकार की समस्याओं को सुलझाने में और इस शोध कार्य का कुशलता पूर्वक निर्देशन करने में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त, आगम मर्मज्ञ मूर्धन्य विद्वान डॉ. सागरमलजी जैन का आत्मीय सहयोग विस्मरण नहीं किया जा सकता है। उनके कुशल मार्गदर्शन के बिना कृति का पूर्ण होना अंशभव था। उन्होंने शोध विषय को अधिकाधिक प्रासंगिक एवं उपादेय बनाने हेतु सतत मार्गदर्शन दिया। 'सादा जीवन उच्च विचार उक्ति को जीवन में चरितार्थ करते हुए डॉ. सागरमलजी जैन ने एक आदर्श स्थापित किया है। उन्होंने निरंतर हमारे आत्मबल और उत्साह को बढ़ाया है।

मेरे परमआराध्य, चारित्रचूड़ामणि, प्रातःस्मरणीय, विश्वपूज्य राजेन्द्रसूरीश्वरजी गुरुदेव के चरणों में अनन्तशः वन्दना करती हूँ जिन की अदृश्य कृपादृष्टि निरन्तर बरसती रही और मेरे इस कार्य को निरंतर ऊर्जा प्रदान करती रही। मेरा अपना कोई सामर्थ्य नहीं था कि मैं इस कार्य को पूर्ण कर सकती परंतु कोई दिव्य शक्ति मुझे सदैव प्रेरित करती रही। वह दिव्य शक्ति और कोई नहीं मेरी गुरुदेव के प्रति अनंतश्रद्धा का ही प्रतिफल है। बहुमुखी प्रतिभा के धनी, मेरी अनंत आस्था के केन्द्र, मेरी जीवन धारा के दिशा निर्णायक, संयमप्रदाता राष्ट्रसंत आचार्य सम्राट प.पू. जयंतसेनसूरीश्वरजी ने प्रारंभ में ही गुरु गंभीर आशीर्वादों से मुझे आप्लावित किया और कार्यान्त तक उनकी सतत बरसती कृपा वृष्टि के कारण मुझे बल मिलता रहा। मैं उनकी सदा सदा के लिए ऋणी हूँ। साथ ही विश्वास रखती हूँ कि भविष्य में भी आपश्री की कृपा दृष्टि मेरे संयमपथ को सदैव प्रशस्त करती रहेगी। गुरुदेव के प्रति मेरे मन में कृतज्ञता के जितने भाव हैं, अभिव्यक्ति के लिए उतने शब्द नहीं है। उनके असीम उपकार को सीमित शब्दों से अभिव्यक्त कर सीमित करना नहीं चाहती। मैं शत-शत वंदना के संग उनके चरणों में श्रद्धा के सुमन समर्पित करती हूँ।

मेरे जन्म जन्म के संचित पुण्य का फल, मेरी आराध्या पूज्य गुरुवर्या सरल स्वभाविनी पू. महाप्रभाश्री सा. के चरणों में मेरी अनंत वंदना जिनकी दिव्यकृपा व तेजस्वी शक्ति से मुझे शोध कार्य निष्पादन की पात्रता प्राप्त हुई।

परम पूज्या गुरुवर्याद्वय डॉ. प्रियदर्शनाश्रीजी एवं डॉ. सुदर्शनाश्रीजी म. के चरणों में कोटि कोटि वन्दना करती हूँ। जिनके आशीर्वाद ने मुझे सदैव पुरुषार्थ के लिए प्रेरित किया है। मेरी गुरुवर्याद्वय ने भी डॉ. सागरमलजी जैन के निर्देश में ही आज से पच्चीस वर्ष पूर्व शोधकार्य सम्पन्न किया था।

मेरी सृजन यात्रा में जिन्होंने सतत अनुग्रह आशीर्वाद बरसाया उन पूज्या वात्सल्यनिर्झरा, मालवमणि स्वयंप्रभाश्रीजी एवं मम जीवनोपकारी सरल स्वभावी, मातृवत्सला, प. पूज्या कनकप्रभाश्री जी म. के चरणारविन्दों में मैं अहोभावपूर्वक नतमस्तक हूँ। उनके आभार ज्ञापन हेतु मेरी लेखनी असमर्थ है। उनके स्नेहिल सहयोगपूर्ण क्षणों को अनेक जन्मों तक अपने हृदयकोश में सन्वित रख कर ही मेरे मन को आनंद मिलेगा। इस मंगल अवसर पर प. पू. दर्शितगुणा श्री जी म. को भी नहीं भूल सकती, जिन्होंने अध्ययन हेतु सदैव मुझे प्रेरित किया।

मेरी दीक्षा के पूर्व से परिचित, प्रतिभासम्पन्न प. पू. विनीतप्रज्ञाश्रीजी (खरतरगच्छ) को भी इस अवसर पर याद करना आवश्यक समझती हूँ, और शत-शत वंदना प्रेषित करती हूँ, जिन्होंने एम. ए. परीक्षा के अध्ययन के समय आत्मीय सहयोग दिया। उनका यह सहयोग स्मृति के धरातल पर सदैव जीवित रहेगा। पू. स्नेहसरिता अमिझराश्रीजी को कोटिशः वंदन के संग हृदय के उद्गारों को कृतज्ञता रूप में ज्ञापित करती हूँ, जिनके प्रेरणास्पद पत्र मुझे अध्ययन हेतु सदैव जाग्रत करते रहे।

ज्ञानपिपासु अध्ययनरता स्नेह सिक्ता अनुजा रुचिदर्शनाश्रीजी जिनके अनुसंधान कार्य में निरन्तर विनयान्वित सेवाएं रही। सर्वथा स्तुत्य है। मैं उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करके उनकी सेवाओं का अवमूल्यन करना नहीं चाहती। भविष्य में भी उनकी विनययुक्त सेवाभावना सदैव बनी रहे यही मंगल कामना करती हूँ।

जब शोधप्रबंध का कार्य चल रहा था उस समय विद्यापीठ में पं. पू. हर्षयशा श्री जी म.सा., पू. सौम्यगुणा श्री जी आदि ठाणा ५ यहाँ विराजमान थे। जिनका अनिर्वचनीय सहयोग सम्प्राप्त हुआ। दीक्षार्थी सोनाली और उनका श्रद्धा समर्पण एवं समय-समय पर दिया गया अपूर्व सहयोग कभी विस्मरण नहीं कर सकती। मैं उन सभी महापुरुषों, जैन-जैनेतर ग्रंथकारों, विचारकों, लेखकों, गुरुजनों के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापन करती हूँ जिनके द्वारा रचित ग्रंथों का अध्ययन चिंतन मनन अनुशीलन कर मैंने उनसे प्राप्त ज्ञान के सुधाकणों को

बटोरते हुए अपने शोधपादप का सिंचन किया, मैं हृदय से आदरपूर्वक उनका स्मरण करती हूँ।

श्री चेतनजी सोनी, व्याख्याता, उ.मा. वि., शाजापुर के प्रति भी अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ, जिन्होंने प्रूफ रिडिंग कर त्रुटियों को सुधारने में सहयोग प्रदान किया।

मैं हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ, जैन विद्या तथा वाङ्मय की सेवा के लिए प्रख्यात साहित्यकार डॉ. तेजसिंहजी गौड़ के प्रति जिन्होंने सर्वप्रथम मुझे शोधकार्य हेतु प्रेरित किया। सांसारिक पिता श्री रमेशचन्द्रजी और एवं माता श्री प्रेमलता और के प्रति हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ, जिन्होंने बचपन से ही मुझे आध्यात्मिक संस्कारों से आप्लावित किया। जिनका जीवन मेरे लिए हमेशा प्रेरणास्पद बना। शोधकार्य के लिए भी उनका अनिर्वचनीय प्रेरणा व सहयोग रहा।

प्रकाशचन्द्र गादिया, राजमलजी चत्तर, प्रकाशचन्द्र रूनवाल, विनयकुमारजी डोशी, संजय और एवं सांकला परिवार आदि श्रद्धाशील व्यक्तियों का पूर्णतः सहयोग प्राप्त हुआ है, अतः मैं उनकी आभारी हूँ। पंकज रूनवाल, डॉ. दिपाली रूनवाल, श्रीमती चन्द्रकान्ता गादिया आदि का पुस्तकें उपलब्ध करवाने में महत्त्वपूर्ण सहयोग रहा, मैं उनके भी प्रति आभार व्यक्त करती हूँ। प्राच्य विद्यापीठ के एक स्तम्भ प्रो. राजेन्द्रकुमार जैन के आत्मीय सहयोग को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता है।

जालोर त्रिस्तुतिक संघ, बड़नगर श्रीसंघ, मोदरा श्रीसंघ, धाणसा श्रीसंघ, एवं भीनमाल एवं शाजापुर श्रीसंघ के प्रति भी आभार व्यक्त करती हूँ। जिन्होंने अध्ययन हेतु सदैव सहयोग एवं प्रेरणाएँ दी है।

प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर में उपलब्ध आवास-निवास पुस्तकालय आदि की सभी सुविधाएँ इस शोधकार्य में सहायभूत रही है। टंकण कार्य में विनय भट्ट का सहयोग भी विस्मृत नहीं किया जा सकता है। अतः उनके प्रति भी आभार।

साध्वी प्रीतिदर्शना

अनुक्रमणिका

(i)	समर्पण	३
(ii)	ममाशीर्वचनम : आचार्य श्री विजय जयन्तसेन सूरि	५
(iii)	भूमिका : साध्वी प्रीतिदर्शनाश्री	७
प्रथम अध्याय :		
	उपाध्याय यशोविजयजी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व	१६
१.	उपाध्याय यशोविजयजी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व	१६
२.	गृहस्थ जीवन :	२०
३.	मुनि जीवन :	२६
४.	जिनशासन की प्रभावना : मोहब्बत खान के समक्ष अठारह अवधान का प्रयोग	२८
५.	उपाध्याय पद की प्राप्ति	२८
६.	उपाध्याय यशोविजयजी की विद्वत्ता से खंभात के पंडितों का परिचय	२६
७.	कालधर्म	३०
८.	यशोविजयजी के व्यक्तित्व के विशिष्ट गुण :	३०
९.	साहित्य-साधना :	५१

द्वितीय अध्याय :

	अध्यात्मवाद का अर्थ एवं स्वरूप	५३
१.	अध्यात्मवाद का व्युत्पत्तिपरक अर्थ	५३
२.	अध्यात्मवाद का उपाध्याय यशोविजयजी द्वारा गृहीत सामान्य अर्थ	५५
३.	नैगम आदि सप्त नयों की अपेक्षा से अध्यात्म का स्वरूप	५७
४.	निश्चय अध्यात्म तथा व्यवहार अध्यात्म का स्वरूप	६५
५.	अध्यात्म का स्वरूप	६५
६.	अध्यात्म के अधिकारी	६६
७.	अध्यात्म के विभिन्न स्तर	७३
८.	धर्म और अध्यात्म	७६
९.	भौतिकसुख और अध्यात्म	७६

तृतीय अध्याय :

अध्यात्म का तात्त्विक आधार-आत्मा	८५
१. आत्मा की अवधारणा और उनका स्वरूप	८५
२. आत्मा (जीवों) के प्रकार	१०६
३. आत्मा के कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व	११५
४. स्वभाव एवं विभाव दशा	१२१
५. अनन्त चतुष्टय	१२५

चतुर्थ अध्याय :

अध्यात्मवाद में साधक, साध्य और साधन

मार्ग का परस्पर सम्बन्ध	१३१
१. साधक जीवात्मा का स्वरूप	१३१
२. साध्य परमात्मा का स्वरूप	१३६
३. साधनों का आत्मा से एकत्व	१४१
४. साधना-मार्ग का वैविध्य एवं उनके एकत्व का प्रश्न	१४५
५. यशोविजयजी की दृष्टि में योगचतुष्टय	१४६

पंचम अध्याय :

ज्ञानयोग की साधना	१६७
१. ज्ञान के विभिन्न स्तर एवं प्रकार	१६७
२. शास्त्रज्ञान और आत्मानुभूति में अन्तर	१७७
३. ध्यान और ज्ञान योग में अन्तर	१८२
४. पदार्थज्ञान और आत्मज्ञान	१८८
५. आत्मज्ञान की श्रेष्ठता का प्रश्न	१९१
६. ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान का भेदाभेद	१९४
७. अध्यात्म के क्षेत्र में अनेकान्तदृष्टि का स्थान	१९६
८. एकान्तवाद की समीक्षा और अनेकान्त की व्यापकता	२०४
९. आग्रहमुक्ति के लिए अनेकान्तदृष्टि की अपरिहार्यता	२१५

षष्ठ अध्याय :

क्रियायोग की साधना	२२३
१. क्रियायोग का स्वरूप	२२३
२. शुद्ध क्रिया और अशुद्ध क्रिया	२३१
३. शुभ व्यवहार और अशुभ व्यवहार	२४०
४. ज्ञान होने पर भी क्रिया की आवश्यकता	२४६
५. क्रियायोग का प्रयोजन	२५६
६. ज्ञान का परिपाक क्रिया में	२६०
७. क्रियायोग की साधना-विधि	२६५

सप्तम अध्याय :

साम्ययोग की साधना	२६४
१. साम्ययोग का स्वरूप	२६४
२. समत्व आत्मस्वभाव	२६८
३. विषमता के कारण	३०२
४. ममता के विभिन्न रूप	३१४
५. रागद्वेष और कषाय	३१६
६. समता के तीन स्तर-सम, संवेग, निर्वेद	३२१
७. समता और माध्यस्थभाव	३२६
८. साम्ययोग और सामायिक	३२८
९. ज्ञानयोग, भक्तियोग और क्रियायोग का साम्य में समन्वय	३३०
१०. योग की साधना के परिणाम	३३२

अष्टम अध्याय :

आत्मा की आध्यात्मिक-विकास-यात्रा	३३८
१. त्रिविधआत्मा : बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा	३३८
२. बहिरात्मा का स्वरूप	३४१
३. अन्तरात्मा का स्वरूप	३५२
४. परमात्मा का स्वरूप	३६६
५. गुणस्थानक की अवधारणा और आध्यात्मिक-विकास	३७४
७. गुणस्थानकों के आधार पर आध्यात्मिक-विकास का क्रम	३८८
८. चौदह गुणस्थानकों का त्रिविधआत्मा से सम्बन्ध	३९६

नवम अध्याय :

उपसंहार - आधुनिक वैश्विक समस्याओं के निराकरण में अध्यात्मवाद का अवदान	३९६
१. भोगवादी दृष्टिकोण एक जटिल समस्या	४०१
२. मानसिक तनाव के कारण एवं निराकरण	४०५
३. विभिन्न बीमारियों के कारण उत्पन्न समस्या एवं हल	४११
४. अपराध और नशा एक भीषण समस्या एवं निराकरण	४१४
५. विश्वव्यापी पर्यावरण प्रदूषण की समस्या एवं निराकरण	४२०
६. शस्त्रों की प्रतिस्पर्धा एक भयानक समस्या	४२३
७. अध्यात्मविहीन राजनीति से उत्पन्न कठिनाइयाँ एवं हल	४२६
८. बढ़ता हुआ भ्रष्टाचार एक भीषण समस्या	४३२
९. सम्प्रदायवाद की समस्या एवं निराकरण	४३५
१०. स्त्री-पुरुष की समानता की मांग की समस्या।	४४०

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची	४४६
----------------------------	------------

प्रथम अध्याय

उपाध्याय यशोविजयजी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

जैसे आकाश के असंख्य तारे अपनी आभा निरन्तर बिखेरते हैं, वैसे ही भगवान महावीर की परम्परा के अनेक विद्वान आचार्यों एवं श्रमणों की कृतियों की आभा से भारतीय ज्ञानाकाश आभासित है। इन ज्ञानसाधकों के समूह में आचार्य कुन्दकुन्द आचार्य हरिभद्र और आचार्य हेमचन्द्र आदि ऐसे व्यक्तित्व हैं, जिन्हें जैन साहित्याकाश के सूर्य-चन्द्र की संज्ञा दी जा सकती है। उपाध्याय यशोविजयजी भी ऐसे ही अनुपम मनीषी थे। उन्हें हरिभद्रसूरि तथा हेमचन्द्राचार्य की परम्परा का अंतिम बहुमुखी प्रतिभावान विद्वान् माना जाता है।

यशोविजयजी ने अपना समस्त जीवन विविध शास्त्रों के अध्ययन, चिन्तन और सृजन में लगा दिया। यशोविजयजी ने अनेक विषयों पर अपनी कलम चलाई। उनकी व्यापक दृष्टि जैनदर्शन की चर्चा तक ही सीमित नहीं रही, अन्य दर्शनों की चर्चा भी उन्होंने उतने ही आधिकारिक रूप से की है। यशोविजयजी ने अपने अध्ययनकाल में पारम्परिक अध्ययन के साथ उस समय अन्य परम्पराओं में प्रचलित नवीन न्याय का गहन अध्ययन भी किया था। इसके फलस्वरूप उन्होंने जैनदर्शन का तर्क तथा नव्यन्याय पर आधारित जितना प्रभावी विश्लेषण तथा प्रतिपादन किया उतना न तो उनके पूर्ववर्ती जैन आचार्यों ने किया और न ही परवर्ती कोई आचार्य ही कर पाया है।

योग-विद्या विषयक उनकी दृष्टि इतनी विशाल थी कि वे अपने अध्ययन को अपने सम्प्रदाय के ग्रन्थों तक सीमित नहीं रख सके। अतएव उन्होंने पातंजल योगसूत्र पर भी अपना विवेचन लिखा। इसी प्रकार दिगम्बर परम्परा के सूक्ष्मप्रज्ञा विद्यानन्द के कठिनतम ग्रन्थ अष्टसहस्री पर व्याख्या भी लिखी।

यशोविजयजी जैनशासन के उन परम प्रभावक महापुरुषों में अन्तिम थे जिनके द्वारा कथित अथवा लिखित शब्द प्रमाणस्वरूप माना जाता है।

ये युगप्रवर्तक महापुरुष थे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। पण्डित सुखलालजी के इस मंतव्य में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि इस क्रान्तिकारी

महापुरुष का स्थान जैन परम्परा में ठीक वही है जो वैदिक परम्परा में जगद्गुरु शंकराचार्य का है।

सर्वप्रथम हम उनके जीवन और व्यक्तित्व को प्रस्तुत करेंगे। उसके बाद उनके बहुआयामी कृतित्व का समीक्षात्मक विवरण दिया जाएगा।

गृहस्थ जीवन

प्राचीन साहित्यकार एवं विद्वान्, यशप्राप्ति की आकांक्षा से निर्लिप्त रहते हुए स्वान्तः सुखाय और लोक कल्याण की भावना से ही साहित्य सृजन करते थे। फलतः उनकी रचनाओं में प्रायः उनके जीवन सम्बन्धी तथ्यों के उल्लेख का अभाव है। अतः शोधकर्त्ताओं के लिए उनके जीवनवृत्त की जानकारी प्राप्त करना दुष्कर कार्य होता है। उपाध्याय यशोविजयजी भी इसके अपवाद नहीं हैं। यशोविजयजी के सम्बन्ध में उनके समकालीन मुनियों ने जो उल्लेख किए हैं, उनके द्वारा जो कुछ जानकारी प्राप्त होती है, वही हमारे विवरण का आधार है।

जन्म-समय -

उपाध्याय यशोविजयजी के जन्म वर्ष की विचारणा के लिए परस्पर भिन्न ऐसे दो अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रमाण हैं, किन्तु इनके मन्तव्य भिन्न-भिन्न होने के कारण निश्चयात्मक रूप से कुछ कह पाना संभव नहीं है।

- (१) वि. सं. १६६३ में वस्त्र पर आलेखित मेरुपर्वत का चित्रपट।
- (२) यशोविजयजी के समकालीन मुनि कांतिविजयजी कृत 'सुजसवेलीभास' नामक रचना।

विक्रम संवत् १६६३ में यशोविजयजी के गुरु नयविजयजी ने स्वयं वस्त्रपट पर मेरुपर्वत का आलेखन किया था। यह चित्रपट आज दिन तक सुरक्षित है। इसकी पुष्पिका में दी गई जानकारी के अनुसार नयविजयजी ने आचार्य विजयसेनसुरि के कणसागर नामक गाँव में रहकर सं. १६६३ में स्वयं के शिष्य जसविजयजी (यशविजयजी) के लिए इस पट का आलेखन किया। पुष्पिका में लिखे अनुसार कल्याणविजयजी के शिष्य नयविजयजी उस समय गणि और पंन्यास के पद पर थे, किन्तु जिसके लिए यह पट बनाया, उन यशोविजयजी का भी उसमें 'गणि' तरीके से उल्लेख है।

अब इस चित्रपट के अनुसार विचार करें, तो १६६३ में यशोविजयजी गणि थे। सामान्यतया दीक्षा के कम से कम दस वर्ष बाद ही गणि पद देने में आता है। (अपवादरूप प्रसंग में इससे कम वर्ष में भी गणिपद देते हैं।) उसके अनुसार सं. १६६३ में यशोविजयजी को गणिपद से सुशोभित किया हो, तो सं. १६५३ के आसपास उनकी दीक्षा हुई होगी, यह मान सकते हैं। अगर यह बाल दीक्षित हो और दीक्षा के समय इनकी उम्र आठ वर्ष के लगभग की हो तो संवत् १६४५ के आसपास इनका जन्म हुआ होगा, इस प्रकार मान सकते हैं।

इनका स्वर्गवास सं. १७४३-४४ में हुआ था। अतः संवत् १६४५ से संवत् १७४४ तक का लगभग सौ वर्ष का आयुष्य इनका होगा ऐसा पट के आधार पर मान सकते हैं।

सुजसवेलीभास' के अनुसार सं. १६८८ में नयविजयजी कनोडु पधारे थे और इसी वर्ष यशोविजयजी की बड़ी दीक्षा पाटण में हुई।

संवत् सोल अठ्यासियेजी रही कुणगिरि चौमासी
श्री नयविजय पंडितवरुजी आव्या कन्होडे उल्लासि
“विजयदेव गुरु हाथनीजी बड़ी दीक्षा हुई खास
संवत् सोल अठ्यासियेजी करता योग अभ्यास”

दीक्षा और बड़ी दीक्षा एक ही वर्ष में संवत् १६८८ में दी गई और दीक्षा के समय इनकी उम्र कम थी, यह सुजसवेलीभास के आधार पर पता चलता है। उसमें कहा गया है -

‘लघुता पण बुद्धि आगलोजी नामे कुंवर जसवंत’

इस पंक्ति से मालूम होता है, कि दीक्षा के समय इनकी उम्र ८-९ वर्ष की होना चाहिए तो इस आधार पर इनका जन्म १६७९-८० में होना चाहिए। इनका स्वर्गवास डभोई में सं. १७४३-४४ में हुआ था। इस तरह इनका आयुष्य ६४-६५ वर्ष का होगा, यह मानना पड़ेगा।

चित्रपट के आधार पर १६४५-४६ के आसपास इनका जन्म होना चाहिए और सुजसवेलीभास के आधार पर इनका जन्म १६७९-८० में होना चाहिए।

१. ‘सुजसवेलीभास’- यशोविजयजी के समकालीन मुनि कातिविजयजी कृत

अब प्रश्न उठता है कि इन दोनों प्रमाणों में से किस प्रमाण को आधारभूत माना जाए। चित्रपट के विषय में तो निश्चित ही है कि उनके गुरु नयविजयजी के हाथ से तैयार की हुई मूल वस्तु हमें मिलती है। 'सुजसवेलीभास' की हस्तप्रति उसके कर्ता के हस्ताक्षर की नहीं है, परंतु बाद में लिखाई हुई है। संभव है कि पीछे से हुई इस नकल में दीक्षा का वर्ष लिखने में कुछ भूल हुई हो। सुजसवेलीभास के रचयिता उपाध्याय यशोविजयजी के समकालीन थे और हस्तप्रति तो उसके बाद की मिलती है, जबकि नयविजयजी गणि तो यशोविजयजी के गुरु थे। इस दृष्टि से देखते हुए चित्रपट अधिक विश्वसनीय लगता है। अन्य दृष्टि से भी देखें, तो यशोविजयजी ने विपुल साहित्य की रचना की तथा जिन शास्त्रों का अभ्यास किया, उन्हें देखते हुए इतना कार्य करने के लिए ६३-६४ वर्ष की आयु कम ही होगी।

दूसरी बात, इन्होंने अनशन करके देह को छोड़ा था। अनशन करने की दृष्टि से भी यह उम्र कुछ कम लगती है। वे स्वयं तपस्वी साधु थे, बाल ब्रह्मचारी थे, योग विद्या के अभ्यासी थे, समतारस में डूबे ज्ञानी थे; इसलिए उनका आयुष्य दीर्घ होगा यह मानना अधिक उचित लगता है।

जन्म-स्थान -

उपाध्याय यशोविजयजी के जन्म-स्थान का उल्लेख हमें 'सुजसवेलीभास' के आधार पर प्राप्त होता है। इसके आधार पर यशोविजयजी का जन्म-स्थान गुर्जरदेश में कनोडु नामक गाँव है। यहाँ भासकार ने यशोविजयजी के जन्म-स्थल का निर्देश नहीं किया, किन्तु यशोविजयजी ने अपने गुरु नयविजयजी के सर्वप्रथम दर्शन कनोडु में किए थे। उस समय उनके माता-पिता कनोडु में रहते थे, यह हकीकत सुनिश्चित है। संभव है कि यशोविजयजी का जन्म कनोडु में हुआ हो और इनका बालपन भी कनोडु में ही बीता हो।

जब तक इनके जन्म-स्थल के विषय में अन्य कोई प्रमाण नहीं मिलते तब तक इनकी जन्मभूमि कनोडु थी, यह मानने में कोई दिक्कत नहीं है। कनोडु उत्तर गुजरात में महेसाणा से पाटण के रास्ते पर धीणोज गाँव से चार मील की दूरी पर बसा हुआ है।

माता-पिता -

सुजसवेलीभास के आधार पर यशोविजयजी की माता का नाम सौभाग्यदे (सौभाग्यदेवी) और पिता का नाम नारायण था। वे एक व्यापारी थे। उनके दो पुत्र थे - यशवंत और पद्मसिंह परिवार बड़ा धार्मिक और आस्थावान् था।

पूत के लक्षण पालने में (बचपन के विषय में दंतकथा) -

यशोविजयजी की माता सौभाग्यदेवी को यह नियम था कि रोज सुबह भक्तामर स्तोत्र सुनने के बाद ही भोजन ग्रहण करना। चातुर्मास में वह रोज उपाश्रय में जाकर गुरु महाराज से भक्तामर सुनती थी। यशवंत भी साथ में जाता था। एक बार श्रावण माह में मूसलाधार वर्षा हुई। लगातार तीन-तीन दिन तक पानी गिरता रहा। सौभाग्यदेवी को तीन दिन के उपवास हो गए। चौथे दिन सुबह भी जब सौभाग्यदेवी ने कुछ नहीं खाया तो बालक यशवंत ने कौतूहलवश सहज इसका कारण पूछा, तब माता ने अपने नियम की बात कही। यह सुनकर यशवंत ने कहा- “माँ, मैं भक्तामर सुनाऊँ, मुझे आता है।” यह जानकर माता को आश्चर्य हुआ। बालक ने शुद्ध भक्तामरस्तोत्र सुनाया। माता के हर्ष का पार नहीं रहा। माता ने अष्टम का पारणा किया। बालक यशवंत माता के साथ रोज गुरु महाराज के पास जाता था और भक्तामर सुनता था, वह उसे कंठस्थ हो गया था। बालक की ऐसी अद्भुत स्मरण-शक्ति की बात सुनकर गुरु महाराज भी आनंदित हुए।

मुनि जीवन

दीक्षा -

कुणगेर (कुमारगिरि) में चातुर्मास करके सं. १६८८ में नयविजयजी कनोडु गाँव में पधारे। माता सौभाग्यदेवी ने पुत्रों के साथ उल्लासपूर्वक साधुओं के चरणों में वन्दन किया। सद्गुरु के धर्मोपदेश सुनकर यशवंत को वैराग्य हो गया, अणहिलपुर पाटण में जाकर गुरु नयविजयजी के पास यशवंत ने दीक्षा ली। इनका नाम श्री जशविजय (यशोविजय) रखा गया। सौभाग्यदेवी के दूसरे पुत्र पद्मसिंह ने

भी दीक्षा ली। उनका नाम पद्मविजय रखा। दोनों मुनियों की १६८८ में तपागच्छ के आचार्य विजयदेवसूरि के हाथ से बड़ी दीक्षा हुई। सुजसवेलीभास^२ में लिखा है-

अणहिलपुर पाटण जईजी ल्यई गुरु पासे चरित्र
यशोविजय ऐहणी करीजी, थापना नामनीं तत्र।
पदमसिंह बीजो वली जी, तस बांधव गुणवंत
तेह प्रसंगे प्रेरियो जी ते पण थयो व्रतवंता।
विजयदेव गुरु हाथनीजी, बड़ी दीक्षा हुई खास
बिहुँ ते सोल अठियासियेजी करता योग अभ्यास

गुरु परम्परा -

उपाध्याय यशोविजयजी ने स्वोपज्ञ प्रतिमाशतक^३ एवं अध्यात्मोपनिषद नामक कृति की वृत्ति में अपनी गुरु परंपरा का परिचय दिया है। इसमें उन्होंने अकबर प्रतिबोधक हीरविजयजी से अपनी गुरु परंपरा की शुरुआत की।

जगद्गुरु विरुद को धारण करने वाले हीरसूरीश्वरजी महाराज के शिष्य और षड्दर्शन की विद्या में विशारद ऐसे महोपाध्याय कल्याणविजयगणि हुए। उनके शिष्य शास्त्रवेत्ताओं में तिलक समान पंडित लाभविजयजीगणि हुए। उनके शिष्य पंडित शिरोमणि जितविजयजी गणि के गुरुभाई पंडित नयविजयजीगणि थे। उनके चरणकमल में भ्रमर अनुरक्त समान पंडित पद्मविजय गणि के सहोदर न्यायविशारद महोपाध्याय श्री यशोविजयगणि हुए।

२. 'सुजसवेली भास' मुनि कान्तिविजयजी कृत

३. श्री हीरान्वयदिनकृति प्रकृष्टोपाध्यायास्त्रिभुवनगीतकीर्तिवृन्दाः ।

षट्कर्तकीयदुहपरिंभभाग्यभाजः कल्याणोत्तरविजयाभिधा बभूवुः ॥११४ ॥

तच्छिष्याः प्रतिगुणधाम हेमसुरैः श्री लाभोत्तरविजयाभिधा बभूवुः

श्री जीतोत्तरविजयाभिधान श्री नयविजयौ तदीयशिष्यौ ॥११५ ॥

तदीय चरणाम्बुजश्रयणाविस्फुरद्भारती प्रसाद सुपरीक्षितप्रवरशास्त्ररत्नोच्चयैः

जिनागम विवेचने शिवसुखार्थिनां श्रेयसे यशोविजयवाघकैरयमकारि तत्त्वश्रमः ॥११६ ॥

प्रतिमाशतक टीकाकर्तुं प्रशस्तिः - उपाध्याय यशोविजयजी कृत

इति जगद्गुरुविरुदधारिश्री हीरविजयसूरीश्वरशिष्य षट्कर्त विद्याविशारद

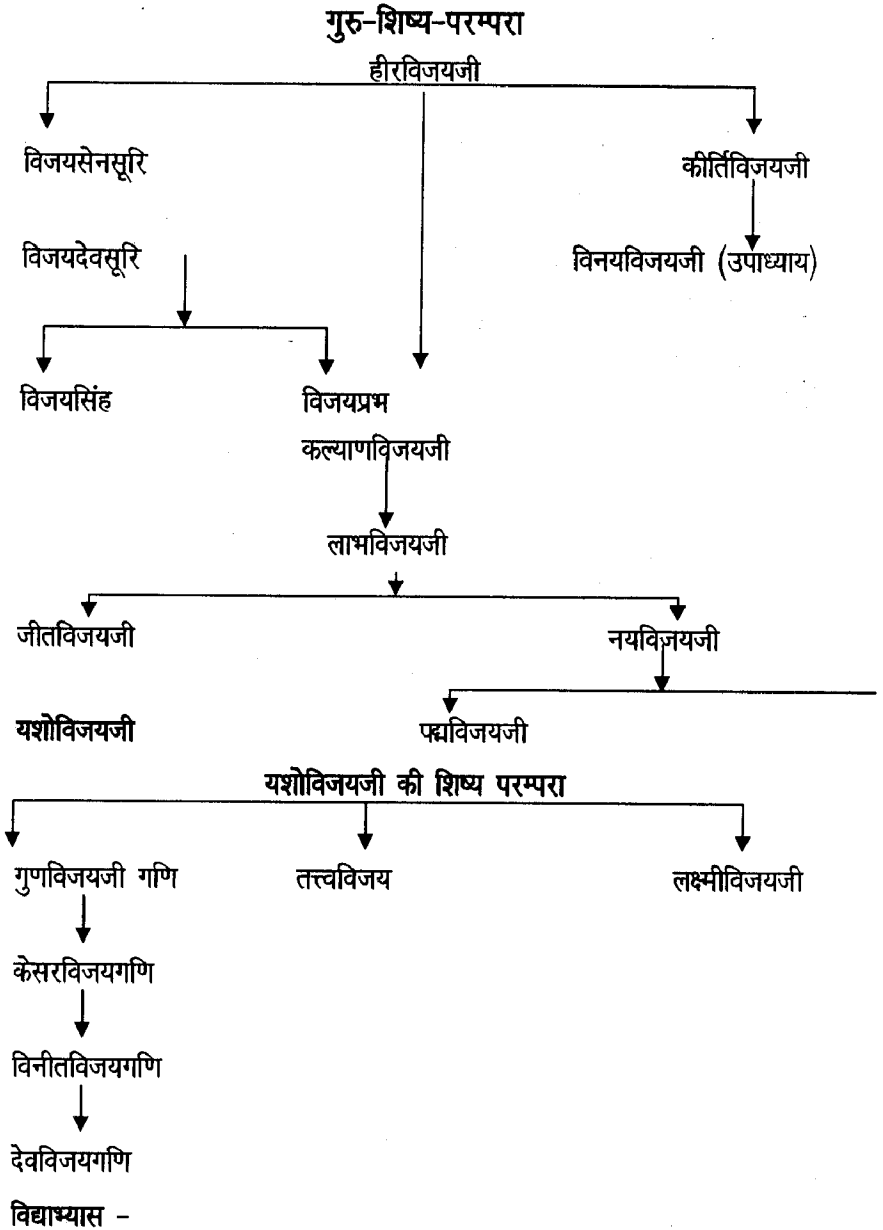
महोपाध्याय श्री कल्याणविजयगणिशिष्य -शास्त्रज्ञ तिलकपण्डित श्रीलाभविजय

गणि- शिष्य मुख्यपण्डित जीतविजयगणिसतीर्थ्यालङ्कारपण्डित-श्रीनयविजय

गणि चरणकनचञ्चरीक पण्डितपद्मविजयगणि सहोदर न्याय विशोरद

महोपाध्याय श्री यशोविजयगणि प्रणीतं समाप्तमिदमध्यात्मोपनिषदत्वरणम् ॥

अध्यात्मोपनिषदं - उपाध्याय यशोविजयजी कृत



दीक्षा लेने के बाद स्वयं के गुरु नयविजयजी गणि के सान्निध्य में यशोविजयजी ने ग्यारह वर्ष तक संस्कृत और प्राकृत भाषा का व्याकरण, छंद, अलंकार तथा कोश और कर्मग्रंथ इत्यादि ग्रंथों का सतत अभ्यास किया। इनकी बुद्धि प्रतिभा तेजस्वी थी। स्मरण-शक्ति बलवान थी।

वि.सं. १६६६ में नयविजयजी के साथ यशोविजयजी राजनगर-अहमदाबाद नगर में पधारे थे। वहाँ आकर इन्होंने अहमदाबाद संघ के समक्ष गुरु महाराज की उपस्थिति में आठ बड़े अवधानों को प्रयोग करके बताया। इसमें उन्होंने आठ सभाजनों द्वारा कही हुई आठ-आठ वस्तुएँ याद रखकर फिर क्रम से उन ६४ वस्तुओं को कहकर बताया। इनके इस अद्भुत प्रयोग से उपस्थित जनसमुदाय आश्चर्यमुग्ध हो गया। इनकी तीक्ष्ण बुद्धि तथा स्मरण-शक्ति की प्रशंसा चारों तरफ होने लगी। धनजी-सूरा नाम के एक श्रेष्ठि ने नयविजयजी से विनंती करते हुए कहा कि- “गुरुदेव! यशोविजयजी ज्ञान प्राप्त करने के लिए योग्य पात्र हैं। जो यह काशीनगर जाकर छः दर्शनों का अभ्यास करेंगे, तो ये जैनदर्शन को अधिक उज्ज्वल बनायेंगे।”

काशी - उस समय काशी के पण्डित बिना पैसा नहीं पढ़ाते थे। धनजी^४ सूरा ने खर्च के लिए उत्साहपूर्वक दो हजार चाँदी की दीनारों की हुण्डी लिखकर काशी भेज दी। नयविजयजी ने मुनि यशोविजयजी, विनयविजयजी आदि साधुओं के साथ काशी तरफ विहार किया।

काशी में षड्दर्शनों के सर्वोच्च पंडित और नव्यन्याय के प्रकाण्ड ज्ञाता-ऐसे एक भट्टाचार्य थे। उनके पास न्याय-मीमांसा, सांख्य वैशेषिक आदि दर्शनों का अभ्यास करने में आठ-दस वर्ष लगते, परंतु यशोविजयजी ने उत्साहपूर्वक तीन वर्ष में सभी दर्शनों का गहरा अभ्यास कर लिया। अपने विद्यागुरु भट्टाचार्य के पास नव्यन्याय जैसे कठिन विषय का तथा तत्त्वचिंतामणि नामक दुर्बोध ग्रंथ का अभ्यास यशोविजयजी ने बहुत अच्छी तरह कर लिया।

-
४. सुजसवेली भास में लिखा है-
 धनजी सूरा साह, वचन गुरुनुं सुणी हो लाल
 आणी मन दीनार, रजत ना खरचस्युं हो लाल

काशी में न्यायविशारद तथा तार्किक शिरोमणि के विरुद्ध से सुशोभित-

उन दिनों काशी के समान कश्मीर विद्या का बड़ा स्थान माना जाता था। एक दिन कश्मीर से एक सन्यासी बहुत स्थानों पर वाद में विजय प्राप्त करके काशी में आया। उसने काशी में वाद के लिए घोषणा की, परंतु इस समर्थ पण्डित से वाद-विवाद करने का किसी का भी साहस नहीं हुआ, कारण यह कि वाद में पांडित्य के अलावा स्मृति, तर्कशक्ति, वादी के शब्द या अर्थ की भूल को तुरंत पकड़ने की सूझ, प्रत्युत्पन्नमति आदि की आवश्यकता रहती है। काशी की प्रतिष्ठा का प्रश्न खड़ा होने पर भट्टाचार्य के शिष्यों में से युवान शिष्य यशोविजयजी उसके लिए तैयार हुए। भट्टाचार्य ने यशोविजयजी को आशीर्वाद दिया। वादसभा हुई। कश्मीरी पण्डित को लगा कि यह युवक मेरे सामने कितने समय टिकेगा। वाद-विवाद बराबर जम गया। धीरे-धीरे पण्डित घबराने लगा। उसे दिन में तारे नजर आने लगे। बाद में यशोविजयजी के द्वारा एक के बाद एक ऐसे प्रश्न पूछे गए कि वादी पंडित उसका जवाब नहीं दे सका। अंत में उसने पराजय स्वीकार कर ली और काशी से भाग गया।

इस प्रकार यशोविजयजी ने वाद में विजय प्राप्त करके काशी नगर का, काशी के पंडितों का और विद्यागुरु भट्टाचार्य का मान बचा लिया। इससे काशी के हिन्दू पंडितों ने मिलकर यशोविजयजी की विजय के उपलक्ष्य में नगर में उनकी शोभायात्रा निकाली। इस प्रसंग पर सभी हिन्दू पंडितों ने मिलकर उल्लासपूर्वक यशोविजयजी को 'न्याय विशारद' और 'तार्किक शिरोमणि' ऐसे विरुद्ध दिए।^५ इसका उल्लेख यशोविजयजी ने स्वयं प्रतिमाशतक तथा न्यायखंडखाद्य में किया है।

आगरा - काशी में अभ्यास पूरा करके यशोविजयजी गुरु महाराज के साथ आगरा आए। वहाँ चार वर्ष रहकर एक न्यायाचार्य के पास में तर्कसिद्धान्त आदि को विशेष अभ्यास किया। आगरा में तथा अनेक स्थानों पर योजित वादसभाओं में शास्त्रार्थ करके इन्होंने विजय प्राप्त की। यह उल्लेख सुजसवेलीभास में आया है।

५. पूर्व न्यायविशारदत्व विरुद्ध काश्यां प्रदत्तं बुधैः
न्यायाचार्य पदं ततः कृतं शतग्रन्थस्य यस्यापितम्'। श्लोक नं. 112 11
- यशोविजयजी कृत 'प्रतिमाशतक' ग्रंथः पृष्ठ - 9

जिनशासन की प्रभावना

मोहब्बतखान के समक्ष अठारह अवधान का प्रयोग-

आगरा से विहार करके नयविजयजी अपने शिष्यसमूह के साथ अहमदाबाद में आए। उस समय दिल्ली के बादशाह औरंगजेब की आज्ञा में मोहब्बतखान अहमदाबाद में राज करता था। एक बार मोहब्बतखान की सभा में यशोविजयजी के अगाध ज्ञान, तीव्रबुद्धि, प्रतिभा तथा अद्भुत स्मरणशक्ति की प्रशंसा हुई। यह सुनकर मोहब्बतखान को मुनिराज से मिलने की तीव्र उत्कण्ठा हुई। उसने जैनसंघ द्वारा यशोविजयजी को स्वयं की सभा में पधारने की विनती की। निश्चित दिन और समय पर यशोविजयजी अपने गुरुमहाराज साधुओं तथा अग्रगण्य श्रावकों के साथ मोहब्बतखान की सभा में पहुँचे। वहाँ उन्होंने विशाल सभा के समक्ष अठारह अवधान का प्रयोग करके बताया। इस प्रयोग में अठारह अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा कही गयी बात को बाद में क्रमानुसार वापस कहना होता है। इसमें पादपूर्ति करना, इधर-उधर शब्द कहे हों तो याद रखकर शब्दों को बराबर जमाकर वाक्य कहना तथा दिए गए विषय पर तुरंत संस्कृत में श्लोकरचना करनी होती है।

यशोविजयजी की स्मरण-शक्ति, कवित्व-शक्ति और विद्वत्ता से मोहब्बतखान बहुत प्रभावित हुआ। उसने यशोविजयजी का उत्साहपूर्वक बहुत सम्मान किया, जिससे जिनशासन की बहुत प्रभावना हुई।

उपाध्याय पद की प्राप्ति

काशी और आगरा में किए हुए विद्याभ्यास के कारण, वाद में विजय प्राप्त करने के कारण तथा अठारह अवधान के प्रयोग से यशोविजयजी की ख्याति चारों तरफ फैल गई थी। इनकी कवित्वशक्ति उत्तरोत्तर विकसित हो रही थी। इनका शास्त्राभ्यास भी वृद्धिगत हो रहा था। इन्होंने वीसस्थानक तप की आराधना भी आरम्भ कर दी थी। हीरविजयजी के समुदाय में गच्छाधिपति विजयदेवसूरि के कालधर्म के बाद गच्छ का भार विजयप्रभसूरि पर आया। अहमदाबाद के संघ ने यशोविजयजी को उपाध्याय पद देने की विनंती की। संघ की आग्रह भरी विनंती को लक्ष्य में रखकर तथा यशोविजयजी की योग्यता को देखकर विजयप्रभसूरि ने उपाध्याय की पदवी यशोविजयजी को महोत्सवपूर्वक संवत् १७१८ में प्रदान की। आचार्य पद के योग्य यशोविजयजी ने प्राप्त हुई उपाध्याय की पदवी को ऐसा

दीपाया कि उपाध्याय पदवी रूप में न रहकर उनके नाम की पर्याय बन गयी। उपाध्याय महाराज यानी यशोविजयजी यह प्रचलित हो गया।

उपाध्याय यशोविजयजी की विद्वत्ता से खंभात के पंडितों का परिचय

एक दंतकथा के आधार पर यशोविजयजी उपाध्याय की पदवी के बाद अपने गुरु और शिष्यों के साथ खंभात आए। वहाँ आकर थोड़े समय यशोविजयजी स्वयं के लेखन और स्वाध्याय में मग्न हो गए। व्याख्यान देने का काम दूसरे युवा साधुओं को सौंपा गया। हिन्दू पंडित व्याख्यान में आकर बीच-बीच में भाषा व्याकरण सिद्धांत आदि के विषय में विवाद खड़ा करके जोर शोर से साधु महाराज से प्रश्न करते और व्याख्यान का रस भंग कर देते, इसलिए एक दिन यशोविजयजी स्वयं व्याख्यान देने आए। जैसे ही व्याख्यान शुरू हुआ और पंडितों ने जोर-जोर से प्रश्न पूछना शुरू किया, तब उपाध्याय यशोविजयजी ने मृदु स्वर में कहा - “महानुभावों, आपके प्रश्नों से मुझे बहुत आनंद होता है, परंतु आप मेरे पास आकर व्यवस्थित रीति से सवाल करें।” उन्होंने प्रवाही सिंदूर एक कटोरी में मंगवाया और कहा- “हम सभी नीचे के होंठ पर सिंदूर लगाकर औष्ठस्थानी व्यंजन (प, ब, भ, म) बोले बिना चर्चा करेंगे। चर्चा के दौरान जो औष्ठस्थानी व्यंजन बोलेंगे, उसके ऊपर का औष्ठ नीचे के औष्ठ सिंदूर वाला हो जाएगा और वह हार जाएगा।” पण्डितों के चेहरे का रंग उड़ गया। उन्होंने शर्त स्वीकार नहीं की, क्योंकि उनके लिए औष्ठ व्यंजन बोले बिना बातचीत करना अशक्य था। उन्होंने दलील दी कि हम यहाँ शास्त्रार्थ करने आए हैं, भाषा पर पांडित्य बताने नहीं। यशोविजयजी उनकी मुश्किल समझ गए। तब यशोविजयजी ने कहा कि मैंने यह शर्त रखी है, इसलिए मुझे तो पालन करना ही चाहिए आप इससे मुक्त रहेंगे। अब पंडित एक के बाद एक प्रश्न करने लगे यशोविजयजी अपने नीचे के औष्ठ पर सिंदूर लगाकर उनके प्रश्नों का उत्तर देते गए। पण्डित शास्त्रचर्चा करते थे, परंतु उनका ध्यान यशोविजयजी के औष्ठ पर ही था। यशोविजयजी की वाणी अस्खलित बह रही थी, लेकिन उसमें एक भी औष्ठस्थानी व्यंजन नहीं आया था। शास्त्रार्थ करने में भी पण्डित बहुत देर टिक नहीं सके। वे आश्चर्यचकित रह गए और अंत में उन्होंने हार स्वीकार कर ली। सूर्य के सामने जुगनू का प्रकाश क्या महत्त्व रखता है?

कालधर्म

उपाध्याय यशोविजयजी का कालधर्म डभोई में हुआ था, यह निर्विवाद सत्य है, परंतु इनके स्वर्गवास का निश्चित माह और तिथि जानने को नहीं मिलती।

डभोई के गुरुमंदिर की पादुका के लेख के आधार पर पहले इनकी स्वर्गवास-तिथि संवत् १७४५ मार्गशीर्ष शुक्ल ११ (मौन एकादशी) मानते थे। परंतु पादुका में लिखी हुई वर्ष-तिथि उपाध्यायजी के स्वर्गवास की नहीं, पादुका की प्रतिष्ठा की है।^६ सुजसवेलीभास के आधार पर यशोविजयजी का संवत् १७४३ का चातुर्मास डभोई में हुआ और वहाँ अनशन करके उन्होंने अपनी काया को छोड़ा। इसमें भी निश्चित माह और तिथि नहीं बताई गई है। जैन साधुओं का चातुर्मास आषाढ़ शुक्ल चतुर्दशी से कार्तिक शुक्ल चतुर्दशी तक रहता है। अब इनका स्वर्गवास चातुर्मास के दौरान ही हुआ, या चातुर्मास के बाद, यह ज्ञात नहीं होता है। यशोविजयजी ने कितनी ही कृतियों में रचना वर्ष बताए हैं। उसमें सबसे अंत में १७३६ में खंभात भण्डार से 'जंबुस्वामी रास' की रचना प्राप्त होती है। सुरत में चातुर्मास के समय रची प्रतिक्रमण हेतु गर्भित स्वाध्याय और ग्यारहअंग की स्वाध्याय- इन दो कृतियों में रचना वर्ष "युग युग मुनि विधुवत्सराई"- इस प्रकार सूचित है। इसमें यदि युग यानी 'चार' माना जाए तो संवत् १७४४ होता है और युग यानी 'दो' लेते हैं, तो संवत् १७२२ होता है, परंतु यहाँ संवत् १७४४ सुसंगत नहीं लगता है। इसका कारण यह है कि १७४३ डभोई का चातुर्मास इनका अंतिम चातुर्मास था। जब तक दूसरे कोई प्रमाण नहीं मिले, तब तक संवत् १७४३ डभोई में उपाध्याय यशोविजयजी का स्वर्गवास हुआ था, यह मानना अधिक योग्य लगता है।

उपाध्याय यशोविजयजी के व्यक्तित्व के विशिष्ट गुण

उपाध्याय यशोविजयजी के व्यक्तित्व में गुरुभक्ति, तीर्थभक्ति, श्रुतभक्ति, संघभक्ति, शासनप्रीति, अध्यात्म-रसिकता, धीर-गंभीरता, उदारता, त्याग, वैराग्य, सरलता, लघुता, गुणानुराग इत्यादि अनेक गुणों के दर्शन होते हैं।

६. सत्तर त्रयालि चौमासु रह्य, पाट नगर डभोईरे, तिहां सुरपदवी अणसरी अणसरी करि पातक धोई रे, - सुजसवेलीभास

गुरुभक्ति -

उपाध्याय यशोविजयजी जितने विद्वान् थे, उतने ही विनयशील। उनकी गुरुभक्ति पराकाष्ठा की थी। उन्होंने विनय से अपने गुरु का हृदय जीत लिया था। गुरु शिष्य के हृदय में निवास करें, यह बात साधारण है, परंतु गुरु के हृदय में शिष्य बस जाए यह शिष्य की बहुत बड़ी विशेषता है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण उपाध्याय यशोविजयजी है। उनके गुरु नयविजयजी ने यशोविजयजी की कितनी ही कृतियों की हस्तप्रतियाँ लिखकर तैयार की। गुरु स्वयं के शिष्य की कृतियों की हस्तप्रतियाँ तैयार करके दे, ऐसा कोई अन्य उदाहरण देखने में नहीं आता है। इससे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि गुरु-शिष्य का संबंध कितना स्नेह तथा आदर वाला होगा। उनकी उत्कृष्ट गुरुभक्ति और समर्पण के कारण ही वे ज्ञान को पचा सके। गुरुभक्ति पाचक चूर्ण का काम करती है।^७ यशोविजयजी ने अध्यात्मसार के अन्तिम सज्जनस्तुति अधिकार में १५वें श्लोक में नयविजयजी की महिमा को कितने भक्तिभावपूर्वक मनोहर कल्पना करके दर्शाया है, यह ध्यान देने योग्य है।

गुणानुराग और विनय -

लघुता में प्रभुता यह यशोविजयजी की एक विशेषता थी। उनमें गुणानुराग भी उत्कृष्ट कोटि का था। यशोविजयजी और आनंदघनजी-दोनों समकालीन थे। एक प्रचण्ड तेजस्वी विद्वान् और दूसरा गहन आत्मानुभवी अध्यात्मपथ का साधक वयोवृद्ध ज्ञानवृद्ध था। आनंदघनजी के दर्शन के लिए यशोविजयजी अत्यंत उत्सुक थे। जब इनका मिलन हुआ तब यशोविजयजी को बहुत आनंद हुआ यह घटना ऐतिहासिक और निर्विवाद है। उपाध्याय यशोविजयजी द्वारा श्री आनंदघन की स्तुति रूप रची अष्टापदी इसका प्रमाण है। इसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं-

जस विजय कहे सुनो आनंदघन हम तुम मिले हजुर
जस कहे सोहि आनंदघन पावत, अंतरज्योत जगावे,
आनंद की गत आनंदघन जाने, ऐसी दशा जब प्रगटे,
चित्त अंतर सो ही आनंदघन पिछाने,

७. यत्कीर्तिस्फूर्तिगानवहितसुरवधूवृन्दकोलाहलेन ।
प्रभुब्धस्वर्गसिंधोः पतितजलभरैः क्षालितः शैव्यमेति ॥
अश्रान्त भ्रान्त कान्त ग्रह गण किरणैस्तापवान् स्वर्णशैलो
भ्राजन्ते ते मुनीन्द्रा नयविजय बुधाः सज्जनव्रातधुर्याः ॥१५॥

ऐ ही आज आनंद भयो मेरे,
तेरो मुख नीरख, रोम रोम शीतल भया अंगो अंग

इत्यादि पंक्तियों से यह पता चलता है कि यशोविजयजी के मन में आनंदधनजी के प्रति कितना आदर था।

आनंदधनजी के दर्शन का उनके जीवन पर कितना अधिक प्रभाव पड़ा, यह उन्होंने नम्रतापूर्वक दर्शाया है।

आनंदधन के संग सुजसही मिले जब, तब आनंदसम भयो 'सुजस'
पारस संग लोहा जो फरसत कंचन होत की ताके कस

इस प्रकार उनमें पराकाष्ठा की गुणानुरागिता के दर्शन होते हैं।

उदार दृष्टि -

उपाध्याय यशोविजयजी के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता उनका उदारवादी दृष्टिकोण है। वे दुराग्रहों से मुक्त और सत्य के जिज्ञासु थे। उन्होंने दिगम्बराचार्य समंतभद्रकृत अष्टसह, पंतजलिकृत 'योगसूत्र' मम्मटकृत 'काव्यप्रकाश' जानकीनाथ शर्मा कृत न्यायसिद्धान्त मंजरी इत्यादि ग्रंथों पर वृत्तियाँ लिखीं तथा योगवासिष्ठ, उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता में से आधार दिए हैं। इस प्रकार अनेक उदाहरण हैं, जिनमें यशोविजयजी की उदारता परिलक्षित होती है।

श्रुतभक्ति -

उपाध्याय यशोविजयजी की श्रुतभक्ति भी अनुपम थी। वे दिन-रात श्रुतसागर में ही गोता लगाते रहते। यशोविजयजी ने तर्क और न्याय का गहरा अभ्यास किया था। इनके जैसे समर्थ तार्किक को मल्लवादीसूरिकृत द्वादशारनयचक्र जैसा ग्रंथ पढ़ने की प्रबल इच्छा हो, यह स्वाभाविक है; परंतु यह ग्रंथ इन्हें उपलब्ध नहीं हुआ। बहुत समय बाद पाटण में सिंहवादी गणि द्वारा नयचक्र पर अठारह हजार श्लोकों में लिखी हुई टीका की एक हस्तप्रति मिली। यह हस्तप्रति जीर्ण-शीर्ण हालत में थी और थोड़े दिनों के लिए ही मिली थी। यशोविजयजी ने विचार किया कि मूल ग्रंथ मिलता नहीं है। यह टीका भी नष्ट हो गई, तो फिर कुछ नहीं रहेगा, इसलिए नई हस्तप्रति तैयार कर लेना चाहिए, परंतु इतने कम दिनों में यह काम कैसे संभव हो। उन्होंने अपने गुरुमहाराज को यह बात कही। समुदाय के साधुओं में भी बात हुई। नयविजयजी, यशोविजयजी, जयसोमविजयजी,

लाभविजयजी, कीर्तिरत्न गणि, तत्त्वविजय, रविविजय-इस प्रकार सात मुनिभगवंतों ने मिलकर 'अठारह हजार' श्लोकों की हस्तप्रति की नकल तैयार कर ली।

यह विरल उदाहरण उनकी श्रुतभक्ति की सुंदर प्रतीति कराता है।

श्रुतभक्ति की आराधना के लिए यशोविजयजी का प्रियमंत्र 'ऐं नमः' था।

यशोविजयजी महाराज ने स्वयं जो रचना की, उनमें से स्वहस्तलिखित तीस से अधिक हस्तप्रतियाँ अलग-अलग भंडारों से मिली है। प्राचीन समय के एक ही लेखक की स्वयं के हाथों लिखी इतनी प्रतियों का मिलना अपने आप में अत्यंत विरल और गौरवपूर्ण उदाहरण है।

इससे पता चलता है कि स्वयं इतने ग्रंथों की रचना करने के बाद भी इन्होंने हस्तप्रतियाँ तैयार करने में कितना समय दिया होगा। कैसा निष्प्रमादी उनका जीवन होगा।

साहित्य-साधना

उपाध्याय यशोविजयजी ने नव्यन्याय, व्याकरण-साहित्य, अलंकार, छंद, काव्य, तर्क, आगम, नय प्रमाण, योग, अध्यात्म, तत्त्वज्ञान, आचार, उपदेश कथाभक्ति तथा सिद्धान्त इत्यादि अनेक विषयों पर संस्कृत, प्राकृत और गुजराती भाषा में तथा ब्रज और राजस्थानी की मिश्रभाषा में विपुल साहित्य का सर्जन किया है। इनकी कृतियों में, सामान्य मनुष्य भी समझ सके इतनी सरल कृतियाँ भी हैं और प्रखर विद्वान् भी सरलता से नहीं समझ सके, ऐसी रहस्यवाली कठिन कृतियाँ भी हैं।

यशोविजयजी के सृजन और पांडित्य की गहराई तथा विशालता के विषय में प्रसिद्ध जैन चिन्तक पंडित सुखलालजी का कथन है कि शैली की दृष्टि से उनकी कृतियाँ खंडनात्मक भी हैं, प्रतिपादनात्मक भी हैं और समन्वयात्मक भी। जब वे खण्डन करते हैं, तब पूरी गहराई तक पहुँचते हैं। उनका विषय प्रतिपादन सूक्ष्म और विशद है। वे जब योगशास्त्र या गीता आदि के सूक्ष्म तत्त्वों का जैन मन्तव्य के साथ समन्वय करते हैं, तब उनके गंभीर चिन्तन का और आध्यात्मिक भाव का पता चलता है। उनकी अनेक कृतियाँ किसी अन्य ग्रन्थ की व्याख्या न होकर मूल, टीका या दोनों रूप से स्वतंत्र ही हैं; जबकि अनेक कृतियाँ प्रसिद्ध पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों की व्याख्या रूप है।

यशोविजयजी की साहित्य-कृतियों का सामान्य परिचय-

यशोविजयजी द्वारा रचित सम्पूर्ण साहित्य तो उपलब्ध नहीं है, फिर भी जितना उपलब्ध है, उससे उनकी बहुमुखी प्रतिभा, तलस्पर्शी ज्ञान और गहन मौलिक चिन्तन का दिग्दर्शन होता है।

यशोविजयजी की रचनाओं को मुख्यतः तीन भागों में बाँटा जा सकता है।

- (१) स्वरचित संस्कृत तथा प्राकृत ग्रंथ
 - (अ) स्वोपज्ञ टीकासहित (ब) स्वोपज्ञ टीकारहित
- (२) पूर्वाचार्यों की कृतियों पर टीकाएं
- (३) गुर्जर भाषा में रचनाएँ

१. स्वरचित संस्कृत तथा प्राकृत ग्रंथ

(अ) स्वोपज्ञ टीकासहित -

(१) आध्यात्मिकमत परीक्षा -

यशोविजयजी ने मूलग्रंथ प्राकृत भाषा में १८४ गाथा का लिखा है। उस पर चार हजार श्लोकों में टीका की रचना की। इस ग्रंथ और इसकी टीका में कर्ता ने केवलीभगवंतों को कवलाहार नहीं होता है- इस दिग्म्बर मान्यता का खंडन करके केवली को कवलाहार अवश्य हो सकता है- इस प्रकार की अवधारणा को तर्कयुक्त दलीलें देकर सिद्ध किया है। दिग्म्बरों की दूसरी मान्यता कि तीर्थकरों का परमौदारिक शरीर धातुरहित होता है, इसका भी इस ग्रंथ में खण्डन किया है।

(२) गुरुतत्त्वविनिश्चय -

यशोविजयजी ने मूल ग्रंथ प्राकृत में ६०५ गाथा का रचा। उस पर स्वयं ने ही संस्कृत गद्य में ७००० श्लोक परिमाण में टीका लिखी। इस ग्रंथ में कर्ता ने गुरुतत्त्व के यथार्थ स्वरूप का निरूपण चार उल्लास में किया है।

(३) द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका -

इस ग्रंथ में यशोविजयजी ने दान, देशनामार्गभक्ति, धर्मव्यवस्था, साधुसामग्रय द्वात्रिंशिका, वादद्वात्रिंशिका, कथा, योग सम्यग्दृष्टि, जिनमहत्त्वद्वात्रिंशिका आदि ३२ विषयों का यथार्थ स्वरूप समझने के लिए ३२

विभाग किए और प्रत्येक विभाग में ३२ श्लोकों की रचना की। इसमें एक विशेषता यह है कि प्रत्येक बत्तीसी के अंतिम श्लोक में परमानन्द शब्द आया है। इस ग्रंथ पर उपाध्यायजी ने 'तत्त्वार्थ दीपिका' नामक स्वोपज्ञ वृत्ति रची। टीका की श्लोक संख्या मिलाकर कुल ५५०० श्लोकों का सटीक ग्रंथ बना।

(४) नयोपदेश -

यशोविजयजी ने इस ग्रंथ की सटीक रचना की है। इसमें सात नयों का स्वरूप समझाया है।

(५) प्रतिमाशतक -

उपाध्याय यशोविजयजी ने १०४ श्लोकों में इस ग्रंथ की टीकासहित रचना की। इस ग्रंथ में मुख्य चार वादस्थान हैं- (१) प्रतिमा की पूज्यता (२) क्या विधिकारित प्रतिमा की ही पूज्यता है (३) क्या द्रव्यस्तव में शुभाशुभ मिश्रता है (४) द्रव्यस्तव पुण्यरूप है या धर्मरूप है।

तर्कबाणों से प्रतिमालोपकों की मान्यता को छिन्न-भिन्न करने के बाद द्रव्यस्तक की सिद्धि के विषय में एक के बाद एक आगम प्रकरण पाठों के प्रमाण दिए हैं। जैसे नमस्कार महामंत्र तथा उपधान विधि के विषय में महानिशीथ का पाठ, भगवतीसूत्रगत चमर के उत्पाद का पाठ, सुधर्मा-सभा के विषय में ज्ञातासूत्रगत पाठ, आवश्यक निर्युक्तिगत अरिहंतचेईआणं सूत्रपाठ, सूत्रकृतांगगत बौद्धमत खंडन, राजप्रशनीयउपांगगत सूर्याभदेवकृत पूजा का पाठ, महानिशीथगत सावद्याचार्य और श्रीवज्रार्य का दृष्टान्त, द्रव्यस्तव के विषय में आवश्यक निर्युक्तिगत पाठ, परिवंदन आदि के विषय में आचारांग सूत्र का पाठ प्रश्नव्याकरणटीका गत सुवर्णगुलिका का दृष्टान्त, द्रौपदीचरित्र के विषय में ज्ञाताधर्म कथा का पाठ, शाश्वत प्रतिमा के शरीरवर्णन के विषय में जीवाभिगम सूत्र का पाठ, प्रतिमा और द्रव्यलिंगी का भेद बताने वाला आवश्यकनिर्युक्ति का पाठ, पुरुषविजय के विषय में सूत्रकृतांग का पाठ। विस्तृत आगमपाठ के अलावा पूरे ग्रंथ में सौ के लगभग ग्रंथों के चार सौ से अधिक साक्षीपाठ दिए हैं। इस ग्रंथ में ध्यान, समापत्ति, समाधि, जय आदि को प्राप्त करने के उपाय स्थान-स्थान पर बताये हैं।

८. यशोविजयजी नाम्ना तत्त्वरणाम्भ्योजसेविना। द्वात्रिंशिकानां विवृतिश्वक्रे तत्त्वार्थ दीपिका -
द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका की प्रशस्ति के नीचे का श्लोक

(६) अध्यात्ममत परीक्षा -

इस ग्रंथ में केवली भुक्ति और स्त्रीभुक्ति का निषेध करने वाले दिगम्बर मत की समीक्षा की गई है। साथ ही इसमें निश्चयनय एवं व्यवहारनय के सम्यक् स्वरूप का निर्णय किया गया है।

(७) आराधक विराधक चतुर्भङ्गी -

इस ग्रंथ में देशतः आराधक और देशतः विराधक तथा सर्वतः आराधक और सर्वतः विराधक-इन चार विषयों का स्पष्टीकरण किया गया है।

(८) उपदेश रहस्य -

उपदेशपद ग्रंथ के रहस्यभूत मार्गानुसारी इत्यादि अनेक विषयों पर इस ग्रंथ में प्रकाश डाला गया है।

(९) एन्द्रस्तुतिचतुर्विंशतिका -

इस ग्रंथ में ऋषभदेव से महावीरस्वामी तक २४ तीर्थकरों की स्तुतियाँ तथा उनका विवरण है।

(१०) कूपदृष्टान्त विशदीकरण -

इस ग्रंथ में गृहस्थों के लिए विहित द्रव्यस्तव में निर्दोषता के प्रतिपादन में उपर्युक्त, कूप के दृष्टान्त का स्पष्टीकरण किया गया है।

(११) ज्ञानार्णव -

इस ग्रंथ में मति-श्रुत-अवधि मनःपर्यव तथा केवलज्ञान इन पाँच ज्ञान के स्वरूपों का विस्तृत प्रतिपादन किया गया है।

(१२) धर्मपरीक्षा -

इसमें उत्सूत्र प्रतिपादन का निराकरण है।

(१३) महावीरस्तव -

न्यायखण्डरवाद्यटीका, बौद्ध और नैयायिक के एकान्तवाद का इस ग्रंथ में निरसन किया है।

(१४) भाषा रहस्य -

प्रज्ञापनादि उपांग में प्रतिपादित भाषा में अनेक भेद-प्रभेदों का इस ग्रन्थ में विस्तृत वर्णन है।

(१५) समाचारी प्रकरण-

इस ग्रंथ में इच्छा, मिथ्यादि दशविध साधुसमाचारी का तर्कशैली से स्पष्टीकरण है।

स्वोपज्ञ टीकासहित ग्रन्थ-

१. ज्ञानसार -

इस ग्रंथ की रचना यशोविजयजी ने ३२ अष्टकों में की है। प्रत्येक अष्टक में आठ श्लोक हैं। उन अष्टक के नाम निम्न प्रकार के हैं- (१) पूर्णताष्टक (२) मग्नताष्टक (३) स्थिरताष्टक (४) मोहत्यागाष्टक (५) ज्ञानाष्टक (६) शमाष्टक (७) इन्द्रियजयाष्टक (८) त्यागाष्टक (९) क्रियाष्टक (१०) तृप्ति अष्टक (११) निर्लेपाष्टक (१२) निःस्पृहाष्टक (१३) मौनाष्टक (१४) विद्याष्टक (१५) विवेकाष्टक (१६) माध्यस्थाष्टक (१७) निर्भयताष्टक (१८) अनात्मशंसाष्टक (१९) तत्त्वदृष्टि अष्टक (२०) सर्वसमृद्धि अष्टक (२१) कर्मविपाक चिंतनाष्टक (२२) भवोद्वेगाष्टक (२३) लोकसंज्ञात्यागाष्टक (२४) शास्त्रदृष्टि अष्टक (२५) परिग्रह त्यागाष्टक (२६) अनुभवाष्टक (२७) योगाष्टक (२८) नियागाष्टक (२९) भावपूजाष्टक (३०) ध्यानाष्टक (३१) तपाष्टक (३२) सर्वनयाश्रयाष्टक।

आत्मस्वरूप को समझाने के लिए जिन-जिन साधनों की आवश्यकता होती है, उन-उन साधनों का क्रमबद्ध निरूपण किया गया है। इस ग्रंथ पर यशोविजयजी ने स्वयं की बालावबोध (टर्बों) की रचना की है।

२. अध्यात्मसार -

उपाध्यायजी ने इस ग्रंथ को मुख्य सात प्रबंधों में बांटा है। इसके २१ अधिकांश तथा ६४६ श्लोक हैं। इसमें अध्यात्म का स्वरूप, दंभत्याग, भवस्वरूप, वैराग्यसंभव, वैराग्य के भेद, त्याग, समता, सद्नुष्ठान, सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, त्याग, योग, ध्यान, आत्मनिश्चय आदि विषयों का निरूपण किया गया है।

३. अध्यात्मोपनिषद्

इस ग्रंथ की रचना संस्कृत में अनुष्टुप छंद में की गई है। इसमें २३१ श्लोक हैं तथा इसके चार अधिकार हैं- (१) शास्त्रयोगशुद्धि अधिकार (२) ज्ञानयोगाधिकार (३) क्रियाधिकार (४) साम्याधिकार। इन विषयों पर गहराई से चिंतनपूर्वक लिखा गया है।

४. देवधर्म परीक्षा -

४२५ श्लोक परिमाण में इस ग्रंथ की रचना की गई है। इसमें देव स्वर्ग में प्रभु की प्रतिमा की पूजा करते हैं, इस बात का आगमों के आधार पर समर्थन भी किया गया है। इस प्रकार इसमें प्रतिमापूजा को नहीं मानने वाले स्थानकवासी मत की समीक्षा की गई है।

५. जैनतर्क परिभाषा

इस ग्रंथ की रचना यशोविजयजी ने ८०० श्लोक परिमाण में, नव्यन्याय की शैली में की है। इसके- (१) प्रमाण (२) नय (३) निक्षेप नाम के तीन परिच्छेद हैं, जिसमें इन विषयों का युक्तिसंगत निरूपण किया गया है।

६. यतिलक्षणसमुच्चय

इस ग्रंथ में यशोविजयजी ने प्राकृत में २६३ ग्रंथाग्रों में साधु के सात लक्षणों का विस्तार से विवेचन किया है।

७. नयरहस्य

इस ग्रंथ में नैगम आदि सात नयों का स्वरूप समझाया गया है।

८. नयप्रदीप

८०० श्लोक परिमाण का यह ग्रंथ संस्कृत गद्य में रचा गया है। यह ग्रंथ सप्तभंगी समर्थन और नयसमर्थन नामक दो सर्गों में विभाजित है।

९. ज्ञानबिंदु

१२५० श्लोकों में इस ग्रंथ की रचना की गई है। इस ग्रंथ में कर्त्ता ने ज्ञान के प्रकार, लक्षण स्वरूप आदि की विस्तार से मीमांसा की है।

१०. न्यायखण्डनखण्डखाद्य

५५०० श्लोक परिमाण का यह ग्रंथ नव्यन्याय शैली का विशिष्ट ग्रंथ है। अर्थगंभीर्य की अपेक्षा जटिल ग्रंथ है। यह उपाध्यायजी के उच्चकोटि के पांडित्य की प्रतीति कराता है।

११. न्यायालोक

उपाध्याय यशोविजयजी ने न्यायालोक में मुख्यतया गौतमीयन्याय शास्त्र तथा बौद्धन्याय शास्त्र के सर्वथा एकांतगर्भित सिद्धान्तों की विस्तृत समालोचना या समीक्षा कर जैनन्याय के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। इस प्रकरण ग्रंथ के तीन प्रकाश हैं। प्रथम प्रकाश में चार वादस्थलों का वर्णन किया गया है। इसमें प्रथम मुक्तिवाद, द्वितीय आत्मविभुत्ववाद, तृतीय आत्मसिद्धि तथा चतुर्थवादस्थल ज्ञान का पर-प्रकाशत्व खण्डनवाद स्थल का निरूपण है।

द्वितीय प्रकाश में भी कुल चार वादस्थल हैं-

- | | |
|-------------------------------|--------------------|
| (१) ज्ञानाद्वैतखंडन | (२) समवाय निरसनवाद |
| (३) चक्षुअप्राप्यकारितावाद और | (४) अभाववाद |

तृतीय प्रकाश में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि षट्द्रव्यों और उसी प्रकार उनकी पर्यायों का संक्षिप्त निरूपण किया गया है।

१२. वादमाला -

वादमाला नामक यह ग्रंथ उपाध्यायजी ने तीन भागों में बनाया है।

प्रथमवादमाला में स्वत्ववाद, सन्निकर्षवाद, विषयतावाद आदि का समावेश किया गया है।

द्वितीय वादमाला में वस्तुलक्षण विवेचन, सामान्यवाद, विशेषवाद, इन्द्रियवाद, अतिरिक्त शक्ति पदार्थवाद, अदृष्टसिद्धिवाद- इन छः वादस्थलों का समावेश है।

तृतीय वादमाला में चित्ररूपवाद, लिंगोपहित, लैंगिक, भानवाद, द्रव्यनाशहेतुताविचारवाद, सुवर्णतैजसत्वातैजसत्ववाद, अंधकारभाववाद, वायुस्पर्शनप्रत्यक्षवाद और शब्दनित्यत्वानित्यवाद- इन सात वादस्थलों का संग्रह है।

१३. अनेकान्त व्यवस्था -

इस ग्रंथ में वस्तु के अनेकान्त स्वरूप का तथा नैगम आदि सात नयों का सतर्क प्रतिपादन किया गया है।

१४. अस्पृशद्गतिवाद -

इस वाद में तिर्यग्लोक से लोकान्त तक के मध्यवर्ती आकाश प्रदेशों के स्पर्श बिना मुक्तात्मा के गमन का उपपादन किया गया है।

१५. आत्मख्याति -

इस ग्रंथ में आत्मा के विभु तथा अणु परिमाण का निराकरण किया गया है।

१६. आर्षभीय चरित्र -

ऋषभदेव के पुत्र भरतचक्रवर्ती के चरित्र का काव्यात्मक निरूपण इस ग्रंथ में है।

१७. तिङन्वयोक्ति -

तिङन्तपदो के शब्दबोध का स्पष्टीकरण इस ग्रंथ में किया गया है।

१८. सप्तभंगीनयप्रदीप -

इस ग्रंथ में संक्षिप्त में सप्तभंगी तथा सात नय का विवेचन किया है।

१९. निशाभुक्तिप्रकरण -

इस लघुकाय ग्रंथ में, रात्रिभोजन स्वरूपतः अधर्म है-इसका उपपादन किया गया है।

२०. परमज्योति पंचविशिका -

इसमें परमात्मा की स्तुति की गई है।

२१. परमात्मपंचविशिका -

इसमें भी परमात्मा की स्तुति की गई है।

२२. प्रतिमास्थापनन्याय -

इसमें प्रतिमा के पूज्यत्व की स्थापना की गई है।

२३. प्रमेयमाला -

यह ग्रंथ विविध वादों का संग्रह है।

२४. मार्गपरिशुद्धि -

इस ग्रंथ में हरिभद्रीय पंचवस्तु शास्त्र के साररूप मोक्षमार्ग की विशुद्धता का सुन्दर प्रतिपादन है।

२५. यतिदिनचर्या -

इस ग्रंथ में जैनसाधुओं के दैनिक आचार का वर्णन है।

२६. विजयप्रभसूरिस्वाध्याय -

इसमें गच्छनायक श्री विजयप्रभसूरिजी की तर्कगर्भित स्तुति की गई है।

२७. विषयतावाद -

इसमें विषयता, उद्देश्यता, अपाद्यता आदि का निरूपण है।

२८. सिद्धसहस्रनामकोश -

इसमें भगवान् के १००८ नाम का संग्रह है।

२९. स्याद्वादरहस्य पत्र -

इसमें खंभात नगर के पण्डित गोपाल सरस्वती आदि पण्डित वर्ग पर प्रेषित पत्र का संग्रह है, जिसमें संक्षेप में स्याद्वाद की समर्थक युक्तियों का प्रतिपादन है।

३०. स्तोत्रावली -

इसमें ऋषभदेव पार्श्वनाथ एवं महावीर स्वामी के आठ स्तोत्र संग्रहित हैं।

पूर्वाचार्यों की कृतियों पर टीकाएँ-

१. षोडशकवृत्ति - योगदीपिका -

षोडशक प्रकरण में धर्म की शुरुआत से लेकर मोक्षप्राप्ति तक का मार्ग बताया गया है। हरिभद्रसूरि द्वारा विरचित इस ग्रंथ पर

उपाध्याय यशोविजयजी ने योगदीपिका नाम की टीका रची। यह सुंदर टीका मूल ग्रंथ के रहस्यों को उद्घाटित कर ग्रंथ के रहस्य को स्पष्ट करती है। यह १६-१६ आर्याश्लोक में रचित है। इसके १६ अधिकार हैं।

२. सद्धर्मपरीक्षा षोडशक -

इसमें साधकों की बाल, मध्यम और पंडित-ऐसी तीन कक्षाएँ बताई गई हैं।

३. धर्मलक्षण षोडशक -

इसमें प्रणिधान, प्रवृत्ति, विघ्नजय, सिद्धि, विनियोग-ऐसे पाँच सुंदर आशयों का वर्णन किया गया है।

४. धर्मलिंग षोडशक -

इसमें शम, संवेग, निर्वेद, आस्तिक्य अनुकंपा आदि सम्यक्त्व के पाँच लक्षण बताए गए हैं।

५. लोकोत्तरतत्त्वसंप्राप्ति षोडशक -

धर्मलिंगों से युक्त धर्म (सम्यग्दर्शन) सिद्ध होने पर लोकोत्तर तत्त्व की प्राप्ति होती है। यह प्राप्ति चरमपुद्गल परावर्त में हो सकती है।

६. जिनभवन षोडशक -

इसमें मंदिर बनवाने वाला व्यक्ति मंदिर की भूमि, मंदिर की लकड़ी आदि सामग्री कैसी होनी चाहिए, यह बताया है।

७. जिनबिंब षोडशक -

इसमें जिनबिंब भराने की विधि, फल आदि बातों पर प्रकाश डाला गया है।

८. प्रतिष्ठा षोडशक -

इसमें जिनप्रतिमा की प्रतिष्ठा का स्वरूप प्रकार हेतु आदि की प्ररूपणा की गई है।

६. पूजा षोडशक -

इसमें न्यायार्जित धन द्वारा विधिपूर्वक परमात्मा की पूजा करने की बात कही गई है। इसमें पंचोपचार, अष्टोपचार आदि पूजा के प्रकार बताए गए हैं।

१०. सदनुष्ठान षोडशक -

इसमें प्रीति, भक्ति, वचन और असंग ये चार प्रकार के सदनुष्ठान बताए गए हैं।

११. ग्यारहवें षोडशक में श्रुतज्ञान का लिंग-शुश्रूषा, श्रुतचिंता, भावना, ज्ञान का स्वरूप आदि पर प्रकाश डाला गया है।
१२. बारहवें षोडशक में दीक्षा का अधिकारी, नामन्यास यही मुख्य दीक्षा है। साथ ही नामन्यास का उद्देश्य आदि भी बताए गए हैं।
१३. तेरहवें षोडशक में गुरुविनय आदि साधु क्रियाओं का विवेचन है।
१४. चौदहवें षोडशक में सालंबन और निरालंबन ध्यानयोगी की चर्चा है।
१५. पन्द्रहवें षोडशक में ध्येय का स्वरूप बताया गया है।
१६. सोलहवें षोडशक में मोक्षपरिणामी आत्मा तथा कर्म का विचार करते हुए अद्वैतवाद आदि की समीक्षा की गई है।

टीका में उपाध्यायजी ने कितने ही स्थानों पर भाषा-संक्षेप के ताले खोलकर अचर्चित पदार्थ बाहर निकाले हैं और कितने ही स्थानों पर मूल पंक्ति के आधार पर स्वकीय मीमांसा भी की है; जैसे बाल, मध्यम और बुध जनों के तीन-तीन लक्षण, कुशील का स्वरूप, देशकालानुरूप देशना प्रदान की समीक्षा, समारसापत्ति का विस्तृत निरूपण, जनप्रियत्व गुण का सुंदर मूल्यांकन, दृष्टिसंमोह दोष की संम्यक समझ, काल, स्वतंत्र द्रव्य है या नहीं इसकी विचारणा, श्रमणों की प्राचीन वसति व्यवस्था की विचारणा, ऊँकार और मंत्र का स्वरूप, द्रव्यपूजा में निरवद्यता की स्थापना, अयोग्य दीक्षा को वसन्तराजा की जो उपमा दी गई उसका सुंदर स्पष्टीकरण, ध्यान स्वरूप की मीमांसा, योगभ्रष्टत्व का स्वरूप संविग्नपाक्षिक व्यवस्था का रहस्य, स्वाभाविक सुखस्वरूप का प्रकाशन तथा भव्यत्व मीमांसा ज्ञान क्रियानय मत का विचार आदि।

२. योगविशिका वृत्ति -

विंशतिविंशिका प्रकरण ग्रंथ का योगविषयक एक प्रकरण योगविशिका है। 'गागर में सागर' उक्ति को सार्थक करता हुआ यह प्रकरण है। महोपाध्याय लघुहरिभद्र यशोविजयजी ने इसमें गागर में छुपे हुए सागर को व्यक्त किया है। इन्होंने अगर इस वृत्ति की रचना नहीं की होती तो ये रहस्य प्रकाश में आते या नहीं, यह शंकास्पद है। इसमें अनेक विषय हैं, जैसे- योग का लक्षण, क्रिया की आवश्यकता, पाँच आशय, स्थानादि पाँच योग, योग के ८० भेद, चार आलंबन, कर्म के दो तथा तीन प्रकार, विषादि पाँच अनुष्ठान, तीर्थ किसे कहते हैं? धर्माचार्य का कर्तव्य क्या है? ध्यान के दो स्वरूप, निश्चय व्यवहार में आत्मस्वरूप, अयोग-योग के भिन्न-भिन्न नाम आदि।

३. स्याद्वादकल्पलता -

हरिभद्रसूरि द्वारा रचित शास्त्रवार्तासमुच्चय पर उपाध्याय यशोविजयजी ने स्याद्वाद कल्पलता नामक टीका की रचना करके इस ग्रंथ की शोभा में चार चाँद लगा दिए हैं। मूल ग्रंथ का विवरण करते-करते उपाध्यायजी ने स्वतंत्र रूप से अपनी व्याख्या में प्राचीन एवं नव्यन्याय में प्रसिद्ध अनेक वादस्थलों का अवतरण किया है। वादस्थलों की विस्तृत चर्चा से यह व्याख्याग्रन्थ भी एक स्वतंत्र ग्रन्थ जैसा बन गया है। मूल शस्त्रवार्तासमुच्चय ग्रंथ को ११ विभागों में वर्गीकृत करके प्रत्येक विभाग में भिन्न-भिन्न दर्शनों के अनेक सिद्धान्तों का विस्तार से पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत कर अनेक नवीन युक्तियों से उनके उत्तरपक्ष को उपस्थित किया गया है। यह अतीव बोधप्रद एवं आनंददायक है।

प्रथम स्तबक में भूतचतुष्टयात्मवादी नास्तिक मत का खण्डन है। दूसरे में काल, स्वभाव, नियति और कर्म- इन चारों की परस्पर निरपेक्ष कारणता के सिद्धान्त का खण्डन है। तीसरे में न्यायवैशेषिक के ईश्वर कर्तव्य का और सांख्याभिमत प्रकृति पुरुषवाद का खण्डन है। चतुर्थ में बौद्धसम्प्रदाय के सौत्रान्तिकसम्मत क्षणिकत्व में बाधक स्मरणाद्यनुपत्ति दिखाकर क्षणिक बाह्यवाद का खण्डन है। पंचम में योगाचार अभिमत क्षणिक विज्ञानवाद का खण्डन है। छठे में क्षणिकत्व साधक हेतुओं का खण्डन, निराकरण किया गया है। सातवें में जैनमत के स्याद्वाद सिद्धान्त का सुंदर निरूपण किया गया है। आठवें में वेदान्ती अभिमत अद्वैतवाद का खंडन विस्तार से बताया है नवें में जैनागमों के अनुसार मोक्षमार्ग की मीमांसा की गई है। दसवें में सर्वज्ञ के अस्तित्व का समर्थन किया गया है।

ग्यारहवें में शास्त्रप्रमाण्य को स्थिर करने के लिए शब्द और अर्थ के मध्य सम्बन्ध नहीं मानने वाले बौद्धमत का प्रतिकार किया गया है।

इन सभी स्तबकों में मुख्य विषय के निरूपण के साथ अनेक अवान्तर विषयों का भी निरूपण किया गया है, जिनमें अन्त में स्त्रीवर्ण की मुक्ति का निषेध करने वाले जैनाभास दिगम्बर मत की गंभीर आलोचना की गई है। उपाध्यायजी ने अपनी स्याद्वादकल्पलता में जैनेतर दार्शनिकों के अनेकमतों की बड़ी गहरी समीक्षा की है।

४. उत्पादादिसिद्धि -

इसके मूलकर्ता चन्द्रसूरि हैं। इसमें जैनशास्त्रों के अनुसार सत् के उत्पादव्ययघ्नोव्यात्मक लक्षण पर विशद प्रकाश डाला गया है। यशोविजयजी द्वारा विरचित टीका पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं हो रही है।

५. कम्मपयडिबृहद्टीका -

यह जैन कर्मसिद्धान्त के मूल ग्रंथ कम्मपयड़ी पर लिखी गई टीका है।

६. कम्मपयडि लघु टीका -

इस टीका का प्रारम्भिक पत्र मात्र उपलब्ध होता है। अतः इसके सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी देना संभव नहीं है। यह संभव है कि उपाध्याय यशोविजयजी इस रचना को पूर्ण ही न कर पाएँ हो।

७. तत्त्वार्थ सूत्र -

इस टीका ग्रंथ में तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय पर प्रकाश डाला गया है।

८. स्तवपरिज्ञा अवचूरि -

इसमें द्रव्यभावस्तव का स्वरूप संक्षेप में बताया गया है।

९. अष्टसहस्त्री टीका -

यह दिगम्बर विद्वान् विद्यानन्दी के अष्टसहस्त्री ग्रंथ का ८००० श्लोक परिमाण व्याख्या ग्रंथ है, जिसमें दार्शनिक विविध विषयों की चर्चा है।

१०. पतंजलयोगसूत्र टीका -

पतंजलि के योगसूत्र के कुछ सूत्रों पर जैनदृष्टि से व्याख्या एवं समीक्षा प्रस्तुत की गई है।

११. स्याद्वादरहस्य -

हेमचन्द्रसूरि के वीतरागस्तोत्र के अष्टम प्रकाश में अन्तर्निहित रहस्य के द्योतनार्थ एवं उसके अन्तर्गत शान्तरस का आस्वादन करने के लिए उपाध्याय यशोविजयजी ने स्याद्वाद रहस्य प्रकरण बनाया। अष्टम प्रकाश को नव्यन्याय की परिभाषा से परिप्लावित करने के लिए यशोविजयजी के हृदय में इतनी उमंग और उल्लास उत्पन्न हुआ कि उसी के फलस्वरूप उन्होंने इसी अष्टम प्रकाश पर जघन्य मध्यम एवं उत्कृष्ट परिमाण वाले स्याद्वाद रहस्य नाम के तीन प्रकरण रचे और स्याद्वाद का सूक्ष्मरहस्य प्रकट किया।

१२. काव्यप्रकाश टीका -

यह मम्मटकृत काव्यप्रकाश ग्रंथ की टीका है।

१३. न्यायसिद्धान्त मंजरी -

यह स्याद्वादमंजरी पर लिखी गई टीका है।

गुर्जर साहित्य की रचना के विषय में दंतकथा -

उपाध्याय यशोविजयजी ने संस्कृत और प्राकृत की अनेक विद्वद्भोग्य कृतियों की रचना की। इसी के साथ उन्होंने गुजराती भाषा में भी अनेक कृतियों की रचना की। अनेक लोकभोग्य स्तवन सज्जाय, रास, पूजा, टबा इत्यादि उनकी कृतियाँ हैं। इस विषय में यह दंतकथा प्रचलित है कि यशोविजयजी काशी से अभ्यास पूरा करके अपने गुरु के साथ विहार करते हुए एक गाँव में आए। वहाँ शाम को प्रतिक्रमण में किसी श्रावक ने नयविजयजी से विनंती की कि आज यशोविजयजी सज्जाय बोलें। तब यशोविजयजी ने कहा कि उन्हें कोई सज्जाय कंठस्थ नहीं है। यह सुनकर एक श्रावक ने आवेश में उपालम्भ देते हुए कहा कि तीन वर्ष काशी में रहकर क्या घांस काटा? तब यशोविजयजी मौन रहे। उन्होंने विचार किया कि संस्कृत और प्राकृत भाषा सभी लोग तो समझते नहीं हैं, इसलिए लोकभाषा गुजराती में भी रचना करना चाहिए, जिससे अधिक लोग बोध प्राप्त

कर सकें। यह निश्चय करके तुरंत ही उन्होंने समकित के ६७ बोल की सज्जाय की रचना की और उसे कंठस्थ भी कर ली। दूसरे दिन प्रतिक्रमण में सज्जाय बोलने का आदेश लिया और सज्जाय बोलना शुरु की। सज्जाय बहुत ही लम्बी थी, इसलिए श्रावक अधीर होकर पूछने लगे- "अभी और कितनी बाकी है तब यशोविजयजी ने कहा- "भाई तीन वर्ष तक घांस काटा। आज पूले बांध रहा हूँ। इतने पूले बांधने में समय तो लगेगा ही।" श्रावक बात को समझ गए और उन्होंने यशोविजयजी को जो उपालम्भ दिया था उसके लिए माफी मांगने लगे।

यशोविजयजी की तीक्ष्ण बुद्धि और तेजस्विता का वहाँ के श्रावकों को भी परिचय हुआ।

गुर्जर भाषा में रचनाएँ-

रासकृतियाँ :

I. जंबूस्वामी का रास -

यशोविजयजी की गुजराती भाषा में रची सबसे बड़ी और महत्त्व की कृति जंबूस्वामी का रास है। इसमें पाँच अधिकार और ३७ ढाल है। इसकी रचना कवि ने खंभात में वि. संवत् १७३६ में की थी। इस रास में भाषा-लाघव सहित प्रसंगों और पात्रों का अलंकारयुक्त सटीक मार्मिक निरूपण किया गया है।

II. द्रव्यगुणपर्याय का रास -

यशोविजयजी ने सतरह ढालों और २८४ गाथाओं में इस रास की रचना की है। द्रव्यगुणपर्याय के रास में जैन तत्त्वज्ञान का पद्य में निरूपण किया है। मध्यकालीन साहित्य की यह एक महत्त्वपूर्ण कृति है। इस रास की वि.सं. १७११ यशोविजयजी के गुरु नयविजयजी के हाथ से सिद्धपुर में लिखी हुई हस्तप्रति मिलती है। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि इस रास की रचना संवत् १७०८ के आसपास हुई होगी। इस रास में कवि ने तत्त्वज्ञान को कविता में उतारने का प्रयत्न किया है।

इसमें द्रव्य, गुण और पर्याय के लक्षण, स्वरूप इत्यादि का निरूपण अनेक मतमतांतर और दृष्टांत तथा आधार ग्रंथों का उल्लेख

किया है। इस रास के आधार पर बाद में दिगंबर कवि भोजराजा ने संस्कृत भाषा में द्रव्यानुयोग, तर्कणा नाम का विवरण लिखा है। यही इसकी महत्ता दर्शाने के लिए काफी है।

III. श्रीपाल रास की रचना में सहयोग

इन दो समर्थ रासकृतियों के बाद विनयविजयजीकृत श्रीपाल राजा के रास को पूरा करने में यशोविजयजी का योगदान है। वि.सं. १७३८ रादेर में चातुर्मास के दौरान संघ के आग्रह से विनयविजयजी ने इस रास को लिखना शुरू किया। पाँचवी ढाल की बीस कड़ियों तक की रचना हुई। आगे लिखने की उनकी बहुत इच्छा थी, परंतु उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया। कृति अधूरी रहने का उनके मन में विषाद था। यशोविजयजी उनके मन के भाव को समझ गए और तुरंत उन्होंने विनयविजयजी से कहा कि “आपका रास जहाँ से अधूरा है, वहाँ से मैं उसे अवश्य पूरा करूँगा।” इनके इस वचन से विनयविजयजी के मन को असीम आनन्दानुभूति हुई। थोड़े ही समय में विनयविजयजी कालधर्म को प्राप्त हुए। उसके बाद यशोविजयजी ने अंतिम खण्ड लिखकर श्रीपाल रास को पूरा किया। मध्यकालीन जैन साहित्य में दो समर्थ कवियों द्वारा एक ही रचना प्रकार से लिखी यह एकमात्र कृति सुप्रसिद्ध है। तत्त्वविचार से युक्त इनकी काव्यमय वाणी इसमें अलग ही रूप धारण करती है।

IV. स्तवन - सवासौ गाथा का स्तवन

यह स्तवन सीमंधर स्वामी का है। आरंभ में कवि ने सीमंधर स्वामी से विनती की है तथा कुगुरु के अनिष्ट आचरण पर प्रहार किया है। इसमें आत्मद्रव्य का शुद्ध स्वरूप, सत्य ज्ञान दशा का महत्त्व, निश्चय और व्यवहार की आवश्यकता को स्पष्ट किया है। द्रव्य भाव स्तव का निरूपण करके जिनपूजा और सम्यग् भक्ति का रहस्य समझाकर स्तवन पूरा किया है।

V. डेढ़ सौ गाथा का स्तवन -

यह कुमति मदगालन वीर स्तुतिरूप हुंडी का स्तवन है। इस स्तवन में जिनप्रतिमा की पूजा का निषेध करने वाले के मत का परिहार

किया है तथा जिनप्रतिमा की पूजा को सिद्ध करने वाले प्राचीन व्यक्तियों के अनेक दृष्टांत दिए हैं।

VI. साढ़े तीन सौ गाथा का स्तवन -

यह सिद्धान्त विचार रहस्य गर्भित सीमंधर जिन स्तवन है। ३५० गाथा के इस स्तवन में यशोविजयजी ने सीमंधर स्वामी से शुद्ध मार्ग बताने की विनती की है। इस कलियुग में लोग अंधश्रद्धा में फंस रहे हैं। सूत्र से विरुद्ध आचरण कर रहे हैं। अज्ञानी लोगों की अंधश्रद्धा और कुगुरु के वर्तन पर सख्त प्रहार किया गया है। कोई भी व्यक्ति मात्र कष्ट सहकर ही मुनि हो जाता है, जो ऐसा मानते हैं उनके लिए लिखा गया है।

जो कष्टे मुनिमारग पावे, बलद धाय तो सारो
भार वहे जे तावड़े भमतो खमतो गाढ़ प्रहारो

VII. मौन एकादशी का स्तवन -

यह परमात्माओं के ढेढ़ सौ (१५०) कल्याणकों का स्तवन है। इस स्तवन में १२ ढाल और ६३ गाथाएँ हैं।

VIII. तीन चौबीसी -

पहली चौबीसी में २४ तीर्थकरों के माता-पिता, नगर, लांछन, आयुष्य आदि का परिचय दिया है।

दूसरी चौबीसी में और तीसरी चौबीसी में तीर्थकरों के गुणों का उपमा आदि अलंकारों द्वारा वर्णन किया गया है और स्वयं पर कृपा करने के लिए उनसे विनती की है।

IX. विहरमान बीस जिनेश्वर के स्तवन -

विहरमान बीस जिनेश्वर के बीस स्तवन में जिनेश्वर के प्रति चोलमजिठ के समान प्रीति व्यक्त की है और प्रभुकृपा की याचना करते-करते अंतिम एक दो कड़ी में जिनेश्वर के माता-पिता, लांछन आदि का स्मरण है।

यशोविजयजी ने कितने ही स्वतन्त्रों की रचना अलग-अलग राग रागिनियों में की है। उनकी भाषा ब्रज है।

X. सञ्ज्ञाय -

यशोविजयजी ने सम्यक्त्व के सड़सठ बोल की सञ्ज्ञाय, अठारह पापस्थानक की सञ्ज्ञाय, प्रतिक्रमण हेतु गर्भित सञ्ज्ञाय, ग्यारहवें अंग की सञ्ज्ञाय, आठ योगदृष्टि की सञ्ज्ञाय, चार आहार की सञ्ज्ञाय, संयम श्रेणी विचार सञ्ज्ञाय, गुणस्थानक सञ्ज्ञाय इत्यादि सञ्ज्ञायों की रचना की है। ये सभी सञ्ज्ञाएं उनके गहन शास्त्रज्ञान तथा गम्भीर गहरा चिंतनशीलता का आभास कराती है।

गुजराती भाषा में गद्य और पद्य में लिखी अन्य कृतियाँ -

१. समुद्र-वाहन संवाद - संवत् १७१७ में घोषा बंदर में इसकी रचना की। इसमें १७ ढाल तथा ३०६ गाथाएँ हैं। इस कृति में यशोविजयजी ने समुद्र और वाहन के बीच सटीक संवाद तथा वाहन ने समुद्र का गर्व किस तरह भंग किया उसका आलेखन किया है।

२. समताशतक - समताशतक में १०५ दोहे हैं। समता मग्नता, उदासीनता की साधना कैसे करना? क्रोध मान, माया, लोभ ये चार कषाय तथा विषयरूपी अंतरंग शत्रुओं पर कैसे विजय प्राप्त करना आदि विषयों का वर्णन इस शतक में किया है।

यशोविजयजी ने कृति का आरंभ करते हुए लिखा है -

१. समता गंगा-मग्नता, उदासीनता जात
चिदानंद जयवंत हो केवल भानु प्रभात
२. सिद्ध औषधि ईक क्षमा, ताको करो प्रयोग,
ज्यु मिट जाये मोह घर, विषय क्रोध ज्वर रोग।

समाधिशतक -

इस कृति में १०४ दोहें हैं। इसमें संसार की माया जीवों को किस तरह भटकाती है और आत्मज्ञानी उसमें से किस तरह मुक्त होते हैं; ज्ञानी की

उदासीनता कैसी होती हैं? और उसमें उनकी आत्मदृष्टि बहिरात्मभाव में से निकलने के लिए कितनी उपकारक होती है; आदि का वर्णन है।

आत्मज्ञानी के लिए संसार मात्र पुद्गल का मेल है।

आत्मज्ञाने मगन जो, सो सब पुद्गल खेल
इन्द्रजाल करि लेखिवे मिले, न तिहाँ मनमेल
भवप्रपंच मन जाल की बाजी झूठी मूल
चार पाँच दिन खुश लगे, अंत धूल की धूल।।

इस प्रकार उपाध्यायजी ने गुजराती भाषा में भी विपुल साहित्य की रचना की है।

उनकी साहित्य-साधना का विशिष्ट परिचय

उनकी साहित्य-साधना के इस संक्षिप्त परिचय से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने विविध विषयों पर विविध भाषाओं में ग्रन्थों की रचना की है। इससे उनकी बहुश्रुतता का पता चल जाता है। इस संक्षिप्त विवरण के अवलोकन से यह भी स्पष्ट होता है कि उन्होंने न केवल जैनधर्म, दर्शन और साधना की विविध विधाओं पर अपने ग्रंथ की रचना की और टीकाएँ लिखीं, अपितु योगसूत्र पर भी टीका लिखी। जहाँ एक और वे दर्शन की अतल गहराइयों में उतरकर नव्यन्याय की शैली में स्वपक्ष का मंडन और परपक्ष का खंडन करते हैं, वहीं दूसरी ओर वे अपनी समन्वयवादी दृष्टि का परिचय भी देते हुए परपक्ष की अच्छाइयों को भी उजागर करते हैं।

अनेकान्त के सिद्धान्त पर उनकी अनन्य आस्था थी। यह प्रायः उनकी सभी कृतियों से फलित होता है। दर्शन, काव्य साधना और आत्मसाधना-तीनों ही पक्ष उनकी कृतियों में देखे जाते हैं। यशोविजयजी ने अपनी टीकाओं में मूलग्रन्थों का आश्रय तो लिया ही है, किंतु इसके साथ-साथ वे विविध दर्शनों में समन्वय का प्रयत्न करते हैं। इस क्षेत्र में उन्होंने अनेकांत दृष्टि को प्रमुखता दी है और यह बताया है कि प्रकारान्तर से सभी दर्शन कहीं न कहीं अनेकान्तवाद को स्वीकार करके चलते हैं। उनकी यह स्पष्ट मान्यता है कि कोई भी दर्शन अनेकान्त का त्याग करके अपनी स्थापना नहीं कर सकता है। इससे ऐसा लगता है कि उपाध्याय यशोविजयजी पर आचार्य हरिभद्र का स्पष्ट प्रभाव रहा हुआ है। यही कारण है कि उन्होंने हरिभद्र के योग सम्बन्धी ग्रंथों पर विशेष रूप से टीकाएँ

लिखी है। दर्शन के अतिरिक्त योग साहित्य पर भी उनकी कृतियों एवं टीकाओं की उपलब्धता यही सिद्ध करती है कि वे अध्यात्मरसिक योग साधक थे। अध्यात्म सार, अध्यात्मोपनिषद् और ज्ञानसार-इन तीनों ग्रंथों में उन्होंने शास्त्रयोग, ज्ञानयोग, क्रियायोग और साम्ययोग-ऐसे चार योगों की चर्चा विस्तार से की है, किन्तु उनकी इस योग सम्बन्धी चर्चा का विशिष्ट पक्ष यह है कि वे इन चारों योगों को परस्पर विरोधी न मानकर एक-दूसरे के पूरक मानते हैं। इस प्रकार अपनी कृतियों में ये एक सम्यक् समीक्षक की दृष्टि प्रस्तुत करते हैं।

यशोविजयजी के साहित्य का दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि उनकी रचनाएँ मात्र तार्किकता और धार्मिक विधि विधान प्रस्तुत नहीं करती अपितु वे आत्मानुभूति की अतल गहराइयों में जाकर स्वानुभूत सत्य को प्रकट करती हैं। यह ठीक है कि स्वानुभूत सत्य को भाषा की सीमा में बांधकर प्रस्तुत कर पाना अत्यंत कठिन है, फिर भी उपाध्याय यशोविजयजी ने ज्ञानसार, अध्यात्मसार और अध्यात्मोपनिषद् में इन आत्मानुभूतियों को प्रकट करने का प्रयास किया है। न केवल उन्होंने इन स्वानुभूतियों को प्रकट किया है, अपितु ध्यानसाधना का एक ऐसा मार्ग भी प्रस्तुत किया, जिसके सहारे चलकर व्यक्ति उसे स्वयं ही अनुभूत कर सकता है। वस्तुतः उपाध्याय यशोविजयजी एक तार्किक दार्शनिक बाद में हैं। सबसे पहले वे आत्मरसिक साधक हैं और वे इस तथ्य को बहुत स्पष्ट रूप से जानते हैं और मानते हैं कि अनुभूतियों को भाषा के सहारे सम्यक् रूप से प्रकट नहीं किया जा सकता है। इसी सन्दर्भ में उन्होंने भाषा रहस्य जैसे ग्रंथ की रचना कर भाषा की सीमितता और सापेक्षता को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उनकी कृतियों के आधार पर यदि हम कोई विश्लेषण करते हैं, तो यह स्पष्ट लगता है कि अपने जीवन के पूर्वार्द्ध में यशोविजयजी एक तार्किक दार्शनिक के रूप में सामने आते हैं, किन्तु अध्ययन और अनुभूति की गहराइयों में जाकर उन्हें दार्शनिक तार्किकता नीरस लगने लगती है। वे योग और ध्यान साधना की ओर अभिमुख होते हुए प्रतीत होते हैं और अंत में अध्यात्मरस में निमग्न हो जाते हैं। इस प्रकार यशोविजयजी की साहित्य-साधना और उनका जीवनदर्शन दोनों ही इस सत्य को स्थापित करते हैं कि वे मात्र तार्किक, दार्शनिक और भावुक कवि न होकर आध्यात्मिक अनुभूतियों के माध्यम से सत्य को साक्षात्कार करने वाले महान् साधक थे।

द्वितीय अध्याय

अध्यात्मवाद का अर्थ एवं स्वरूप

बिना प्राण का शरीर जैसे मुर्दा कहलाता है, ठीक उसी प्रकार बिना अध्यात्म के साधना निष्प्राण है। अध्यात्म का अर्थ आत्मिकबल, आत्मस्वरूप का विकास, या आत्मोन्नति का अभ्यास होता है। आत्मा के स्व-स्वरूप की अनुभूति करना अध्यात्म है। 'अप्या सो परमप्या', अर्थात् आत्मा ही परमात्मा है। चाहे चींटी हो या हाथी, वनस्पति हो या मानव, सभी की आत्मा में परमात्मा समान रूप से रहा हुआ है, किन्तु कर्मों के आवरण से वह आवरित है। कर्मों की भिन्नता के कारण जगत् के प्राणियों में भिन्नता होती है। कर्म के आवरण जब तक नष्ट नहीं होते हैं, तब तक आत्मा परतंत्र है, अविद्या से मोहित है, संसार में परिभ्रमण करने वाली और दुःखी है। इस परतंत्रता या दुःख को दूर तब ही कर सकते हैं, जब कर्मों के आवरण को हटाने का प्रयास किया जाए।

जिस मार्ग के द्वारा आत्मा कर्मों के भार से हल्की होती है, कर्म क्षीण होते हैं, वह मार्ग ही अध्यात्म कहलाता है। जब से मनुष्य सत्य बोलना या सदाचरण करना सीखता है, तब से अध्यात्म की शुरूआत होती है। अध्यात्म का शिखर तो बहुत ऊँचा है। उसकी तरफ दृष्टि करते हुए कितने ही व्यक्ति हतोत्साहित हो जाते हैं और अध्यात्म का साधना-मार्ग बहुत कठिन समझने लगते हैं। यह बात जरूर है कि सीधे ऊपर की सीढ़ी या मंजिल पर नहीं पहुँचा जा सकता है, किंतु क्रमशः प्रयास करने से आगे बढ़ सकते हैं, और अंत में मंजिल पर पहुँच सकते हैं। उत्तम गुणों का संचय करते रहने से अध्यात्म में आगे बढ़ने का रास्ता स्वयं मिल जाता है और फिर ऐसी आत्मशक्ति जाग्रत होती है कि उसके द्वारा अध्यात्म के दुर्गम क्षेत्र में पहुँचने का सामर्थ्य प्रकट होता है।

अध्यात्मवाद का व्युत्पत्तिपरक अर्थ

‘आत्मानम् अधिकृत्य यद्वर्तते तद् अध्यात्मम्।’^६ आत्मा को लक्ष्य करके जो भी क्रिया की जाती है, वह अध्यात्म है। उपाध्याय यशोविजयजी भी अध्यात्म शब्द का योगार्थ (शब्द और प्रकृति के संबंध से जो अर्थ प्राप्त होता है, उसे योगार्थ कहते हैं।)^{१०} बताते हुए कहते हैं कि आत्मा को लक्ष्य करके जो पंचाचार का सम्यक् रूप से पालन किया जाता है, उसे अध्यात्म कहते हैं। दूसरे शब्दों में विशुद्ध अनंत गुणों के स्वामी परमात्मातुल्य स्वयं की आत्मा को लक्ष्य करके ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चरित्राचार, तपाचार और वीर्याचार का पालन किया जाता है, वह अध्यात्म कहलाता है।

अध्यात्म के विषय में बहिरात्मा का अधिकार नहीं है। उसी प्रकार अंतरात्मा को उद्देश्य करके भी अध्यात्म की प्रवृत्ति नहीं होती है, किंतु स्वयं में रहे हुए परमात्म स्वरूप को प्रकट करने के लिए अंतरात्मा के द्वारा जो पंचाचार का सम्यक रूप से परिपालन किया जाता है वही अध्यात्म कहलाता है।

आनंदधनजी ने भी आत्मस्वरूप को साधने की क्रिया को अध्यात्म कहा है।^{११}

विभिन्न संदर्भों में अध्यात्म के अनेक अर्थ होते हैं। अन्तरात्मा में होने वाली प्रवृत्ति अध्यात्म है।^{१२} मन से परे जो चैतन्य सत्ता है, वह अध्यात्म है।

शरीर, वाणी और मन की भिन्नता होने पर भी उनमें चेतनागुण की जो सदृशता है वही अध्यात्म है।

आत्म-संवेदना अध्यात्म है। वीतराग चेतना अध्यात्म है।

^६. अभिधान राजेन्द्र कोष - भाग - १ (पृष्ठ-२५७)

^{१०}. अध्यात्मोपनिषद् - आत्मान्मधिकृत्य स्याद् यः पंचाचारचारिमा शब्दयोगार्थ निपुणास्तदध्यात्मं प्रचक्षते ॥२॥

^{११}. निजस्वरूप जे किरिया साथे तेह अध्यात्म कहीये रे
जे किरिया करी उगति साथे ते न अध्यात्म कहीये रे - आनंदधन जी (श्रेयांस नाथ भगवान का स्तवन)

^{१२}. आचारांगभाष्यम् - पृष्ठ - ७५ - आचार्य महाप्रज्ञ

आचारांग सूत्र^{१३} में भी अध्यात्मपद का अर्थ प्रिय और अप्रिय का समभावपूर्वक संवेदन लिया है। जैसे स्वयं को प्रिय और अप्रिय के अनुभव में सुख-दुःख की अनुभूति होती है, वैसे ही दूसरे जीवों को भी सुख-दुःख की अनुभूति होती है।

अध्यात्म शब्द अधि+आत्म से बना है।^{१४} अधि उपसर्ग भी विशिष्टता का सूचक है, जो आत्मा की विशिष्टता है वही अध्यात्म है। चूँकि आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है, अतः ज्ञाता-दृष्टा भाव की विशिष्टता ही अध्यात्म है।

उपाध्याय यशोविजयजी ने अध्यात्म का स्वरूप संक्षेप में बताते हुए कहा है^{१५} कि जिन साधकों की आत्माओं के ऊपर से मोह का अधिकार चला गया है, ऐसा साधक, आत्मा को लक्ष्य करके शुद्ध क्रिया का आचरण करता है, उसे अध्यात्म कहते हैं।

इस प्रकार परमात्मास्वरूप प्रकट करने का लक्ष्य, पंचाचार का सम्यक् परिपालन और मोह के आधिपत्य से रहित चेतना- इन तीनों का समन्वय अध्यात्म कहलाता है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए की गई कोई भी क्रिया बिना अध्यात्म-चेतना के संभव नहीं है।

अध्यात्मवाद का उपाध्याय यशोविजयजी द्वारा गृहीत सामान्य अर्थ

उपाध्याय यशोविजयजी ने अध्यात्म का रुढ़ अर्थ इस प्रकार बताया है कि सद्धर्म के आचरण से बलवान् बना हुआ तथा मैत्री, करुणा, प्रमोद और माध्यस्थ भावना से युक्त निर्मल चित्त ही अध्यात्म है।^{१६}

^{१३}. जे अज्झत्थं जाणइ से बहिया जाणइ, जे बहिया जाणइ से अज्झत्थं जाणइ - आचारांग सूत्र ७/१४७

^{१४}. अध्यात्म और विज्ञान - डॉ. सागरमल जी जैन अभिनन्दन ग्रंथ

^{१५}. गतमोहाधिकाराणामात्मानमधिकृत्य या प्रवर्तते क्रिया शुद्धा तदध्यात्मं जगुर्जिनाः ॥२॥ - अध्यात्मसार - अध्यात्मस्वरूप अधिकार - उपाध्याय यशोविजयजी

^{१६}. रुद्ध्यर्थनिपुणास्त्वाहुश्चित्तं मैत्र्यादिवासितम् । अध्यात्मं निर्मलं बाह्यव्यवहारोपबृंहितम् ॥३॥ - अ. उपनिषद् उपाध्याय यशोविजयजी । अध्यात्मं निर्मलं बाह्यव्यवहारोपबृंहितम् ॥३॥ - अ. उपनिषद् उपाध्याय यशोविजयजी

‘दूसरे प्राणियों के हित की, या कल्याण की चिंता करना’, यह मैत्रीभावना कहलाती है। “परोपकाराय सतां विभूतयः”, सज्जन व्यक्ति को जो मानसिक, शारीरिक या आर्थिक संपत्ति प्राप्त होती है, वह हमेशा दूसरों पर उपकार करने के लिए ही होती है।^{१७}

कोई भी प्राणी पाप नहीं करे, कोई भी जीव दुःखी नहीं हो और सारा जगत् बन्धन से मुक्त हो, मुक्ति को प्राप्त करे, इस प्रकार की बुद्धि मैत्रीभावना कहलाती है
 ५ क्षमा मांगना और क्षमा करना,
 यह जैनशासन की शुद्ध नीति है।^{१८}

अतः अध्यात्म की प्रथम सीढ़ी मैत्रीभावना है।

साथ ही पर दुःखनाशक परिणति, अर्थात् दूसरों के दुःख को दूर करने की इच्छा करुणा कहलाती है। करुणाभावना से युक्त व्यक्तियों की दृष्टि बहुत विशाल होती है। ‘आत्मवत् सर्वभूतेषु’, की भावना से वे अपने ही समान सभी प्राणियों को देखते हैं। दूसरों का दुःख देखकर उनका मन द्रवित हो जाता है और उनके दुःखों को किस प्रकार दूर करना- यही विचार उनको बार-बार आता है। प्रायः इसी कारुण्यभावना को भाते हुए तीर्थंकर जैसे सर्वश्रेष्ठ नाम कर्म का बंध होता है।

“करुणा का दोहरा लाभ है। वह करने वाले और जिस पर करुणा की जाती है - दोनों को सुख प्रदान करती है।”^{१९} करुणा में दोनों को ही लाभ होता है। यह स्थिति बहुत विचारने योग्य है। “पर सुख तुष्टिर्मुदिता”, दूसरों के सुख में आनन्द, अर्थात् गुणवानों के गुणों और उनके आचरण को देखकर हृदय में जो हर्ष उत्पन्न होता है, उसे प्रमोदभावना कहते हैं। प्रमोदभावना भाते समय अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है। गुणों को प्राप्त करने का यह सीधा उपाय है कि महान् पुरुषों ने जिन गुणों को प्राप्त कर लिया हो उनकी हृदय से अनुमोदना करना।

^{१७} परहितचिन्तामैत्री, परदुःखविनाशिनी करुणां ।

परसुखतुष्टिर्मुदिता, परदोषोपेक्षणमुपेक्षा ॥१२॥ - (अ) अध्यात्म कल्पद्रुम (ब) षोडशक
 ४/१५ (स) योगसूत्र १/३३

^{१८} मा कार्षीत्कोपि पापानि, माच भूत्कोऽपि दुःखितः ।

मुच्यता जगदव्येषा मतिमैत्री निगद्यते ॥१३॥ - अध्यात्म कल्पद्रुम

^{१९} Merchant of Venice -- नाटक - शेक्सपियर

प्रमोदभावना से गुणों की प्राप्ति होती है और अनुमोदना करते समय अगर वह गुण अपने में ही है, तो चित्त अधिक स्वच्छ तथा निर्मल बनता है।

परदोषोक्षेपणमुपेक्षा

असाध्य कक्षा के दोष वाले जीवों पर करुणायुक्त उपेक्षादृष्टि रखना माध्यस्थभावना है। जब उपदेश देने पर भी सामने वाला व्यक्ति महापाप के उदय से रास्ते पर नहीं आता है, तो फिर उसके प्रति उपेक्षा रखना ही अधिक उचित है। हितोपदेश नहीं सुनने वाले पर भी द्वेष नहीं करना चाहिए। उपाध्याय यशोविजयजी ने द्वेष की सज्जाय में कहा है कि^{२०} गुणवान के प्रति आदरभाव और निर्गुणी के प्रति समचित रखना चाहिए। माध्यस्थभावना सांसारिक प्राणियों को विश्रान्ति लेने का स्थान है। यह भावनाओं के आधार पर अध्यात्म का स्वरूप है अब विभिन्न नयों के आधार पर अध्यात्म का स्वरूप विवेचित है।

नैगमादि सप्तनयों की अपेक्षा से अध्यात्म का स्वरूप

यहाँ विभिन्न नयों की अपेक्षा से अध्यात्म के स्वरूप के विवेचन करने से पहले नयों के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है। वक्ता के अभिप्राय को समझने के लिए जैन आचार्यों ने नय और निक्षेप ऐसे दो सिद्धान्त प्रस्तुत किए हैं। उपाध्याय यशोविजयजी ने नय का सामान्य लक्षण बताते हुए कहा है कि^{२१} “प्रमाण द्वारा जानी हुई अनंतधर्मात्मक वस्तु के एक देश को ग्रहण करने वाला तथा अन्य अंशों का निषेध नहीं करने वाला अध्यवसाय विशेष ‘नय’ कहलाता है। नय की परिभाषा करते हुए जैन आचार्यों ने कहा है कि ‘वक्ता का अभिप्राय’ ही नय कहा जाता है।^{२२} नयसिद्धांत हमें वह पद्धति बताता है जिसके आधार पर

^{२०}. राग धरीजे जीहां गुण लहीये, निर्गुण ऊपर समचित्त रहीये - सज्जाय - उपाध्याय यशोविजयजी

^{२१}. नय परिच्छेद - जैन तर्कभाषा (उ. यशोविजयजी)

^{२२}. (अ) वक्तुरभिप्रायः नयः - स्याद्वादमंजरी पृ. २४३

(ब) नयोज्ञातुरभिप्रायः - लघीयस्त्रयी श्लोक - ५५

वक्ता के आशय एवं कथन के तात्कालिक संदर्भ को सम्यक् प्रकार से समझा जा सकता है।

नयों की अवधारणा को लेकर जैनाचार्यों ने यह प्रश्न उठाया है कि यदि वक्ता का अभिप्राय, अथवा वक्ता की अभिव्यक्ति शैली ही नय है, तो फिर नयों के कितने प्रकार होंगे? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने कहा है कि^{२३} जितनी कथन करने की शैलियाँ हो सकती हैं, उतने ही नयवाद हो सकते हैं। फिर भी मोटे रूप से जैनदर्शन में सप्तनयों की अवधारणा मिलती है। सप्तनयों में नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र- इन चार नयों का अर्थ, पदार्थ से संबंधित नय तथा शब्द समभिरूढ़ और एवंभूत इन तीन नयों को शब्दनय, अर्थात् कथन से संबंधित नय कहा गया है।^{२४}

नैगमनय

इन सप्त नयों में सर्वप्रथम नैगमनय आता है। नैगमनय मात्र वक्ता के संकल्प को ग्रहण करता है।^{२५} नैगमनय की दृष्टि से किसी कथन के अर्थ का निश्चय उस संकल्प, अथवा साध्य के आधार पर किया जाता है, जिससे वह कथन किया गया है। नैगमनय संबंधी प्रकथनों में वक्ता की दृष्टि सम्पादित की जाने वाली क्रिया के अन्तिम साध्य की ओर होती है। वह कर्म के तात्कालिक पक्ष की ओर ध्यान नहीं देकर कर्म के प्रयोजन की ओर ध्यान देती है। प्राचीन आचार्यों ने नैगमनय का उदाहरण देते हुए बताया है कि जब कोई व्यक्ति स्तम्भ के लिए किसी जंगल से लकड़ी लेने जाता है और उससे पूछा जाता है कि भाई तुम किसलिए जंगल जा रहे हो तो वह कहता है मैं स्तम्भ लेने जा रहा हूँ। वस्तुतः वह जंगल से स्तम्भ नहीं अपितु लकड़ी ही लाता है। लेकिन उसका संकल्प या प्रयोजन स्तम्भ बनाना ही है; अतः वह अपने प्रयोजन को सामने रखकर ही कथन करता है। हमारी व्यावहारिक भाषा में ऐसे अनेक कथन होते हैं, जब हम अपने भावी संकल्प के आधार पर ही वर्तमान व्यवहार का प्रतिपादन करते हैं। जैसे डॉक्टरों में पढ़ने वाले विद्यार्थी को उसके भावी लक्ष्य की दृष्टि से डॉक्टर कहा जाता है। नैगमनय के कथनों का वाच्यार्थ भविष्यकालीन साध्य या

२३. जावइया वयणपहा। तावइया होंति नयवाया - सन्मतितर्क ३/४७

२४. चत्वारोऽर्थाश्रयाः शेषास्त्रयं शब्दतः - सिद्धविनिश्चय -७२

२५. संकल्पमात्रग्राही नैगम -सर्वार्थसिद्धि १/३३

संकल्प के आधार पर निश्चित होता है। औपचारिक कथनों का अर्थ निश्चय भी नैगमनय के आधार पर होता है, जैसे प्रत्येक भद्रपद कृष्ण अष्टमी को श्रीकृष्णजन्माष्टमी कहना। यहाँ वर्तमान में भूतकालीन घटना का उपचार है।

सामान्य और विशेष स्वरूप से अर्थ को स्वीकारने वाला नैगमनय होता है।

संग्रहनय

भाषा के क्षेत्र में अनेक बार हमारे कथन व्यक्ति को गौण कर समष्टि के आधार पर होते हैं। जैन आचार्यों के अनुसार जब विशेष या भेदों की उपेक्षा करके मात्र सामान्य लक्षणों या अभेद के आधार पर जब कोई कथन किया जाता है, तो वह संग्रहनय का कथन माना जाता है।^{२६} संग्रहनय का वचन संगृहित या पिंडित अर्थ का प्रतिपादक है। जैसे- 'भारतीय गरीब हैं' यह कथन व्यक्तियों पर लागू न होकर सामान्यरूप से भारतीय जनसमाज का वाचक होता है। संग्रहनय हमें यह संकेत करता है कि समष्टिगत कथनों के तात्पर्य को समष्टि के सन्दर्भ में ही समझने का प्रयत्न करना चाहिए और उसके आधार पर उस समष्टि के प्रत्येक सदस्य के बारे में कोई निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए।

व्यवहारनय

व्यवहारनय को हम उपयोगितावादी दृष्टि कह सकते हैं।^{२७} लौकिक अभिप्राय समान उपचार बहुल, विस्तृत अर्थ विषयक व्यवहारनय है। केवल सामान्य के बोध से, या कथन से हमारा व्यवहार नहीं चल सकता है। व्यवहार के लिए हमेशा भेदबुद्धि का आश्रय लेना पड़ता है। वैसे जैन आचार्यों ने इसे व्यक्तिप्रधान दृष्टिकोण भी कहा है। जो अध्ववसाय विशेष लोगों के व्यवहार में उपायभूत है, वह व्यवहारनय कहलाता है।^{२८}

२६. सामान्य मात्राग्राही परामर्शः संग्रह - जैनतर्कभाषा नयपरिच्छेद पृ. ६०

२७. लौकिक सम उपचारप्रायो विस्तृतार्थोव्यवहार -तत्त्वार्थभाष्य १/३५

२८. नयरहस्य

उदाहरण के लिए - घी के घड़े में लड्डू रखे हैं। यहाँ घी के घड़े का अर्थ ठीक वैसा नहीं है, जैसा कि मिट्टी के घड़े का अर्थ है। यहाँ घी के घड़े का तात्पर्य वह घड़ा है, जिसमें पहले 'घी' रखा जाता था।

ऋजुसूत्रनय

भेद या पर्याय की विवक्षा से जो कथन किया जाता है, वह ऋजुसूत्रनय का कथन होता है। इसे बौद्धदर्शन का समर्थक बताया जाता है। यह नय भूत और भविष्य की उपेक्षा करके केवल वर्तमान स्थितियों को दृष्टि में रखकर कोई कथन करता है। उदाहरण के लिए 'भारतीय व्यापारी प्रामाणिक नहीं है'- यह कथन केवल वर्तमान सन्दर्भ में ही सत्य हो सकता है। इस कथन के आधार पर हम भूतकालीन और भविष्यकालीन भारतीय व्यापारियों के चरित्र का निर्धारण नहीं कर सकते हैं। ऋजुसूत्रनय हमें यह बताता है कि उसके आधार पर कथित कोई भी वाक्य अपने तात्कालिक सन्दर्भ में सत्य होता है, अन्यकालिक संदर्भों में नहीं।

शब्दनय

शब्दनय हमें यह बताता है कि शब्द का वाच्यार्थ कारक, लिंग, उपसर्ग, विभक्ति, क्रियापद आदि के आधार पर बदल जाता है। जैसे तटः तटी तटम्- इन तीनों शब्दों के अर्थ समान होने पर भी तीनों पदों से वाच्य नदी तट अलग-अलग है; क्योंकि समानार्थक होने पर भी तीनों शब्दों में लिंग भेद है। दूसरा उदाहरण जैसे 'कश्मीर भारत का हिस्सा था' और 'कश्मीर भारत का हिस्सा है', इन वाक्यों में एक भूतकालीन कश्मीर की बात कहता है, तो दूसरा वर्तमानकालीन कश्मीर की।

समभिरुद्धनय

यह नय पर्यायवाची शब्दों में भी व्युत्पत्ति भेद से अर्थभेद को स्वीकार करता है।^{२६} इस नय का अभिप्राय यह है कि जीव, आत्मा, प्राणी- ये शब्द अलग

^{२६}. १. पर्यायशब्देषु निरुक्तिभेदेन भिन्नमर्थं समभिरुद्धं समभिरुद्धः

२. शब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाविष्टमर्थं वाच्यत्वेनाभ्युपगच्छन्ने वम्भुतः-
जैनतर्कभाषा -नयपरिच्छेद

हैं; इसलिए इनके अर्थ भी अलग-अलग मानना चाहिए, कारण कि पर्यायवाची शब्दों के भी प्रवृत्ति निमित्त अलग होते हैं। उदाहरणार्थ घट, कलश, कुम्भ, शब्द पर्यायवाची माने जाते हैं, परंतु 'समभिरुद्धनय' की अपेक्षा से प्रत्येक शब्द का अर्थ अलग-अलग है।

एवंभूतनय

इस नय के अनुसार शब्द की प्रवृत्ति में निमित्तभूत धात्वार्थ या क्रिया से युक्त अर्थ ही उस शब्द का वाच्य बनता है। इस नय के मतानुसार केवल क्रिया को ही शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त मानते हैं। उदाहरण के लिए एक लेखक उसी समय लेखक कहा जा सकता है, जब वह लेखन कार्य करता हो। एक डाक्टर तभी डाक्टर कहा जा सकता है, जब वह रोगी का इलाज कर रहा हो। 'गच्छति इति गो', इस नय के अनुसार गाय जब चलती है तभी उसके लिये गौ शब्द प्रयोग कर सकते हैं। संक्षेप में एवंभूतनय अर्थक्रियाविशिष्ट जाति जहाँ हो, वहीं पर उस शब्द का प्रयोग मानता है।

अध्यात्म संबंधी नय-व्यवस्था :

सप्त नयों के सामान्य स्वरूप के बाद अब सप्त नयों की दृष्टि में अध्यात्म के स्वरूप की विवेचना इस प्रकार से है-

१. नैगमनय की दृष्टि से अध्यात्म :- नैगमनय के मतानुसार देव गुरुआदि के पूजनरूप पूर्वसेवा अध्यात्म है। योगबिन्दु में पूर्वसेवा का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि गुरुदेव पूजन, सदाचार, तप एवं मुक्ति से अद्वेष मोक्ष का विरोध नहीं करना- इनको शास्त्रमर्मज्ञों ने पूर्वसेवा कहा है।^{३०}

पूर्व में विवेचन कर दिया गया है कि जो कार्य किया जाने वाला है, उसका संकल्प मात्र नैगमनय है; उसी प्रकार अध्यात्म के विषय में पूर्वसेवा शास्त्रलेखन आदि, योगबीज का ग्रहण, योग, इच्छायोग आदि, इच्छात्म आदि,

^{३०}. पूर्वसेवा तु तन्त्रज्ञैर्गुरुदेवादिपूजनम। सदाचारस्तपो मुक्त्यद्वेषश्चेह प्रकीर्तितः।।१०६।। - योगबिन्दु -हरिभद्रसूरि

प्रीति, भक्ति आदि अनुष्ठान, पंचाचार का पालन-इन सभी अलग-अलग अवस्थाओं में अध्यात्म को स्वीकार करने वाला नैगमनय है।^{३१}

योगबिंदु ग्रंथ में बताया है- १. औचित्यपूर्ण व्यवहार २. अनुष्ठानस्वरूप धर्म में प्रवृत्ति ३. और सम्यक् प्रकार से आत्मनिरीक्षण करना-इन तीनों को शास्त्रकार अध्यात्म कहते हैं।

इष्टदेवादि को नमस्कार, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त, जप, जीवादि के प्रति मैत्र्यादि भावना का चिंतन आदि अध्यात्म है।

इस प्रकार स्थूलता को देखने में निपुण ऐसे नैगमनय द्वारा मार्गानुसारी आदि का आश्रय लेकर स्वयं के सिद्धांत में विरोध न आए, ऐसे अनेक प्रकार के अध्यात्म स्वीकार कर सकते हैं।

संग्रहनय की दृष्टि में अध्यात्म :

सभी विशेष अंशों को सामान्य रूप से एकत्र करने का दृष्टिकोण होने से संग्रहनय अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता, वृत्तिसंक्षय आदि को अलग-अलग स्वीकार करने के स्थान पर सभी में व्याप्त व्यापक तत्त्व को अध्यात्म के रूप में स्वीकार करता है। ध्यान, समता आदि को अध्यात्म के रूप में संग्रह करने के लिए, संग्रहनय अध्यात्म की व्याख्या इस प्रकार करता है कि क्लिष्ट चित्तवृत्तियों के निरोधपूर्वक एकाग्रचित्त के व्यापार से समता का आलंबन लेकर जो सम्यक् पंचाचार का पालन है, वही अध्यात्म है।^{३२}

यहाँ एक बात यह ध्यान में रखने योग्य है कि संग्रहनय के मत से सभी सत् है, किंतु भूतल पर रहे हुए घड़े की ओर इशारा करके पूछें कि यह क्या है, तो संग्रहनयवादी कहेगा यह सत् है, क्योंकि घड़े में भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य गुण रहा है, जो सत् का वाचक हैं, ठीक इसी तरह केवलभावना आदि भी अध्यात्मस्वरूप बन सकती है।

“अपुनर्बन्धक अवस्था से लेकर अयोगी गुणस्थानक तक की उस-उस अवस्था की अपेक्षा से की गई क्रिया अध्यात्म है।”^{३३}

^{३१}. अध्यात्मवैशारदी -(अध्यात्मोपनिषद-टीका) मुनि यशोविजयजी -१५ पृष्ठ

^{३२}. अध्यात्मवैशारदी - मुनियशोविजयजी पृष्ठ-१६

^{३३}. अपुनर्बन्धकाद्यावद् गुणस्थानं चतुर्दशम्

क्रमशुद्धिभती तावत् क्रियाऽध्यात्ममयी मता ॥४॥ -अध्यात्मसार -उ. यशोविजयजी

व्यवहारनय की दृष्टि में अध्यात्म :

“बाह्य व्यवहार से पुष्ट मैत्र्यादिभावना से युक्त निर्मल चित्त अध्यात्म है।^{३४} व्यवहारनय के मत से भव्यजीव के सद्धर्म के आचरण से चित्त हुई निर्मल वृत्ति अध्यात्म है, चित्त परंतु अभव्य जीवों के द्वारा से किया हुआ सद्धर्म का आचरण चित्त शुद्धि का हेतु नहीं होता है, इसलिए वह अध्यात्म नहीं है। केवल अपुनर्बंधक सम्यग्दृष्टि जीव के द्वारा किया हुआ सद्धर्म का आचरण ही अध्यात्म है।”

व्यवहारनय का आश्रय लेकर योगसार ग्रंथ में भी कहा गया है—
“सदाचार ही साक्षात् धर्म है, सदाचार ही अक्षयनिधि है, सदाचार ही दृढ़ धैर्य है, सदाचार ही श्रेष्ठ यश है।”

ऋजुसूत्रनय की दृष्टि से अध्यात्म का परिचय :

क्षणिक वर्तमानकालीन पर्याय को स्वीकारने के कारण इस नय की दृष्टि में मैत्रादि से युक्त निर्मल वर्तमानकालीन स्वकीय चित्तक्षण (विज्ञानक्षण) ही अध्यात्म है। ऋजुसूत्रनय वर्तमानकालीन स्वकीय भावअध्यात्म को छोड़कर, अन्य भूतकालीन अध्यात्म, भविष्यकालीन अध्यात्म नाम अध्यात्म, स्थापना अध्यात्म और द्रव्य अध्यात्म को स्वीकार नहीं करता है।

बौद्ध विद्वानों ने भी ब्रह्मविहार से वासित चित्तक्षण को अध्यात्म कहा है। बौद्ध विद्वानों ने मैत्री आदि चार भावनाओं को ब्रह्म विहार के रूप में स्वीकार किया है।

शब्दनय की दृष्टि में अध्यात्म :

शब्दनय योग आदि पर्याय शब्द से वाच्य आत्मकेन्द्रित क्रियावंचक योग, शास्त्रयोग, वचन-अनुष्ठान-स्थैर्ययम-सिद्धि विनियोग आशय-आगम के अनुसार तत्त्वचिंतन-ध्यान, विधि-जयणा से मुक्त पंचाचार का पालन आदि को अध्यात्म रूप में स्वीकार करता है। इसका कारण यह है कि शास्त्रयोग आदि अध्यात्मपद से वाच्य ऐसी अर्थक्रिया करने के लिए समर्थ है। आचार्य हरिभद्र ने योगबिंदु ग्रन्थ

^{३४}. रुद्धयर्थनिपुणास्त्वाहुश्चितं मैत्र्यादिवासितम्

अध्यात्मं निर्मलं बाह्यव्यवहारोपबृंहितम् ॥३॥ - अध्यात्मोपनिषद् उ. यशोविजयजी

में बताया है कि- व्रतसम्पन्न व्यक्ति का मैत्री आदि भावप्रधान आगमनानुसारी तत्त्वचिंतन अध्यात्म है। यह शब्दनय के अनुसार की गई अध्यात्म की व्याख्या है।

समभिरुद्धनय की दृष्टि में अध्यात्म :

इस नय के अनुसार अध्यात्मभावना, ध्यान, योग आदि शब्दों के भेद से अर्थ का भेद रहा हुआ है, फिर भी जिस साधक पुरुष ने शुद्ध आत्मदशा को केन्द्र में रखकर पंचाचार का पालन किया है, तथा उसकी स्वानुभूति उस साधक पुरुष के पास जब तक रहेगी, तब तक स्वाध्याय, शासनप्रभावना, विहार, भिक्षाटन तथा निद्रा आदि अवस्थाओं में भी उस साधक पुरुष में अनासक्ति-असंग-अनुष्ठान का जो भाव रहेगा, वही समभिरुद्धनय के मतानुसार अध्यात्म कहा जाएगा।

एवंभूतनय के दर्पण में अध्यात्म का स्वरूप :

इस नय की दृष्टि में जब आत्मा को लक्ष्य करके पंचाचार का सम्यक् रूपेण परिपालन होता है, तब ही वहाँ अध्यात्म होता है, अन्यत्र नहीं! क्योंकि आत्मकेन्द्रित पंचाचार के पालनरूप, अध्यात्म शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ यही है, इसलिए जीव में जब तक आत्मकेन्द्रित पंचाचार का सम्यक् परिपालन नहीं हो, तब तक उसमें अध्यात्म का स्वीकार नहीं हो सकता है।^{३५}

^{३५} अध्यात्मवैशारदी - मुनि यशोविजयजी

निश्चयअध्यात्म तथा व्यवहारअध्यात्म का स्वरूप :

व्यवहार और निश्चय का झगड़ा बहुत पुराना है। भगवान् महावीर ने वस्तु के दोनों रूपों का समर्थन किया है और अपनी दृष्टि से दोनों को यथार्थ बताया है। इस लोक में जिस वस्तु के लिए जैसा व्यवहार होता है, अर्थात् लोक में जो वस्तु जिस प्रकार से प्रसिद्ध हो उसके आधार पर वस्तु का प्रतिपादन व्यवहारनय करता है। जैसे कौए में पाँचों वर्ण रहने पर भी लोक में कौआ काला है-ऐसी प्रसिद्धि है, इसलिए व्यवहारनय यही स्वीकारता है कि 'कौवा काला है।'

निश्चयनय तात्त्विक अर्थ को स्वीकारता है। इससे पदार्थ के सूक्ष्म रूप का ज्ञान होता है। निश्चयनय के अनुसार कौआ केवल काला ही नहीं है, कौए का शरीर बादरस्कन्धरूप होने से यहाँ पाँचों ही वर्ण वाले पुद्गलों से बना हुआ है, इसलिए निश्चयनय तो कौआ पाँच वर्ण वाला है- ऐसा ही मानता है।

व्यवहारिकदृष्टि और नैश्चयिकदृष्टि में यही अन्तर है कि व्यावहारिकदृष्टि इन्द्रियाश्रित है, अतः स्थूल है, जबकि नैश्चयिकदृष्टि इन्द्रियातीत है, अतः सूक्ष्म है। एक दृष्टि से पदार्थ के स्थूल रूप का ज्ञान होता है और दूसरी से पदार्थ के सूक्ष्म रूप का, दोनों दृष्टियाँ सम्यक् हैं। दोनों यथार्थता को ग्रहण करती हैं, फिर भी जहाँ निश्चयनय स्वयं के आश्रित होती है, वही व्यवहारनय पराश्रित होती है।

निश्चयनय की दृष्टि में अध्यात्म :

चूँकि निश्चयनय स्वाश्रित होता है, इसलिए इसके अनुसार ऐसे विशुद्ध स्वयं की आत्मा में ही रमण करना अध्यात्म कहलाता है। 'ध्यानस्तव नामक ग्रंथ में निश्चयनय का विषय कर्ता-कर्म आदि की अभिन्नता और व्यवहारनय का विषय उनकी परस्पर भिन्नता है।^{३६} इस बात का अनुसरण करते हुए हम कह सकते हैं कि- आत्मा, आत्मा के द्वारा आत्मा के लिए आत्मा में से आत्मा में रहकर आत्मा को प्राप्त करे, वह अध्यात्म कहलाता है। इसका एक व्यावहारिक उदाहरण है, जैसे रसोईघर में बालिका भूख को मिटाने के लिए डिब्बे में से हाथ द्वारा मिठाई लेकर खाती है। यहाँ एक ही क्रिया के छः कारक हैं और सभी भिन्न-भिन्न हैं। लड़की-कर्ता, मिठाई-कर्म, हाथ-कारण, भूख को मिटाना-संप्रदान, डिब्बे में से निकालना अपादान और रसोईघर-अधिकरण।

^{३६}. अभिन्नकतुकर्मादिगोचरो निश्चयोऽथवा
व्यवहारः पुनर्देव निर्दिष्टस्ताद्विलक्षणः ॥११॥ -ध्यानस्तवः -भास्करनन्दि

निश्चयनय के अनुसार आत्मद्रव्य में भी छः कारक की यह घटना घटित हो सकती है। एक स्तवन में कवि ने लिखा है कि “कारक षट्क थया तुझ के आतम तत्त्व मा धारक गुण समुदाय सयल एकत्व मां”।

निश्चयनय के अनुसार :

१. ज्ञान करने वाली स्वयं की आत्मा-कर्ता
२. जिसको प्राप्त करना वह आत्मा-कर्म
३. स्वयं की आत्मा को आत्मा के द्वारा जानना-करण
४. जानने का हेतु क्या-आत्मा के लिए (विद्वत्ता आदि के लिए नहीं)-संप्रदान
५. आत्मा को कहाँ से जानना- स्वयं की आत्मा में से ही जानना, शास्त्र में से नहीं, बीज में से ही वृक्ष उत्पन्न होता है, अन्यत्र नहीं, इस प्रकार अंतरात्मा की खोज करने से उसमें से ही परमात्मस्वरूप प्रकट होता है,-अपादान.
६. आत्मा को कहाँ रहकर ढूँढना-मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारा या जंगल में नहीं, बल्कि स्वात्मनिष्ठ बनकर ही उसे प्राप्त कर सकते हैं, जान सकते हैं,-अधिकरण.

इस प्रकार एक ही आत्मद्रव्य में षट्कारक की घटना होती है, ऐसी आत्मदशा आठवीं परादृष्टि में होती है, यह निश्चय अध्यात्म की बात हुई।

व्यवहार अध्यात्म में भी आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति का उद्देश्य तो होना ही चाहिए। साध्य को लक्ष्य में नहीं रखकर धनुर्धर के बाण फेंकने की चेष्टा जिस प्रकार निष्फल होती है, वैसे ही साध्य को स्थिर किए बिना की गई सभी क्रियाएँ निरर्थक होती हैं; इसलिए शुद्ध आत्मस्वरूप को प्रकट करने का, उसे प्रकाश में लाने का जो लक्ष्य है, उसे ध्यान रखना आवश्यक है। आत्मा को लक्ष्य बनाकर मन-वचन-काययोग के द्वारा जो सद्धर्म का आचरण किया जाता है, वह व्यवहारनय अध्यात्म है। पंचाचारा की प्रवृत्ति व्यवहार अध्यात्म और उत्पन्न होने वाले आत्म-परिणाम निश्चय अध्यात्म हैं।

चूँकि व्यवहारनय पराश्रित होता है, इसलिए व्यवहारनय के आधार पर आत्मा कर्ता कारक और संप्रदान कारक है।

पंचाचार का पालन - कर्मकारक

इन्द्रिय, अर्थात् उपकरण - करणकारक

शास्त्रवचन - अपादानकारक

उपाश्रयादि - अधिकरणकारक

यह लोक प्रचलित व्यावहारिक अध्यात्म है। अध्यात्म का सीधा तथा सरल भावार्थ सत्यबोलना, न्याय तथा नीतिपूर्वक आचरण करना, परोपकार करना, जीवदया का पालन करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, क्षमा रखना, सरलता रखना, लोभ नहीं करना, प्रतिज्ञा का पालन करना, गंभीर रहना गुणग्राही होना आदि है। यह सब व्यवहार अध्यात्म है।

पूज्यता की वृत्ति इन्हीं गुणों पर आश्रित है, परंतु इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि आत्मदृष्टि का प्रकाश ही धार्मिक आचरण का रहस्य है। साध्य को भूल जाएं और साधनों को ही साध्य समझ लें, तो कभी मंजिल प्राप्त नहीं होगी। वन्दन, पूजन, तप, जप, सभी के उपरांत भी आत्मा को ही भूल जाएं, अर्थात् मूल साध्य को ही भूल जाएं तो यह ऐसी स्थिति होगी जैसे बाराती को तो भोजन कराना किन्तु वर को पूरी तरह से ही भूल जाना।

अध्यात्म तत्त्वालोक में कहा गया है- “ज्ञान, भक्ति, तपश्चर्या और क्रिया का मुख्य उद्देश्य एक ही है कि चित्त की समाधि द्वारा कर्म का लेप दूर करके आत्मा के स्वाभाविक गुणों को प्रकट करना।”^{३७}

द्रव्यानुयोग - चरणकरणानुयोग की दृष्टि में अध्यात्म :

उत्पत्ति, नाश, स्थिरता आदि को परस्पर अनुविद्ध मानकर पदार्थ का निरूपण करने वाला दृष्टिकोण द्रव्यार्थिक दृष्टि है, इसमें गुण पर्याय को गौण करके द्रव्य को प्रमुखता देते हैं। इसे द्रव्यार्थिकनय भी कहा जाता है। द्रव्य को गौण करके गुण तथा पर्याय का प्रतिपादन करने वाला दृष्टिकोण पर्यायार्थिकनय कहलाता है।

^{३७} ज्ञानस्य भक्तेस्तपसः क्रियायाः प्रयोजनं खल्विदमेक मेव

चेतः समाधौ सति कर्मलेपविशोधनादात्मगुणप्रकाशः ॥३॥ - अध्यात्म तत्त्वालोक
-न्यायविजयजी

वस्तु की विशुद्ध स्वभावदशा को ध्यान में रखकर पदार्थ का निरूपण करें, तो विशुद्ध निश्चयनय और अविशुद्ध अवस्था को ध्यान में रखकर वस्तु का निरूपण करें, तो उसे अविशुद्ध निश्चयनय कहते हैं।

इस व्याख्या के अनुसार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त पदार्थ की व्याख्या करने वाले द्रव्यार्थिकनय के अध्यात्म के विषय में चार दृष्टिकोण हैं-

१. विशुद्ध द्रव्यार्थिकनय के अनुसार औदायिक आदि भावों से निष्पन्न, संसारी दशा से निवृत्त परमात्मभाव से अभिव्यक्त तथा द्रव्यत्वरूप में अनुगत-ऐसा विशुद्ध आत्मद्रव्य ही अध्यात्म है।

२. विशुद्ध पर्यायार्थिकनय के अनुसार बहिरात्मदशा को नष्ट करके आत्मत्वरूप में अनुगत जीवद्रव्य में परमात्मभाव का आविर्भाव अध्यात्म कहलाता है।

३. अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय का अभिप्राय यह है कि कर्ममल के कारण प्राप्त भवाभिनंदी की दशा से सहज रूप से निवृत्त होकर अपुनर्बंधक आदि अवस्था को प्राप्त और स्वरूप में अनुगत-ऐसा विशुद्ध हो रहा आत्मद्रव्य ही अध्यात्म है।

४. अशुद्ध पर्यायार्थिकनय के अनुसार उत्कृष्ट संक्लेश से उत्पन्न भोगी अवस्था को नष्ट करके आत्मत्वरूप से अनुगत आत्मद्रव्य में योगीदशा की अभिव्यक्ति अध्यात्म है।^{३८}

चरणकरणानुयोग की दृष्टि में अध्यात्म :

चरणकरणानुयोग चारित्र के मूल गुण एवं उत्तरगुण पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है, अतः चरणकरणानुयोग की दृष्टि से अध्यात्म का अर्थ है- चारित्राचार और चारित्र के मूल गुण तथा उत्तरगुण को केन्द्र में रखकर आत्मा, अध्यात्म आदि पदार्थों का निरूपण करना।

चरणकरणानुयोग की परिधि में रहकर शुद्ध एवं अशुद्ध-ऐसे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों के अभिप्राय से अध्यात्म का चार प्रकार से विवेचन कर सकते हैं।

^{३८}. चतुर्थेऽपि गुणस्थाने शुश्रूषाया क्रियोचिना
अप्राप्तस्वर्णभूषाणां रजताभरणं यथा - अध्यात्मसार उ. यशोविजयजी

१. चरणकरणगुणयोग की दृष्टि से विशुद्ध द्रव्यार्थिकनय के अनुसार अयतना आदि से युक्त असंयत आचार को परिहार करके यथाख्यातचारित्र के पालन में विरत विशुद्ध आत्मद्रव्य ही अध्यात्म है।
२. विशुद्ध पर्यायार्थिकनय के अनुसार प्रमाद आदि से उत्पन्न हुए असंयत आचार का त्याग करके आत्मद्रव्य में यथाख्यातचारित्र का प्रादुर्भाव होना ही अध्यात्म है।
३. अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय के अनुसार असदाचार से सम्पन्न ऐसी भोगी अवस्था से निवृत्त हुआ और सदाचारी के परिपालन में निरत आत्मविशुद्धि की ओर अभिमुख आत्मद्रव्य ही अध्यात्म है।
४. अशुद्ध पर्यायार्थिकनय के अभिप्राय से असंयमजन्य असदाचार का त्याग करके आत्मा में सदाचरण के गुण को प्रकट करना अध्यात्म है।

अध्यात्मसार में यशोविजयजी ने कहा है कि चौथे गुणस्थानक में देवगुरु की भक्ति विनयवैयावच्च, धर्मश्रवण की इच्छा आदि क्रियाएं रही हुई हैं। वहाँ उच्च क्रिया नहीं होने पर भी- अशुद्ध पर्यायार्थिकनय से अध्यात्म है। स्वर्ण के आभूषण नहीं हों, तो चांदी के आभूषण भी आभूषण ही हैं।

अध्यात्म के अधिकारी

महान्, दुर्लभ ऐसे अध्यात्म को प्राप्त करने का अधिकारी कौन है? उसका स्वरूप क्या है? यह भी जानना जरूरी है, क्योंकि मूल्यवान वस्तुओं का विनियोग योग्य पात्र में ही होता है। जिससे स्व और पर-दोनों का हित हो। यदि आभूषण बनाना हों, तो स्वर्णकार को ही देंगे, कुम्भकार को नहीं क्योंकि स्वर्णकार ही इसके योग्य है, वही उस स्वर्ण को सुन्दर आभूषण के रूप में परिवर्तित कर सकता है। चाहे सत्ता हो, सम्पत्ति हो, या विद्या हो, अधिकृत व्यक्ति को प्रदान करेंगे, तो ही फलदायी होगी।

योगशतक में हरिभद्रसूरि ने कहा है कि-समस्त वस्तु में जो जीव जिस कार्य के योग्य हो, वह उस कार्य में उपायपूर्वक प्रवृत्ति करें, तो अवश्य ही सिद्धि मिलती है। उसी प्रकार “योगमार्ग या अध्यात्ममार्ग से ही विशेष सिद्धि प्राप्त होती

है।^{३६} उदाहरण के लिए एक अयोग्य शिष्य को, गुरु के द्वारा दुर्गुणों को दिखाने वाला मन्त्रित दण्ड दे दिया गया। उसने उसे सर्वप्रथम अपने गुरु पर ही अजमाया और उनके दुर्गुणों को जानकर उसने अपने गुरु को ही छोड़ दिया। बाद में अहंकार के वशीभूत उसका भी पतन हो गया। इसीलिए प्रायः ग्रंथ के आरंभ में उसके अधिकारी का भी निर्देशन होता है।

उपाध्याय यशोविजयजी ने अध्यात्म के अधिकारी में तीन गुण होना जरूरी बताया है^{३७} -

१. अलग-अलग नयों के प्रतिपादन से उत्पन्न हुई कुविकल्पों के कदाग्रह से निवृत्ति
२. आत्मस्वरूप की अभिमुखता
३. स्याद्वाद का स्पष्ट और तीव्र प्रकाश

इन तीनों योग्यताओं द्वारा आत्मा में क्रमशः हेतु, स्वरूप और अनुबंध की शुद्धि होती है।

यशोविजयजी ने अध्यात्म के अधिकारी में मुख्य रूप से माध्यस्थ गुण जरूरी बताया है। दार्शनिक, सांप्रदायिक और स्नेहरागादि से मुक्त आत्मा में अध्यात्म शुद्ध रूप में ठहर सकता है। अध्यात्म के लिए कदाग्रह के त्याग का महत्त्व देने का कारण यह है कि अध्यात्म मात्र तर्क का विषय नहीं है, अपितु अनुभूति का विषय है। अनुभूति और श्रद्धा के लिए सरलता जरूरी है।

कुविकल्प दो प्रकार के होते हैं-

१. आभिसंस्कारिक कुविकल्प और २. सहज कुविकल्प

मिथ्यानय से प्रयुक्त कुशास्त्र के श्रवण, मनन आदि से उत्पन्न हुए कुविकल्प आभिसंस्कारिक कहलाते हैं। जैसे-आत्मा क्षणिक है (बौद्ध), यह जगत् अंडे से उत्पन्न हुआ है (पुराण), ईश्वर द्वारा रचाया है (न्याय वैशेषिक दर्शन), ब्रह्मा द्वारा जगत् की रचना की गई है (भागवत दर्शन आदि), यह जगत् प्रकृति

^{३६} अहिगारिनो, उपाएण, होइ सिद्धि, समत्थवत्तुम्मि

फल पगरिस भावओ बिसेसओ जोगमग्गम्मि ।।८।। - योगशतक -हरिभद्रसूरि

^{३७} गलन्नयकृतभ्रान्तिर्यः स्याद्विश्रान्तिसम्मुखः

स्याद्वादविशदलोकेः स एवाध्यात्मभाजनम् ।।५।। -अध्यात्मोपनिषद् -यशोविजयजी

का विकाररूप है (वैभाषिक बौद्ध), यह ज्ञान मात्र स्वरूप है (योगाचार बौद्ध), शून्यस्वरूप है (माध्यमिक बौद्ध)। जगत् की रचना एवं स्वरूप के विषय में इस प्रकार की भ्रान्तियाँ आभिसंस्कारिक कुविकल्प कहलाती हैं।

गुणदोष की विचारणा से परामुख होना, सुख की आसक्ति और दुःख के द्वेष में तत्पर होना, कुचेष्टा, खराब वाणी, और गलत विचार लाना आदि लक्षण सहज कुविकल्प कहलाते हैं।

जब सद्गुरु के समागम से, सुनय के श्रवण-मनन आदि से दुर्नय से उत्पन्न कदाग्रह दूर हो जाता है और उसी प्रकार सहज मल का हास, मिथ्यात्वमोहनीय का क्षयोपशम, तथा भव्यत्व के परिपाक आदि के द्वारा सहज कुविकल्प का भी त्याग हो जाता है और भवभ्रमण के परिश्रम को दूर करने के लिए विशुद्ध आत्मद्रव्य की ओर रुचि होती है, तब स्याद्वाद से प्राप्त निर्मल बोध वाला जीव अध्यात्म का अधिकारी होता है।

शास्त्रों में अपुनर्बंधक, सम्यग्दृष्टि, देशविरति और सर्वविरति- ये चार प्रकार के अध्यात्म के अधिकारी बताए गए हैं तथा चारों के लक्षण भी वर्णित किए गए हैं, जिससे सामान्य व्यक्ति भी अध्यात्म के अधिकारी और अनधिकारी को पहचान सके।

योगशतक में अपुनर्बंधक का लक्षण बताते हुए कहा गया है- “१. जो आत्मा तीव्र भाव से पाप नहीं करती है २. संसार को बहुमान नहीं देता है। ३. सभी जगह उचित आचरण करती है, वह अपुनर्बंधक जीव अध्यात्म की अधिकारी है”।^{४९}

यशोविजयजी ने सम्यक्त्व की ६७ बोल की सज्जाय में शुश्रूषा (शास्त्र-श्रवण की इच्छा), धर्मराग और वीतराग देव, पंचमहाव्रत पालनहार गुरु की

^{४९} पावं न तिव्वभावा कुणइ, ण बहुमण्णई भवं घोरं।

उचियट्ठिं च सेवइ, सब्वत्थ वि अपुणबंधो ति।।१२।।-योगशतक -हरिभद्रसूरि

सेवा-यह तीन सम्यग्दृष्टि के लिंग बताए हैं और ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव को अध्यात्म का अधिकारी बताया है।^{४२}

चारित्रवान् के लक्षण :

चारित्रवान् व्यक्ति मार्गानुसारी, श्रद्धावान्, प्रज्ञापनीय, क्रिया में तत्पर, गुणानुरागी और स्वयं की शक्ति अनुसार धर्मकार्य को करने वाला होता है।

चारित्रवान् आत्मा देशविरति और सर्वविरति के भेद से अनेक प्रकार की होती है और वे अध्यात्म की अधिकारी हैं।

योगबिंदु ग्रंथ में बताया गया है कि अध्यात्म से ज्ञानावरण आदि क्लिष्ट कर्मों का क्षय, वीर्योत्थास, शील और शाश्वत ज्ञान प्राप्त होता है। यह अध्यात्म ही अमृत है।

अध्यात्म तत्त्वालोक में न्यायविजयजी ने भी कहा है- “समुद्र की यात्रा में द्वीप, मरुभूमि में वृक्ष, घोर अंधेरी रात्रि में दीपक और भयंकर ठंड के समय अग्नि की तरह इस विकराल काल में दुर्लभ ऐसे अध्यात्म को कोई महान् भाग्यशाली मनुष्य ही प्राप्त कर सकता है।”^{४३}

इच्छाओं और आकांक्षाओं के कारण हमारा चित्त उद्विग्न एवं मलिन है।

अध्यात्म के अधिकारी विषय विवेचन के बाद अध्यात्म के विभिन्न स्तरों का विवेचन किया जा रहा है।

^{४२} तरुण सुखी स्त्रीपरिवर्यो रे, चतुर सुणे सुरगीत।
तेहथी रागे अतिघणे रे, धर्मसुण्या नी रीत रे। प्राणी ॥१२
भूख्यो अखी उतर्यो रे, जिम द्विज घेवर चंग।
इच्छे तिम जे धर्म ने रे, तेहि ज बीजु लिंग रे। प्राणी ॥१३

-सम्यक्त्व के ६७ बोल की सज्जाय-उ. यशोविजयजी

^{४३} द्वीपं पयोधौ फलिनं मरौ व दीपं निशायां शिखिनं हिमे च
कलौ कराले लभते दुरापमध्यातमतत्त्वं बहुभागधेयः ॥५॥ - अध्यात्म तत्त्वालोक
-न्यायविजयजी

अध्यात्म के विभिन्न स्तर

उपाध्याय यशोविजयजी ने अध्यात्म के विभिन्न स्तर माने हैं-

१. अध्यात्मयोग २. अध्यात्मबीज ३. अध्यात्म-अभ्यास तथा
४. अध्यात्म-आभास।

अध्यात्मयोग किसमें है? अध्यात्मबीज किसमें अंकुरित होता है? अध्यात्मयोग के अभ्यास की ओर कौन बढ़ रहा है? तथा किसे अध्यात्म का आभास होता है? इन सभी तथ्यों पर उपाध्याय यशोविजयजी के अनुसार विवेचन प्रस्तुत है।

शुद्ध निश्चय के मत से सर्वविरत मुनि को ही अध्यात्मयोग होता है। इसका कारण यह है कि संसाररूपी सागर को पार करने की तीव्रेच्छा से मुनि ने आध्यात्मिक विकास के छठे गुणस्थानक को प्राप्त कर लिया है और छठे गुणस्थानकवर्ती जीव में लोकैषणा नहीं होती है। अतः वही अध्यात्मयोग का वास्तविक अधिकारी होता है।

उपाध्याय यशोविजयजी ने ज्ञानसार में कहा है- “धार्मिक मर्यादा में रहते हुए जिसने सर्वविरतिरूप छठा गुणस्थानक प्राप्त कर लिया है तथा जो संसाररूप विषम पर्वत को पार करने के लिए तैयार है, ऐसा मुनि लोकसंज्ञा, अर्थात् लोकैषणा का त्यागी होता है।”^{४४} गतानुगतिकता-नीति यानी दूसरे लोगों ने किया है, वही करना है, जो इस प्रकार की आग्रह बुद्धिवाला नहीं होता है, उसे ही अध्यात्मयोग होता है। शुद्ध निश्चयनय के मत से देशविरतिश्रावक को अध्यात्मयोग का बीज होता है।

व्यवहारनय से अनुगृहीत या अशुद्ध निश्चयनय से देशविरतिश्रावक को भी अध्यात्मयोग होता है। अपुनर्बंधक और सम्यग्दृष्टि जीव को अध्यात्मयोग का बीज होता है।

व्यवहारनय से अपुनर्बंधक, मार्गाभिमुख मार्ग को प्राप्त सम्यग्दृष्टिश्रावक और साधु- सभी को अध्यात्मयोग तात्विक विशुद्धि में सम्भव होता है।

^{४४} प्राप्तः षष्ठं गुणस्थानं भवदुर्गाद्रिलंघनम्
लोकसंज्ञारतो न स्यान्मुनिलोकोत्तरस्थितिः ।।३।। ४३.
लोकसंज्ञात्याग-ज्ञानसार-यशोविजयजी

योगबिन्दु में कारण में कार्य का उपचार करके व्यवहार से अपुनर्बंधक को अध्यात्म और भावना स्वरूप तात्त्विकयोग होता है, क्योंकि कारण भी कर्थाचित् कार्यस्वरूप है। अध्यात्मसार में यशोविजयजी ने भी कारण में कार्य का उपचार करते हुए कहा है-

“अपुनर्बंधक भी जो शमयुक्त क्रिया करता है, वह दर्शनभेद से अनेक प्रकार की हो सकती है। ये क्रियाएँ भी धर्म में विघ्न करने वाले राग और द्वेष का क्षय करने वाली हो सकती हैं, इसलिए ये क्रियाएँ भी अध्यात्म का कारण होती हैं।”^{४५}

अध्यात्म-अभ्यास -

“अध्यात्म के अभ्यासकाल में भी जीव कुछ शुद्ध क्रिया (जैसे दया, दान, विनय, वैयावृत्य) करता है तथा शुभ ओषसंज्ञा वाला ज्ञान भी रहता है।” सकृत्बंधक आदि जीव तो अशुद्ध परिणाम वाले होने से निश्चय और व्यवहारनय से उनको अध्यात्मयोग नहीं होता है, परंतु केवल अध्यात्मयोग का अभ्यास ही होता है। अध्यात्म-अभ्यास यानी कभी-कभी उचित धर्मप्रवृत्ति सकृत्बंधकादि को भावअध्यात्म योगी के योग्य वेष, भाषा, प्रवृत्ति आदि स्वरूप अतात्त्विक अध्यात्म भावनायोग होता है, जो प्रायः अनर्थकारी होता है। योगबिन्दु में कहा है- “अपुनर्बंधक के अतिरिक्त अन्यो का पूर्वसेवारूप अनुष्ठान एक ऐसा उपक्रम है, जो आलोचन-विमर्श या स्वावलोकनरहित तथा उपयोगशून्य है।”^{४६} एक अपेक्षा से यह ठीक है। जब तक कर्ममलरूपी तीव्र विष आत्मा में व्याप्त रहता है, तब तक उसके दूषित प्रभाव के कारण सांसारिक आसक्ति तथा उस ओर आवेगों की प्रगाढ़ तीव्रता बनी रहती है, मिटती नहीं है। सायकल चलाने का अभ्यास करने वाले की तरह वह भी कभी-कभी गिरता है। प्रायः ऐसा अनर्थ सकृत्बंधकादि की प्रवृत्ति में होता है।

कुछ योगाचार्यों के अनुसार सकृत्बंधकादि जीवों में अध्यात्मयोग मानने में कोई विरोध नहीं है, कारण कि उनको उस प्रकार का तीव्र संक्लेश बारबार नहीं

^{४५}. अपुनर्बंधकस्यापि या क्रिया शमसंयुता

चित्रा दर्शन भेदेन धर्मविघ्न क्षयाय सा ॥१९॥ - अध्यात्मस्वरूप अधिकार/अध्यात्मसार - यशोविजयजी

^{४६}. तद्वृत्तयैव, शैषस्य केचिदेनां प्रवक्षेत ।

आलोचनाद्यभावेन तथाभोगसङ्गताम् ॥१८२॥ - योगबिन्दु-हरिमद्रसूरि

होता है जो कि संक्लेश मोहनीयकर्म की सत्तर कोटाकोटि कालप्रमाण स्थिति को अनेक बार कराए। क्योंकि सकृतबंधवाला जीवन में एक ही बार उत्कृष्ट स्थिति (७० कोटाकोटि सागरोपम) बांधने वाला होता है, परंतु उन जीवों को मोक्षमार्ग के विषय में यथार्थ उहापोह नहीं होता है और संसार के स्वरूप का निर्णय नहीं होता है, इसलिए उनमें पूर्वसेवास्वरूप ही अध्यात्मयोग मान सकते हैं। इससे उच्च स्तर का नहीं।

जो पुरुष अपुनर्बन्धकावस्था के सन्निकट है, वह प्रायः पूर्वसेवा के रूप में निरूपित आचार के विपरीत नहीं चलता है। उसका आचार शालीन होता है।

अध्यात्म-आभास

अभ्व्य और भवाभिन्दी जीवों को केवल अध्यात्मयोग का आभास ही होता है, क्योंकि अभ्व्य जीव तो अध्यात्म की प्राप्ति के लिए अत्यंत अयोग्य हैं, अभ्व्य जीव को मोक्ष पर श्रद्धा नहीं होती है, इसलिए उसके द्वारा किए हुए धार्मिक अनुष्ठान, व्रत आदि से अध्यात्म की प्रतीति होती है, किन्तु वह वास्तविक अध्यात्म नहीं होता है। उसी प्रकार भवाभिन्दी जीव अचरमावर्तकालवर्ती है इस कारण कभी वे जीव धर्म का आचरण करते भी हैं, तो इहलोक सुख, अर्थात् लोकप्रसिद्धि, यशकीर्ति आदि और परलोक, स्वर्गादि की प्राप्ति की अपेक्षा से करते हैं। उपाध्याय यशोविजयजी ने 'अध्यात्मसार' में भवाभिन्दी जीव का लक्षण बताते हुए कहा है- "भवाभिन्दी जीव को संसार में रहना अच्छा लगता है तथा वह क्षुद्र, तुच्छ, लोभी, कृपण स्वभाववाला, पराया माल ग्रहण करने की प्रवृत्तिवाला, दीन, इर्ष्यालु, डरपोक, कपटी, अज्ञानी (तत्त्व को नहीं जानने वाला) ऐसे व्यक्तियों द्वारा निष्प्रयोजन अयोग्य और अंत में निष्फल हो-ऐसी क्रियाओं को करने पर वे क्रियाएं अशुद्ध कहलाती हैं।"^{४७}

योगबिन्दु ग्रंथ में हरिभद्रसूरि ने भी कहा है कि अचरमावर्तकाल में अध्यात्म नहीं घट सकता है, क्योंकि अचरमावर्तकालीन जीवों की धर्मप्रवृत्ति का

^{४७} क्षुद्रो लोभरतिर्दीनो मत्सरी भयवान् शठः
अज्ञो भवाभिन्दी स्यान्निष्फलारंभ संगतः ॥६॥ -१. अध्यात्मस्वरूप
अधिकार-अध्यात्मसार -यशोविजयजी
योगबिन्दु -८७ गाथा -हरिभद्रसूरि

फल मात्र लोकपंक्ति ही है। जिस धर्मक्रिया का फल मात्र लोकपंक्ति हो, तो वह धर्मक्रिया अधर्मस्वरूप ही है, क्योंकि लोगो को प्रसन्न करने हेतु मलिन भावना द्वारा जो सत्क्रिया की जाती है, उसे लोकपंक्ति कहा गया है।

चरमावर्त विंशिका में भी कहा गया है कि अचरम पुद्गलपरावर्त का काल धर्म के अयोग्य है तथा चरमावर्तकाल धर्मसाधना की युवावस्था है।

इस प्रकार अध्यात्म के विभिन्न स्तरों का संक्षिप्त में विवेचन किया गया है। अब भौतिक सुख और आध्यात्मिक सुख का विवेचन किया जा रहा है।

भौतिक सुख और आध्यात्मिक सुख

वर्तमान युग विज्ञान का युग है। वैज्ञानिक खोजों के माध्यम से मनुष्य को सुख-सुविधा के अनेक साधन उपलब्ध हैं। सुख-सुविधा के इन साधनों के योग में मनुष्य इतना निमग्न हो गया है कि वह आध्यात्मिक सुख-शांति और अनुभूति से वंचित हो गया है। वह भौतिक सुख को ही सुख मानने लगा है, किन्तु उपाध्याय यशोविजयजी ने स्पष्ट रूप से कहा है- “जब तक आत्मतत्त्व का बोध नहीं होता है, तभी तक सांसारिक विषय-वासनाओं में मनुष्य की रुचि बनी रहती है।” वे अध्यात्मसार में लिखते हैं- “मैं पहले, प्रिया, वाणी, वीणा, शयन, शरीरमर्दन आदि क्रियाओं में सुख मानता था, किन्तु जब आत्मस्वरूप का बोध हुआ, तो संसार के प्रति मेरी रुचि नहीं रही, क्योंकि मैंने जाना कि संसार के सुख पराधीन हैं और विनाशशील स्वभाव वाले हैं। क्योंकि इच्छाएं और आकांक्षाएं हमारी चेतना के समत्व को भंग करती हैं। वे भय और कुबुद्धि का आधार हैं।”^{४८} यशोविजयजी ने ज्ञानसार^{४९} में यह कहा है कि- “इन्द्र, चक्रवर्ती, अर्द्धचक्रवर्ती (वासुदेव) आदि भी विषयों से अतृप्त ही रहते हैं, वे सुखी नहीं हैं। षट्स भोजन, सुगंधित पुष्पवास, रमणीय महल कोमलशय्या, सरस शब्दों का श्रवण, सुंदर रूप का अवलोकन लंबे समय तक करने पर भी उन्हें तृप्ति नहीं

^{४८}. कान्ताधरसुधास्वादाद्युनी यज्जायते सुखम्।

बिन्दुः पाशर्वे तदध्यात्मशास्त्रास्वादसुखोदधेः ॥६॥

- अध्यात्म माहात्म्य अधिकार, अध्यात्मसार, उ. यशोविजयजी

^{४९}. भूशय्या भैक्षमशनं, जीर्णवासो ग्रहं वनं

तथाऽपि निःस्पृहस्याहो चक्रिणोऽत्यधिकं सुखम् ॥७॥ - १२वां अष्टक, ज्ञानसार -उ.

यशोविजयजी

होती है, जबकि भिक्षा से जो भूख का शमन करता है, पुराना जीर्ण वस्त्र पहनता है, वन ही जिसका घर है, आश्चर्य है कि ऐसा निस्पृह मुनि चक्रवर्ती से भी अधिक सुखी है।”^{५०} सच्चा सुख तो वही हो सकता है, जो स्वाधीन हो और अविनाशी हो। इन्द्रियों के विषयों की आकांक्षा या इच्छा से रहित आत्मिक सुख तो अध्यात्म के माध्यम से ही उपलब्ध हो सकता है; क्योंकि वास्तविक सुख भौतिक सुख नहीं है, आत्मिक सुख ही वास्तविक सुख है। वे लिखते हैं- “अपूर्ण विद्या, धूर्त मनुष्य की मैत्री तथा अन्याययुक्त राज्य प्रणालिका जिस प्रकार अंत में दुःख प्रदाता है, उसी प्रकार सांसारिक सुखभोग भी वास्तविक सुख नहीं है। वे भी अंत में दुःख प्रदाता ही बनते हैं। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि जिस प्रकार कोई प्रेमी पहले प्रेमिका की प्राप्ति के लिए दुःखी होता है, उसके बाद उसका वियोग न हो इसकी चिंता में दुःखी होता है।”^{५१} इसलिए उपाध्याय यशोविजयजी की मान्यता है कि सांसारिक सुखों के साधनों के उपार्जन में व्यक्ति दुःखी होता है, फिर उन साधनों की रक्षण की चिंता में दुःखी रहता है फिर अंत में उनके वियोग या नाश होने पर दुःखी होता है इस प्रकार हम देखते हैं कि उपाध्याय यशोविजयजी भौतिक सुविधाओं से जन्मे सुख को दुःख का ही कारण मानते हैं।

विशेषावश्यक भाष्य में भी कहा गया है- “विषय -सुख दुःख रूप ही हैं, दवा की तरह दुःख के इलाज के समान हैं। उन्हें उपचार से ही सुख कहते हैं। परंतु सुख का तत्त्व उसमें नहीं होने से उपचार भी नहीं घटता है।”^{५२}

उपाध्याय यशोविजयजी कहते हैं कि आध्यात्मिक सुख निर्द्वन्द्व या विशुद्ध होता है, जबकि भौतिक सुख में द्वन्द्व होता है, अर्थात् सुख के साथ दुःख जुड़ा हुआ होता है।

उनका यह कथन वर्तमान परिस्थितियों में भी सत्य ही सिद्ध होता है। आज विश्व में संयुक्तराष्ट्र अमेरिका वैज्ञानिक प्रगति और तदजन्य सुख-सुविधाओं

^{५०}. अपूर्णा विद्येव प्रकटखलमैत्रीव कुनय
प्रणालीपास्थाने विधववनितायौवनभिव ॥ -अध्यात्मसार - यशोविजयजी

^{५१}. विषय सुहं दुषखं चिय, दुखखण्डियारओ निगिच्छव
तं सुहभुवयाराओ न उवयारो विणा तत्त्वं -विशेषावश्यकभाष्य

^{५२}. पुरा प्रेमरंभे तदनु तदविच्छेदधरने
तदुच्छेदे दुःखाव्यथ कठिनचेता विषहते- अध्यात्मसार -उ. यशोविजयजी

की दृष्टि से सर्वोच्च शिखर पर माना जाता है, किंतु इसके विपरीत यथार्थ यह है कि आज संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में व्यक्ति को सुख की नींद भी उपलब्ध नहीं है। विश्व में नींद की गोलियों की सर्वाधिक खपत अमेरिका में ही हैं। अमेरिका के निवासी विश्व में सर्वाधिक तनावग्रस्त हैं। आखिर ऐसा क्यों? इसका कारण स्पष्ट है कि उन्होंने भौतिक सुख-सुविधाओं को ही अपने जीवन का चरम लक्ष्य बना लिया है। इसी स्थिति का चित्रण करते हुए उपाध्याय यशोविजयजी ने अध्यात्मसार में लिखा है- “इस संसार में उन्माद को प्राप्त पराधीन बने प्राणी क्षण में हँसते हैं और क्षण में रोते हैं। क्षण में आनंदित होते हैं और क्षण में ही दुःखी बन जाते हैं।”^{६३} वस्तुतः उपाध्याय यशोविजयजी का यह चिन्तन आज भी हमें यथार्थ के रूप में प्रतीत होता है।

यह सत्य है कि विज्ञान और तद्जन्य सुख-सुविधा के साधन न तो अपने-आप में अच्छे हैं, न बुरे। उनका अच्छा या बुरा होना उनके उपयोगकर्ता की दृष्टि पर निर्भर है। जब तक व्यक्ति में सम्यक् दृष्टि का विकास नहीं होता है, उसके वे सुख के साधन भी दुःख के साधन बन जाते हैं। चाकू अपने-आप में न तो बुरा है और न अच्छा। उससे स्वयं की रक्षा भी की जा सकती है और दूसरों की हत्या भी। मूलतः बात यह है कि हम उसका उपयोग कैसे करते हैं। उपयोग करने के हेतु सम्यग्दृष्टि का विकास आवश्यक है। आध्यात्मिक जीवनदृष्टि ही वैज्ञानिक उपलब्धियों के उपयोग की सम्यक् दिशा प्रदान कर सकती है। उपाध्याय यशोविजयजी की दृष्टि में सर्वप्रथम दो बातों को जान लेना आवश्यक है। प्रथम तो यह कि सुख मात्र वस्तुनिष्ठ नहीं है, वह आत्मनिष्ठ भी है- और दूसरे यह कि सुख पराधीनता में नहीं है।

पराधीनता चाहे मनोवृत्ति की हो या इन्द्रिय और शरीर की, वे सुख का कारण नहीं हो सकती हैं। वे स्वयं लिखते हैं- “यदि संसार में हाथी, घोड़े, गाय, बैल अर्थात् परिग्रहजन्य सुख- सुविधा के साधन सुख के कारण हो सकते हैं, तो फिर ज्ञान, ध्यान और प्रशम् भाव आत्मिक-सुख के साधन क्यों नहीं हो सकते”^{६४}

^{६३} हसन्ति क्रीडन्ति क्षणमथ न खिद्यन्ति बहुधा ।

रुदन्ति क्रन्दन्ति क्षणमपि विवादं विदधते ॥ - अध्यात्मसार - यशोविजयजी

^{६४} भवे या राज्यश्रीर्गज तुरगगो संग्रहकृता

न सा ज्ञानध्यान प्रशमजनिता किं स्वमनसि । भवस्वरुपचिन्ता अधिकार- अध्यात्मसार-

उ. यशोविजयजी

वस्तुतः परपदार्थों में सुख मानना पराधीनता का लक्षण है। स्वाधीन सुख का त्याग करके इस पराधीन सुख की कौन इच्छा करेगा। इस प्रकार उपाध्याय यशोविजयजी ने इस बात का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया है कि भौतिक सुख वास्तविक सुख नहीं है। आत्मिक सुख ही वास्तविक सुख है। आत्मिक गुणों के विकास से ही संसार में सुख-शांति और समृद्धि आ सकती है। इस प्रकार विज्ञान के विरोधी तो नहीं हैं, किंतु भौतिक जीवनदृष्टि के स्थान पर आत्मिक जीवन दृष्टि के माध्यम से ही विश्व में शांति की उपलब्धि हो सकती है- इस मत के प्रबल समर्थक हैं।

धर्म और अध्यात्म

धर्म मानव की आध्यात्मिक विकास-यात्रा का सोपान है। धर्म और अध्यात्म के स्वरूप एवं पारस्परिक संबंध को जानने की जिज्ञासा प्रत्येक मानव में होती है। अन्ततः धर्म और अध्यात्म अलग-अलग नहीं हैं, किन्तु प्राथमिक स्थिति में दोनों में भिन्नता है।

सामान्यतया आचार और व्यवहार के कुछ विधि-विधानों के परिपालन को धर्म कहा जाता है। नीतिरूप धर्म हमें यह बताता है कि क्या करने योग्य है तथा क्या करने योग्य नहीं है ? किन्तु आचार के इन बाह्य नियमों के परिपालन मात्र को अध्यात्म नहीं कहते हैं। व्यक्ति जब क्रियाकलापों से ऊपर उठकर आत्मविशुद्धि रूप या स्वरूपानुभूति रूप धर्म के उत्कृष्ट स्वरूप को प्राप्त करता है, तब धर्म और अध्यात्म एक हो जाते हैं।

धर्म शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। जैसे किन्हीं विधि-विधानों के आचरण रूप कर्तव्य या सदाचार के पालनरूप तथा स्वस्वरूप की अनुभूतिरूप हम धर्म के विभिन्न रूपों का अध्यात्म से संबंध बताते हुए धर्म का अन्तिम उत्कृष्ट स्वरूप जहाँ धर्म और अध्यात्म एक हो जाते हैं, का निरूपण करेंगे।

धर्म: कर्मकाण्ड के रूप में :

आज धर्म क्रियाकाण्ड के रूप में बहुत अधिक प्रचलित है। दान देना, पूजा करना, मन्दिर जाना, तीर्थयात्रा करना, साधर्मिकवात्सल्य करना, संघ की सेवा करना भक्ति करना, प्रतिष्ठा- महोत्सव करना, आदि को व्यवहार में धर्म कहते हैं और इन्हें करने वाला धार्मिक कहलाता है। किंतु जब व्यक्ति ये क्रियाएँ इहलौकिक

या पारलौकिक आकांक्षा से करता है, तो वे वस्तुतः धर्म नहीं रह जाती हैं। उपाध्याय यशोविजयजी ने तो उसे भवाभिनंदी की संज्ञा देते हुए कहा है- “संसार में रुचि रखने वाला जीव आहार, उपाधि, पूजा, सत्कार, बहुमान, यशकीर्ति, वैभव आदि को प्राप्त करने की इच्छा से तप, त्याग, पूजा आदि जो भी अनुष्ठान करे तो वह अध्यात्म की कोटि में नहीं है, वह तो संसार की वृद्धि करने वाला है।”^{५५} वस्तुतः मिथ्यादृष्टि व्यक्तियों की इन क्रियाओं की चाहे लौकिक दृष्टि से सांसारिक प्रयोजनो की सिद्धि में कोई उपयोगिता हो, क्योंकि ऐसी दान-दया की प्रवृत्तियों के बिना संसार का व्यवहार नहीं चल सकता है, परंतु ये क्रियाएं मोक्षमार्ग में आध्यात्मिक प्रगति साधने के लिए उपयोगी नहीं हैं।

सामाजिक धर्म :- जैन आचार-दर्शन में न केवल आध्यात्मिक दृष्टि से धर्म की विवेचना की गई है, वरन् धर्म के सामाजिक पहलू पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

स्थानांगसूत्र में धर्म के विभिन्न रूपों की चर्चा करते हुए राष्ट्रधर्म, ग्रामधर्म, नगरधर्म, कुलधर्म, गणधर्म, आदि का भी उल्लेख हुआ है।^{५६} सामान्यतः ग्रामधर्म और नगरधर्म में विशेष अन्तर नहीं है। ग्राम एवं नगर के विकास, व्यवस्था तथा शान्ति के लिए जिन नियमों को बनाया है उनका पालन करना। नगर में एक योग्य नागरिक के रूप में जीना, नागरिक-कर्तव्यों एवं नियमों का पूरी तरह पालन करना नगरधर्म है। आधुनिक सन्दर्भ में राष्ट्रधर्म का तात्पर्य राष्ट्रीय एकता एवं निष्ठा को बनाए रखना तथा राष्ट्र के नागरिकों के हितों का परस्पर घात न करते हुए राष्ट्र के विकास में प्रयत्नशील रहना है। राष्ट्रीय शासन के नियमों के विरुद्ध कार्य नहीं करना, राष्ट्रीय विधि-विधानों का आदर करते हुए उनका समुचित रूप से पालन करना आदि राष्ट्रधर्म है।

पाखण्डधर्म :- सामान्य नैतिक नियमों का पालन करना ही पाखण्डधर्म है। सम्प्रति पाखण्ड का अर्थ ढोंग हो गया है, वह अर्थ यहाँ अभिप्रेत नहीं है। पाखण्डधर्म का तात्पर्य अनुशासित, नियमित एवं संयमित जीवन है।

^{५५}. आहारोपधिपूजासिद्धिं गौरव प्राप्ति बंधतः

भवाभिनंदी यां कुर्यात् क्रियां साध्यात्म वैरिणी ॥५॥ - अध्यात्मसार -उ. यशोविजयजी

^{५६}. दसविहे धम्मे पण्णत्ते तं जहा

ग्राम धम्मे, नयर धम्मे, रट्ट धम्मे, पासंड धम्मे, कुल धम्मे गणधम्मे
सुयधम्मे, चरित्त धम्मे अत्थिकाय धम्मे - स्थानांग १०/७६० (पृ. ३१)

कुलधर्म :- परिवार या वंश-परम्परा के आचार, नियमों एवं मर्यादाओं का पालन करना कुलधर्म है। उसी प्रकार गणधर्म तथा संघधर्म भी नियमों के परिपालन के रूप में हैं।

श्रुतधर्म:- सामाजिक दृष्टि से श्रुतधर्म का तात्पर्य शिक्षण-व्यवस्था संबंधी नियमों का पालन करना है।

चरित्रधर्म :- चरित्रधर्म का तात्पर्य है श्रमण एवं गृहस्थ धर्म के आचार नियमों का परिपालन करना। जैन आचार के नियमों एवं उपनियमों के पीछे सामाजिक दृष्टि भी है। अहिंसा संबंधी सभी नियम और उपनियम सामाजिक शांति के संस्थापन के लिए हैं। अनाग्रह सामाजिक जीवन से वैचारिक संघर्ष को समाप्त करता है। इसी प्रकार अपरिग्रह सामाजिक जीवन से संग्रहवृत्ति, अस्तेय और शोषण को समाप्त करता है।

इन धर्मों के प्रतिपादन का उद्देश्य व्यक्ति को अच्छा नागरिक बनाना है, ताकि सामाजिक और पारिवारिक जीवन के संघर्षों और तनावों को कम किया जा सके तथा वैयक्तिक जीवन के साथ सामाजिक जीवन में भी शान्ति और समता की स्थापना की जा सके।^{५७}

धर्म : सदाचार के पालन के रूप में :

जैनाचार्यों के अनुसार सदगुणों का आचरण या सदाचार आध्यात्मिक साधना का प्रवेशद्वार है। उनकी मान्यता है कि जो व्यक्ति जीवन के सामान्य व्यवहारों में कुशल नहीं है, वह आध्यात्मिक जीवन की साधना में आगे नहीं बढ़ सकता है। आध्यात्मिक साधना से पूर्व इन योग्यताओं का सम्पादन आवश्यक है।

आचार्य हेमचन्द्र ने इन्हें 'मार्गानुसारी' गुण कहा है। उन्होंने योगशास्त्र के प्रथम प्रकाश में ३५ मार्गानुसारी गुणों का विवेचन किया है जैसे न्यायसम्पन्नवैभव, माता पिता की सेवा, पापभीरुता, गुरुजनों का आदर, सत्संगति, अतिथि, साधु, दीन जनों को यथायोग्य दान देना आदि।^{५८}

^{५७}. सदाचार एवं बौद्धिक विमर्श - डॉ. सागरमल जैन

^{५८}. योगशास्त्र - प्रथम प्रकाश - ४७-५६ गाथा

आचार्य नेमिचन्द्र ने प्रवचनसारोद्धार में श्रावक के २१ गुणों का उल्लेख किया है- विशाल हृदयता, सौम्यता, स्वस्थता, लोकप्रियता, अक्रूरता, अशठता, गुणानुराग, दयालुता, दीर्घदृष्टि, कृतज्ञ, परोपकारी, वृद्धानुगामी आदि।^{६६}

समवायांग में एक अन्य दृष्टि से भी धर्म के रूपों की चर्चा मिलती है। इसमें क्षमा, निर्लोभता, सरलता, मृदुता, लाघव, सत्य, संयम, तप, त्याग, ब्रह्मचर्य- दस धर्मों की चर्चा की गई है।^{६०} आचारांग तथा स्थानांग में भी क्षमादि सद्गुणों को धर्म कहा गया है। नवतत्त्व प्रकरण में भी धर्म के दस रूप प्रतिपादित किए गए हैं।^{६१}

वस्तुतः यह धर्म की सद्गुणपरक या नैतिक परिभाषा है। वे सभी सद्गुण जो सामाजिक समता को बनाए रखते हैं, सामाजिक समत्व के संस्थापन की दृष्टि से धर्म कहे गए हैं। वस्तुतः धर्म की इस व्याख्या को संक्षेप में हम यह कहकर प्रकट कर सकते हैं कि सद्गुण का आचरण ही धर्म है और दुर्गुण का आचरण ही अधर्म है। इस प्रकार जैन आचार्यों ने धर्म और नीति, या धर्म और सद्गुण में तादात्म्य स्थापित किया है। इसे उपाध्याय यशोविजयजी ने व्यवहारनय से अध्यात्म कहा है। वे कहते हैं- “व्यवहारनय से बाह्य व्यवहार से पुष्ट निर्मल चित्त अध्यात्म है।”^{६२} फिर भी उपाध्यायजी चित्त की निर्मलता को धर्म और अध्यात्म का मूल आधार मानते हैं।

दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है- “अहिंसा, संयम और तप में धर्म के सभी तत्त्व समाए हुए हैं, अतः अहिंसा, संयम और तप से युक्त धर्म उत्कृष्ट मंगल है।”^{६३}

६६. प्रवचन सारोद्धार - २३६

६०. दसविधे समणधम्मे पण्णत्ते तं जहां खंती, मुत्ती, अज्जवे मद्दवे, लाघवे, सच्चे संजमे तवे चियाए बंभचेरवासे - स्थानांग १०/७१२, आचारांग १/६१५, समवायांग १०/६१

६१. खंती मद्दव, अज्जव, मुत्ती तव संजमे अ बोधत्ते

सच्चं सोअं आकिंचणं च बंभं च जइधम्मो - १।२११। - नवतत्त्व प्रकरण -

श्रीमद्भागवत (४/४६) धर्म की पत्नियाँ एवं पुत्रों के रूप में इन सद्गुणों का उल्लेख है।

६२. अध्यात्मं निर्मलं बाह्य व्यवहारोपबहितम् ॥३॥ - अध्यात्मोपनिषद्- उ. यशोविजयजी

६३. धम्मो मंगल मुक्किद्धं अहिंसा संजमो अ तओ।

देवावि तं नमंस्सति जस्स धम्मे सयामणो ॥१॥ - दशवैकालिक - प्रथम अध्ययन

- शय्यंभवसूरि

शांतसुधारस में उपाध्याय विनयविजयजी ने दान, शील, तप और भाव-ये चार प्रकार के धर्म बताए हैं।^{६४} यह धर्म के चार पाए हैं। मुनि समयसुंदर ने भी अपनी सज्जाय में धर्म के चार प्रकार बताए हैं। अपने धन या सुख-सुविधा के साधनों को निस्वार्थ भाव से दूसरों के हित के लिए उपयोग करना दान कहलाता है, उसमें भी अभयदान का विशेष महत्त्व है।

धर्म का दूसरा पाया ब्रह्मचर्य है। तीसरा पाया तप है, यह बारह प्रकार का होता है। छः बाह्य तथा छः आभ्यंतर तप से अचिंत्य आत्मशक्ति प्रकट होती है। दान की शोभा, शील की महत्ता, तप की श्रेष्ठता भाव पर आधारित है। भोजन में जो स्थान नमक का है, वही स्थान धर्म में भाव का है।

आत्मकेन्द्रित होकर यदि इन धर्मों का पालन किया जाए, तो वह अध्यात्म की श्रेणी में आता है। उपाध्याय यशोविजयजी ने अध्यात्मसार में कहा है- “ज्ञान तथा क्रिया-दोनों रूपों में अध्यात्म रहा हुआ है। जिनके आचरण में छल-कपट नहीं है, ऐसे जीवों में अध्यात्म की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है।”^{६५}

आचार्य हेमचंद्र धर्म की व्याख्या करते हुए कहते हैं-“दुर्गति में गिरते हुए प्राणी की जो रक्षा करे, वही धर्म है। धर्म की इस व्याख्या में भी शुभ अनुष्ठान और संयम दोनों ही आते हैं।”^{६६}

यहाँ अभी तक जो भी धर्म की व्याख्या उद्धृत हैं वे सब किसी न किसी रूप से सदाचरण या अनुष्ठान से संबंधित हैं। यदि मात्र बाह्यदृष्टि से इनका पालन होता है, तो चाहे इन्हें व्यवहारधर्म कहा जा सके, किन्तु वस्तुतः ये धर्म या अध्यात्म नहीं हैं।

अब हम धर्म की वह व्याख्या प्रस्तुत करेंगे, जहाँ धर्म और अध्यात्म एक हो जाते हैं।

^{६४} दानं च शीलं च तपश्चभावो धर्मश्चतुर्था जिनबान्धवेन
निरूपितो यो जगतां हिताय स मानसे में रमताभजस्रम

-१२६, दसवीं धर्मभावना-शांतसुधारस-उपाध्याय विनयविजयजी

^{६५} एवं ज्ञानक्रियास्वरूपमध्यात्मं व्यवतिष्ठते

एतत् प्रवर्धमानं स्यान्निर्दम्भाचारशालिनाम ॥२६॥ -अध्यात्मसार - उ. यशोविजयजी

^{६६} दुर्गतिप्रपतत्प्राणि धारणाद्धर्म उच्यते

संयमादिर्दशविधः सर्वज्ञोक्तो विमुक्तये ॥११॥ -योगशास्त्र द्वितीय प्रकाश -हेमचन्द्रसूरि

इस संदर्भ में धर्म की परिभाषा “वस्तु सहावो धम्मो”, इस प्रकार की गई है। वस्तु का स्वभाव ही उसका धर्म है। जैसे जल का स्वभाव शीतलता है, अग्नि का धर्म ऊष्णता है, उसी प्रकार आत्मा का स्वाभाव समत्व है। एक अन्य दृष्टि से अनंतज्ञान, अनंतदर्शन और अनंतसुख को भी आत्मा का स्वभाव कहा गया है। आत्मधर्म को समझने के लिए पहले स्वभाव को समझना जरूरी है। अनेक बार हम आरोपित या पराश्रित गुणों को भी अपना स्वभाव मान लेते हैं, जैसे- उसका स्वभाव क्रोधी है। प्रश्न यह उठता है कि क्या क्रोध स्वभाव है? वस्तु का स्वभाव उसे कहते हैं, जो हमेशा उस वस्तु में निहित हो। स्वभाव में रहने के लिए किसी बाहरी संयोग की आवश्यकता नहीं होती है। वस्तु से उसके स्वभाव को अलग नहीं किया जा सकता जैसे जल का स्वभाव शीतलता है तो हम शीतलता को जल से अलग नहीं कर सकते हैं। यदि अग्नि के संयोग से उस गर्म भी करते हैं, तो अग्नि को हटाने पर वह स्वाभाविक रूप से थोड़ी ही देर में ठंडा हो जाता है। ठीक उसी प्रकार मनुष्य का स्वभाव समत्व है या क्रोध- इस कसौटी पर दोनों को कसकर देखें, तो पहली बात यह है कि क्रोध कभी स्वतः नहीं होता है, बिना किसी बाहरी कारण के हम क्रोध नहीं करते हैं। गुस्से के लिए किसी दूसरे का होना जरूरी है। प्रतिपक्षी के दूर हो जाने पर गुस्सा शांत हो जाता है। पुनः गुस्सा आरोपित होता है, तो उसे छोड़ा जा सकता है कोई भी व्यक्ति चौबीसों घण्टे क्रोध की स्थिति में नहीं रह सकता है, किंतु शांत रह सकता है, समत्वभाव में रह सकता है; अतः आत्मा के लिए क्रोध विधर्म है और समत्व स्वधर्म है। दूसरे शब्दों में समत्व का भाव या ज्ञाता-दृष्टा भाव में स्थित रहना ही धर्म है।

उपाध्याय यशोविजयजी भी कहते हैं कि निश्चयनय से विशुद्ध ऐसी स्वयं की आत्मा में चित्रवृत्ति का दृष्टाभाव से रहना ही अध्यात्मधर्म है। अध्यात्मसार में उन्होंने बताया कि निश्चयनय पाँचवें देशविरति नामक गुणस्थान से ही अध्यात्म को स्वीकार करता है, ^{६७} क्योंकि यहाँ से चित्तवृत्ति का निर्मल होना प्रारंभ हो जाता है।

धर्म को चाहे वस्तुस्वभाव के रूप में परिभाषित किया जाए, चाहे समता या अहिंसा के रूप में परिभाषित किया जाए, उसका मूल अर्थ यही है कि वह विभाव से स्वभाव की ओर यात्रा है और यही अध्यात्म और धर्म में तादात्म्य होता है।

^{६७} तत्पंचमगुणस्थानादारभ्यैवैतदिच्छति ।

निश्चयो व्यवहारस्तु पूर्वमध्युपचारतः ॥३॥ -अध्यात्मसार -उ. यशोविजयजी
सदाचारः एक बौद्धिक विमर्श - डॉ. सागरमल जैन

तृतीय अध्याय

अध्यात्मवाद का तात्त्विक आधार-आत्मा

आत्मा की अवधारणा एवं स्वरूप

जैन-धर्म विशुद्ध रूप में आध्यात्मिक धर्म है। उसका चरम बिन्दु है- आत्मोपलब्धि या आत्मा की स्व स्वरूप में उपस्थिति। अध्यात्मसार में उपाध्याय यशोविजयजी ने कहा है- “आत्मा को जानने के बाद कुछ जानने योग्य बाकी नहीं रहता है, परन्तु जिसने आत्मा को नहीं जाना, उसका दूसरा वस्तुगत ज्ञान निरर्थक है।”^{६८} छान्दोग्योपनिषद् में कहा है कि जो आत्मा को जानता है, वह सबको जानता है। आचारांगसूत्र में भी कहा गया है कि “जो अध्यात्म अर्थात् आत्मस्वरूप को जानता है, वह बाह्य जगत् को जानता है।”^{६९} क्योंकि बाह्य की अनुभूति भी आत्मगत ही है इस संसार में जानने योग्य कोई तत्त्व है, तो वह आत्मा ही है। आत्मा ही शाश्वत तत्त्व है एक बार आत्म तत्त्व में, उसके स्वरूप में रुचि जगने के बाद फिर दूसरी वस्तुएँ तुच्छ और निरर्थक लगती हैं। अन्य द्रव्यों का ज्ञान आत्मज्ञान को अधिक स्पष्ट और विशद करने के लिए हो सकता है किंतु जिस व्यक्ति को आत्मज्ञान में ही रस नहीं है उसका अन्य पदार्थों का ज्ञान अंत में निरर्थक ही है इसलिए अग्रिम पृष्ठों में अध्यात्म के तात्त्विक आधार “आत्मा” के स्वरूप का वर्णन है।^{७०}

-
६८. ज्ञाते ह्यत्मनि नो भूयो ज्ञातव्यमवशिष्यते
अज्ञाते पुनरेतस्मिन् ज्ञानमन्यन्निरर्थकम् ॥ २।।-अध्यात्मनिश्चय अधिकारः अध्यात्मसारः
३. यशोविजयजी
६९. यः आत्मवित् स सर्ववित् -छान्दोग्योपनिषद्
७०. जे अज्ज्ञात्थं जाणइ से वहिया जाणइ। -आचारांगसूत्रः

“जो आत्मा है, वह विज्ञाता है और जो विज्ञाता है, वह आत्मा है।”^{७१} आत्मा और ज्ञान में एक दृष्टि से तादात्म्य है। आत्मा द्रव्य है, ज्ञान उसका गुण है। यशोविजयजी ने ज्ञानसार में कहा गया है- “मैं शुद्ध आत्मद्रव्य हूँ और शुद्ध ज्ञान ही मेरा गुण है।”^{७२} द्रव्य से गुण भिन्न है, या अभिन्न; इस जिज्ञासा को शांत करने के लिए सूत्रकार कहते हैं कि जो आत्मा है, वह विज्ञाता है। इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा ज्ञानशून्य नहीं है। जो विज्ञाता है, वह आत्मा है; इसका तात्पर्य यह है कि ज्ञान आत्मा के बिना नहीं है। चूर्णिकार कहते हैं- “कोई भी आत्मा ज्ञान-विज्ञान से रहित नहीं है। जैसे अग्नि ऊष्णता के गुण से रहित नहीं होती है, ऊष्णता अग्नि से भिन्न पदार्थ नहीं है इसलिए अग्नि के कथन से ऊष्णता का कथन स्वयं हो जाता है; उसी प्रकार आत्मा के कथन से विज्ञान, अर्थात् चेतना का कथन स्वयं हो जाता है और विज्ञान या चेतना के कथन से आत्मा का कथन भी स्वयं हो जाता है।”^{७३} भगवतीसूत्र में भी आत्मा और चैतन्य का अभेद प्रतिपादित है। व्यवहार में हम कहते हैं कि ‘आत्मा का ज्ञान’; यहाँ षष्ठी विभक्ति का प्रयोग करके ‘का’ प्रत्यय लगाने से आत्मा और ज्ञान अलग-अलग हों, ऐसा आभास होता है। वास्तव में निश्चयनय की दृष्टि से तो आत्मा ही ज्ञान है। इसे यशोविजयजी ने घड़े का उदाहरण देकर समझाया है कि- “घड़े का रूप-यह व्यवहार से बोलने की पद्धति है। घड़े का आकार या रूप षष्ठी विभक्ति से यानी कल्पना से उत्पन्न हुआ है, परंतु निश्चयनय की दृष्टि से घड़े और उसका रूप-दोनों में अभेद है। दोनों को अलग-अलग नहीं कर सकते हैं। इसी प्रकार आत्मा का ज्ञान- यह तो व्यवहारनय की दृष्टि से ही आत्मा और ज्ञान को अलग बताने में आता है;”^{७४} किंतु निश्चयनय से या तात्त्विक दृष्टि से देखें, तो आत्मा ही ज्ञान है, अर्थात् आत्मा यह ज्ञानस्वरूप है।

आत्मा एक या अनेक - यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या ज्ञान की अनेकता से प्रत्येक आत्मा की भी अनेकता हो जाएगी? यदि ऐसा मानेंगे तो फिर

७१. जे आया से विष्ण्वाया से आया जेण विजाणपति से आया। २/५/५। आचारंगसूत्र -संपादक मधुकर मुनि

७२. शुद्धात्मद्रव्य मेवाहं, शुद्ध ज्ञानं गुणो मम -मोहत्याग अष्टक -४ ज्ञानसार -उ. यशोविजयजी

७३. आचारंग महाभाष्य -पृष्ठ २८३ - आचार्य महाप्रज्ञ

७४. घटस्य रुपमित्यत्र यथा भेदो मिकल्पजः

आत्मनश्च गुणानो च तथा भेदो न तात्त्विकः ॥६॥ -६८६

- आत्मनिश्चय अधिकार-अध्यात्मसार-उ. यशोविजयजी

मनःपर्यवज्ञान में अनेक पर्यायों के ज्ञान से आत्मा के भी अनेक भेद हो जाएंगे। इस जिज्ञासा के समाधान की दृष्टि से सूत्रकार कहते हैं कि यह आत्मा जिस-जिस ज्ञान में परिणत होती है, उस उसको प्राप्त कर वह वैसी ही बन जाती है। इसलिए वह आत्मा उस ज्ञान की अपेक्षा से जानी जाती है। जब वह घट के ज्ञान से युक्त होती है, तब वह आत्मा घटज्ञान वाली होती है। घटज्ञान में पट की चेतना (उपयोग) नहीं होती है और न पटज्ञान में घट की चेतना (उपयोग) होती है। इस प्रकार श्रोत्र के विषय में उपयुक्त होकर श्रोत्रेन्द्रिय यावत् रस के विषय में उपयुक्त होकर रसनेन्द्रिय हो जाती हैं। क्योंकि “आत्मा उत्पाद -व्यय ध्रौव्य युक्त है, आत्मा का अस्तित्व ध्रुव है, ज्ञान के परिणाम उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं,”^{७५} इसलिए आत्मा द्रव्य अपेक्षा से एक है और पर्याय अपेक्षा से अनेक।

जैसे सिन्धु का जल न एक है और न अनेक। वह जलराशि की दृष्टि से एक है और अलग-अलग जल बिन्दुओं की दृष्टि से अनेक भी है। समस्त जलबिन्दु अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हुए उस जलराशि से अभिन्न ही हैं। इस प्रकार की प्रेरणा से ज्ञानगुण मनःपर्यव आदि अनेक पर्यायों की चेतना से युक्त होते हुए भी आत्मा से अभिन्न है।

जीव(आत्मा) का लक्षण-भगवतीसूत्र^{७६} उत्तराध्ययन^{७७} तथा तत्त्वार्थसूत्र^{७८} में कहा गया है कि जीव का लक्षण उपयोग है। लक्षण द्वारा किसी भी वस्तु को अन्य वस्तुओं से अलग करके पहचाना जा सकता है; यही लक्षण की विशेषता है। उपयोग जीव का आत्मभूत लक्षण है। यह संसारी और सिद्ध-दोनों ही दशाओं में रहता है। जीव का यह लक्षण त्रिकाल में भी बाधित नहीं हो सकता है। यह लक्षण असंभव, अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोषों से रहित और पूर्णतः निर्दोष हैं। बोध, ज्ञान, चेतना और संवेदन-ये सभी उपयोग के पर्यायवाची शब्द हैं।

“उपयोग दो प्रकार का कहा गया है-निराकार उपयोग और साकार उपयोग।”^{७९} इनको क्रमशः दर्शन और ज्ञान भी कहा जाता है। जो वस्तु के

७५. आत्मा उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तः। आत्मनः अस्तित्वं ध्रुवं, ज्ञानस्य परिणामाः अत्यद्यन्ते व्ययन्ते च - आचारांग महाभाष्य -२८४ -आचार्य महाप्रज्ञ

७६. उपयोगलक्षणो जीव - भगवतीसूत्र अ. २, उद्देशक १०

७७. जीवो उवओग लक्षणो -उत्तराध्ययन -२८१०

७८. उपयोगो लक्षणम् १८१ -तत्त्वार्थसूत्र अध्याय -२

७९. दुविहे उवओगे पण्णत्ते -सागारोवओगे,अणागारोवओगे य-प्रज्ञापना सूत्र -पद -२९

सामान्य स्वरूप को ग्रहण करता है, वह दर्शनोपयोग कहा जाता है और जो वस्तु के विशिष्ट स्वरूप को ग्रहण करे, उसे ज्ञानोपयोग कहा जाता है। भाष्य में कहा जाता है कि ज्ञान में जो स्थिरता है, वही चारित्र्य है। यहाँ ज्ञान व चारित्र्य को भी अभेदरूप में मान लिया गया है, अतः आत्मा ज्ञानोपयोगमय और दर्शनोपयोगमय इन दो लक्षणों से युक्त हैं।

चूँकि ज्ञान आठ प्रकार का है, अतः “ज्ञानोपयोग भी आठ प्रकार का है”- (१) मतिज्ञान (२) श्रुतज्ञान (३) अवधिज्ञान (४) मनःपर्यवज्ञान (५) केवलज्ञान (६) मतिअज्ञान (७) श्रुतिअज्ञान और (८) विभंगज्ञान। इन आठ प्रकार के ज्ञानों में से आत्मा जब और जिस उपयोग में जानने की क्रिया करता है, तब उसका उपयोग भी उसी प्रकार का हो जाता है।

निराकार (दर्शन) उपयोग चार प्रकार का है।

(१) चक्षु दर्शनोपयोग (२) अचक्षु दर्शनोपयोग

(३) अवधि दर्शनोपयोग (४) केवल दर्शनोपयोग

आत्मा ज्ञान-दर्शन-चारित्र्यमय :

उपाध्याय यशोविजयजी ने ज्ञानसार में कहा गया है- “जब आत्मा, आत्मा के द्वारा, आत्मा को ही, आत्मा में जानती है, तो वही आत्मा चारित्र्यरूप और वही आत्मा दर्शनरूप होती है।”^{८०} इन गुणों को आत्मा से भिन्न नहीं किया जा सकता है। आत्मस्वरूप में रमण करने की प्रवृत्ति त्यागने से चारित्र्यरूप, आत्म-स्वरूप को जानने से ज्ञानरूप, और स्वयं के असंख्येय प्रदेशों में फैलकर रहने वाला होने से सहजरूप ज्ञानादि अनंत पर्याय वाला मैं हूँ अन्य नहीं, इस प्रकार का निर्धारण ही दर्शन होता है। इस प्रकार आत्मा ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य लक्षण से भी पहचानी जाती है। उपाध्याय यशोविजयजी ने आत्मा ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य से भी अभिन्न है, यह बताने के लिए एक रत्न का उदाहरण दिया है। “रत्न का तेज और रत्न अलग-अलग नहीं हैं। रत्न को ग्रहण कर लिया जाए, तो उसका तेज उससे अलग होकर नहीं रहता, वह रत्न के साथ ही रहता है। रत्न और तेज (चमक) को अलग नहीं कर सकते, दोनों में गुण और गुणी का सम्बन्ध है।

८०. आत्माऽऽत्मन्येव यच्छुद्धं, जानात्यात्मानमात्मना।

संयं रत्नत्रये ज्ञप्तिरुच्छ्याचारैकता मुनेः॥२॥-ज्ञानसार, १३/२, उ. यशोविजयजी

उसी प्रकार आत्मा से उसके ज्ञानादि गुण अभिन्न है।” प्रश्न उठता है कि यदि ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य तीनों अलग-अलग हैं, तो ये तीनों आत्मा में एक साथ कैसे रह सकते हैं। इसका उत्तर यह है कि “जैसे रत्न की प्रभा, निर्मलता और शक्ति (वांछित फल प्रदान करने की चिंतामणि रत्न की शक्ति) आदि अलग-अलग होने पर भी तीनों गुण आत्मा में एक साथ रह सकते हैं; उसी प्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य- ये तीनों गुण आत्मा से अभिन्न हैं।”^{८१}

निश्चयनय से आत्मा ही ज्ञान है, आत्मा ही दर्शन है आत्मा ही चरित्र है। उपाध्याय यशोविजयजी कहते हैं-“वस्तुतः ज्ञानादि गुण का स्वरूप आत्मा से भिन्न नहीं है, अन्यथा आत्मा-अनात्मा रूप हो जाएगी और ज्ञानादि गुण भी जड़ हो जाएंगे, परंतु ऐसा शक्य नहीं है।”^{८२} इसीलिए आत्मा और उसके ज्ञानादि गुणों के बीच अभिन्नता है।

आत्मद्रव्य सर्वत्र सर्वकाल एक जैसा है :

संसार में मनुष्य, तिर्यच, देव और नारकी-इन चारों गतियों के अनन्तानंत जीव हैं। प्रतिसमय जन्म-मरण का चक्र चल रहा है। “पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम्” का क्रम चल रहा है, परंतु इन सब में रही हुई विशुद्ध आत्मा ज्ञानगुण से और आत्मप्रदेशों से एक जैसी है। स्थानागंसूत्र में यह कहा गया है कि ‘एगे आया’ अर्थात् आत्मा एक है। आत्माएँ अनंत होने पर भी चौदह राजलोक की सभी आत्माएँ समान हैं, इसका आशय यही है कि सभी जीवों में स्वरूप दृष्टि से एक ही प्रकार की आत्मा रही हुई है। इसीलिए ‘संग्रहनय’ की दृष्टि से आत्मा एक है- यह कहने में आया है। आत्मा के द्वारा धारण किए हुए देह भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु यह भिन्नता बाह्य है, भ्रामक है, क्षणिक है। इसे उपाध्याय यशोविजयजी ने सुवर्ण के अलंकारों का उदाहरण देकर बताया है- “एक ही स्वर्ण से कंगन, कुंडल आदि बनाने में आते हैं। कंगन को गलाकर हार बनाया जाता है, हार को गलाकर पोंची बनाई जाती है, ये सभी अलंकार नाम, रूप आदि में भिन्न हैं; किंतु उन सबमें रहा हुआ स्वर्ण तो वही

८१. प्रभानैर्मल्यशक्तीनां यथा रत्नान् अभिन्नता ।
ज्ञानदर्शनचारित्र्यलक्षणानां तथात्मनः ।।११।।-आत्मनिश्चयाधिकार-अध्यात्मसार, उ.
यशोविजयजी

८२. वस्तुतस्तु गुणानां तद्रूपं न स्वात्मनः पृथक् ।
आत्मा स्यादन्यथाऽनात्मा ज्ञानाद्यपि जडं भवेत् ।।११।।-वही

है। एक ही व्यक्ति में बालपन, यौवन, वृद्धावस्था आदि अवस्थाएं देखने में आती हैं, लेकिन इसमें रही हुई विशुद्ध आत्मा न तो बालक है और न ही वृद्ध। आत्मद्रव्य सर्वत्र सर्वकाल में एक ही जैसा है।”^{८३}

आत्मा मूर्त्त या अमूर्त्त, देह से भिन्न या अभिन्न :

उपाध्याय यशोविजयजी कहते हैं- “व्यवहारनय को मानने वाले आत्मा में कथंचित् मूर्त्तता मानते हैं, कारण कि उसमें वेदना का उद्भव होता है।”^{८४}

देह और आत्मा एक ही क्षेत्र में रहे हुए हैं। किसी मनुष्य को लकड़ी से प्रहार करें, तो वह वेदना शरीर में होती है, आत्मा तो मात्र दृष्टा होती है। मूर्त्त द्रव्यकृत परिणाम मूर्त्त द्रव्य में ही होता है, अमूर्त्त में नहीं। देहधारी जीव पर प्रहार करने से उसे जो वेदना होती है, वह शरीर के प्रति होती है, इसीलिए जैन दर्शन संसारी आत्मा में कथंचित् मूर्त्तता स्वीकारता है। ममत्व के कारण इस प्रकार व्यवहारनय अमुक अंश में देह के साथ आत्मा की अभिन्नता मानता है। भगवान् महावीर के सम्मुख जब यह प्रश्न उपस्थित किया गया कि भगवान् जीव वही है, जो शरीर है; या जीव भिन्न है और शरीर भिन्न है? भगवान् महावीर ने उत्तर दिया- “गौतम! जीव शरीर भी है और शरीर से भिन्न भी है।”^{८५} इस प्रकार भगवान् महावीर ने आत्मा और देह के मध्य भिन्नत्व तथा एकत्व दोनों को स्वीकार किया है।

आचार्य कुंदकुंद ने कहा कि व्यावहारिक दृष्टि से आत्मा और देह एक ही हैं, लेकिन निश्चयदृष्टि से आत्मा और देह कदापि एक नहीं हो सकते हैं।^{८६} उपाध्याय यशोविजयजी ने अध्यात्मसार में निश्चयनय से कथन करते हुए कहा

-
८३. यथैकं हेम केयूरकुंडलादिषु वर्तते।
नूनारकादिभावेषु तथात्मैको निरंजनः ॥२४॥ (७०९) -
आत्मनिश्चयाधिकार-अध्यात्मसार ३, यशोविजयजी
८४. देहेन सममेकत्वं मन्यते व्यवहारवित्
कथांचिन्मूर्त्तताफतेवेदनादिसमुद्भवात् ॥३४॥ (७११) -
आत्मनिश्चयाधिकार-अध्यात्मसार ३, यशोविजयजी
८५. भगवतीसूत्र १३/७/४६५
८६. व्यवहारणयो भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इवको।
ण दु पिच्छयस्स जीवो देहो य कदापि एक हो ॥३२॥ -समयसार- आचार्य कुन्दकुन्द

गया है- "जैसे घी ऊष्ण अग्नि के संयोग से, ऊष्ण है- ऐसा भ्रम होता है, उसी प्रकार मूर्त्त अंग के सम्बन्ध से, आत्मा मूर्त्त है- ऐसा भ्रम होता है।"^{८७} अग्नि का गुणधर्म ऊष्णता है, घी का गुणधर्म ऊष्णता नहीं है, परंतु घी को अग्नि पर तपाने से घी के शीतल परमाणुओं के बीच अग्नि के उष्ण परमाणु प्रवेश कर जाते हैं; इसलिए घी गरम है- ऐसा भ्रम होता है। गरम घी खाने पर भी शरीर में ठंडक ही करता है, कारण शीतलता उसका स्वभाव है; उसी प्रकार आत्मा शरीर में रहने से मूर्त्त प्रतीत होती है, परंतु स्वलक्षण से अमूर्त्त ही है। "आत्मा का गुण रूप, रस, गंध, स्पर्श, आकृति, शब्द नहीं है; तो उसमें मूर्त्तत्व कहाँ से है।"^{८८} अतः आत्मा अमूर्त्त है।

वस्तुतः आत्मा और शरीर में एकत्व माने बिना स्तुति, वंदन, सेवा आदि अनेक धार्मिक आचरण की क्रियाएँ संभव नहीं हैं। दूसरी ओर आत्मा और देह में भिन्नता माने बिना आसक्तिनाश तथा भेदविज्ञान की संभावना नहीं हो सकती है। अतः आत्मा और शरीर कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न हैं।

आत्मा के भेद - प्रत्येक आत्मा की विभिन्न अवस्थाओं (पर्यायों) के आधार पर जैनाग्रहों में आत्मा के भेद किए गए हैं।^{८९} भगवतीसूत्र में आत्मा के आठ भेद किए गए हैं -

१. द्रव्यात्मा - आत्मा का तात्त्विक स्वरूप
२. कषायात्मा - क्रोधादि कषायों या मनोवेगों से युक्त चेतना की अवस्था
३. योगात्मा - शरीर से युक्त होने पर चेतना की कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं की अवस्था।

८७. उष्णस्याग्नेर्यथा योगाद् धृतमुष्णमिति भ्रमः
तथा मुर्त्तंगसंबंधदात्मा मूर्त्त इति भ्रमः ॥३६ ॥ -आत्मनिश्चयाधिकार-अध्यात्मसारं ३
यशोविजयजी

८८. न रूपं न रसो गंधो न, न स्पर्शो न चाकृतिः
यस्य धर्मो न शब्दो वा तस्य का नाम मूर्त्तता ॥३७ ॥ - आत्मनिश्चयाधिकार
-अध्यात्मसार ३ यशोविजयजी

८९. वही १२/१०/४६७

४. उपयोगात्मा - आत्मा की ज्ञानात्मक और अनुभूत्यात्मक शक्तियाँ
 ५. ज्ञानात्मा - चेतना की विवेक और तर्कशक्ति
 ६. दर्शनात्मा - चेतना की अनुभूति की अवस्था
 ७. चारित्रात्मा - चेतना की संकल्पनात्मक शक्ति
 ८. वीर्यात्मा - चेतना की क्रियात्मक शक्ति

उपर्युक्त आठ प्रकारों में द्रव्यात्मा, उपयोगात्मा, ज्ञानात्मा और दर्शनात्मा ये चार तात्त्विक आत्मा के स्वरूप की ही द्योतक हैं। शेष चार- कषायात्मा, योगात्मा, चारित्रात्मा और अपेक्षा विशेष से वीर्यात्मा- ये चारों आत्मा के अनुभवाधारित स्वरूप की निदर्शक हैं। तात्त्विक आत्मा द्रव्य की अपेक्षा से नित्य होती है, यद्यपि उसमें ज्ञानादि की पर्याय होती रहती हैं। अनुभवाधारित आत्मा चेतना की शरीर से युक्त अवस्था है। यह परिवर्तनशील एवं विकारयुक्त होती है।

भारतीय परम्परा में बौद्धदर्शन ने आत्मा के अनुभवाधारित परिवर्तनशील पक्ष पर अधिक बल दिया है, जबकि सांख्य और शांकर वेदान्त ने आत्मा के तात्त्विक स्वरूप पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित की है। जैनदर्शन दोनों ही पक्षों को स्वीकार कर उनके बीच समन्वय का कार्य करता है। आत्मा के इन आठ प्रकारों की चर्चा मात्र भगवतीसूत्र में ही देखने को मिलती है, उपाध्याय यशोविजयजी ने इन भेदों की चर्चा नहीं की है।

उपाध्याय यशोविजयजी द्वारा आत्मा के सम्बन्ध में अन्य दार्शनिकों के मतों की समीक्षा :

भारतीय दर्शनों में आत्मा के विषय में भिन्न-भिन्न मान्यताएँ हैं। कोई आत्मा के अस्तित्व को ही नहीं स्वीकारते हैं, तो कोई आत्मा को नश्वर मानते हैं। कोई बुद्धि को, कोई इन्द्रिय या मन को और कोई विज्ञान-संधान को आत्मा समझता है। कोई आत्मा को नित्य मानते हैं। कोई आत्मा कर्म का कर्ता और भोक्ता भी आत्मा नहीं है ऐसा मानते हैं। वस्तुतः चार्वाक, बौद्ध, सांख्य, नैयायिक आदि दर्शनों में आत्मा की अवधारणा, युक्तिसंगत नहीं है। उपाध्याय यशोविजयजी ने गहन चिंतन करके इन सभी मतों की समीक्षा की है।

१. चार्वाकदर्शन -

भारतीय दर्शनों में चार्वाकदर्शन या लोकायतदर्शन २५०० वर्ष से पुराना मानते हैं। यह दर्शन आत्मा, मोक्ष, पुण्य और पाप का फल आदि की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार नहीं करता है, इसलिए इसे नास्तिक दर्शन भी कहते हैं। यह दर्शन प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानता है तथा शरीर एवं चेतना को अभिन्न स्वीकार करता है।

चार्वाकदर्शन कहता है कि आत्मा जैसा कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है अगर हो, तो उसका प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता है। जो दिखता है, वह तो शरीर है; अतः जो शरीर है, वही आत्मा है।

यशोविजयजी इस मत की समीक्षा करते हुए कहते हैं- “चार्वाकदर्शन की यह मान्यता मिथ्या है कि शरीर ही आत्मा है। कारण यह है कि संशयादि के कारण जीव प्रत्यक्ष ही है।”^{६०} आत्मा है या नहीं या “किम अस्मि नास्मि (मैं हूँ या नहीं)-यह संशय किसको होता है।”^{६१} विचारशक्ति के कारण ही यह संशय उत्पन्न हुआ और इस विचारशक्ति को हम ज्ञानगुण के रूप में पहचान सकते हैं। चूंकि गुणी के बिना गुण नहीं रह सकता है, तथा गुण और गुणी में कथंचित् अभेद होता है, अतः आत्मा ही गुणी है, इस प्रकार के संशय के प्रत्यक्ष आत्मा का प्रत्यक्ष सिद्ध होता ही है। विशेषावश्यकभाष्य की टीका में भी कहा गया है- ‘देह मूर्त और जड़ है, ‘संशय’ ज्ञानरूप है और ज्ञान आत्मा का गुण है तथा आत्मा अमूर्त है। गुण अनुरूप गुणी में ही रहते हैं।”^{६२}

ज्ञानगुण अगर शरीर का गुण मानते हैं, तो यह गुण ‘शव’ में भी होना चाहिए; परंतु ‘शव’ संशय करके कुछ नहीं पूछता है। पूछने वाला शरीर से भिन्न है, इसी को आत्मा कहते हैं। पाश्चात्य विचारक देकार्त ने भी इसी तर्क के आधार पर आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया है। वह कहता है- “सभी के अस्तित्व में सन्देह किया जा सकता है, परंतु सन्देहकर्ता में सन्देह करना तो सम्भव नहीं है।

६०. तदेतद्दर्शनं मिथ्या जीवः प्रत्यक्ष एव यत्
गुणानां संशयादीनां प्रत्यक्षाणामभेदतः ॥१९६॥ (३६०) -मिथ्यात्वत्याग अधिकार
-अध्यात्मसारः उ. यशोविजयजी
६१. जड़ नस्थि संसृष्टिच्यव किमस्थि नस्थि ति संसृष्टो करस्त? -विशेषावश्यकभाष्य गाथा
-१५५७
६२. देहोऽगुणीति चेत् न देहस्य मूर्तत्वाऽजडत्वात् ज्ञानस्य चामूर्तत्वाद् बोध रुपत्वात् न चाननुरूपाणां गुण गुणी भावो युज्यते। -विशेषावश्यकभाष्य टीका पृष्ठ -६६८

सन्देह का अस्तित्त्व सन्देह से परे है। सन्देह करना विचार करना है और विचारक के अभाव में विचार नहीं हो सकता है। 'मैं विचार करता हूँ, अतः मैं हूँ'- इस प्रकार देकार्त के अनुसार भी आत्मा का अस्तित्त्व स्वयंसिद्ध है।"^{६३}

आचार्य शंकर ब्रह्मसूत्रभाष्य में ऐसे ही तर्क देते हुए कहते हैं-"जो निरसन कर रहा है, वही तो उसका स्वरूप है।"^{६४} आत्मा के अस्तित्त्व के लिए स्वतःबोध को आचार्य शंकर भी एक प्रबल तर्क के रूप में स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि "सभी को आत्मा के अस्तित्त्व में भरपूर विश्वास है; कोई भी ऐसा नहीं है, जो यह सोचता हो कि मैं नहीं हूँ।"^{६५}

चार्वाकदर्शन कहता है कि, मैं देखता हूँ, मैं सुखी हूँ आदि अहंकार और ममकार का जो अनुभव होता है, वह शरीर का धर्म है।

उपाध्याय यशोविजयजी कहते हैं कि चार्वाक की यह बात युक्तिसंगत नहीं है; कारण कि "शरीर के जो धर्म हैं, वे तो नेत्रादि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष दिखते हैं। शरीर के जो गुणधर्म हैं, वे पाँचों इन्द्रियों में से कोई एक या अधिक इन्द्रियों से ग्राह्य बनते हैं। अहं को जो शरीर का धर्म मानते हो, तो उसे भी इन्द्रियों से ग्राह्य बनना चाहिए, परंतु ऐसा नहीं होता है,"^{६६} इसलिए अहंकार शरीर का धर्म मानने योग्य नहीं है। "अहं शब्द को ही शरीर के लिए प्रयुक्त माना जाए तो मृत शरीर में भी अहं प्रत्यय होना चाहिए, किन्तु वैसा नहीं होता है।"^{६७}

चार्वाकदर्शनवादी शरीर को ही आत्मा मानते हैं, तो प्रश्न यह उठता है-"बालक जब युवा होता है, तब वही शरीर नहीं रहता। यह शरीर युवान का शरीर हो जाता है। अतः शरीर के बदलने पर बाल्यकाल के संस्मरण युवा को नहीं होना चाहिए, परंतु अनुभव यह कहता है कि बाल्यकाल के संस्मरण युवा को होते हैं। चार्वाकवादी कहते हैं कि स्मरण हो तो भी आत्मा अलग-अलग हो सकती है, किन्तु ऐसा मानने से मिठाई एक व्यक्ति खाए और स्वाद दूसरा

६३. पश्चिमीदर्शन पृष्ठ-१०६

६४. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य -३/६/७

६५. वही १/१/२

६६. न चाहं प्रत्ययादीनां शरीरस्यैव धर्मता।

नेत्रादि ग्राह्यतापतोर्नियतं गौरतादिवत् ॥१९॥ - मिथ्यात्वत्याग अधिकार -अध्यात्मसार
-उपाध्याय यशोविजयजी

६७. देह एवास्य प्रत्यथस्य विषय इति चेतून जीव

विप्रभ्रुवतेऽपि देहेतदुत्पत्ति प्रसंगत - विशेषावश्यकभाष्य गाथा -१५५६ की टीका

अनुभव करे, यह आपत्ति आयेगी।”^{६८} इसीलिए बाल्यावस्था, यौवनावस्था और वृद्धावस्था-तीनों में एक ही आत्मा स्वीकार करना पड़ेगी। अतः कहना उचित होगा कि शरीर आत्मा नहीं है।

चार्वाकवादी की ऐसी दलील भी हैं कि शरीर को नहीं, किन्तु उसके एक अंग को आत्मा मान सकते हैं। उनका यह तर्क भी ठीक नहीं है। आँख, नाक आदि में से किसी एक अंग को आत्मा मानने पर विसंगति आयेगी, क्योंकि उस अंग के नष्ट होने पर भी उसके द्वारा हुए अनुभवों की स्मृति तो होगी ही अतः शरीर के अंग को आत्मा नहीं मान सकते हैं। जैसे- “गवाक्ष से देखी गई वस्तु का उसके बिना भी देवदत्त स्मरण कर सकता है, वैसे ही इन्द्रिय व्यापार के अभाव में भी उनसे उपलब्ध पदार्थ का स्मरण करने वाली आत्मा को भी इन्द्रियों से भिन्न मानना चाहिए। इस प्रकार ज्ञानादि गुणों को शरीराश्रित मानने रूप प्रत्यक्ष अनुमान से बाधक होने से भ्रान्त है।”^{६९}

आत्मा अमूर्त है, अतः उसका ज्ञान इन्द्रियों द्वारा उस तरह नहीं हो सकता है, जैसे घट-पट आदि का होता है, लेकिन इतने मात्र से उसका निषेध भी नहीं किया जा सकता है। जैन आचार्यों ने इसके लिए गुण और गुणी का तर्क दिया है। घट आदि जिन वस्तुओं को हम जानते हैं, उनका भी यथार्थबोध मात्र प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता, क्योंकि हमें जिनका बोध प्रत्यक्ष होता है, वह घट के रूपादि गुणों का प्रत्यक्ष है, लेकिन घट मात्र रूप नहीं है, वह तो अनेक गुणों का समूह है, जिन्हें हम नहीं जानते। आकार तो उनमें से एक गुण है। जब रूप-गुण के प्रत्यक्षीकरण को घट का प्रत्यक्षीकरण मान लेते हैं और हमें कोई संशय नहीं होता है, तो फिर ज्ञानगुण से आत्मा का प्रत्यक्ष क्यों नहीं मान लेते।”^{१००}

चार्वाकदार्शनिक कहते हैं कि जिस तरह महुआ आदि मादक सामग्री से मदशक्ति उत्पन्न होती है, उसी पृथ्वी आदि पंचमहाभूतों के विशिष्ट संयोग से शरीर में चैतन्य उत्पन्न होता है। उपाध्याय यशोविजयजी ने चार्वाकों को इन्हीं के दृष्टान्त द्वारा आत्मा का अस्तित्व यहाँ समझाया है। वे कहते हैं- “मादक सामग्री

६८. शरीरस्यैव चात्मत्वे नाऽनुभूतस्मृतिर्भवेत् ।

बालत्वादिदशाभेदात् तस्यैकस्याऽनवस्थितेः ॥१९८॥ -मिथ्यात्वत्यागाधिकार-अध्यात्मसार ३.
यशोविजयजी

६९. मिला प्रकाश खिला बसंत -(गणधरवाद) - आचार्य जयंतसेनसूरि

१००. १५५८, विशेषावश्यकभाष्य

पुष्प, गुड़, पानी आदि स्वयं अपने-आप मिलकर मद्य नहीं बनती है, उनका मिश्रण करके हिलाकर अमुक प्रक्रिया कोई व्यक्ति करता है, तब मद्य बनती है; उसी प्रकार पंच महाभूत एकत्र होने पर उसमें से जीव उत्पन्न नहीं होता है, परंतु इन पाँचों का मिश्रण करने वाली कोई शक्ति की अपेक्षा रहती है। यह चैतन्यशक्ति ही आत्मा है।”^{१०१}

अजीव के प्रतिपक्षी रूप में जीव की सिद्धि :

जीव और अजीव- ये दो शब्द हैं, जो परस्पर एक-दूसरे के प्रतिपक्षी हैं। अतः अजीव का प्रतिपक्षी कोई न कोई होना ही चाहिए, क्योंकि अजीव में व्युत्पत्तिपरक शुद्ध पद (जीव) का निषेध हुआ है और व्युत्पत्तिपरक शुद्ध पद का प्रतिषेध होने पर उसका प्रतिपक्षी होता है, जैसे कि अघट का प्रतिपक्षी घट। अघट में व्युत्पत्ति परक शुद्ध पद घट का निषेध किया गया है, इस कारण से अघट का विरोधी घट अवश्य विद्यमान है, किन्तु अखरविषाण या अडित्य में इनके प्रतिपक्षी नहीं हो सकते, क्योंकि खरविषाण-यह शुद्ध पद नहीं हैं किन्तु समासनिष्पन्न पद है और डित्य का व्युत्पत्तिपरक कोई अर्थ ही नहीं है, जबकि “अजीव में व्युत्पत्तिपरक शुद्ध पद जीव का निषेध होने से जीव का अस्तित्व अवश्य मानना चाहिए।”^{१०२} वस्तु का अस्तित्व नहीं हो, तो उसका निषेध नहीं हो सकता है।

उपाध्याय यशोविजयजी इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं- “संयोग का निषेध होने से असत् का निषेध नहीं होता है।”^{१०३} जैसे कोई कहे कि मुझे गधे के सिर पर सींग नहीं दिखते हैं, तो गधे के सिर पर सींग नहीं-यह कहने पर गधे और सींग के संयोग का निषेध हुआ है, लेकिन गधा और सींग दोनों भिन्न-भिन्न अस्तित्व तो रखते ही हैं। गाय और भैंस के सिर पर तो सींग होते ही हैं, अतः यहाँ असत् सींग का निषेध नहीं, अपितु ‘गधे के सिर पर सींग’ की विद्यमानता का निषेध है। इसी प्रकार की व्याख्या आकाश-कुसुम, वंध्यापुत्र आदि में समझना चाहिए।

१०१. मंदागेथ्यो मदव्यक्तिरपि नो मेलकं विना

१०२. अत्यि अजीव विवक्खो पड़िसेहाओ धड़ोऽस्सेव-१६३ - विशेषावश्यकभाष्य

१०३. अजीव इति शब्दश्च जीव सत्तानियंत्रितः ।

असतो न निषेधो यत्संयोगादिनिषेधनात् ॥२७॥

-मिथ्यात्वत्यागाधिकार - अध्यात्मसार - उपाध्याय यशोविजयजी

व्यवहार में अजीव शब्द का जब भी प्रयोग होता है, तब वह जीव के अस्तित्व को सिद्ध करता है।

“पदार्थ के संयोग, सम्बन्ध या समवाय सम्बन्ध या सामान्य का और विशिष्टता का ही निषेध कर सकते हैं, परंतु पदार्थ का सर्वथा निषेध नहीं कर सकते हैं।”^{१०४}

- (१) जैसे ‘राजा उद्यान में नहीं है’- यहाँ राजा और उद्यान के संयोग का निषेध है। राजा का, या उद्यान का निषेध नहीं है।
- (२) ‘दूध में शक्कर नहीं है’- यहाँ दूध और शक्कर के समवाय-सम्बन्ध का निषेध होता है, दूध और शक्कर का निषेध नहीं। दूध और शक्कर अन्यत्र तो हैं ही।
- (३) ‘मेरे पास पेपर नहीं आया’ इस वाक्य में सामान्य अर्थ में निषेध में किया गया है। पेपर अन्यत्र विद्यमान है।
- (४) ‘मैं काला चश्मा नहीं पहनता हूँ’- इसमें चश्मे की विशिष्टता का निषेध है चश्मे का नहीं।

इस प्रकार “जब देह में आत्मा नहीं इस प्रकार कहते हैं, तब आत्मा का निषेध नहीं होता है, किन्तु देह और आत्मा के संयोग-संबंध का निषेध होता है।”^{१०५}

उपाध्याय यशोविजयजी कहते हैं- “संशय से आत्मा की सिद्धि स्पष्ट रूप से होती है।”^{१०६} तर्कशास्त्र का एक नियम है कि कोई वस्तु यहाँ है या नहीं, इस प्रकार का संशय होता है, तो उस वस्तु का कहीं न कहीं अस्तित्व होना ही चाहिए। जैसे पेड़ के तने को अंधकार में दूर से देखने पर उसमें मनुष्य का

१०४. संयोगः समवायश्च सामान्यं च विशिष्टता निषिध्यते पदार्थानां त एव न तु सर्वथा ॥२८॥ - मिथ्यात्वत्याग अधिकार-अध्यात्मसार - उ. यशोविजयजी

१०५. असओ नत्थि निसेहो, संजोगई पडिसेहओ सिद्धं संजोगाई चउक्कपि सिद्धमत्त्यंतरे निययं ॥ - विशेषावश्यकभाष्य गाथा १५७४

१०६. सिद्धिः स्थाण्वादिवद् व्यक्ता संशयादेव चाम्भनः। असौ खरविषाणा दौ व्यस्तार्थविषयः पुनः ॥२६॥ - मिथ्यात्वत्याग अधिकार-अध्यात्मसार - उ. यशोविजयजी

संशय होता है, किन्तु पास में आने पर पता चलता है कि यह मनुष्य नहीं पेड़ का तना है। मनुष्य का अस्तित्व कहीं न कहीं हो, तो ही तने में मनुष्य का आभास होता है; उसी प्रकार संसार में सर्प का सर्वथा अभाव हो तो रस्सी के टुकड़े में सर्प का भ्रम ही नहीं होगा, यानी संदेह से वस्तु की सिद्धि होती है। जीव का सर्वथा अभाव होने पर उसका संशय या भ्रम नहीं हो सकता। अतः आत्मा नहीं है, या है, इस प्रकार कहने से ही आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि होती है। “सर्वथा अविद्यमान वस्तु में ‘नहीं है’ का प्रयोग नहीं होता है।”^{१०७}

चार्वाकवादी कहते हैं कि ‘जीव’ शब्द शरीर के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस पर उ. यशोविजयजी कहते हैं कि “घटादि की तरह ‘जीव’ पद शुद्ध व्युत्पत्ति वाला और सार्थक है तथा जीव और शरीर शब्द की पर्याण् पृथक्-पृथक् होने से जीव पद का अर्थ शरीर नहीं माना जा सकता है।”^{१०८}

अजीवत्, जीवति, जीविष्यति जीया, जो जीता है और जो जीएगा वह जीव कहलाता है। जीव शब्द के पर्याय हैं- जन्तु, प्राणी, सत्त्व, आत्मा, चेतन आदि; जबकि शरीर के पर्याय हैं- देह, तन, वपु, काया, कलेवर आदि। इसका अर्थ यह हुआ कि जीव और शरीर-ये दो पद एक दूसरे के पर्यायरूप नहीं हैं। दूसरी बात शरीर और जीव के लक्षण भी अलग-अलग हैं। अतः दोनों को पृथक् मानना चाहिए। इस प्रकार चार्वाकदर्शन तर्क और अनुभव की कसौटी पर खड़ा नहीं रह सकता है। शरीर से भिन्न चैतन्य एक शक्ति है और यह चैतन्यशक्ति ही आत्मा है।

बौद्ध मत की समीक्षा

बौद्धदर्शन मानता है कि आत्मा नित्य नहीं है। आत्मा ज्ञान क्षण की आवलीरूप है। आवली यानी परंपराधारा या संतान। उनकी मान्यता है कि प्रत्येक क्षण आत्मा जन्म लेती है और दूसरे ही क्षण वह नष्ट हो जाती है। इस प्रकार उत्पन्न होने की और नष्ट होने की प्रक्रिया सतत चलती रहती है। सतत् चलते रहने से नित्यता का आभास होता है, परंतु आत्मा नित्य नहीं है, क्योंकि नित्यत्व में अर्थक्रिया नहीं घटती है।

१०७. यत्त्वं सर्वथा नास्ति तस्य निषेधा न दृश्यत एव। -विशेषावश्यकभाष्य-टीका -पृष्ठ ६८४

१०८. शुद्धं व्युत्पत्तिमज्जीवपदं सार्थं घटादिवत्
तदर्थश्च शरीरं नो पर्यायपदभेदतः ॥२६॥ मिथ्यात्वं त्याग अधिकार-अध्यात्मसार - उ.
यशोविजयजी

उपाध्याय यशोविजयजी कहते हैं- “बौद्धों की यह मान्यता तर्कसंगत नहीं है। आत्मा को क्षणिक मानने से किए हुए कार्य की हानि और नहीं किए हुए कार्य के फल की प्राप्ति होगी।”^{१०६} जैसे एक मनुष्य किसी दुकानदार से वस्तु उधार ले गया। जब वह पैसे देने वापस जाता है, तो दुकानदार भी वही नहीं होगा और उधारी चुकाने वाला भी भिन्न व्यक्ति होगा। इससे व्यवहार नहीं चल सकेगा, उसी प्रकार धर्म के क्षेत्र में भी असंगति आएगी, जिसने पुण्यकार्य किया वह उसके फल को नहीं भोगेगा। पुण्य कर्म करने वाला दूसरा और उसका फल भोगने वाला दूसरा होगा। पुण्य करने वाला दूसरा और फल भोगने वाला दूसरा, यह एक प्रकार की असंगति होगी। विशेषावश्यकभाष्य में भी कहा है “परदेस में गया हुआ कोई व्यक्ति स्वदेश की घटनाओं का स्मरण करता है। अतः उसे नष्ट नहीं माना जा सकता अन्यथा वह पूर्व की घटनाओं का स्मरण कैसे करेगा? पूर्व जन्म का स्मरण करने वाले व्यक्ति को भी सर्वथा नष्ट नहीं माना जा सकता है।”^{११०} हेमचन्द्राचार्य ने भी वीतरागस्तोत्र में एकान्त नित्य तथा एकान्त अनित्य को नैतिक दृष्टि से अनुपयुक्त बताते हुए लिखा है- “यदि आत्मा को एकान्त अनित्य मानें, तो सुख-दुःख, शुभ-अशुभ आदि भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ आत्मा में घटित नहीं होंगी। इस कारण से पुण्य-पाप की विभिन्न वृत्तियाँ एवं प्रवृत्तियाँ भी सम्भव नहीं होंगी। न बन्धन की, न मोक्ष की उपपत्ति सम्भव होगी। वहाँ एक क्षण के पर्याय ने जो कार्य किया था, उसका फल दूसरे क्षण के पर्याय को मिलेगा, क्योंकि वहाँ उन सतत परिवर्तनशील पर्यायों के मध्य कोई एक स्थायी तत्त्व नहीं है। अतः कहा जा सकता है कि जिसने किया था, उसे फल नहीं मिला और जिसने नहीं किया था, उसे फल मिला। यहाँ जैन कर्म-सिद्धान्त की दृष्टि से ‘अकृतागम और कृत प्रणाश’ का दोष होगा।”^{१११}

१०६. मिथ्यात्ववृद्धिकूनूनं तदेपदपि दर्शनम् ।

क्षणिके कृत्तहानिर्यत्तथात्मन्यकृतागमः ॥३४॥ -मिथ्यात्वत्यागाधिकार -अध्यात्मसार - उ. यशोविजयजी

११०. जह वा सदेसक्तं नरो संरतो विदेसम्मि -विशेषावश्यकभाष्य -१६७१

१११. आत्मन्येकान्तनित्ये स्यान् भोगः सुखःदुःखयो ।

एकान्तनित्यरूपेऽपि, न भोगः सुखःदुःखयो ॥२॥

पुण्यपापे बन्धमोक्षौ न नित्यैकान्त दर्शने ।

पुण्यपापे बन्धमोक्षौ नानित्यैकान्तदर्शने ॥३॥ -वीतरागस्तोत्र -अष्टमःप्रकाशः -आचार्य हेमचन्द्र

इसके उत्तर में बौद्ध दार्शनिक कहते हैं कि पूर्व-पूर्व विज्ञान क्षण के संस्कार उत्तर-उत्तर विज्ञान- क्षण में संक्रान्त होते हैं, इससे आत्मा क्षणिक होने पर भी वासनाओं के संक्रमण का सातत्य रहता है, इसलिए वासनानुसार कर्मफल भोगने में आता है। पूर्व क्षण की आत्मा कार्य करने के लिए कुछ विशिष्ट होती है। इसे वैजात्य या अर्थक्रियाकारित्व भी कहते हैं, जिससे नई उत्पन्न हुई आत्मा को स्मृति संस्कार प्राप्त होते हैं। इस प्रकार वासना का संक्रमण होता है।

“वैजात्य के बिना क्षणिकत्व नहीं टिक सकता है। क्षणिकत्व की बात स्वीकारो, तो वैजात्य या अतिशय-विशेष या कारण विशेष स्वीकारना पड़ेगा जिससे कार्य विशेष होता है। अब जो विशिष्ट कारण कार्य स्वीकारें तो सामान्य कारण कार्य उत्पन्न होता है, इस अनुमान का उच्छेद हो जाएगा, इसलिए अनुमान से पदार्थ में क्षणिकत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है। संक्रमण नेत्र से नहीं दिखता है, इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण से क्षणिकत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है।”^{११२}

विशेषावश्यकभाष्य की टीका में कहा गया गया है- “यदि विज्ञान क्षण का सर्वथा निरन्वय नाश माना जाय तो पूर्व-पूर्व विज्ञान क्षण से उत्तर-उत्तर विज्ञान क्षण सर्वथा भिन्न ही होगा। इस स्थिति में पूर्व विज्ञान द्वारा अनुभूत वस्तु का स्मरण उत्तर विज्ञान में संभव नहीं है।”^{११३}

बौद्ध दार्शनिक कहते हैं कि आत्मा को नित्य मानने से उसमें अर्थक्रिया नहीं घट सकती है। उ. यशोविजयजी इसका उत्तर देते हुए कहते हैं- “अनेक कार्यों को क्रम से करने का आत्मा का स्वभाव है। स्याद्वाद शैली में आत्मा को कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य मानने पर नित्यत्व में अर्थक्रिया का विरोध नहीं रहता है।”^{११४} जैनदर्शन आत्मा को द्रव्य से नित्य और पर्याय से अनित्य

११२. न वैजात्य विना तत्स्यान्म तस्मिन्नुमा भवेत्
विना तेन न तत्सिद्धिर्नाध्यक्षं निश्चयं विना ॥३७॥ -

अ. न्यायकुसुमांजलि -प्रथम स्तवक -१६ वीं कारिका -उदयनाचार्य,

ब. मिथ्यात्वत्यागाधिकार-अध्यात्मसार-उ. यशोविजयजी

११३. न च पूर्व-पूर्व क्षणानुभूतमाहित संस्कारा उत्तरोत्तर क्षणाः स्मरन्तीति वक्तव्यम्।

पूर्व पूर्व क्षणानां निरन्वयविनाशेन सर्वथाविनष्टत्वात् उत्तरोत्तर क्षणानां सर्वथाऽन्यत्वात्
-विशेषावश्यकभाष्य टीका-पृष्ठ- ७१३

११४. नानाकार्यकरणस्वाभाव्ये च विरुध्यते।

स्याद्वादसंनिवेशेन नित्यत्वेऽर्थक्रिया न हि ॥४०॥ - मिथ्यात्वत्यागाधिकार -अध्यात्मसार

-उ. यशोविजयजी

मानता है। बौद्ध दार्शनिकों का कहना है कि आत्मा को नित्य मानने से उस पर राग उत्पन्न होता है। वस्तु क्षणिक हो, विनाशी हो, तो उस पर राग उत्पन्न नहीं होता है। आसक्ति से तृष्णा, मोह, लालसा आदि भावों का जन्म होता है, इसलिए संक्लेश बढ़ता है। दूसरी तरफ आत्मा को क्षणिक मानने से उसके प्रति प्रेम की निवृत्ति होती है, इससे आसक्ति घटती है, परंतु बौद्धदर्शन की इस दलील में तथ्य नहीं है। उपाध्याय यशोविजयजी कहते हैं-“आत्मा को नित्य, अनादि, अनंत मानने से उसके प्रति जो प्रेम होता है, वह संक्लेश उत्पन्न करे, इस प्रकार का अप्रशस्त राग नहीं है किन्तु प्रशस्त राग है। बौद्धदर्शन में ज्ञानधारा के आकार जैसे निवृत्त हो जाते हैं, उसी प्रकार जीव का आत्मा के लिए प्रेम भी ज्ञानदशा उच्च होने पर निवृत्त हो जाता है।”^{११५} उच्च आत्मिक दशा प्राप्त होने पर निर्वाण या मोक्ष के लिए भी प्रेम नहीं रहता है।

आत्मा को एकान्त क्षणिक मानने में कोई लाभ नहीं है। आत्मा को अनित्य मानने से संसार में अनवस्था उत्पन्न हो जाएगी। कोई व्यक्ति चोरी करके भी इंकार कर देगा कि मैंने चोरी नहीं की, क्योंकि वह चोरी करे, उसके पहले तो उसकी स्वयं की आत्मा नष्ट हो गई थी। आत्मा, जो स्वतः उत्पन्न होती है और स्वतः नष्ट होती है, उसके लिए शुभ-अशुभ कर्मबंध की कोई बात नहीं होगी। इसलिए उ. यशोविजयजी कहते हैं- “नित्य सत्, चित् और आनंद पद को प्राप्त करने की इच्छा वालों को एकान्त अनित्यवाद या क्षणिकवाद त्यागने योग्य है।”^{११६}

सांख्य दर्शन की समीक्षा :

कपिल का दर्शन सांख्य मत कहलाता है। यह आत्मा को पुरुष के रूप में स्वीकार करता है। इनकी मान्यता है कि पुरुष (आत्मा) कर्म का कर्ता और भोक्ता नहीं है। वह एकान्त नित्य तथा निरंजन है। उसका प्रकृति के साथ संबंध होने से मैं कर्ता हूँ मैं भोक्ता हूँ- ऐसा भ्रम होता है। प्रकृति के २५ तत्त्वों में एक मुख्य तत्त्व बुद्धि है और वे बुद्धि को ही कर्त्री भोक्त्री और नित्य मानते हैं।

११५. ध्रुवेक्षणोऽपि न प्रेम निवृत्तमनुपप्लवात्
ग्राह्याकार इव ज्ञाने गुणस्तन्नात्र दर्शने ॥४२॥ मिथ्यात्वत्यागाधिकार-अध्यात्मसार -उ.
यशोविजयजी

११६. तस्मादिदमपि त्याज्यमनित्यत्वस्यद दर्शनम्
नित्यसत्यनिदानंदपदसंसर्गमिच्छता ॥४४॥ -मिथ्यात्वत्यागाधिकार-अध्यात्मसार -उ.
यशोविजयजी

हम व्यवहार में स्पष्ट देखते हैं कि जीव स्वयं ही कर्ता और भोक्ता है, यानी कृति और चैतन्य का अधिकारण स्थान एक ही है, यह व्यक्त है।

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है- “आत्मा ही सुखों और दुःखों का कर्ता और भोक्ता है।”^{११७} यह भी कहा गया है- “सिर काटने वाला शत्रु भी उतना अपकार नहीं करता, जितना दुराचरण में प्रवृत्त अपनी आत्मा करती है।”^{११८}

उपाध्याय यशोविजयजी कहते हैं- “बुद्धि जो कर्ता, भोक्ता और नित्य हो, तो मोक्ष नहीं हो सकता है और जो बुद्धि अनित्य हो, तो पूर्वधर्म के अयोग से संसार ही नहीं रहेगा।”^{११९}

इस प्रकार बुद्धि को नित्य मानें या अनित्य- दोनों प्रकार से संसार और उसमें से मुक्ति की बात लागू नहीं होती है। कर्ता, भोक्ता और नित्यता को आत्मा में मानें, तो ही संसार और मोक्ष की व्यवस्था बराबर घट सकती है। समयसार में कहा गया है कि- व्यवहारिक दृष्टि से शरीरयुक्त बद्धात्मा भोक्ता है। अशुद्ध निश्चयनय या पर्यायदृष्टि से आत्मा अपनी मानसिक अनुभूतियों या मनोभावों का वेदक है। परमार्थ दृष्टि से आत्मा भोक्ता और वेदक नहीं मात्र दृष्टा या साक्षी स्वरूप है।”^{१२०}

सांख्यवादी प्रकृति को जड़ मानते हैं और प्रकृति का मुख्य परिणमन बुद्धि है। जो वे प्रकृति को नित्य मानें, तो उसमें रहे हुए धर्म-अधर्म आदि को भी नित्यरूप में स्वीकारना पड़ेगा। “जो धर्मादि को स्वीकार करें, तो फिर बुद्धि की आवश्यकता नहीं रहती है। यदि प्रकृति को जड़ मानते हैं और उसमें धर्मादि को

११७. “अप्पा कत्ता विकत्ता य सुहाण य दुहाण य” -उत्तराध्ययन सूत्र २०/३७

११८. वही २०/४८

११९. बुद्धिः कर्त्री च भोक्त्री च नित्या चेन्नास्तिनिवृत्तिः
अनित्या चेन्न संसारः प्राग्धमदिरयोगतः ॥५७ ॥ (४४०)

-मिथ्यात्वत्यागाधिकार -अध्यात्मसार -उपाध्याय यशोविजयजी

१२०. व्यवहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेदि गेयविहं।

तं चेव य वेदयदे पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥६० ॥

कत्ता आदा भण्णिदो ण य कत्ता केण सो उवाएव

धम्मादि परिणामे जो जाणदि सो हवदि जाणी ॥८१ ॥ -समयसार -आचार्य कुन्दकुन्द

स्वीकार करते हैं, तो जड़ घट में भी धर्मादि रह सकते हैं- यह स्वीकारना पड़ेगा।”^{१२१}

सांख्यदार्शनिक कर्तृत्व और भोक्तृत्व ये दो बुद्धि के गुण बताते हैं। उ. यशोविजयजी कहते हैं- “कृति और भोग को बुद्धि-गुण मानते हो, तो फिर बंध और मोक्ष भी बुद्धि का ही होगा, आत्मा का नहीं, तो फिर कपिल मुनि जो बंध और मोक्ष आत्मा में घटाते हैं, वह मिथ्या होगा।”^{१२२} इस प्रकार कर्त्तापण तथा भोक्तापण को बुद्धि आश्रित मानने पर पुरुष के बंध और मोक्ष की सिद्धि नहीं होगी। यदि पुरुष या आत्मा का बंधन नहीं, तो फिर मुक्ति की बात किस प्रकार होगी?

यदि पुरुष (आत्मा) एकान्त नित्य, निर्विकारी, अकर्त्ता, अभोक्ता, शुद्ध हो, तो फिर बंध और मोक्ष किस प्रकार घटित होता है?

इसके उत्तर में सांख्यदर्शन कहता है कि वस्तुतः बुद्धि का ही बंध और मोक्ष है, परंतु उसका उपचार पुरुष में करते हैं, परंतु यह बात तर्कसंगत नहीं है। “क्योंकि परिश्रम एक करे और फल दूसरा भोगे। स्वयं के परिश्रम से दूसरे को मोक्ष मिले, तो ऐसा श्रम, अर्थात् संयम, त्याग-तपश्चर्या आदि कौन करेगा? इस प्रकार हो, तो पूरा मोक्षशास्त्र ही व्यर्थ बन जाएगा।”^{१२३}

संसार में सुख-दुःख प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। जीव शुभ या अशुभ कार्य करते हुए दिखाई देता है, यानी जीव शुभ-अशुभ कर्म बांधता है और उसी के अनुसार फल भोगता है। अतः आत्मा ही कर्म की कर्त्ता तथा भोक्ता भी है। वह एकान्त नित्य भी नहीं है और एकान्त अनित्य भी नहीं है। भगवतीसूत्र में भगवान्

१२१. प्रकृतावेव धर्मादिस्वीकारे बुद्धिरेव का सुवचश्च घटादौ स्यादीदृग्धर्मान्वयस्तथा ॥५८॥ -मिथ्यात्वत्यागाधिकार-अध्यात्मसार- उ. यशोविजयजी

१२२. कृतिभोगौच बुद्धश्चेद् बंधो मोक्षश्च नात्मनः ततश्चात्मानमुद्दिश्य कूटमेतद्वदुच्यते ॥५९॥ -मिथ्यात्वत्यागाधिकार-अध्यात्मसार- उ. यशोविजयजी

१२३. एतस्य चोपचारत्वे मोक्षशास्त्रं वृथाऽखिलम् अन्यस्य हि विमोक्षार्थं न कोऽप्यन्यः प्रवर्तते ॥६॥ - मिथ्यात्वत्यागाधिकार-अध्यात्मसार-उपाध्याय यशोविजयजी

महावीर ने गौतम के प्रश्न का उत्तर देते हुए आत्मा को शाश्वत और अशाश्वत-दोनों कहा है।

“भगवन्! जीव शाश्वत है या अशाश्वत?
गौतम! जीव शाश्वत भी है और अशाश्वत भी।
भगवन्! यह कैसे कहा गया कि जीव नित्य भी है
और अनित्य भी?
गौतम! द्रव्य की अपेक्षा से जीव नित्य है और भाव
की अपेक्षा से अनित्य।”^{१२४}

अमोक्षवादी मत की समीक्षा

अमोक्षवादी इस प्रकार कहते हैं- “आत्मा को कर्म का कोई बन्ध नहीं होता है, तो फिर मोक्ष की बात कैसे हो सकती है, अर्थात् मोक्ष नहीं है।”^{१२५} वे गलत तर्क करके पूछते हैं कि “आत्मा और कर्म का सम्बन्ध हुआ, तो पहले आत्मा थी, उसके बाद कर्म उत्पन्न हुआ, या पहले कर्म, उसके बाद जीव उत्पन्न हुआ, या ये दोनों साथ ही उत्पन्न होते हैं।”^{१२६}

ये तीनों बातें संभव नहीं हो सकती हैं, क्योंकि पहले आत्मा की उत्पत्ति मानें और फिर कर्म की उत्पत्ति, तो विशुद्ध आत्मा को कर्म से बंधने का कोई प्रयोजन नहीं। पुनः कर्ता (आत्मा) के अभाव में पहले कर्म भी उत्पन्न नहीं हो सकते। अगर कहें कि आत्मा तथा कर्म-दोनों एक साथ उत्पन्न हुए, तो यह भी असंगत है। इस प्रकार कर्मबंध अव्यवस्थित ठहरता है। जैनदर्शन कि मान्यता है कि जीव और कर्म का संबंध अनादिकाल से चला आ रहा है।

इसके लिए अमोक्षवादी यह तर्क देते हैं कि यदि जीव और कर्म के सम्बन्ध को अनादि माना जाए, तो जीव को कभी मोक्ष होगा ही नहीं, क्योंकि जो

१२४. जीवाणं भंते! किं सासया? असासया?

गोयमा। जीवा सियसासया, सिय असासया।।

से केणद्वेणं भंते! एवं तुच्चइ -जीवा सिय सासया? सिय असासया?

गोयमा! दब्बद्वयाएँ सासया, भावद्वयाएँ असासयां। -भगवतीसूत्र ७/२/५८, ५९

१२५. नास्तिनिर्वाणमित्याहुरात्मनः केडप्यबंधतः

प्राक् पश्चात् युगपद्वापि कर्मबंधाव्यवस्थिते।।३।। (४४६) मित्यात्वत्यागाधिकार

-अध्यात्मसार-उ. यशोविजयजी

१२६. पुत्वं पच्छ जीवो कम्मं व समं व ते होज्जा -विशेषावश्यकभाष्य गाथा -१८०५

वस्तु अनादि होती है, वह अनंत भी होती है। जैसे जीव और आकाश का सम्बन्ध अनादि हो, तो उसे अनंत भी स्वीकारना पड़ेगा; उसी प्रकार जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि हो, तो वह अनंतकाल तक रहेगा; तब फिर मोक्ष की संभावना कहाँ से हो?

उपाध्याय यशोविजयजी कहते हैं- “मोक्ष नहीं है-इस प्रकार कहना असंबद्ध है, क्योंकि कारण कार्यरूप में बीज और अंकुर की तरह, देह और कर्म के बीच में संबंध संतानरूप में अनादि है।”^{१२७} विशेषावश्यकभाष्य में भी इसके बारे में स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है कि “शरीर एवं कर्म की सन्तान अनादि है, क्योंकि इन दोनों में कार्य-कारण भाव है, बीज अंकुर की तरह।”^{१२८} जैसे बीज से अंकुर और अंकुर से बीज यह क्रम अनादि से आरम्भ है, इसलिए बीज और अंकुर की संतान अनादि है; उसी प्रकार शरीर (जीव) से कर्म और कर्म से शरीर की उत्पत्ति का क्रम अनादिकाल से चला आ रहा है, इसलिए इन दोनों की सन्तान भी अनादि है।

जिस प्रकार 'बीज और अंकुर, मुर्गी और अंडे के सम्बन्ध की तरह स्वर्ण और मिट्टी का संयोग भी अनादि है, फिर भी अग्नि तापादि से, इस अनादि संयोग का भी नाश संभव है, उसी प्रकार जीव और कर्म का संयोग अनादि होने पर भी तप संयमादि उपायों द्वारा कर्म का नाश होता है; अर्थात् कर्म आत्मा से अलग हो जाते हैं और जीव तथा कर्म का संबंध अनादि-सांत बना सकते हैं। “अनादि-सान्त की यह व्यवस्था भव्य जीवों के लिए है। अभव्य जीव और कर्म का सम्बन्ध आकाश और आत्मा की तरह अनादि और अनंत है।”^{१२९}

१२७. तदेतदव्यसंबद्धं यन्मिथो हेतुकार्ययोः

संतानानादिता बीजांकुरवद्देहकर्मणोः ॥६५॥-मिथ्यात्वत्यागाधिकार -अध्यात्मसार-उ.
यशोविजयजी

१२८. संताणो परोप्परं हेउ हेउभावाओ ।

देहस्स य कम्मस्सय मंडिय! बीयंकुराण -विशेषावश्यकभाष्य -१८१३

१२९. भव्येषु च व्यवस्येयं संबंधो जीवकर्मणोः

अनाद्यनन्तोऽभव्यानां स्यादात्माकाशयोगवत् ॥६८॥-मिथ्यात्वत्यागाधिकार-अध्यात्मसार-उ.
यशोविजयजी

इस प्रकार आत्मा कर्मबन्धन से मुक्त होकर अनंत सुख को प्राप्त कर सकती है और यही अनंत आत्मिक सुख मोक्ष कहलाता है। इस प्रकार तर्क या अनुमान से विचारने पर 'मोक्ष' की सिद्धि में कोई बाधा नहीं आ सकती है।

पुनः जीव और कर्म का सम्बन्ध परम्परा की दृष्टि से अनादि है, किन्तु किसी कर्म विशेष का बन्ध अनादि नहीं है। कर्म-विशेष किसी काल में बंधा है और अपनी स्थिति पूर्ण होने पर नष्ट हो जाता है, अतः नवीन कर्मों का बन्ध नहीं हो तो कर्म से मुक्ति सम्भव है।

आत्मा (जीवों) के प्रकार

संसार में जो जीव हैं, उनका विभिन्न शास्त्रों में अनेक प्रकार से वर्गीकरण किया गया है। मोक्ष प्राप्ति की योग्यता की अपेक्षा से संसार में रहे हुए जीव दो प्रकार के होते हैं - (१) भव्य तथा (२) अभव्य।

कोई यह प्रश्न करें कि जीवों में जीवत्व एक समान रहा हुआ है, तो फिर जीवों के भव्यत्व और अभव्यत्व इस प्रकार भेद करने की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न के उत्तर में उपाध्याय यशोविजयजी कहते हैं- "जैसे द्रव्यत्व समान होने पर भी जीवत्व और अजीवत्व का भेद है, उसी प्रकार जीव-भाव समान होने पर भी भव्यत्व और अभव्यत्व का भेद है।"^{१३०} 'विशेषावश्यकभाष्य' में भी कहा गया है- "जैसे जीव और आकाश में द्रव्यत्व समान होने पर भी उनमें चेतनत्व-अचेतनत्व का भेद स्वाभाविक है, वैसे ही जीवों में भी जीवत्व समान होने पर भी भव्याभव्यत्व का भेद है।"^{१३१} तत्त्वार्थसूत्र में भी "जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन पारिणामिक भाव बताए हैं।"^{१३२} यह जीव के असाधारण भाव हैं, जो किसी भी अन्य द्रव्य में नहीं मिलते हैं। अनुयोग-द्वार सूत्र में कहा गया है कि "जीवास्तिकाय का भव्यत्व और अभव्यत्व-यह अनादि पारिणामिक भाव

१३०. द्रव्यभावे समानेऽपि जीवाजीवत्वभेदवत् ।

जीवभावसमानेऽपि भव्याभव्यत्वयोर्भिदा ॥६६॥ (४५२)

-मिथ्यात्वत्यागाधिकार-अध्यात्मसार-उ. यशोविजयजी

१३१. दव्वाइत्ते तुल्ले, जीव नहाणं सभावओ भेओ ।

जीवाऽजीवाइंगओ जह, तह भव्वे-यर विसेसो ॥ -विशेषावश्यकभाष्य -१८२३

१३२. जीवभव्याभव्यत्वादीनि च -१७१ -द्वितीय अध्ययन तत्त्वार्थसूत्र -उमास्वाति

है।”^{१३३} समान लक्षणों वाली वस्तुओं में भी उत्तरभेद हो सकते हैं। जिस द्रव्य में चेतना गुण है, उसे जीव कहते हैं और जिन द्रव्यों में चेतना गुण नहीं है, जैसे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, अकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल, इनमें जड़त्व होने से उन्हें अजीव कहते हैं। उसी प्रकार जिन जीवों में मोक्ष जाने की योग्यता है, उन जीवों को भव्य कहते हैं और जिनमें मोक्ष-प्राप्ति की योग्यता नहीं है, उन्हें अभव्य कहते हैं। भव्यत्व भी दो प्रकार का होता है—(१) भव्य और (२) जातिभव्य।

जातिभव्य जीव वे होते हैं, जिनमें मोक्षप्राप्ति की योग्यता होने पर भी इनको अनुकूल सामग्री का योग कभी भी नहीं मिलता है; इसलिए जातिभव्य जीव भी कभी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते हैं। प्रश्न यह उठता है कि दुर्भव्य या जातिभव्य में भव्यत्व रहने पर भी मोक्ष प्राप्त क्यों नहीं कर सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर उपाध्याय यशोविजयजी ने एक दृष्टान्त द्वारा समझाया कि “स्वयंभूरमण समुद्र के मध्य तल में कोई पत्थर रहा हुआ हो और उस पत्थर से प्रतिमा बनने की सभावना है, परंतु उसे कभी भी बाहर निकलने का योग ही प्राप्त नहीं होता है, तो प्रतिमा बनाने की बात ही कहाँ रही? उसी प्रकार जातिभव्य जीवों को संज्ञी पंचेन्द्रिय बनने की शक्यता भी नहीं होती, तो फिर मनुष्य-भव प्राप्त कर रत्नत्रय की आराधना करके मोक्ष प्राप्त करने की बात कैसे सम्भव है?”^{१३४} स्थानांगसूत्र में भी कहा गया है कि सूक्ष्म एकेन्द्रिय या अनंतकाय सिवाय के जितने भव्य हैं, उसमें कोई भी जातिभव्य नहीं कहलाता है, क्योंकि जातिभव्य को त्रसादिक प्राप्त करने की सामग्री का योग ही नहीं मिलता है। सारांश यह है कि “नियम ऐसा बनाया जा सकता है कि तद्योग्य सामग्री प्राप्त होने पर, जो द्रव्य प्रतिमा योग्य है, उन्हीं से प्रतिमा बनती है, अन्य से नहीं, और जो जीव भव्य हैं, वे ही सिद्धिगमन योग्य सामग्री प्राप्त होने पर मोक्ष जाते हैं, अन्य नहीं जाते हैं, किन्तु ऐसा नियम

१३३. अणाइपरिणामिए -....जीवास्तिकाए..... भवसिद्धिआ, अभवसिद्धिओ।

से तं अणाइपरिणामिए -अनुयोगद्वार सूत्र, २५०

१३४. (अ) प्रतिमादलवत् क्वापि फलाभावेऽपि योग्यता।।१।।

-मिथ्यात्वत्यागाधिकार-अध्यात्मसार-उ. यशोविजयजी

(ब) भण्णइ भव्वो जोग्गो न य जोग्गत्तेण सिण्णए सव्वो।

जह जोग्गम्मि वि दलिये सव्वम्मि न कीरए पड्डिमा ।।-विशेषावश्यकभाष्य गाथा -१८३४

नहीं बनाया जा सकता हैं कि जो द्रव्य प्रतिमा योग्य हैं, उन सभी की प्रतिमा बनती ही है और जो जीव भव्य हैं, वे मोक्ष जाते ही हैं।”^{१३५}

इसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए विशेषावश्यकभाव्य में दृष्टान्त देते हुए कहा गया है कि “स्वर्ण और स्वर्णपाषाण के संयोग में वियोग की योग्यता होने से स्वर्ण को स्वर्णपाषाण से अलग किया जा सकता है, परंतु सभी स्वर्णपाषाण से स्वर्ण अलग नहीं होता है। जिन्हें वियोग की सामग्री मिलती है, उन्हीं से स्वर्ण अलग होता है।”^{१३६} इसी प्रकार चाहे सभी भव्य मोक्ष में न जाएं, लेकिन मोक्ष जाने की योग्यता भव्य में ही मानी जाती है। अभव्य में मोक्षगमन की योग्यता का अभाव होता है।

प्रश्न यह उठता है कि जातिभव्य जीव कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते, तो क्या उन्हें अभव्य ही कहना चाहिए?

यह बात सत्य है कि जातिभव्य जीव और अभव्य जीव दोनों ही मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते, किंतु जातिभव्य को अभव्य नहीं कह सकते हैं। जातिभव्य को विधवा स्त्री की उपमा दी है। जिस प्रकार शादी के तत्काल बाद पति का मरण होने पर पति का संयोग नहीं होने से संतानोत्पत्ति की योग्यता होने पर भी संतानोत्पत्ति संभव नहीं है; उसी प्रकार जातिभव्य जीवों को मोक्ष जाने की योग्यता होने पर भी उन्हें अनुकूल सामग्री का योग नहीं मिलता है। अभव्य जीव को बांझ स्त्री की उपमा दी है। निमित्त का योग मिलने पर भी बांझ स्त्री में संतानोत्पत्ति की योग्यता ही नहीं है, उसी प्रकार अभव्य जीवों को अनुकूल सामग्री निमित्तों का योग तो बहुत मिलता है, यहाँ तक कि वे संयम ग्रहण करके कठोरता से उसका पालन भी करते हैं; किंतु उनमें मोक्ष जाने की रुचि या श्रद्धा ही प्रकट नहीं होती है, इसीलिए स्वरूप और तत्त्व की दृष्टि से जातिभव्य और अभव्य जीव को एक जैसा नहीं मान सकते हैं। अभव्य जीव बाबड़े मूंग की तरह होते हैं। प्रश्न यह उठता है कि संसार में से सभी भव्य जीव मोक्ष में चले जाएंगे तो फिर अंत में संसार में क्या केवल जातिभव्य और अभव्य ही रहेंगे? भव्य जीवों का उच्छेद हो जाएगा जैसे धान्य के भण्डार में से थोड़ा-थोड़ा धान्य निकालते रहने से वह खाली हो जाता है, वैसे ही भव्य जीवों के क्रमशः मोक्ष जाने पर संसार में भव्य जीवों का अभाव हो जाएगा। उपाध्याय यशोविजयजी इसका उत्तर देते हुए कहते हैं-

१३५. 'मिला प्रकाश खिला बसंत' -आचार्य जयंतसेनसूरि

१३६. जह वा स एव पासाण -कणगजोगो विओगजोग्गो वि

न विजुज्जइ सव्वोच्चिय स विउज्जइ जस्स संपत्ती -विशेषावश्यकभाव्य -१८३५

“आकाशप्रदेश की तरह उत्कृष्ट- अनंत की संख्या वाले भव्य जीवों का उच्छेद कभी नहीं होगा।”^{१३७} क्योंकि जो अनंत है, उसका अंत (उच्छेद) संभव नहीं है। विशेषावश्यकभाष्य में भी भगवान् महावीर मंडिक के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं- “भव्य जीव अनंत हैं और उनका अनंतवाँ भाग ही सिद्ध हुआ है, अतः मंडिक कालाणुओं की तरह भव्य जीव अनंत हैं। जैसे काल का अंत नहीं है, उसी तरह अन्य जीवों का भी सर्वथा उच्छेद नहीं होता है।” नवतत्त्वप्रकरण में भी इसी प्रकार कहा गया है।^{१३८}

अनागतकाल की समग्र राशि में से प्रत्येक क्षण में एक-एक समय वर्तमानरूप बनने से उस राशि में प्रत्येक क्षण हानि होने पर भी अनन्त परिमाण होने से जैसे उसका उच्छेद कभी संभव नहीं है, अथवा आकाश के अनंत प्रदेशों में से प्रति समय एक-एक प्रदेश को अलग किए जाने पर भी जैसे आकाश-प्रदेशों का उच्छेद नहीं होता है, वैसे ही भव्य जीव अनंत होने से प्रत्येक समय उनमें से मोक्ष जाने पर भी भव्य जीवराशि का कभी भी उच्छेद नहीं होता है।

यह भव्यत्व कब तक रहेगा? क्या यह मोक्ष-प्राप्ति के बाद भी रहेगा? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उ. यशोविजयजी कहते हैं- “घट का प्राग्भाव अनादि स्वभाववाला है, तो भी घट की उत्पत्ति के समय उसका नाश हो जाता है, उसी प्रकार स्वाभाविक भव्यत्व का नाश हो जाता है।”^{१३९} मोक्ष-प्राप्ति के पहले जीव का भव्यत्व कभी भी नष्ट नहीं होता है, अनादिकाल से चल रहा है, किंतु मोक्ष-प्राप्ति के बाद भव्यत्व नहीं रहता है, इसकी आवश्यकता भी नहीं रहती है। जीव का जीवन यह उपादान कारण है और जीव का भव्यत्व यह सहकारी कारण है, मोक्षप्राप्ति के बाद सहकारी कारण नष्ट हो जाता है, क्योंकि इसकी आवश्यकता नहीं रहती है और जीवत्व का नाश नहीं होता है, क्योंकि यह उपादान कारण है। भव्यजीव आध्यात्मिक विकास मार्ग में क्रमशः आगे बढ़ता हुआ सभी कर्मों का क्षय

१३७. भवाणमणंततणमणंत भागो व किह व मुक्कोसिं
कालादओ व मंडिय । महवयणाओ व पडिवज्ज- विशेषावश्यकभाष्य -१८३०

१३८. इक्करस निगोयस्स अनंतभागो सिद्धिगओ -नवतत्त्वप्रकरण

१३९. (अ) स्वाभाविकं च भव्यत्वं कलशप्रागभाववत्
नाशकारणसाम्राज्याद्धिनश्यन् विरुध्यते।।७०।। -

मिथ्यात्वत्यागाधिकार -अध्यात्मसार -उ. यशोविजयजी

(ब) जह धडपुत्वा भावोऽपाइसठावो वि सनिहणो एवं
जइ भवत्ता भावो, भवेज्ज किरियाए को दोसो - विशेषावश्यकभाष्य -१८२५

करके मोक्ष में जाता है, तब वह अशरीरी हो जाता है। अतः भव्यजीवों के तेजस, कार्मण शरीर अनादि-सांत होते हैं, जबकि अभव्य और जातिभव्य जीवों के तेजस और कार्मण शरीर अनादि-अनंत होते हैं।^{१४०}

लेश्या के आधार पर आत्मा का परिणाम :

आध्यात्मिक जगत् में लेश्या का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जीव के शुभ तथा अशुभ परिणामों को लेश्या कहते हैं। भगवतीसूत्र की वृत्ति में लेश्या को परिभाषित करते हुए आचार्य अभयदेवसूरि लिखते हैं- “आत्मा के साथ कर्मपुद्गलों को श्लिष्ट करने वाली प्रवृत्ति लेश्या है। ये ‘योग’ (प्रवृत्ति) के परिणाम-विशेष हैं।”^{१४१} आत्मा के द्वारा पुद्गलों का ग्रहण होता है। वे पुद्गल उसके चिंतन को प्रभावित करते हैं। अच्छे पुद्गल अच्छे विचारों के सहायक बनते हैं और बुरे पुद्गल बुरे विचारों के। यह एक सामान्य नियम है। विचारों की शुद्धि एवं अशुद्धि में अनन्तगुण तरतमभाव रहता है। तत्त्वार्थराजवर्तिक में लेश्या को परिभाषित करते हुए आचार्य अकलंक लिखते हैं- “कषाय के उदय से रंजित योग की प्रवृत्ति लेश्या है।”^{१४२} आत्मा के परिणामों की शुद्धता और अशुद्धता की अपेक्षा से इसे कृष्णादि छः भागों में विभक्त किया है। प्रथम तीन लेश्या अधर्म या अशुभ लेश्या हैं तथा अन्तिम तीन धर्म या शुभ लेश्याएँ हैं। उपाध्याय यशोविजयजी कहते हैं कि आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान में कृष्णलेश्या, नीललेश्या तथा कापोतलेश्या रहती है, क्योंकि ये दोनो अशुभध्यान ही है। “आर्त ध्यान में कुछ कम क्लिष्ट भाव वाली कापोत, नील और कृष्ण लेश्या होती है और रौद्र ध्यान में अत्यंत संक्लिष्ट परिणाम के रूप में कापोत, नील और कृष्ण लेश्याएँ संभव है। धर्म ध्यान में निर्मल अध्यवसाय होने से तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम भेद से क्रमशः तेजोलेश्या,

१४०. तेयासरीरपओग बन्धे णं भन्ते! कालओ केवचिरं होई?

गोयमा! दुविहे पण्णत्ते तं जहा-अणाइये वा, अपज्जवसिए, अणाइए वा, सपज्जवसिए।
कम्मासरीरपओग बन्धे अणाइये सपज्जवसिए, अणाइए अपज्जवसिए वा एव जहा
तेयगस्स। -भगवती, श. ८, उ. ६, सूत्र ३५१

१४१. आत्मनि कर्मपुद्गलानाम लेशानात्-संश्लेषणात् लेश्या, योग परिणामाश्चैताः -वही

१/२/प्र. ६८ की टीका

१४२. कषायोदयरंजिता योगप्रवृत्ति लेश्या -तत्त्वार्थराजवर्तिक -२१६

फद्मलेश्या तथा शुक्ललेश्या होती है।”^{१४३} उत्तराध्ययन में कृष्ण, नील व कापोत लेश्याओं को दुर्गति का कारण, नरक तिर्यन्च गति का हेतु बताया गया है तथा तेजो, फद्म व शुक्ललेश्या को मनुष्य तथा देवगति बन्ध का कारण बताया है।^{१४४} यही बात उपाध्याय यशोविजयजी ने अध्यात्मसार के ध्यानाधिकार में कही है।

कृष्णलेश्या का स्वरूप :

भारतीय संस्कृति में यम (मृत्यु) को काले रंग से चित्रित किया गया है। काजल के समान काले और नीम से अनन्त गुण कटु रस वाले पुद्गलों के सम्बन्ध से आत्मा में जो परिणाम होते हैं, वह कृष्णलेश्या है। वैज्ञानिकों का कथन है कि व्यक्ति के आसपास यदि काला आभामण्डल है, तो समझें कि वह हिंसा, क्रोध, वासना आदि भयंकर भावों की भूमि पर स्थित है। उपाध्याय यशोविजयजी कहते हैं- “निर्दयता पश्चातापरहितता, दूसरों के दुःख में हर्ष, सतत हिंसादि विचारों में प्रवृत्ति आदि इसके लिंग हैं।”^{१४५} “कृष्णलेश्यावाला क्रूर अविचारी, निर्लज्ज, नृशंस, विषय-लोलुप, हिंसक स्वभाव की प्रचण्डता वाला होता है।”^{१४६}

१४३. कापोतनीलकृष्णानां लेश्यानामत्र संभवः
अनतिक्लिष्टभावनां कर्मणां परिणामतः ॥६॥
कापोतनीलकृष्णानां लेश्यानामत्र संभवः
अतिसंक्लिष्टरूपाणां कर्मणां परिणामतः ॥१४॥
तीव्रादिभेदभाजः स्युर्लेश्यास्तिस्र इहोत्तराः
लिंगान्यत्रागमश्रद्धा विनयः सद्गुणस्तुतिः ॥११॥ - ध्यान अधिकार-अध्यात्मसार -उ.
यशोविजयजी
१४४. किण्हा नीला काऊ, तिन्नि वि एयाओ अहम्मलेसाओ
एयाहि तिहि वि जीवो, दुग्गइ उववज्जइ बहुसो ॥१६॥
तेउ पम्हा सुक्का तिन्नि वि एयाओ धम्मलेसाओ
एयाहि तिहि वि जीवो सुग्गइ उववज्जइ बहुसो ॥१७॥ -उत्तराध्ययन सूत्र -३४
१४५. निर्दयत्वाननुशयौ बहुमानः परापदि
लिंगान्यत्रेत्यदो धीरैस्त्याज्यं नरकदुःखदम् ॥१६॥ -ध्यानाधिकार -अध्यात्मसार -उ.
यशोविजयजी
१४६. पंचासवप्पवत्तो तीहिं अगुत्तो छसुअविरओ य
तिव्वारंभ परिणओ खुद्धो साहसिओ नरो ॥२१॥
निद्धंघस परिणामो निस्संओ अजिइदिओ
एय जोग-समाउणे, किण्हलेसं तु परिणमे ॥२२॥ -उत्तराध्ययन ३४ वां

नीललेश्या :

नीलम के समान नीला और सौँठ से अनन्तगुना तीक्ष्ण पुद्गलों के सम्बन्ध से आत्मा में जो परिणाम होते हैं, वह नीललेश्या कहलाती है। “जो ईर्ष्यालु, कदाग्रही, प्रमादी, रसलोलुपी और निर्लज्ज होता है, वह नीललेश्या परिणामी है।”^{१४७}

कापोतलेश्या :

कबूतर के गले के समान वर्ण वाली और कच्चे आम के रस से अनन्त गुण कसैले पुद्गलों के सम्बन्ध से आत्मा के जो परिणाम होते हैं, वह कापोतलेश्या कहलाती है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार अत्यधिक हँसने वाला, दुष्ट वचन वाला, मत्सर स्वभाव वाला, आत्मप्रशंसा और परनिंदा में तत्पर, अतिशोकाकुल, कापोतलेश्या से युक्त होता है।

तेजोलेश्या (पीतलेश्या) :

हिंगुल के लाल पके हुए आम्ररस से अनन्तगुना मधुर पुद्गलों के संयोग से आत्मा में जो परिणाम होते हैं, वह तेजोलेश्या कहलाती है। गोम्मटसार में इसके लिए पीत लेश्या शब्द प्रयुक्त हुआ है। “महत्त्वाकांक्षारहित प्राप्त परिस्थिति में प्रसन्न रहने की स्थिति को पीतलेश्या या तेजोलेश्या कहा गया है।”^{१४८}

पद्मलेश्या :

हल्दी के समान पीले तथा शहद से अनन्तगुना मधुर पुद्गलों के संयोग से आत्मा के जो परिणाम होते हैं, वह पद्मलेश्या कहलाती है। उत्तराध्ययन के

१४७. इम्मा अमरिस-अतवो, अविज्ज-माया अहीरिया य
गेद्धी पओसे य सढे, पमत्ते रस-लोलुए साय गवेसए ।।२३।। -उत्तराध्ययन सूत्र
-अध्ययन ३४

१४८. गोम्मटसार /अधि. १५/गा./५१४

अनुसार मन्दतरकषाय, प्रशान्तचित्त, जितेन्द्रिय अवस्था पद्मलेश्या का लक्षण है।^{१४६} शुद्धता के अनुरागी पद्मलेश्या परिणामी की चित्तवृत्ति प्रशान्त होती है।

शुक्ल-लेश्या :

शंख के समान श्वेत और मिश्री से अनंतगुना मधुर पुद्गलों के सम्बन्ध से आत्मा के जो परिणाम होते हैं, वह शुक्ललेश्या युक्त होते हैं। धर्मध्यान में स्थित शुक्लध्यान में प्रवेश लेने वाला शुक्ललेश्या युक्त होता है। उ. यशोविजयजी के अनुसार शुक्लध्यान के प्रथम दो पाए में शुक्ललेश्या तथा तीसरे पाए में शुक्ललेश्या परम उत्कृष्ट रूप में होती है। शुक्लध्यान का चौथा प्रकार लेश्यातीत होता है।^{१५०} शुक्ललेश्या वाला निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, पूजा-गाली, शत्रु-मित्र, रज कंचन सभी स्थितियों में समत्वभाव में रहता है। लेश्या के स्वरूप को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है- छः मित्र थे। उनके नाम कृष्ण, नीलकुमार, कापोत, तेजकुंवर, पद्मचंद और शुक्लचंद थे। एक दिन वे धुमते हुए एक उद्यान में पहुँचे। वहाँ फल से युक्त जामुन के वृक्ष को देखकर कृष्ण बोला “देखो-देखो, वृक्ष पर कितने सुन्दर जामुन के फल लगे हैं। इस वृक्ष को जड़ मूल से काटकर गिरा देते हैं, फिर बैठे-बैठे आराम से फल खाएंगे।” नील बोला- “पूरा वृक्ष गिराने की क्या आवश्यकता है? इसकी बड़ी-बड़ी शाखाएँ काटकर गिरा देते हैं, तो भी बहुत फल मिल जाएंगे।” कापोत बोला- “यह उचित नहीं है केवल छोटी-छोटी शाखा को तोड़ने से भी फल प्राप्त हो जाएंगे।” तेज कुमार बोला- “अरे मित्रों शाखा को तोड़ने से क्या लाभ? फलों के गुच्छे ही तोड़ लेते हैं।” यह सुनकर पद्मचंद बोला- “जितने चाहिए उतने फलों को ही तोड़कर खा लेते हैं।” अन्त में शुक्लचंद बोला- “फलों को तोड़ने की भी आवश्यकता नहीं है। नीचे पर्याप्त मात्रा में फल बिखरे पड़े हुए हैं, इन्हें ही उठाकर खा लेते हैं।” इस

१४६. पयणु कोह माणे य, माया लोभे य पयणुए
पसंतचित्ते दंतप्पा जोगवं उवहाणवं ॥२६॥
तहा पयणुवाई य उवसंते जिइंदिए

एय जोग-समाउत्तो पम्हलेंस तु परिणमे ॥३०॥ -उत्तराध्ययन - अ. चौतीसवाँ

१५०. द्वयोः शुक्ला तृतीये च लेश्या सा परमा मता ।

चतुर्थः शुक्ल भेदस्तु लेश्यातीतः प्रकीर्तितः ॥८२॥ -ध्यानाधिकार -अध्यात्मसार -उ.
यशोविजयजी

दृष्टान्त के आधार पर पहले व्यक्ति के परिणाम कृष्णलेश्या के हैं, क्रमशः अन्तिम मित्र के परिणाम शुक्ललेश्या के हैं।

भावों के आधार से एक जीव लेश्या के अनेक स्थानों को स्पर्श कर सकता है। मिथ्यादृष्टि जीव छहों लेश्याओं में रह सकता है। सयोगीकेवली के मात्र शुक्ललेश्या होती है। अयोगी अवस्था में जीव लेश्यारहित होता है। यही अध्यात्म की पूर्णता है।

आत्मा का त्रिविध वर्गीकरण

जैन-धर्मदर्शन में आध्यात्मिक पूर्णता, अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति को साधना का अन्तिम लक्ष्य माना जाता है। इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साधक को साधना की विभिन्न श्रेणियों से गुजरना पड़ता है। डॉ. सागरमलजी जैन का कहना है- “विकास तो एक मध्यावस्था है, उसके एक ओर अविाकास की अवस्था तथा दूसरी ओर पूर्णता की अवस्था है।”^{१५१} इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए पूर्ववर्ती जैनाचार्यों ने तथा उपाध्याय यशोविजयजी ने अपने ग्रन्थ में आत्मा की निम्न तीन अवस्थाओं का विवेचन किया है-

१. बहिरात्मा -आत्मा के अविाकास की अवस्था
२. अन्तरात्मा -आत्मा की विकासमान अवस्था
३. परमात्मा - आत्मा की विकसित अवस्था

उपाध्याय यशोविजयजी ने बहिरात्मा के चार प्रमुख लक्षण बताए हैं -

(१) विषय कषाय का आवेश (२) तत्त्वों पर अश्रद्धा (३) गुणों पर द्वेष और (४) आत्मा की अज्ञानदशा।^{१५२} (पुद्गलानंदी) बहिर्मुखी आत्मा को आचारांग में बाल, मंद और मूढ़ नाम से अभिव्यक्त किया गया है। यह अवस्था चेतना या आत्मा की विषयाभिमुखी प्रवृत्ति की सूचक है।

जब तत्त्व पर सम्यक् श्रद्धान, सम्यग्ज्ञान, महाव्रतों का ग्रहण, आत्मा की अप्रमादी दशा और मोह पर विजय प्राप्त होती है; तब अन्तरात्मा की अवस्था

१५१. बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन - डॉ. सागरमल जैन -भाग

१५२. विषयकपायावेशः तत्त्वाश्रद्धा गुणेषु च द्वेषः

आत्माऽज्ञानं च यदा बाह्यात्मा स्यात्तदा व्यक्तः॥२२॥ -अनुभव अधिकार-अध्यात्मसार

-उ.यशोविजयजी

अभिव्यक्त होती है।”^{१५३} गुणस्थानक की दृष्टि से तेरहवाँ सयोगीकेवली और चौदहवाँ अयोगीकेवली के गुणस्थानक पर रहा हुआ आत्मा परमात्मा कहलाता है।

इन त्रिविध आत्माओं का विवेचन अगले अध्याय में किया जा रहा है।

आत्मा के कर्तृत्व और भोक्तृत्व

संसारी प्राणियों की विविधता का कारण कर्म ही है। कोई विद्वान् है, कोई मूर्ख है, कोई धनवान है, कोई धनहीन; कोई आसक्त, कोई विरक्त, किसी का सत्कार, तो किसी का तिरस्कार, कोई सुन्दर है, कोई कुरूप; कोई लेखक है तो कोई कवि या वक्ता। कोई विशेष योग्यता न रखते हुए भी स्वामी बना हुआ है, तो कोई योग्यता होते हुए भी सेवक है। ऐसी अनेक प्रकार की विचित्रताएँ हमें संसार में देखने को मिलती हैं। इनका आन्तरिक हेतु कर्म है। आत्मा के बिना कर्म सर्वथा असंभव है। व्यवहारनय से उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है- “यह जीवात्मा ही सुखों तथा दुखों का कर्ता तथा भोक्ता है और यह जीवात्मा ही (यदि सुमार्ग पर चले तो) अपना सबसे बड़ा मित्र है और (यदि कुमार्ग पर चले तो) स्वयं अपना सबसे बड़ा शत्रु है। यह आत्मा ही (आत्मा के लिए) वैतरणी नदी तथा कूटशाल्मली वृक्ष के समान दुःखदायी है और यही कामधेनु तथा नन्दनवन के समान सुखदायी भी है।”^{१५४} यह जीवात्मा अपने ही पापकर्मों द्वारा नरक और तिर्यच गति के अनन्त दुःखों को भोगता है और वही अपने ही सत्कर्मों द्वारा स्वर्ग आदि के विविध दिव्य सुख भी भोगता है।

व्यवहारनय वर्तमान वास्तविक परिस्थितियों और संयोगों को स्वीकार करता है। “निरूपचरित असद्भूत व्यवहारनय के अनुसार आत्मा कर्मों का कर्ता और भोक्ता है और उपचरित असद्भूत व्यवहारनय के अनुसार आत्मा देह के

१५३. ज्ञानं केवलसंज्ञं योगनिरोधः समग्रकर्महतिः

सिद्धिनिवासश्च यदा परमात्मा स्यात्तदा व्यक्तः ॥२४॥- अनुभववाधिकार-अध्यात्मसार-
उ. यशोविजयजी

१५४. अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य

अप्पा मित्तभमित्तं च दुप्पट्ठिय सुपहिओ ॥३७॥

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।

अप्पा कामदुहा धेगू, अप्पा मे नन्दणं वणं ॥३६॥ -उत्तराध्ययन - बीसवाँ अध्ययन

द्वारा भोगवाते स्थूल पदार्थों का भी भोक्ता है।” जैसे मैं खाता हूँ, मैं नृत्य करता हूँ, मैं नाटक देखता हूँ आदि कथन इस नय के आधार पर हैं। उ. यशोविजयजी ने अध्यात्मसार में कहा है- “जीव निश्चयनय सेकर्मों का भोक्ता है तथा व्यवहारनय से स्त्री आदि का भी भोक्ता है।”^{१५५} कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों ही शरीरयुक्त बद्धात्मा में ही पाए जाते हैं, मुक्तात्मा में नहीं। जैनदर्शन एकान्त आत्मकर्तृत्ववाद को नहीं मानता है। यदि आत्मा को एकान्त रूप से कर्मों का कर्ता माना जाए, तो कर्तृत्व उसका स्वलक्षण होना चाहिए और ऐसी स्थिति में निर्वाण अवस्था में भी उसमें कर्तृत्व रहेगा। यदि कर्तापण आत्मा का स्वलक्षण है, तो वह कभी छूट नहीं सकता और जो छूट सकता है, वह स्वलक्षण नहीं हो सकता। आत्मा को स्वलक्षण की दृष्टि से कर्ता मानने पर मुक्ति की संभावना ही समाप्त हो जाएगी।^{१५६} अतः शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से जैनदर्शन आत्मा को कर्म का कर्ता नहीं मानता है।

निश्चयनय से आत्मा कर्म का अकर्ता

उ. यशोविजयजी ने अध्यात्मोपनिषद, ज्ञानसार तथा आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में कहा गया है- “जैसे योद्धाओं द्वारा किए गए युद्ध का आरोपण स्वामी या राजा पर होता है, जैसे राजा ने युद्ध किया-ऐसा लोकव्यवहार में कहते हैं; उसी प्रकार कर्म के समूह से उत्पन्न भावों का आरोपण अविवेक के कारण आत्मा में होता है।”^{१५७} ज्ञानावरणादि कर्म के परिणाम से स्वयं परिणामित होते हुए कर्मणवर्गणां नाम के पुद्गल-पुंजों द्वारा ज्ञानावरणादि कर्म उत्पन्न होता है। विशुद्ध आत्मा का स्वयं ज्ञानावरणादि में परिणामन नहीं होता है, फिर भी आत्मा ने ज्ञानावरणादि कर्म किया- ऐसा उपचार से कहते हैं। कर्म के कर्ता और आत्मा के बीच में भेद रहा हुआ है। ज्ञानावरणादि कर्म का कर्तृत्व कर्मणवर्गणा में है।

१५५. कर्मणोऽपि च भोगस्य स्त्रगादेर्व्यहारतः

नैगमादि व्यवस्थापि भावनीयाऽनया दिशाः ॥८०॥ अध्यात्मसार -यशोविजयजी

१५६. जैन बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन - डॉ. सागरमल जैन
-भाग-२, पृ. २२१

१५७. यथा भृत्यैः (योधैः) कृतं युद्धं स्वामिन्येवोपचर्यते

शुद्धात्मन्यविवेकेन कर्मस्कन्धोर्जितं तथा ॥३०॥ -अध्यात्मोपनिषद्

(ब) ज्ञान सार -उ. यशोविजयजी

जोदेहि कदे जुद्धे राएण कदं ति जंपदे लोगो ।

ववहारेन तह कदं णाणावरणादि जीवेण ॥१०६॥ -समयसार-आचार्य कुन्दकुन्द

देह का कर्तृत्व औदारिक वर्गणा में है। इसे निम्न दृष्टांत द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है-

गेहूँ, मक्का आदि का आटा रोटी के रूप में परिणमित होता है, अर्थात् आटे की रोटी का निर्माण होता है, इसलिए रसोइए ने आटे से रोटी बनाई है- ऐसा कहा जाता है रसोइए ने वास्तव में रोटी बनाई नहीं है, क्योंकि वह स्वयं रोटी के परिणाम से परिणत नहीं होता है। यदि ऐसा होता, तो वह रसोइया गेहूँ के आटे की तरह रेत से भी रोटी बना सकता है; परंतु ऐसा नहीं होता है, इसलिए रसोइया रोटी को बनाने वाला नहीं है, ऐसा सिद्ध होता है। फिर भी रसोइए ने रोटी बनाई ऐसा व्यवहार रोटी के कर्ता (गेहूँ का आटा) और रसोइए के बीच भेद का ज्ञान नहीं होने से, लोगों में होता है। यह औपचारिक व्यवहार है। यहाँ गेहूँ का आटा-कर्मणवर्गणा, रोटी- ज्ञानावरणादि कर्म, रसोइया- आत्मा है। उसी प्रकार मिट्टी-कर्मणवर्गणा, घट-ज्ञानावरणादिकर्म, कुम्हार-आत्मा।

भगवद्गीता में भी कहा गया है- “कर्मप्रकृति के गुणों द्वारा सब कार्य किए जाते हैं, तो भी अहंकार से मूढ़ व्यक्ति ‘मैं कर्ता हूँ’ ऐसा मानता है।”^{१५८} ऐसे अहंकार से उसे कर्मबंध होते हैं, परंतु एक ही क्षेत्र में समान आकाशप्रदेश की श्रेणी में जीव और कर्म के रहने मात्र से रागादिरहित ज्ञानी को तद्निमित्तक कर्मबंध नहीं होता है, क्योंकि तद्निमित्तक कोई भी रागादिभाव ज्ञानी को नहीं होता है। जैसे जिस आकाशप्रदेश में रहकर कर्म अपना फल बताते हैं, उसी आकाशप्रदेश में आत्मा की तरह धर्मास्तिकाय भी रहा हुआ है, तो भी धर्मास्तिकाय को कर्मबंध नहीं होता है, क्योंकि धर्मास्तिकाय में रागादिभाव स्वरूप चीकाश नहीं है, उसी प्रकार आत्मज्ञानी को भी कर्मोदय निमित्तक रागादिभाव के अभाव में कर्म नहीं बंधते हैं। यशोविजयजी ने अध्यात्मसार ग्रंथ में कहा है- “जिस क्षेत्र में कर्म रहे हुए हैं, उसी क्षेत्र में ज्ञानी की आत्मा के रहने पर भी आत्मा कर्म के फल की मलिनता का अनुभव नहीं करती है, क्योंकि तथाभव्य स्वभाव के कारण आत्मा धर्मास्तिकाय की तरह शुद्ध है, अर्थात् रागादि शून्य ही है।”^{१५९} अध्यात्मविन्दु नामक ग्रंथ में कहा गया है- “जैसे वैद्य जहर को खाने पर भी उसकी शोधन

१५८. प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते। (३/२७) -भगवद्गीता

१५९. एकक्षेत्रस्थितोऽप्येति नात्मा कर्मगुणान्वयम्

तथाभव्यस्वभावत्वाच्छुद्धो धर्मास्तिकायवत् -अध्यात्मसार -उ. यशोविजयजी

विकृति को प्रक्रिया ज्ञाता होने से प्राप्त नहीं होता है, उसी प्रकार आत्मज्ञानी कर्मोदय को भोगते हुए भी उससे बंधन में नहीं आता है। जैसे मंत्रादि के कारण से जिस अग्नि की दाहशक्ति को नष्ट कर दिया है, वह अग्नि जलाती नहीं है, उसी प्रकार ज्ञान की शक्ति से उदासीन हुआ चित्त कर्म का उदय होने पर भी आत्मा को बाँधने के लिए समर्थ नहीं है।”^{१६०}

प्रश्न उठता है कि अप्रमत्त को, क्षपकश्रेणी में रहे हुए को, यहाँ तक कि सयोगीकेवली को भी कर्मबंध होता है, ऐसा आगम में बताया है, तो फिर कर्म के उदय में ज्ञानी नए कर्म नहीं बाँधते है यह कैसे संभव है?

इसका उत्तर यह है कि आत्मज्ञानी को तेरहवें गुणस्थानक इर्यापथिक कर्म बाँधते हैं, किन्तु ये कर्म स्थिति के अभाव में आत्मा को बाँधते नहीं हैं; इसलिए जिनके मिथ्यात्व, अविरति, कषायों का नाश हो गया है, ऐसे आत्मदर्शी योगी में केवल योग के कारण से ही बाँधे हुए कर्म भी विपाकोदय से अपना फल नहीं देते हैं। योग के कारण से कर्म बाँधने पर भी केवल ज्ञानी में कर्मबंध का कर्तृत्व नहीं होता। जितने अंश में मिथ्यात्व, अविरति, कषायादि की मात्रा कम होती है, उतने ही अंश में व्यवहारनय से आत्मनिष्ठ रूप में स्वीकृत कर्मबंध का कर्तृत्व विलीन हो जाता है। समयसार में कहा गया है- “निश्चयनय से आत्मा अपने-आप का कर्ता है और अपने-आप का भोक्ता है, दूसरों का नहीं।”^{१६१}

कोई श्रीमंत जब आभूषणादि खरीदता है और उसे पहनता है, तो श्रीमंत में आभूषणादि खरीदने का कर्तृत्व और भोक्तृत्व दिखता है, किंतु वास्तव में आभूषण खरीदने का कर्तृत्व उस पुरुष में नहीं, परंतु उसके पास रहे हुए धन में है, इसलिए श्रीमंत जब धनहीन (दरिद्र) होता है, तब बहुमूल्य आभूषण नहीं खरीद सकता है। उसी प्रकार मिथ्यात्व, अविरति और कषाय के कारण से कर्म-बंधन होता है। तब ‘जीव कर्म बांधता है’- ऐसा व्यवहार होता है, परंतु वास्तव में उस कर्मबंध का कर्तृत्व मिथ्यात्व, अविरति, कषाय में रहा हुआ है। जो जीव में कर्मबंध का कर्तृत्व हो, तो सिद्ध भी कर्म बांधे परंतु ऐसा नहीं है, इसलिए कर्मबंध का कर्तृत्व जीव में नहीं, जीवसंतग्न कर्मोदयजन्य मिथ्यात्व आदि औदायिक भावों में हैं। ये औदायिक भाव कर्म के परिणामरूप हैं, आत्मा के नहीं। इस बात

१६०. विषमश्नम् तथा वैद्यो विक्रियां नोपगच्छति ।

कर्मोदये तथा भुंजानोऽपि ज्ञानी न बध्यते ॥ (३/३०) -अध्यात्मबिन्दु

१६१. णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणभेव हिं करेदि ।

वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥ -समयसार -आचार्य कुन्दकुन्द, ३३

का स्पष्टीकरण यशोविजयजी ने अध्यात्मवैशारदी टीका में दृष्टान्त द्वारा किया है। “आम्रवृक्ष के ऊपर रही हुई परोपजीवी अमरबेल में जो फल आते हैं, उसका कर्तृत्व बेल में कहलाता है, नहीं कि आम के वृक्ष में, चाहे बेल आम्रवृक्ष पर रहकर अपना भरणपोषण करके जीवन गुजारती हो।”^{१६२} यहाँ आम्रवृक्ष-आत्मा, परोपजीवी-कर्म बेल के फल-मिथ्यात्व, अविरति, कषाय के रूप में है।

निश्चयनय से कर्म का कर्तृत्व आत्मा में नहीं होता है। कर्म तो आत्मा से भिन्न पुद्गल द्रव्यरूप है, इस कारण से आत्मा वास्तव में कर्म के प्रपंच की कर्ता किस प्रकार हो सकती है। यह आत्मा तो स्वभाव की ही कर्ता है, परभाव का कर्ता नहीं।

एकान्तअकर्तृत्ववाद के दोष -

“यदि आत्मा अकर्ता है, तो उसे शुभाशुभ कर्मों के लिए उत्तरदायी भी नहीं मान सकते। उत्तरदायित्व के अभाव में नैतिकता का प्रत्यय अर्थहीन होता है, यदि आत्मा को अकर्ता माना जाए, तो उत्तरदायित्व की व्याख्या संभव नहीं है। शुभाशुभ कर्मों का कर्ता नहीं होने से वह बन्धन में भी नहीं आएगी।”^{१६३}

निष्कर्ष -

जैनदर्शन में कर्तृत्व और अकर्तृत्व के विवाद का समाधान सापेक्ष दृष्टि के आधार पर ही करते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में कहा है -

१. व्यवहारदृष्टि की अपेक्षा से आत्मा शरीर के सहयोग से कर्म की कर्ता है।
२. पर्यायार्थिक निश्चयदृष्टि के अनुसार आत्मा जड़ कर्म की कर्ता नहीं है, वरन् मात्र कर्मपुद्गल के निमित्त से अपने अध्यवसायों का कर्ता है।
३. शुद्ध निश्चयनय अथवा द्रव्यार्थिकनय दृष्टि से आत्मा अकर्ता है।”

१६२. अध्यात्मवैशारदी (अध्यात्मोपनिषद की टीका) - भाग २, मुनि यशोविजयजी

१६३. जैन बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन - डॉ. सागरमल जैन
- भाग-२ पृ.२२२

यही बात उ. यशोविजयजी ने भी अध्यात्मसार में कही है कि नैगमनय और व्यवहारनय के अनुसार 'आत्मा कर्म की कर्ता है, क्योंकि आत्मा का व्यापार फलपर्यन्त देखने में आता है।' निश्चयनय की दृष्टि से आत्मस्वरूप में विकृति नहीं होती है। जैसे चाँदी में छीप की कल्पना करने से चाँदी छीप नहीं होती है।

आत्मा का भोक्तृत्व

आध्यात्मिक साधना के लिए आत्मा को कर्ता मानना आवश्यक है और यदि कर्ता मानते हैं, तो उसे भोक्ता भी मानना पड़ेगा, क्योंकि जो कर्म करता है, वही उसके फल का भोक्ता बनता है। जैसे आत्मा का कर्तृत्व कर्मपुद्गलों के निमित्त से सम्भव है, वैसे ही आत्मा का भोक्तृत्व भी कर्मपुद्गलों एवं तज्जन्य शरीर के निमित्त से ही सम्भव है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व-दोनों ही संसारी जीव में पाए जाते हैं, सिद्ध में नहीं। ऐसा भोक्तृत्व वेदनीय कर्म के कारण ही संभव है, किन्तु इसके अतिरिक्त भी आत्मा को उसके स्वरूप-लक्षण, अर्थात् ज्ञानदर्शन का भोक्ता माना जा सकता है।

उपाध्याय यशोविजयजी कहते हैं-

१. व्यवहारनय से जीव पौद्गलिक कर्मों के फल का भोक्ता है। साथ ही घट, पट आदि पदार्थों का भी भोक्ता है।
२. अशुद्ध निश्चयनय से कर्मों के विपाक द्वारा प्राप्त सुख और दुःख आदि संवेदनाओं का भोक्ता है।
३. शुद्ध निश्चयनय से आत्मा चिदानंद स्वभाव का भोक्ता है। यहाँ भोक्तृत्व अर्थ मात्र स्वरूपस्थिति है।

आदिपुराण में कहा गया है कि "परलोक सम्बन्धी पुण्य और पापजन्य फलों की भोक्ता आत्मा है।"

स्वामी कार्तिकेय ने भी आत्मा को कर्म विपाकजन्य सुख-दुख की भोक्ता कहा है।

"नियमसार" एवं "पंचास्तिकाय" में भी व्यवहारनय से आत्मा के कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व को स्वीकार किया गया है। "निश्चयनय की दृष्टि से शुभाशुभ कर्मों का सुख-दुख रूप प्रतिफल का संवेदन आत्मा के स्वभाव से भिन्न है। सुख-दुख पुद्गल के निमित्त से होने वाली आत्मा की वैभाविक पर्याएं हैं। शुद्धात्मा तो उनका साक्षी है, वह तो मात्र दर्शक है।"

इस प्रकार शुद्ध निश्चयनय से देखने पर जीव के स्वयं के यथार्थ शुद्ध स्वरूप का बोध होता है और वर्तमान व्यवहारनय से देखने पर आत्मा के अशुद्ध स्वरूप का बोध होता है। जब व्यक्ति दोनों नयों को स्वीकार करके चलता है, तो वह पुण्य-पाप के फल भोगते हुए भी उसमें आसक्त नहीं होता है। वह सुख में लीन तथा दुःख में दीन नहीं होता है।

उ. यशोविजयजी ने अध्यात्मसार में एक दृष्टांत दिया है कि “जिस व्यक्ति को तालाब के कम पानी में तैरना नहीं आता है, वह समुद्र को तैरकर सामने किनारे पर पहुँचने की अभिलाषा रखता है, तो यह हास्यास्पद है; उसी प्रकार व्यवहारनय को जाने बिना केवल शुद्ध निश्चयनय की बात करना, यह हास्यास्पद है।”^{१६४} दोनों नय मनुष्य की दो आँख के समान हैं, एक ही रथ के दो पहियों के समान हैं, इसलिए जैनदर्शन में व्यवहारनय से आत्मा को कर्मों का तथा स्थूल पदार्थों का कर्ता तथा भोक्ता स्वीकार किया गया है तथा निश्चयनय से आत्मा को अपने चिदानंदस्वरूप को भोक्ता कहा गया है।

आत्मा की स्वभावदशा एवं विभावदशा

अध्यात्मवाद की साधना का यदि कोई प्रयोजन है, तो वह विभाव से हटकर स्वभाव में लौटना ही है। जैनधर्म की आध्यात्मिक साधना विभावदशा से स्वभाव की ओर एक यात्रा है। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि स्वभाव और विभाव क्या हैं? आत्मा में पर के निमित्त से जो विकार उत्पन्न होते हैं, या भावों का संक्लेशयुक्त जो परिणमन होता है, वह विभाव कहलाता है। जैनदर्शन में राग-द्वेष तथा क्रोध-मान-माया-लोभ, ममत्व आदि कषाय भावों को वैभाविकदशा के सूचक माना है, क्योंकि एक ओर ये पर की अपेक्षा रखते हैं, तो दूसरी ओर इसके कारण आत्मा का समत्व विचलित होता है; अतः इनको विभाव कहा जाता है। उपाध्याय यशोविजयजी कहते हैं- “जैसे वट के एक बीज में से उत्पन्न हुआ वटवृक्ष विशाल भूमि में फैल जाता है, उसी प्रकार एक ममत्तरूपी बीज में से सारे

१६४. व्यवहारविनिष्णातो यो ज्ञीप्सति विनिश्चयम्।

कासारतरणाशक्तः स तितीर्षति सागरम् ॥१९६॥ -आत्मनिश्चयाधिकार -अध्यात्मसार-उ.
यशोविजयजी

प्रपंच (संसार) की कल्पना खड़ी होती है।”^{१६५} जब तक जीव का स्त्री पुत्र धन-देह पर ममत्वभाव है और काम-क्रोधादि कषाय है तब तक वह विभावदशा में ही लीन रहता है। “जन्मांध व्यक्ति को जो वस्तु है, उसे नहीं देख सकता है किंतु ममता से अंध विभाव दशा में भटक रहे व्यक्ति को जो वस्तु नहीं है, वह दिखती है।”^{१६६} ममतांध व्यक्ति द्वारा चर्मचक्षु से देखने पर भी आंतरचक्षु द्वारा उसका दर्शन मलिन अस्पष्ट या विपरित होता है। विभाव परिणाम अनादिकालीन है कर्मसंग जनित है इसका वियोग उपाय से किया जा सकता है। परमवीर्यस्फुरणा करके यह जीव स्वयं के शुद्ध स्वभाव को प्रकट कर सकता है। आनंदघनजी ने विभावदशा का अत्यंत सुंदर चित्रण किया है -

“जिस प्रकार सूरज पूर्व दिशा को त्याग कर पश्चिम दिशा में अनुरक्त होकर अस्त हो जाता है, उसी प्रकार जब आत्मा समतारूपी स्वघर का त्याग करके ममतारूपी परघन में अनुरक्त हो जाती है, तब उसकी शुद्ध स्वाभाविक दशा पर मिथ्यात्वरूपी तम छा जाता है।”^{१६७} आत्मविश्वास में पिछड़े ऐसे बहिरात्मा जीव संसार में दुःखी होने पर भी संसार के भौतिक सुखों में आसक्त रहते हैं।

वे विभाव को ही अपना स्वभाव मान लेते हैं। उपाध्याय यशोविजयजी ने ज्ञानसार में कहा गया है- “आत्मद्रव्य से भिन्न धन-धान्य परिग्रहादिरूप पर उपाधि में ही जिसने पूर्णता मान ली है, वह पूर्णता, मांगकर लाए हुए आभूषणों की शोभा से अपने आपको धनवान् मानने के समान है, जबकि ज्ञान, दर्शन, चारित्र्यरूप स्वभाव से सिद्ध जो पूर्णता है, वह महारत्न की कांति के समान है।”^{१६८}

१६५. व्याप्नोति महतीं भूमिं वटबीजाद्यथा वटः

यथैकममताबीजात् प्रपंचस्यापि कल्पना ॥६॥ -ममत्व-त्याग अधिकार -अध्यात्मसार -उ. यशोविजयजी

१६६. ममनान्धो हि यदनास्ति, तत्पश्चति न पश्यति।

जात्यंधस्तु यदस्येतद्भेद इत्यनयोर्महान् ॥१२॥ - ममत्व-त्याग अधिकार -अध्यात्मसार -उ. यशोविजयजी

१६७. बालुडी अबला जोर किसौ करे, पीउडो रविअस्तगत थई।

पूरबंदिसि तजि पश्चिम रातडौ रविअस्तगत थई।- आनन्दघन ग्रन्थावली पद -४१

१६८. पूर्णता या परोपाद्येः सा याचितकमण्डनम्।

या तु स्वाभाविकी सैव, जात्यरत्नविभानिभा ॥२॥-पूर्णता अष्टक-१, ज्ञानसार, उ. यशोविजयजी

अनादि अतीतकाल से संसारी जीव का स्वभाव आत्मिकसुख ज्ञानावरणादि कर्मों से ढंका हुआ है। जब तक आत्मा स्वरूप से अनभिज्ञ रहती है, तब तक पौद्गलिक भौतिक वर्ण, गन्ध, रस स्पर्श में ममत्व करते हुए उसमें डूबी रहती है, ठीक उसी तरह जैसे भेड़ों में पला सिंह- शावक। “एक सिंह-शावक भेड़ों का दूध पीकर भेड़ों के साथ ही रहने से वह अपना सिंहत्व-स्वभाव भूल गया तथा भेड़ों के समान ‘बे-बे’ करने लगा, घास खाने लगा। एक बार जंगल में पानी पीते हुए उसने अपना चेहरा देखा और साथ ही सामने पहाड़ी पर स्थित सिंह को देखा, तो उसमें सोया हुआ सिंहत्व जाग्रत हो गया। वह विभाव से हटकर अपने स्वभाव में स्थित हो गया। उसी प्रकार जब व्यक्ति के मोह का नशा उतर जाता है और मिथ्यात्वरूप विभाव रमणता दूर हो जाती है, तब अमल अखण्ड आत्मस्वरूप अर्थात् स्वस्वरूप की प्राप्ति होती है।”^{9६६} जिनके लिए अन्य की अपेक्षा नहीं होती है, यही स्वभाव है।

यह आत्मा शुद्ध सत्त्वरूप, स्वरूपवाली, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तचारित्र, अनन्तवीर्य इन चार अनन्तचतुष्टय वाली स्वरूप की कर्ता स्वरूप का भोक्ता, स्वरूपपरिणामी, असंख्यप्रदेशी, प्रत्येक प्रदेश में अनन्तपर्याय वाली नित्यानित्य ज्ञान स्वभाववाली है।

ज्ञानसार में कहा गया है- “निर्मल स्फटिकरत्न की तरह आत्मा सहज ज्ञान-स्वभावी है; किन्तु मूर्ख व्यक्ति पर में स्व रूप का आरोपण करके मोहित होता है।”⁹⁹⁰ संक्षेप में जैन विचारकों ने आत्मा का लक्षण उपयोग बताया है। यह उपयोग दो प्रकार का होता है - (१) ज्ञानोपयोग (२) दर्शनोपयोग।

यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि आत्मा का स्वभाव ज्ञातादृष्टा होने का है। यद्यपि ज्ञान में ज्ञेय की अपेक्षा होती है, किंतु ज्ञाता या दृष्टा स्वभाव में ज्ञेय की अपेक्षा नहीं होती है। वह आत्माश्रित है। आचारांगसूत्र में भी कहा गया है कि जो आत्मा है, वही विज्ञाता है, जो विज्ञाता है, वही आत्मा है। यहाँ यह भी

9६६. अज कुलगत केसरी लहे रे निज पद सिंह निहाल
निमप्रभुभक्ते भवि लहे रे, आतम शक्ति संभाल। -अजित जिनस्तवन-देवचन्द्र चौबीसी
-देवचन्द्र महाराज

990. निर्मलं स्फटिकस्येव सहजं रुपमात्मनः
अध्यस्तोपाधि सम्बन्धो जडस्तत्र विमुह्यति ॥६१॥ -मोहत्याग अष्टक -४, ज्ञानसार, उ.
यशोविजयजी

समझ लेना आवश्यक है कि जिस प्रकार निर्मल दर्पण में वस्तुएँ प्रतिबिम्बित होती हैं, लेकिन उससे दर्पण में कोई विकार नहीं आता है, उसी प्रकार ज्ञेय के आत्मा में प्रतिबिम्बित होने पर भी यदि आत्मा में कोई विकार नहीं आता है, तो वह आत्मा की स्वभाव-अवस्था है। उपाध्याय यशोविजयजी कहते हैं- “आत्मस्वभाव की प्राप्ति के बाद कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहता है। आत्मवैभव से सम्पन्न साधु निःस्पृह होता है। उसमें इच्छा का अभाव होता है।”^{१११} आत्मस्वरूप का लाभ ही वास्तविक लाभ है।

‘पर’ पर ‘स्व’ का आरोपण करने रूप मिथ्याभाव से ही विभाव का जन्म होता है। यह सत्य है कि ज्ञान के लिए ज्ञेय की अपेक्षा होती है, किन्तु उस ज्ञेय तत्त्व के सम्बन्ध में जब तक चेतना में रागादि कषायभाव उत्पन्न नहीं होते हैं, आत्मा में विकार नहीं जगते, तब तक वह ज्ञेय तत्त्वज्ञान का हेतु होकर भी विभाव का कारण नहीं बनता है; इसलिए जैनदर्शन में आत्मा के ज्ञातादृष्टाभाव या साक्षीभाव को आत्मा का स्वभाव कहा गया है। उपाध्याय यशोविजयजी कहते हैं- “जैसे निर्मल आकाश में, आँख में तिमिर नामक रोग होने से नीली-पीली आदि रेखाओं से चित्रित आकार दिखाई देता है, उसी प्रकार शुद्ध आत्मा में रागादि अशुद्ध अध्यवसाय रूप विकारों द्वारा अविवेक से विकार रूप विचित्रता भासित होती है।”^{११२} निश्चयनय से अखण्ड होने पर भी पर के साथ एकरूप होने पर विकार वाली आत्मा दिखाई देती है। स्वभाव आत्मा की स्वस्थता है, क्योंकि वह स्व में स्थित होती है, जबकि विभाव आत्मा की विकृत अवस्था का सूचक है। विभाव आध्यात्मिक रोग है, क्योंकि उसके कारण चेतना का ममत्व भंग होता है। चेतना में तनाव उत्पन्न होते हैं, जो सर्वप्रथम व्यक्ति के चित्त को उद्वेलित करते हैं, किन्तु वही उद्वेलित चित्त आगे जाकर परिवार, समाज और राष्ट्र की शांति को भी भंग करता है।

निज घर में प्रभुता है तेरी, पर संग नीच कहाओ,
प्रत्यक्ष रीत लखी तुम ऐसी, गहिये आप सुहावो।

१११. स्वभावलाभात् किमपि, प्राप्तव्यं नाऽवशिष्यते।

इत्यान्मैश्वर्यं सम्पन्नो, निःस्पृहो जायते मुनिः॥११॥ -निस्पृह -अष्टक -१२-ज्ञानसार-उ.
यशोविजयजी

११२. शुद्धेऽपि व्योम्नि तिमिराद् रेखाभिर्मिश्रता यथा।

विकारैर्मिश्रता भाति, तथाऽत्मन्यविवेकतः॥११॥ - विवेक अष्टक -१५

इस प्रकार विभाव एक विकृति है, एक बीमारी है। जैनधर्म की सम्पूर्ण साधना वस्तुतः इस आत्मिक विकृति की चिकित्सा का प्रयत्न है, जिससे हमारी चेतना विभाव से स्वभाव की ओर लौट आए। उपाध्याय यशोविजयजी ने अध्यात्मोपनिषद् में जिन चार योगों का निरूपण किया है, वह वस्तुतः आत्मा को विभाव से हटाकर स्वभाव में स्थित करने के लिए ही है। उनका अध्यात्मवाद विभाव की चिकित्सा कर स्वभाव में स्थित होना है। दूसरे शब्दों में, आत्मा को स्वस्थ बनाने का एक उपक्रम है, क्योंकि “स्वभावदशा को प्राप्त करना ही परम अध्यात्म है, यही परम अमृत है, यही परम ज्ञान है और यही परम योग है।”^{१७३}

अनंतचतुष्टय

संसारी आत्मा आठ कर्मों से बद्ध है। इनमें चार घातीकर्म तथा चार अघातीकर्म होते हैं। जब जीव मुक्तियोग्य साधनों द्वारा चार घातीकर्मों का क्षय करता है, तब निम्न अनंतचतुष्टय का प्रकटन होता है -१. अनन्तज्ञान २. अनन्तदर्शन ३. अनन्तसुख और ४. अनन्तवीर्य (शक्ति)।

आत्मा में अनंत गुण हैं, जिसमें ज्ञान और दर्शन- ये दो गुण सबसे अधिक मुख्य गुण हैं, क्योंकि यह आत्मा केवलज्ञान और केवलदर्शन द्वारा ही वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जान सकती है। जब ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म का क्षय होता है तब आत्मा के अनंतज्ञान और अनंतदर्शन गुण प्रकट हो जाते हैं।

आत्मा में अनंतज्ञान द्वारा अनंतगुण एवं पर्यायसहित जीवादि समस्त द्रव्यों को प्रत्यक्ष जानने की क्षमता प्रकट हो जाती है तथा अनंतदर्शन द्वारा उनका सामान्य अवलोकन करती है। ऐसी आत्मा को सर्वज्ञ, सर्वदर्शी भी कहते हैं। अनंतज्ञान को केवलज्ञान तथा अनंतदर्शन को केवलदर्शन भी कहते हैं। यह ज्ञान क्षायिक होता है तथा प्रत्यक्षज्ञान कहलाता है, क्योंकि यह इन्द्रियों की सहायता के बिना ही होता है। दूसरे शब्दों में “यह विश्व ज्यों का त्यों उनके ज्ञान में वैसे ही

१७३. इदं हि परमाध्यात्मममूर्तं ह्याद एव च

इदं हि परमं ज्ञानं, योगोऽयं परमः स्मृतुः-आत्मनिश्चयाधिकार -अध्यात्मसार - उ.
यशोविजयजी

झलकता है, जैसे दर्पण में वस्तुएँ प्रतिबिम्बित होती हैं”,^{१७४} अर्थात् सर्वद्रव्य, सर्वक्षेत्र, सर्वकाल और सर्व भावों को जानने की क्षमता वाला यह ज्ञान है। उ. यशोविजयजी ने अध्यात्मोपनिषद् में भी विशुद्ध चैतन्य को दर्पण की उपमा दी है।^{१७५} इसके पीछे चार प्रयोजन हैं-

१. जैसे दर्पण के सामने कोई सुन्दर वस्तु आती है, तब उसका सुन्दर प्रतिबिम्ब बताने पर भी दर्पण को उसके प्रति राग नहीं होता है और जब उसके सामने असुन्दर वस्तु आती है, तब उसका असुन्दर प्रतिबिम्ब बताते हुए भी दर्पण को उसके प्रति द्वेष नहीं होता है; ठीक उसी प्रकार अनंतज्ञान तथा अनन्तदर्शन द्वारा शुभ-अशुभ द्रव्यों एवं उनके गुण-पर्यायों को शुभ या अशुभ रूप में जानने पर भी, आत्मा का शुद्ध चैतन्य स्वरूप उसके प्रति राग-द्वेष की परिणति से दूषित नहीं होता है।
२. जैसे दर्पण वस्तु को प्रतिबिम्बित करने पर भी उससे प्रभावित नहीं होता है, उसी प्रकार आत्मा शुभाशुभ भावों को जानने पर भी उनका परिग्रहण नहीं करती है।
३. जैसे निर्मल काँच में वस्तु जैसी हो, वैसी ही प्रतिबिम्बित होती है, दर्पण वस्तु के स्वरूप को विकृत करके नहीं बताता है; उसी प्रकार आत्मा का शुद्धज्ञान (चैतन्य) भी सर्व प्रशस्त-अप्रशस्त द्रव्यों के गुण-पर्यायों को जैसे वे हों, उन्हें वैसा ही बताता है।
४. दर्पण वस्तु के यथार्थ स्वरूप को हानि बताता है, तो उसके निमित्त से न तो वह वस्तु के स्वरूप को हानि पहुँचती है और न दर्पण को उसी प्रकार शुद्ध आत्मा द्रव्य-गुण पर्यायों को जानती है, किन्तु उनके निमित्त से उन द्रव्य-गुण पर्यायों को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचती है और न आत्मा में कोई विकार होता है।

१७४. षड्खण्डागम - १५/५/५/८२

१७५. चिद्दर्पणप्रतिफलत्रिजगतद्विवर्ते, वर्तेत किं पुनरसौ सहजात्मरूपे ॥६०॥ -अध्यात्मोपनिषद्
-उ. यशोविजयजी

उपाध्याय यशोविजयजी ने इस अनुपम अनंतज्ञान के विषय में ज्ञानसार में कहा है- “जन्म मरण का हरण करने वाला रसायन होने पर भी औषधियों से भिन्न है, अन्य की अपेक्षा के बिना का ऐश्वर्य तथा स्व-पर प्रकाशक दिव्य ज्ञान है।”^{१७६} यह सम्पूर्ण रूप से आवरण का विलय होने से प्रकट होता है, इसलिए यह शुद्ध है।

प्रथम से ही सम्पूर्ण रूप से प्रकट होता है, इसलिए सकल है। उसके समान दूसरा कोई ज्ञान नहीं होने से असाधारण अद्वितीय है।

अनंत ज्ञेय विषयों को जानता है तथा अनंतकाल तक रहने वाला है, इसलिए अनंत है।

लोक-अलोक में सर्वत्र ज्ञेयपदार्थों को देखने में इस ज्ञान को किसी प्रकार का व्याघात (स्खलना) नहीं होता है, इसलिए यह निर्व्याघात है।

केवलज्ञान के समय मति आदि ज्ञान नहीं होते हैं, इसलिए एक है।^{१७७}

आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार के शुद्धोपयोग अधिकार में सिद्धों की सर्वज्ञता के सम्बन्ध में कहा गया है, वे व्यवहारनय की अपेक्षा से वे समस्त लोकालोक के सभी पदार्थों को सहज भाव से देखते और जानते हैं, किन्तु निश्चयनय की अपेक्षा से तो वे अपने आपके स्वरूप को देखते और जानते हैं।^{१७८}

परमात्मप्रकाश में कहा गया है कि जो आत्मा के निर्मलतम सर्वज्ञ स्वरूप का चिन्तन करता है, वह परमात्मा को प्राप्त करता है।^{१७९}

अनंतसुख भी आत्मा का स्वलक्षण है। यह मोहनीयकर्म के नष्ट होने से प्रकट होता है। इस संसार में सभी जीव सुख चाहते हैं और सुख के लिए ही

१७६. पीयूषसमुद्धोत्थं, रसायनमनौषधम्

अनन्यापेक्षमैश्वर्यं ज्ञानमाहुर्यनीषिणः ॥८॥ -ज्ञानाष्टक -ज्ञानसार -उ. यशोविजयजी

१७७. कर्मविपाक प्रथम कर्मग्रन्थ -पेज ६३, विवेचन -धीरजलाल जह्वालाल

१७८. जाणदि पस्सदि सत्त्वं व्यवहारणएव केवली भगवं

केवलगाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं -१५६ -शुद्धोपयोगाधिकार -नियमसार -आचार्य कुन्दकुन्द

१७९. परमात्मप्रकाश -७५ ।

प्रयत्न करते हैं, किन्तु सभी का सुख एक ही कोटि का नहीं होता है। एक जीव भी सर्वकाल में एक जैसा सुख भोगते हुए नहीं दिखता है। उसमें तरतमता रहती है। शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक सुख में भी तरतमता देखने को मिलती है। जहाँ तरतमता हो, वहाँ कोई न कोई अन्तिम स्थिति तौ होना ही चाहिए। तर्क से इस स्थिति का विचार करें, तो अंत में अनंतसुख तक पहुँच जाएंगे। अनंत आत्मिक सुख से ऊपर कुछ नहीं है।^{१८०}

सुख आत्मा का भावनात्मक पक्ष है। यदि आनंद को आत्मा का स्वलक्षण नहीं मानकर आत्मा से बाह्यतत्त्व माना जाए, तो फिर जीवन का साध्य आन्तरिक न होकर बाह्य होगा। यदि आनन्द क्षमता, आत्मगत न होकर वस्तुगत होगी तो सुखों की उपलब्धि बाह्य साधनों पर निर्भर होगी, किन्तु यह बात अध्यात्मशास्त्र के विरुद्ध जाती है। जीवन में हम यह अनुभव करते हैं कि आनंद का प्रत्यय पूर्णतः बाह्य नहीं है। असन्तुलित या तनावपूर्ण चैतसिक स्थिति में सुख के बाह्य साधनों के होते हुए भी व्यक्ति सुखी नहीं होता है। ज्ञानसार में भी कहा गया है- “जिस धन-धान्य को पाकर कृपण लोग पूर्णता का अनुभव करते हैं, उन्हीं बाह्य पदार्थों की उपेक्षा करके ज्ञानी पुरुष पूर्णता का अनुभव करते हैं।”^{१८१} आनंद तो आत्मा का ही लक्षण है बाह्य साधनों के द्वारा प्राप्त सुख से व्यक्ति पूर्णतः वास्तविक सुखी नहीं हो सकता है। उ. यशोविजयजी कहते हैं- “पर पदार्थों में स्वत्व की कल्पना से व्यग्र बने राजा भी सदैव अपने-आपको अपूर्ण ही मानते हैं। इच्छाएँ सदा जाग्रत रहती हैं, जबकि आत्मिक सुख से पूर्ण मुनि इन्द्र से भी अधिक सुखी है।”^{१८२} अनंतसुख अतीन्द्रिय सुख है, पर की अपेक्षा से रहित है।

भारतीय दर्शनों में न्यायवैशेषिक एवं सांख्य विचारधाराएँ सौख्य को आत्मा का स्वलक्षण नहीं मानती हैं। सांख्यदर्शन के अनुसार आनन्द सत्वगुण का ही परिणाम है, अतः वह प्रकृति का ही गुण है- आत्मा का नहीं।

१८०. सुखस्य तारतम्येन प्रकर्षस्यापि संभवात्
अनंतसुखसंवित्तिर्भोक्षः सिध्यति निर्भयः ॥७६॥-मिथ्यात्वत्यागाधिकार -अध्यात्मसार -उ.
यशोविजयजी
१८१. पूर्यन्ते येन कृपणा -स्तदुपेक्षैव पूर्णता
पूर्णानन्दसुधास्निग्धा, दृष्टिरेषा मनीषिणाम् ॥५॥-पूर्णताष्टक -ज्ञानसार -उ. यशोविजयजी
१८२. परस्वत्वकृतोन्माधा, भूनाथान्यून तेक्षिणः।
स्वस्वत्वसुखपूर्णस्य, न्यूनता न हरेरपि ॥७॥ -पूर्णताष्टक -ज्ञानसार -उ. यशोविजयजी

इस सम्बन्ध में वेदान्त का दृष्टिकोण जैनदर्शन के समीप है। उसमें ब्रह्म को सत् और चित् के साथ-साथ आनंदमय भी माना गया है।

उपाध्याय यशोविजयजी ज्ञान और सुख का आत्मा से अभेद बताते हुए कहते हैं- “आत्मा का जो पक्ष वस्तु-स्वरूप के प्रकाशन सामर्थ्य की अपेक्षा से ज्ञान कहलाता है, वही, खेद आदि दोषों के परिहारपूर्वक शुद्ध आत्मस्वभाव में रमणता करने की सामर्थ्य से सुख कहलाता है।”^{१८३} यह ज्ञान और सुख का अभेद केवलज्ञान और आतीन्द्रिय सुख की अपेक्षा से है। हर्षवर्धन उपाध्याय ने अध्यात्मबिन्दु ग्रंथ में कहा गया है- “जैसे पीलापन, स्निग्धता, गुरुत्व सुवर्ण से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार दर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्य निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा से भिन्न नहीं है।”^{१८४} आत्मा का स्वरूप ही ज्ञान कहलाता है और आत्मा सुखमय है, अतः जहाँ अनंतज्ञान तथा अनंतदर्शन है, वहाँ अनंतसुख तथा अनंतवीर्य भी रहेगा, क्योंकि ये आत्मा के स्वलक्षण हैं।

जीव के आत्मसामर्थ्य, आत्मशक्ति या आत्मबल को वीर्य कहते हैं। विशेषावश्यकभाष्य में कहा गया है कि ‘वीरियं ति बलं जीवस्स लक्खणं’; वीर्य यह बल है, जीव का लक्षण है। यह दो प्रकार का होता है- सकर्म और अकर्म। कर्म के उदय से औदायिकभावरूप जो सामर्थ्य उत्पन्न होती है, वह सकर्मवीर्य कहलाता है और अन्तरायकर्म के क्षय से क्षायिकभावरूप जीव का जो साहजिक सामर्थ्य प्रकट होता है, वह अकर्म वीर्य कहलाता है। जब सम्पूर्ण रूप से अन्तराय कर्म का आवरण आत्मा से हट जाता है, तब अनन्तवीर्य प्रकट होता है। मनोवैज्ञानिक चेतना का एक पक्ष संकल्पनात्मक शक्ति मानते हैं। इसे आत्मनिर्णय की शक्ति भी कह सकते हैं। इस संकल्पशक्ति को ही जैनदर्शन में वीर्य कहा गया है। ‘वीर्यं जीवोत्साहः’- आत्मा का उत्साह या मनोबल, यानी शारीरिक और मानसिक बल का सदाचार में उपयोग करने वाला अनिगूहित बलवीर्य कहलाता है। उत्तराध्ययनसूत्र^{१८५} में जीव के छः लक्षणों में वीर्य का भी उल्लेख होता है। इसकी टीकाओं में वीर्य का अर्थ सामर्थ्य किया गया है। उत्तराध्ययन सूत्र तथा नवतत्त्व

१८३. प्रकाशशक्त्या यद्रूपमात्मनो ज्ञानमुच्यते।

सुखं स्वरूपविश्रान्तिशक्त्या वाच्यं तदेव तु ॥ -अध्यात्मोपनिषद -उ. यशोविजयजी

१८४. पीत-स्निग्ध-गुरुत्वानां यथा स्वर्णान् भिन्नता।

तथा दृग्ज्ञानवृत्तानां निश्चयान्मात्मनो भिदा ॥३/१०॥ -अध्यात्मबिन्दु - उ. हर्षवर्धन

१८५. उत्तराध्ययनसूत्र -१८/११

प्रकरण में जीव के छः लक्षण-ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग बताए गए हैं।”^{१८६}

वीर्य के योग, उत्साह, बल, पराक्रम, शक्ति आदि रूप हैं। साधना के क्षेत्र में वीर्याचार पुरुषार्थ रूप में है। वह स्वशक्ति का प्रकटीकरण है, अतः वह प्रवृत्ति का परिचायक और विधिरूप है। उत्तराध्ययनसूत्र में साधक के लिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तप के क्षेत्र में जिस पुरुषार्थ के लिए प्रेरणा दी गई है, वही वीर्याचार है। अरिहंतों तथा सिद्धों को वीर्यान्तकर्म के क्षय से संपूर्ण एक जैसा अनन्त लब्धिवीर्य प्रकट होता है। यह वीर्य सभी जीवद्रव्य में होता है और जीवद्रव्य के सिवाय अन्य द्रव्य में नहीं होता है, इसलिए वीर्यगुण जीव का लक्षण है, अर्थात् विशेष रूप से जो तत्-तत् उन उन क्रियाओं में प्रवर्तन करता है, वह वीर्य कहलाता है।

कोई यह प्रश्न करें कि वीर्य, अर्थात् शक्ति तो पुद्गलद्रव्य में भी है, तो फिर वीर्य जीव का लक्षण कैसे? इसका उत्तर यह है कि सामान्य शक्तिधर्म तो सभी द्रव्यों में होता ही है, किन्तु सामान्य शक्तिधर्म को वीर्य नहीं कहते हैं। योग, उत्साह, पराक्रम आदि पर्यायों का अनुसरण करता हुआ वीर्यगुण तो आत्मद्रव्य में ही होता है, इसलिए वीर्य भी जीव का गुण है।

आत्मा की जो शक्तियाँ तिरोहित हैं, उन्हीं शक्तियों को प्रकट करने के लिए अन्तरात्मा पुरुषार्थ करते हुए आध्यात्मिक विकास-मार्ग में आगे बढ़ती है। आत्मा में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक् चारित्र एवं सम्यक्त्वरूपी दीप के प्रज्वलित होने पर ज्ञानावरणीय आदि घातिकर्मों के आवरण हट जाते हैं तथा अनन्तचतुष्टय का प्रकटन होता है और आत्मा अन्तरात्मा से परमात्मा बन जाती है।

१८६. नाणं च दंसणंचेव चारित्तं च तवो तहा वीरियं उपओगो य, एयं जीवस्स लक्खणं ।।५।।-नवतत्त्वप्रकरण

चतुर्थ अध्याय

अध्यात्मवाद में साधक, साध्य और साधन-मार्ग का परस्पर सम्बन्ध

साधक जीवात्मा का स्वरूप

आत्मा सूर्य के समान तेजस्वी है, किन्तु वह कर्म की घटाओं से घिरी हुई है, जिससे उसके दिव्य प्रकाश पर आवरण आ चुका है। उसका विशुद्ध स्वरूप लुप्त हो चुका है। विश्व की प्रत्येक आत्मा में शक्ति का अनंत स्रोत प्रवाहित है। जिसे अपनी आत्मशक्ति पर विश्वास हो जाता है और जो अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने के लिए, अर्थात् विभाव-दशा को छोड़कर स्वभाव में आने के लिए पुरुषार्थ आरंभ करता है, वह साधक कहलाता है। खान में से निकले हीरे की चमक अल्प होती है, परंतु जब उसे अनेक प्रकार की प्रक्रियाओं से स्वच्छ कर तराश दिया जाता है, तो उसकी चमक बढ़ जाती है। ठीक उसी प्रकार आत्मा की प्रथम अवस्था कर्म से मलिन अवस्था है, किन्तु विभिन्न प्रकार की साधनाओं द्वारा निर्मलता को प्राप्त करते हुए वही साधक परमात्मदशा को भी प्राप्त कर लेता है। उपाध्याय यशोविजयजी ने अध्यात्मोपनिषद् में कहा है- “साधना की प्राथमिक अवस्था में साधक इन्द्रियों के विषयों का अनिष्ट बुद्धि से त्याग करता है। साधना के उच्च शिखर पर पहुँचा हुआ, अर्थात् योगसिद्ध पुरुष न तो विषयों का त्याग करते हैं और न उन्हें स्वीकार ही करते हैं, किन्तु उनके यथार्थ स्वरूप के दृष्टा रहते हैं।”^{१८७} साधक के लक्षण शाङ्गधर पद्धति, स्कन्दपुराण और श्वेताश्वतरोपनिषद् आदि जैनतर ग्रन्थों में इस प्रकार बताया है

^{१८७} विषयान् साधकः पूर्वमनिष्टत्वधिया त्यजेत्

न त्यजेन्न च गृहणीयात् सिद्धो विन्द्यात् स तत्त्वतः - अध्यात्मोपनिषद् उपाध्याय यशोविजयजी

कि रसलोलुपता का अभाव, आरोग्य, अनिष्टुरता, मलमूत्र की अल्पता चेहरे पर कान्ति एवं प्रसन्नता, सौम्य स्वर, विषयों में अनासक्ति, प्रभावकता और मैत्र्यादि भावना से युक्त मनोवृत्ति, रति-अरति से अपराजित, उत्कृष्ट जनप्रियत्व विनम्रता, शरीर का आल्हादक वर्ण आदि साधना की प्राथमिक अवस्था के लक्षण हैं। योगसिद्ध पुरुषों में दोषों का अभाव, आत्मानुभवजन्य परमतृप्ति और समता होती है। उनके सान्निध्य से तो वैरियों के वैर का भी नाश हो जाता है।^{१२८}

साधना के क्षेत्र में साधक को अपनी आत्मशक्ति व्यक्त करने के लिए अशुभ से शुभ में और शुभ से शुद्ध में जाना होता है। इस दौरान साधक अनेक अवस्थाओं से गुजरता है। उपाध्याय यशोविजयजी ने अध्यात्म के अधिकारी पुरुष में तीन बातें होना आवश्यक बताया है।

१. मोह की अल्पता २. आत्मस्वरूप की ओर अभिमुखता तथा
३. कदाग्रह से मुक्ति।^{१२९}

मूंग के पकने की क्रिया में जैसे समय जाता है; प्रथम अल्पपाक, फिर कुछ अधिक पाक- इस तरह वे बीस पच्चीस मिनट में पूर्णतः पकते हैं, उसी प्रकार साधक भी योग्य उपायोंपूर्वक प्रवर्तन करते हुए क्रमशः- अपुनर्बन्धक की प्राप्ति, ग्रन्थिभेद; सम्यक्त्व की प्राप्ति, क्षपकश्रेणी, वीतराग अवस्था तक पहुँचता है। बारहवें गुणस्थानक तक की अवस्था साधक अवस्था कहलाती है।

१. अपुनर्बन्धक -

अपुनर्बन्धक आचार्य हरिभद्रसूरि ने योगशतक में 'अपुनर्बन्धक' के तीन लक्षण बताए हैं-

- (१) वह तीव्र भाव से पाप नहीं करता है।
- (२) संसार के प्रति बहुमान नहीं रखता है।
- (३) सर्वत्र उचित आचरण करता है।^{१३०}

^{१२८}. अलौल्यमारोग्यमनिष्टुरत्वं गन्धः शुभो मूत्र-पुरीषमल्पम्
कान्तिः प्रसादः स्वरसौम्यता च योग प्रवृत्तेः प्रथमं हि चिन्हम् -

(अ) शाङ्गर्धर पद्धति (ब) स्कन्दपुराण (माहेश्वरखण्ड-कुमारिकाखण्ड ५५/१३८)

^{१२९}. गलन्नययकृतभ्रान्तिर्यः स्याद्विभ्रान्तिसम्मुखः

स्याद्वादविशदालोकः स एवाध्यात्मभाजनम् ॥५॥ - अध्यात्मोपनिषद् - उ. यशोविजयजी

पुनः एक भी बार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति को नहीं बांधने वाले जीव को अपुनर्बन्धक कहते हैं। यह साधक की प्रारंभिक अवस्था है। निकाचित चिकने कर्म बाँधे, वह ऐसे तीव्र भाव से पाप नहीं करता है। कभी कोई समय ऐसे पाप करने का प्रसंग भी आए, तो उस प्रकार के पूर्व में बाँधे हुए कर्मों के उदय की परवशता के कारण ही करता है, परंतु स्वयं की रसिकता से पाप नहीं करता है। संसार असार है, भयंकर है, अनंत दुःखों की खान है; यह समझकर सांसारिक प्रवृत्तियों को हृदय से बहुमान नहीं देता है। इस अवस्था में साधक मार्गानुसारिता के अभिमुख हो 'मयूरशिशु' की तरह अपुनर्बन्धक कहलाता है। मयूर-शावक बराबर माता के पीछे चलता है, उसी प्रकार आत्मा भी सरल परिणामी बनने से बराबर मोक्ष मार्ग के अभिमुख होकर चलती है।

२. सम्यग्दृष्टि -

रागद्वेष का ग्रन्थिभेद करने के बाद साधक को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने सम्यग्दृष्टि जीव के भी तीन लिंग बताए हैं।

१. सुश्रूषा २. धर्मराग और ३. चित्त की समाधि^{१६१}।

सम्यग्दृष्टि जीव को धर्मशास्त्र सुनने की अत्यंत उत्कण्ठा होती है। उपाध्याय यशोविजयजी ने सम्यक्त्व के सड़सठ बोल की सञ्ज्ञाय में कहा है-

तरुण सुखी स्त्रीपरिवर्यो रे, चतुर सुणे सुरगीत
तेह धी रागे अतिघणे रे, धर्म सुण्या नी रीत रे ॥ प्राणी॥ १२

सम्यग्दृष्टि जीव के धर्मराग के विषय में कहा गया है कि दरिद्र ब्राह्मण को यदि धेवर का भोजन मिले, तो उसे उस भोजन पर अतिराग होता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को उससे भी अधिक राग धर्मकार्य में होता है।^{१६२}

^{१६०} पावं न तिव्वभावा कुण्ह ण बहुमण्णई भवं घोरं

उचियद्विइं च सेवइ सव्वत्थ वि अपुणबंधो ति ॥१३॥ - योगशतक -आचार्य हरिभद्रसूरि

^{१६१} सुस्सुस धम्मराओ गुरुदेवाणं जहासमाहीए

वेयावच्चे, गियमो सम्मदिट्ठिस्स लिंगाइ ॥१४॥ - योगशतक-आचार्य हरिभद्रसूरिश्वर

^{१६२} भूख्यो अटवी उलयो रे, जिमद्विज धेवर चंग

इच्छे तिम जे धर्म ने रे, तेहि ज बीजु लिंग रे ॥ प्राणी ॥ १३

-सम्यक्त्व की सड़सठ बोल की सञ्ज्ञाय -उ.यशोविजयजी

अनादिकालीन रागद्वेष की ग्रन्थि का भेद होने के बाद आत्मा में स्वतः ही तत्त्व के विषय में तीव्र बहुमान भाव जागता है।

उ. यशोविजयजी ने अध्यात्मसार में सम्यक्त्व के पाँच लक्षण बताए हैं। शम, संवेग, निर्वेद, आस्तिक्य और अनुकंपा।^{१६३}

३. चारित्रवान् -

साधक की तीसरी अवस्था तथा चौथी अवस्था चारित्रवान् की होती है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने चारित्रवान् के लक्षण इस प्रकार बताए हैं—(१) मार्गानुसारी (२) श्रद्धावान (३) प्रज्ञापनीय (४) क्रिया करने में तत्पर (५) गुणानुरागी और (६) सामर्थ्यानुसार धर्मकार्यों में रत।^{१६४} इस अवस्था में पहुँचा हुआ साधक सम्यक्त्व प्राप्त होने से दर्शनमोहनीय का क्षयोपशम कर चुका होता है। चारित्रमोहनीयकर्म में देशविरति और सर्वविरति का प्रतिबंध करने वाले ऐसे अप्रत्याख्यान तथा प्रत्याख्यानकषाय तथा उनको सहयोग देने वाले नौ नोकषाय (४+४+६), इन १७ प्रकृति का क्षयोपशम विशेष होने से अनंत उपकारी तीर्थकर के द्वारा बताए हुए त्यागमय संयममार्ग का अनुसरण करने की बुद्धि आत्मा में उत्पन्न होती है। वीतरागमार्ग का अनुसरण करने वाले को अवश्य तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है। यह मोक्ष का साधकतम कारण है, इसलिए मार्गानुसारिता चारित्री का प्रथम लिंग कहा गया है।

धरती में छुपे हुए भंडार को प्राप्त करने में प्रवृत्त व्यक्ति को शकुन देखना, इष्ट देवों का स्मरण करना आदि विधियों में जैसे अपूर्व श्रद्धा होती है, वैसे ही मार्गानुसारी व्यक्ति को अनंत ज्ञानादि गुणों की प्राप्ति की इच्छा होती है। उसे मोक्षमार्ग बताने वाले आप्त पुरुषों के प्रति अतिशय श्रद्धा होती है। उसे भोगों के प्रति उदासीनता होती है। वह गुरु के प्रति समर्पित, सरल और नम्र होता है, जिसे गुरु भी उसे शिक्षा के योग्य मानता है। वह आत्मा हितकारी धर्मकार्य करने में सदा तत्पर रहती है।

चारित्रवान् आत्मा देशविरति और सर्वविरति के भेद से अनेक प्रकार की होती है। देशविरति गृहस्थ भी कोई एक व्रत वाले, कोई दो व्रत वाले, यावत् कोई

^{१६३} शमसंवेगनिर्वेदानुकंपाभिः परिष्कृतम्

दधतामेतदच्छिनं सम्यक्त्वं स्थिरतां व्रजेत—अध्यात्मसार—उ. यशोविजयजी

^{१६४} मग्गाणुसारी सद्धो पण्णवणिज्जो क्रियापरी चेव

गुणरागी सक्कारंभसंगओ तह य चारिती ॥१९५॥—योगशतक—आचार्य हरिभद्रसूरि

बारह व्रत वाले भी होते हैं। इस प्रकार सर्वविरति चारित्र वाले मुनि भी कोई सामायिक चारित्र वाले, कोई छेदोपस्थापनीय चारित्र वाले, कोई परिहारविशुद्धिचारित्र वाले, कोई सूक्ष्मसंपरायचारित्र, तो कोई यथाख्यातचारित्र वाले होते हैं। इस प्रकार साधक का स्वरूप क्षयोपशम भेद से तरतमता वाला होता है, परंतु सिद्धावस्था में क्षायिकभाव होने से सभी समान होते हैं।

उपाध्याय यशोविजयजी ने अध्यात्मोपनिषद् में साधक की निम्न तथा उच्च- दोनों कक्षाओं का भेद बताते हुए कहा है कि प्राथमिक साधक को योग की प्रवृत्ति से प्राप्त हुए सुस्वप्न, जनप्रियत्व आदि में सुख का संवेदन होता है, क्योंकि उसे पदार्थों का यथावस्थित स्वरूप ज्ञात नहीं है और आत्मा के आनंद का अनुभव भी नहीं है। जिसने ज्ञानयोग को सिद्ध कर लिया है, ऐसे योगी पुरुष को तो आत्मा में ही सुख का संवेदन होता है, क्योंकि उसकी आत्मा की ज्योति स्फुरायमान है।^{१६५} ज्ञानसार में भी १२ वें गुणस्थानक पर पहुँचे हुए साधकों की अवस्था का वर्णन करते हुए कहा गया है कि स्वाभाविक सुख में मग्न और जगत् के तत्त्वों स्याद्वाद से परीक्षा करके अवलोकन करने वाली आत्मा अन्य भावों का कर्ता नहीं होती है, परंतु साक्षी होती है।^{१६६}

जो जितेन्द्रिय है, धैर्यशाली है और प्रशान्त है, जिसकी आत्मा स्थिर है, और जिसने नासिका के अग्रभाग पर अपनी दृष्टि स्थापित की है, जो योग सहित है और अपनी आत्मा में ही स्थित है, ऐसे ध्यानसम्पन्न साधकों की देवलोक और मनुष्यलोक में भी वास्तव में कोई उपमा नहीं है।^{१६७}

^{१६५} योगारम्भदशास्थस्य दुःखमन्तर्बहिः सुखम्

सुखमन्तर्बहिर्दुःखं, सिद्धयोगस्य तु ध्रुवम् ॥१०॥ -अध्यात्मोपनिषद-उ. यशोविजयजी

^{१६६} स्वभावसुखमग्नस्य जगत्तत्त्वावलोकिनः

कर्तृत्वं नान्यभावानां साक्षित्वमवशिष्यते ॥३॥ -मग्ननाष्टक -२ ज्ञानसार -उ.

यशोविजयजी

^{१६७} जितेन्द्रियस्य धीरस्य प्रशान्तस्थ स्थिरात्मनः

सुखासनस्थस्य नासाग्रन्धस्तनेत्रस्य योगिनः ॥६॥

साम्रात्यमप्रतिद्वन्द्वमन्तरेव वितन्वतः

ध्यानिनो नोपमा लेकि, सदेवमनुजेऽपि हि ॥१८॥ -ज्ञानसार -ध्यानाष्टक (३०) -उ.

यशोविजयजी

ऐसा साधक साधना करते-करते साध्य परमात्म स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। साधक के स्वरूपकथन के पश्चात् साध्य परमात्मा के स्वरूप का वर्णन है।

साध्य परमात्मा का स्वरूप

समस्त आध्यात्मिक साधनाओं का मूल उद्देश्य आत्मस्वरूप की प्राप्ति है। जैनदर्शन में प्रत्येक जीवात्मा को परमात्मस्वरूप माना गया है। साध्य परमात्मा और साधक जीवात्मा- दोनों तत्त्वतः एक ही हैं। जब तक आत्मा संसार की मोहमाया के कारण कर्ममल से आच्छादित है, तब तक वह बादल से धिरे हुए सूर्य के समान है। आत्मा के परमात्मस्वरूप को जिन कर्मों ने आवरण बन कर ढंक लिया है, वे कर्म आठ प्रकार के हैं। जिस प्रकार बादल का आवरण हटते ही सूर्य अपना दिव्य तेज पृथ्वी पर फैलाता है, उसी प्रकार साधना करते हुए जब कर्मों का आवरण सम्पूर्ण रूप से दूर हो जाता है, तब आत्मा अनन्तानन्त आध्यात्मिक शक्तियों का पुंज बनकर शुद्ध-बुद्ध, परमात्मस्वरूप को प्राप्त कर लेती है। मानवीय चेतना का चरम विकास ही ईश्वर है।

परमात्मा के दो भेद किए गए हैं -१. अरिहन्त २. सिद्ध। अरिहन्त परमात्मा सशरीर हैं और सिद्ध परमात्मा अशरीरी हैं। उपाध्याय यशोविजयजी परमात्मस्वरूप का चित्रण करते हुए कहते हैं कि जब केवलज्ञान होता है, तब अरिहन्त पद प्राप्त होता है।^{१६८} अरिहन्त परमात्मा जब यह जानते हैं कि आयुष्य पूर्ण होने वाली है, तब वे योगनिरोधरूप शैलेशीकरण की प्रक्रिया करते हैं, उस समय वे चौदहवें गुणस्थानक में अयोगीकेवली होते हैं। उसके बाद वे अशरीरी सिद्धात्मा के स्वरूप को प्राप्त कर सिद्ध परमात्मा बनते हैं। मानतुंगसूरि भक्तामरस्तोत्र में ऋषभदेव परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं- “परमात्मा अविनाशी, ज्ञानापेक्षा विश्वव्यापी, अचिंत्य आदि ब्रह्म ईश्वर, अनंत, सिद्धपद को सूचित करने वाले, अनंगकेतु कामविजेता योगी, योग

^{१६८}. ज्ञानं केवलसंज्ञं योगनिरोधः समग्रकर्महतिः

सिद्धिनिवासश्च यदा परमात्मा स्यात्तदा व्यक्तः ॥२४॥ - अनुभववाधिकार, अध्यात्मसार
-उ. यशोविजयजी

को जानने वाले, मनवचन काया के योगों का नाश करने वाले अनेक, एक, ज्ञानस्वरूप और निर्मल हैं।^{१९९}

अध्यात्मोपनिषद् में उ. यशोविजयजी ने परमात्मस्वरूप का विशेष प्रकार से निरूपण किया है। वे कहते हैं- “जितने गुणस्थानक हैं तथा जितनी मार्गणाएँ हैं, इनमें से किसी के भी साथ परमात्मा का, या शुद्धात्मा का संबंध नहीं है।”^{२००} आगम में आत्मगुण का विकासक्रम बताने के अभिप्राय से गुणस्थानक की व्यवस्था है, उसी प्रकार संसारी जीव की विविधता दिखाने की विवक्षा से मार्गणास्थान की व्यवस्था दर्शाई गई है। अतः सिद्धों में केवलज्ञान होने पर भी तेरहवाँ या चौदहवाँ गुणस्थानक सिद्धों को नहीं होने से उनमें सयोगीकेवली या अयोगीकेवली दशा भी स्वीकार नहीं करते हैं। जिस प्रकार गुणस्थानक प्रतिबद्ध अयोगीकेवलीदशा सिद्ध परमात्माओं में नहीं है, उसी प्रकार मार्गणास्थान प्रतिबद्ध केवलज्ञान, केवलदर्शन, अणाहारी अवस्था भी नहीं है, क्योंकि सिद्ध तो संसार से अतीत है और मार्गणाद्वार तो संसारी जीव का ही विभाग दिखाने के लिए है। इससे यह भी सूचित होता है कि विग्रहगति या केवलीसमुद्घात में जो अणाहारी अवस्था है, वह भी सिद्धों में नहीं है। सिद्धों में मार्गणा से सम्बन्धित अणाहारक दशा भी नहीं और आहारक दशा भी नहीं है। वे अणाहारक तो हैं, परंतु वह आत्मस्वभाव की अपेक्षा से है। इसी प्रकार गुणस्थान सापेक्ष केवलज्ञानादि उनमें नहीं हैं, परंतु आत्मस्वभावभूत केवलज्ञानादि तो है ही। षोडशक नामक ग्रन्थ में आचार्य हरिभद्रसूरि ने परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए २३ विशेषण दिए हैं। “परमात्मा शरीर इन्द्रियादि से रहित, अचिंत्य गुणों के समुदाय वाले, सूक्ष्म, त्रिलोक के मस्तकरूप सिद्धक्षेत्र में रहे हुए, जन्मादि संक्लेश से रहित, प्रधान ज्योतिस्वरूप, अंधकार से रहित, सूर्य के वर्ण जैसे निर्मल, अर्थात् रागादि मल से शून्य, अक्षर (स्वभाव से कभी भी च्युत नहीं होने से अच्युत), ब्रह्म, नित्य, प्रकृतिरहित, लोकालोक को जानने तथा देखने के उपयोग वाले, निस्तरंग, समुद्र जैसे वर्णरहित, स्पर्शरहित, अगुरुलघु सभी पीड़ाओं से

^{१९९} त्वामव्ययं विभ्रुमचिंत्यमसंख्यमाद्यं

ब्रह्माणमीश्वरमनंतमनंगकेतुम् ।

योगीश्वरम् विदितयोगमनेकमेकं,

ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः ॥२४॥ -भक्तामर स्तोत्र -मानतुंगाचार्य

^{२००} गुणस्थानानि यावन्ति यावन्त्यश्चापि मार्गणाः

तदन्यतरसंश्लेषो, नैवातः परमात्मनः ॥२८॥ -अध्यात्मोपनिषद् -उ. यशोविजयजी

रहित, परमानन्द सुख से युक्त असंग, सभी कलाओं से रहित, सदाशिव आद्य आदि शब्दों से अभिधेय है।”^{२०१}

न्यायविजयजी ने अध्यात्म तत्त्वालोक में कहा है ईश्वर सभी कर्मों से मुक्त, महेश्वर, स्वयंभू, पुरुषोत्तम, पितामह, परमेष्ठी, तथागत (यथार्थ ज्ञानवान्), सुगत (उत्कृष्ट ज्ञानवान्), शिव, अर्थात् कल्याणकारी है।”^{२०२} तत्त्वज्ञानतरंगिणी ग्रंथ में ज्ञानभूषण ने बताया है कि -स्पर्श, रस, गंधरूप और शब्द से मुक्त ऐसा स्वात्मा ही परमात्मा है, निरंजन है, इस कारण से परमात्मा को इन्द्रियों द्वारा अनुभव नहीं हो सकता है।^{२०३}

हेमचन्द्रसूरि ने योगशास्त्र में कहा है- “चिद्रूप आनन्दमय, सर्वउपाधिरहित, शुद्ध अतीन्द्रिय, अनंतगुणसम्पन्न, ऐसे परमात्मा हैं।”^{२०४}

स्याद्वाददृष्टि से ईश्वर साकार है और निराकार भी है, रूपी है, अरूपी भी, सगुण है, निर्गुण भी, विभु है, अविभु भी है, भिन्न है, अभिन्न भी है, मनरहित है मनस्वी भी है पुराना है और नवीन भी।

“परब्रह्माकारं सकलजगदाकाररहितं
सरूपं नीरूपं सगुणमगुणं निर्विभु-विभुम्
विभिन्नं सभिन्नं विगतमनसं साधुमनसं
पुराणं नव्यं चाधिहृदयमधीशं प्रणिदधे”।

- ^{२०१}. तनुकरणादिविरहितं तत्त्वाऽचिन्त्यगुणसमुदयं सूक्ष्मम्
त्रैलोक्यमस्तकस्यं निवृत्तजन्मादि सङ्कलेशम्- १५/१३
ज्योतिः परं परस्तात्तमसो यद्गीयते महामुनिभिः
आदित्यवर्णममलं ब्रह्माद्यैरक्षरं ब्रह्म १५/१४
नित्यं प्रकृतिविमुक्तं लोकालोकावलोकानाभागम्
रितिमिततरङ्गोदाधिसमवर्णमस्पर्शमगुरुलघु १५/१५
सर्वऽऽबाधारहितं परमानन्दसुखसङ्गतमसंगम्
निःशेषकलातीतं सदाशिवाऽऽद्यादिपदवाच्यम् १५/१६ -पंचदशं ध्येयस्वरूपषोडशकम्
-हरिभद्रसूरि
- ^{२०२}. महेश्वरास्ते परमेश्वरास्ते स्वयम्भुवस्ते पुरुषोत्तमास्ते
पितामहास्ते परमेष्ठिनस्ते तथागतास्ते सुगताः शिवास्ते” -अध्यात्मतत्त्वालोक-न्यायविजयजी
- ^{२०३}. स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णैः शब्दैर्मुक्तो निरंजनः ॥११/४॥ -तत्त्वज्ञानतरंगिणी-ज्ञानभूषण
- ^{२०४}. चिद्रूपानन्दमयो निःशेषोपाधि वर्जितः शुद्धः।
अत्यक्षोऽनन्तगुणः परमात्मा कीर्तितस्तज्ज्ञैः॥१२१/८॥ -योगशास्त्र -हेमचन्द्रसूरि

मुक्ति में जाने वाले परमात्मा ने जैसे शारीरिक आसन में यहाँ पृथ्वी-पीठ पर शरीर छोड़ा हो, ऐसे आसन के स्वरूप में उनकी आत्मा मुक्ति में उपस्थित होती है, इस दृष्टि से ईश्वर साकार है। किसी प्रकार का दृश्य रूप या मूर्तता नहीं होने से वह निराकार भी है। ज्ञानादि गुणों के स्वरूप के आश्रयरूपी है और मूर्त (पौद्गलिक) रूप की अपेक्षा से अरूपी है। अनन्तज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि गुणों से गुणी है और सत्त्व, रज, तम गुणों के अत्यन्ताभाव से अगुणी है। ज्ञान से विभु है और आत्मप्रदेशों के विस्तार से अविभु है। जगत् से निराले होने के कारण भिन्न है और लोकाकाश में अनन्त जीवों और पुद्गलों के साथ संसर्गवान् होने से अभिन्न है। विचाररूप मन नहीं होने से अमनस्क है और शुद्धात्मोपयोग होने से मनस्वी है। प्रथम सिद्ध कौन हुआ, इसका पता नहीं होने से समुच्चय से सिद्ध भगवान् पुराने (अनादि) हैं और व्यक्ति की अपेक्षा से प्रत्येक सिद्ध 'नवीन' (सादि) है।

विशेषावश्यकभाष्य में कहा गया है- “भोक्ष में जाते हुए जीव को सम्यक् ज्ञान-दर्शन, सुख और सिद्धि के सिवाय, औदायिक भाव तथा भव्यत्व एक साथ नष्ट हो जाते हैं। दोनों नहीं रहते हैं, क्योंकि सिद्ध के जीव भव्य भी नहीं है और अभव्यव भी नहीं है।”^{२०५} उ. यशोविजयजी ने अध्यात्मसार में परमात्मा को ‘शुद्ध प्रकृष्ट ज्योतिरूप बताया है तथा कहा है कि सत्, चित् और आनन्दस्वरूप सूक्ष्म से सूक्ष्म, पर से पर ऐसी आत्मा मूर्तत्व को स्पर्श भी नहीं करती है।’^{२०६}

आचार्य हरिभद्रसूरि ने योगदृष्टि समुच्चय में परमात्मा और निर्वाण का एक ही स्वरूप बताते हुए कहा है कि विभिन्न नामों से कथित परमतत्त्व का वही लक्षण है, जो निर्वाण का है, अर्थात् वे एक ही हैं। “वह सदाशिव है- सब समय कल्याणरूप, परब्रह्म आत्मगुणों के परमविकास के कारण महाविशाल है, सिद्धात्मा- अर्थात् विशुद्ध आत्मसिद्धि प्राप्त, तथा सदा एक जैसे शुद्ध सहजात्मस्वरूप में संस्थित, निराबाध, अर्थात् सब बाधाओं से रहित, निरामय, अर्थात् देहातीत् होने के कारण दैहिक रोगों से रहित तथा अत्यन्त विशुद्ध आत्मस्वरूप में अवस्थित

^{२०५} तस्सोदइयाईया भवत्तं च विणियत्तए समयं

सम्मत्त-नाण-दंसण-सुह सिद्धताइं भोत्तुणं ।।३०८७।। -विशेषावश्यकभाष्य

^{२०६} प्रत्यम् ज्योतिषमात्मानमाहुः शुद्धतयाः खलु ।।३२।।

आत्मासत्यचिदानन्द सूक्ष्मात्सूक्ष्मः परात्परः

स्पृशत्यपि न मूर्तत्व तथा चोक्तं परेरपि ।।३६।। - अध्यात्मसार - उ. यशोविजयजी

होने के कारण राग-द्वेष मोह, कामक्रोधादि भावरोगों से रहित परमस्वस्थ, निष्क्रिय, अर्थात् सब कर्मों का कर्महेतुओं का निःशेष रूप में नाश हो जाने के कारण सर्वथा क्रियारहित कृतकृत्य है। जन्म-मृत्यु आदि का वहाँ सर्वथा अभाव है।”^{२०७} आचार्य कुन्दकुन्द ने मोक्षापाहुड़ में परमात्मा का स्वरूप बताते हुए कहा है कि परमात्मा कर्मरूपी मल से रहित है। वे अतीन्द्रिय और अशरीरी हैं। नियमसार में कहा गया है कि परमात्मा सादिअनन्त, अमूर्त, अतीन्द्रिय स्वभाव वाले, केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख और केवल शक्तियुक्त परमात्मा हैं। परमात्मा त्रिकाल, निरावरण, निरंजन तथा निज परमभाव को कभी नहीं छोड़ते हैं और संसारवृद्धि के कारणभूत विभाव पुद्गलद्रव्य के संयोगजनित रागादि परभाव को ग्रहण नहीं करते हैं। निरंजन, सहजज्ञान, सहजदृष्टि, सहजचारित्र आदि स्वभाव धर्मों के आधार-आधेय सम्बन्धी विकल्पों से रहित सदामुक्त हैं।^{२०८}

आचार्य हरिभद्रसूरि ने अष्टकप्रकरण में कहा है कि परमात्मा का स्वरूप पूर्णतः स्वतंत्र, औत्सुक्य अर्थात् आकांक्षारहित, प्रतिक्रियारहित, निर्विघ्न स्वाभाविक, नित्य, अर्थात् त्रैकालिक और भयमुक्त है।^{२०९}

इस प्रकार अलग-अलग ग्रंथों में विविध प्रकार से परमात्मा का स्वरूप बताया गया है। ज्ञानार्णव ग्रंथ में शुभचंद्राचार्य ने परमात्मा की पहचान देते हुए बताया है कि निर्लेप, निष्कल, शुद्ध निष्पन्न अन्त्यन्त निवृत्त और निर्विकल्पक शुद्धात्मा परमात्मरूप है।

इस प्रकार जैनदर्शन में प्रत्येक आत्मा को बीजरूप में परमात्मा माना गया है। उनका उद्घोष है- ‘अप्पा सो परमप्पा।’

जैनदर्शन ईश्वर को सृष्टि का कर्ता, उसका नियामक तथा संचालक नहीं मानते हैं। जबकि अन्य दर्शनों में ईश्वर को सृष्टि का कर्ता-धर्ता माना गया है।

^{२०७} सदाशिवः परंब्रह्म सिद्धात्मा तथातेति च

शब्दैस्तदुच्यते ऽन्वर्थदिकमैवैवमादिभिः ॥३०॥ -योगदृष्टि समुच्चय -आचार्य हरिभद्रसूरि

^{२०८} केवलणाणसहावो केवलदसणसहावसुहमइओ

केवल-सत्तिसहावो सो हं इदि चिंतए णाणी ॥६६॥

णियभावं णवि मुच्चइ परभावं पेव गेण्हए केइ ।

जाणदि पस्सदि सब्बं सो है इदि चिंतए णाणी ॥६७॥ -नियमसार -आचार्य कुन्दकुन्द

^{२०९} अपरायत्तमौत्सुक्यरहितं निष्प्रतिक्रियम्

सुखं स्वाभाविकं तत्र नित्यं भयविवर्जितम् ॥१७॥ -मोक्षाष्टकम्-३२, अष्टकप्रकरण

-हरिभद्रसूरि

जैसे श्रीमद्भगवद्गीता में ईश्वर का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि भूत, भविष्यत् और वर्तमान को जानने वाला सर्वज्ञ पुरातन सम्पूर्ण संसार का शासक और अणु से भी अणु, अर्थात् सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर, सम्पूर्ण कर्मफल का विधायक, अर्थात् विचित्र रूप से विभाग करके सब प्राणियों को उनके कर्मों का फल देने वाला है तथा अचिन्त्यस्वरूप, अर्थात् जिसका स्वरूप नियत और विद्यमान होते हुए भी किसी के द्वारा चिन्तन न किया जा सके, ऐसा है एवं सूर्य के समान वर्ण वाला और अज्ञानरूप मोहमय अन्धकार से सर्वथा अतीत है, वह परमात्मा है।^{२१०} महाभारत में परमात्मा का स्वरूप बताते हुए कहा गया है- “जो परम तेजस्वरूप है, जो परम महान् तपस्वरूप है, जो परम महान्ब्रह्म है, जो सबका परम आश्रय है।”^{२११} प्रायः सभी दर्शनों में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकारा गया है, लेकिन उसके स्वरूप के विषय में सभी दर्शनों की मान्यता अलग-अलग है। “जैन, बौद्ध और गीता की परम्पराओं में ईश्वर को उपास्य के रूप में स्वीकृत किया है जैन परम्परा में उपास्य के रूप में अरिहंत और सिद्ध को माना है। ये उपास्य अवश्य है किंतु गीता के ईश्वर से भिन्न है, क्योंकि गीता का ईश्वर सदैव ही उपास्य है, जबकि अरिहंत और सिद्ध उपासक से उपास्य बने हैं। सिद्ध केवल उपासना के आदर्श हैं और अरिहंत उपासना, अर्थात् साधनामार्ग के उपदेशक हैं, किन्तु साधक स्वयं उस मार्ग पर चलकर आत्मस्वरूप को प्राप्त कर सकता है। उपास्य के स्वरूप का ज्ञान तथा उपासना दोनों ही अपने में निहित परमात्त्वतत्त्व को प्रकट करने के लिए है।”^{२१२}

साधनों का आत्मा में एकत्व -

किसी भी कार्य को सिद्ध करने के लिए साधनों की आवश्यकता होती है। बिना साधनों के साध्य को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। राह पर चले बिना मंजिल तक नहीं पहुँच सकते हैं।

- ^{२१०}. कविं पुराणमनुशासितार, मणोरमणोरणीयांस मनुस्मरेद्यः
सर्वस्य धातारमचिन्त्य रूपमादित्य वर्णं तमसः परस्तात् - श्रीमद्भगवद्गीता - ८/६
- ^{२११}. परमं यो महत्तेजः यो महत्तपः
परमं यो महद्ब्रह्म परमं यः परायणम् - महाभारत - ४६/६
- ^{२१२}. जैन, बौद्ध और गीता के आचारों का तुलनात्मक अध्ययन - डॉ. सागरमल जैन

जीव जिन-जिन साधनों के द्वारा अपने आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है तथा उन साधनों का आत्मा से एकत्व किस प्रकार है, अर्थात् साध्य और साधन भिन्न-भिन्न है या अभिन्न? आदि प्रश्नों के सम्बन्ध में आगे विवेचन है।

जिन साधनों के द्वारा साधक साध्यदशा को प्राप्त होता है, उन साधनों का वर्णन करते हुए उत्तराध्ययन में कहा गया है- “ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के मार्ग का अनुसरण करने वाले जीव उत्कृष्ट सुगति (मोक्ष) को प्राप्त करते हैं।”^{२१३} यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र में “सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र- इन तीनों को ही मोक्षमार्ग माना है”^{२१४} तथा तप को चारित्र का ही एक अंग माना है, तथापि उत्तराध्ययन में तप को जो पृथक् स्थान दिया, उसका कारण यह है कि तप कर्मक्षय का विशिष्ट साधन है। साधनापथ और साध्य- दोनों ही आत्मा की अवस्थाएँ हैं। उपाध्याय यशोविजयजी ने अध्यात्मसार में कहा है- “जब ज्ञान-दर्शन और चारित्र के साथ आत्मा की एकता सध जाती है, तब कर्म जैसे क्रोधित हो गए हों, इस तरह आत्मा से अलग हो जाते हैं।”^{२१५} जब आत्मा स्वयं के ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप स्वभाव में स्थिर हो जाती है, तब कर्मों के रहने के लिए कोई अवकाश नहीं रहता है। ‘रत्नत्रयं मोक्षः’, अर्थात् रत्नत्रय मोक्ष हैं। उ. यशोविजयजी कहते हैं- “कर्मक्षय तो द्रव्यमोक्ष है। यह आत्मा का लक्षण नहीं है। द्रव्यमोक्ष के हेतुभूत आत्मा का रत्नत्रय से एकत्व ही भावमोक्ष है।”^{२१६}

नियमसार की टीका में कहा गया है- “आत्मा को ज्ञानदर्शन रूप जान और ज्ञानदर्शन को आत्मा जाना।”^{२१७} इसका तात्पर्य यही है कि ज्ञानदर्शनादि आत्मा से भिन्न नहीं हैं, आत्मा का ही स्वरूप है।

डॉ. सागरमल जैन साधनापथ और साध्य को अभिन्न बताते हुए कहते हैं- “जीवात्मा अपने ज्ञान, अनुभूति और संकल्प के रूप में साधक कहा जाता

^{२१३} नाणं च दंसणं चैव चरित्तं च तवो तथा ।

एयं मग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छन्ति सोग्गई ॥ उत्तराध्ययन २८/३

^{२१४} सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः । ११ ॥ -तत्त्वार्थसूत्र -उमास्वाति

^{२१५} ज्ञानदर्शनचारित्रैरात्मैक्यं लभते यदा

कर्माणि कुपितानीव भवन्त्याशु तदा पृथक् ॥ १७६ ॥ -आत्मनिश्चयाधिकार -अध्यात्मसार

-उ. यशोविजयजी

^{२१६} द्रव्यमोक्षः क्षयः कर्मद्रव्याणां नात्मलक्षणम् ।

भावमोक्षस्तु तद्धेतुरात्मा रत्नत्रयान्वयी ॥ १७८ ॥ -आत्मनिश्चयाधिकार -अध्यात्मसार -उ.

यशोविजयजी

^{२१७} आत्मानं ज्ञानदृश्यं विद्धि दृग्ज्ञानमात्मकं -नियमसार की टीका -पद्मप्रभमतलधारि

है। उसके यही ज्ञान अनुभूति और संकल्प सम्यक्दिशा में नियोजित होने पर साधनापथ बन जाते हैं। यही जब अपनी पूर्णता को प्रकट कर लेते हैं, तो साध्य बन जाते हैं।”^{२१८} जब साधक आध्यात्मिक विकासमार्ग में आगे बढ़ता है तब सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, सम्यक् तप उसके साधनापथ बनते हैं और साधनापथ पर चलते हुए जब वह अनंतचतुष्टय उपलब्ध कर ले, तो वही अवस्था साध्य बन जाती है। आत्मा की सम्यक् अवस्था साधनापथ है और पूर्णावस्था साध्य है।

गीता के अनुसार भी साधनामार्ग के रूप में जिनसद्गुणों का विवेचन उपलब्ध है, उन्हें परमात्मा की विभूति माना गया है। यदि साधक आत्मा परमात्मा का अंश है और साधनामार्ग परमात्मा की विभूति है और साध्य वही परमात्मा है, तो फिर इनमें अभेद ही माना जाएगा।

उपाध्याय यशोविजयजी ने अध्यात्मोपनिषद् में कहा है- “संग्रहनय के अनुसार सत्त्वित् आनन्दस्वरूप ब्रह्मतत्त्व शुद्धात्मा है, अर्थात् आत्मा ज्ञान दर्शन चारित्रमय है। सच्चिदानन्द स्वरूप है। परस्पर अनुविद्ध सत्त्व, ज्ञान और सुखमय आत्मा- यही परमात्मा है।”^{२१९}

ब्रह्मविद्या उपनिषद् में कहा गया है- “मैं केवल सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ, ज्ञानधन हूँ, परमार्थिक केवल सन्मात्र सिद्ध सर्व आत्मस्वरूप हूँ।”^{२२०}

ज्ञानादि धर्म आत्मा से भिन्न हैं या अभिन्न हैं, यह विचारणा नयों की अपेक्षा से हो, तो अनेक प्रकार के नयों कि विचारणाओं से भेद या अभेद उपस्थित होता है। निर्विकल्प ज्ञान में तो नयों की विवक्षा नहीं होती है, इसलिए विभिन्न नयों की विचारणाओं से भेद या अभेद का अवगाहन निर्विकल्प ज्ञान में नहीं होता। ब्रह्मतत्त्व का अवगाहन करने वाला निर्विकल्प ज्ञान ब्रह्मतत्त्व को सत्त्वरूप में, चैतन्य या आनन्दरूप में अनुभव नहीं करता है, परंतु अखण्ड सच्चिदानन्दधन स्वरूप में ब्रह्मतत्त्व का, अर्थात् आत्मा का संवेदन करता है। जैसे

^{२१८}. जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन -डॉ. सागरमल जैन, भाग -२ पृ. ४३३

^{२१९}. नयेन सङ्ग्रहेणैवमनुसूत्रोषजीविना

सच्चिदानन्दस्वरूपत्वं ब्रह्मणो व्यवतिष्ठते ॥४३॥ -अध्यात्मोपनिषद् - उ. यशोविजयजी

^{२२०}. सच्चिदानन्दमात्रोऽहं स्वप्रकाशोऽस्मि चिद्धनः

सत्त्वस्वरूप-सन्मात्र सिद्ध-सर्वात्मकोऽस्म्यहम् ॥१०६॥ -ब्रह्मविद्योपनिषद्

केवल मिर्ची खाने से मात्र तीखेपन का अनुभव होता है, केवल नीम्बू चखने से खट्टेपन का अनुभव होता है, नमक खाने से खारेपन का अनुभव होता है, किंतु उचित मात्रा में मिर्ची-नमक-नीम्बू डालकर बनाए हुए उत्तम भोजन में, यह स्वादिष्ट है- ऐसा ही अनुभव होता है, नहीं कि स्वतंत्र रूप से खारास, मिठास, खटास या तीखास का। स्वादिष्ट, खारास, तीखास आदि भिन्न है या अभिन्न, यह चर्चा अस्थान (अनुचित) है।

उपाध्याय यशोविजयजी कहते हैं कि पवन के झोंके से उत्पन्न तरंग जैसे समुद्र से अभिन्न होने के कारण समुद्र में विलीन हो जाती है, उसी प्रकार महासामान्य स्वरूप ब्रह्म (परमसत्ता) में नयजन्य भेदभाव डूब जाते हैं। अलग-अलग नयों के विभिन्न अभिप्रायों से उत्पन्न होने वाले आत्मा संबंधी द्वैत शुद्धात्मा में लीन हो जाते हैं।

महासामान्यरूपेऽस्मिन्मज्जन्ति नयजा भिदाः

समुद्र इव कल्लोलाः पवननोन्माभनिर्मिताः॥४१॥

शुद्धात्मा का स्वरूप शब्दों से अवर्णनीय है। साधनों की साध्य से अभिन्नता अनुभव करते हुए भी उसका स्पष्ट वर्णन नहीं कर सकते हैं, इसलिए सत्व चैतन्यादि गुणधर्म आत्मा से भिन्न है या अभिन्न, इस प्रश्न का शब्द द्वारा स्पष्ट समाधान नहीं किया जा सकता है। क्योंकि आत्मसाक्षात्कार यह लोकोत्तर है और भेदाभेद के विकल्प लौकिक है।

उपाध्याय यशोविजयजी कहते हैं-

“जिन पदार्थों का शब्दों द्वारा निरूपण कर सकें, ऐसा (सम्भव) नहीं हो, तो भी प्राज्ञपुरुषों द्वारा उसका अपलाप नहीं किया जाता है, माधुर्य विशेष की तरह।”^{२२१}

रत्नत्रयी का आत्मा से एकत्व-यह अपरोक्ष अनुभव से गम्य है। जैसे आम, गुड़, शक्कर आदि की मिठास में परस्पर भेद है, किंतु शब्दों द्वारा भेदों का निरूपण करना अशक्य है।

न्यायभूषण ग्रंथ में भासर्वज्ञ ने कहा है- “गन्ना, दूध, गुड़ आदि की मिठास में बहुत अन्तर है, फिर भी उन्हें शब्दों द्वारा बताना शक्य नहीं है, ठीक

^{२२१}. यो ह्याख्यातुमशक्योऽपि, प्रत्याख्यातुं न शक्यते।

प्राज्ञैर्न दूषणीयोऽर्थः स माधुर्यविशेषवत् ॥४६॥ -अध्यात्मोपनिषद् -उ. यशोविजयजी

इसी तरह अद्वैत ब्रह्म, अर्थात् आत्मा की ज्ञान-दर्शन आदि से अभिन्नता का शब्दों द्वारा वर्णन करना अशक्य है।”^{२२२} शब्दों द्वारा विशिष्ट प्रकार की मिटास का निरूपण नहीं होने पर भी उनका अपलाप नहीं होता है, क्योंकि यह अनुभवसिद्ध है, ठीक इसी प्रकार अद्वैत ब्रह्म का स्वरूप अनिबर्चनीय होने पर भी उसका अपलाप नहीं कर सकते हैं, क्योंकि अपरोक्ष अनुभूति द्वारा तो जान ही सकते हैं।

साधनों का साध्य से अभेद निश्चयदृष्टि से, तात्त्विक है, व्यावहारिक नहीं है। व्यावहारिक जीवन में साध्य, साधक और साधनापथ तीनों ही अलग-अलग हैं।

साधनामार्ग की परस्पर विविधता एवं एकता

पूर्व में साधनों का साध्य से अभेद किस प्रकार है, इसका वर्णन किया गया है। मोक्ष को प्राप्त करने के साधन निरूपचार रत्नत्रयरूप परिणति है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र में से अलग-अलग कोई भी एक या दो मिलकर भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर सकते हैं। मोक्ष-प्राप्ति के लिए तीनों का साहचर्य आवश्यक है। तीनों मिलकर मोक्षमार्ग है। जैसे जीवन के लिए भोजन, पानी और श्वास-तीनों की ही आवश्यकता होती है, तीनों में से एक के भी नहीं होने पर जीवन अधिक दिनों तक नहीं रह सकता है, उसी प्रकार साध्य, अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति के लिए तीनों की ही आवश्यकता है। यह जिज्ञासा सहज ही उठती है कि आत्मस्वरूप की प्राप्ति के साधनों में एकत्व होने पर भी उनमें परस्पर विविधता किस प्रकार है?

नियमसार में उपचार से भेद बताते हुए कहा गया है- “विपरीत मति से रहित पंचपरमेष्ठी के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा, निश्चल भक्ति, वही सम्यक्त्व है। संशय, विमोह और विभ्रम रहित जिन प्रणीत हेय उपादेय तत्त्वों का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।”^{२२३} पापक्रिया से निवृत्तिरूप परिणाम सम्यक् चारित्र है। निश्चयदृष्टि से

^{२२२} यो ह्याख्यातुमशक्योऽपि, प्रत्याख्यातुं न शक्यते

प्राज्ञैर्न दूषणीयोऽर्थः स माधुर्यविशेषवत् ॥४६॥ -अध्यात्मोपनिषद् - उ. यशोविजयजी

^{२२३} विपरीताभिणिवेशविजर्जितश्रद्धानमेव सम्यक्त्वम्

संशयविमोहविभ्रमविजर्जितं भवति संज्ञानम् ॥५१॥ -शुद्धभावाधिकार -नियमसार -आ.

कुन्दकुन्द

“आत्मा का निश्चय वह सम्यग्दर्शन है। आत्मा का बोध वह सम्यग्ज्ञान है और आत्मा में ही स्थिति वह सम्यक्चारित्र है।”^{२२४}

दर्शनमोहनीयकर्म के क्षयोपशम से सम्यग्दर्शन होता है और चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशम से सम्यक् चारित्र की प्राप्ति होती है। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है। इन तीनों की एकता ही शिवपद का कारण है। सम्यग्दृष्टि का चतुर्थ गुणस्थानक होता है, जबकि सम्यक्चारित्र का प्रारंभ पाँचवें गुणस्थानक से होता है। उत्तराध्ययन में कहा गया है- “सम्यग्दर्शनरहित जीव को सम्यग्ज्ञान नहीं होता है। ज्ञान के बिना चारित्रगुण नहीं होता है, चारित्र गुण से विहीन जीव को मोक्ष नहीं होता है तथा मोक्ष हुए बिना निर्वाण नहीं होता है।”^{२२५} सम्यग्दर्शन मोक्षरूपी महल की नींव है। उपाध्याय यशोविजयजी ने अध्यात्मसार में कहा है- “नेत्र का सार कीकी है और पुष्प का सार सौरभ है, उसी प्रकार धर्मकार्य का सार सम्यक्त्व है।”^{२२६}

प्राचीनकाल में जब राजा स्वयं का राज्यपाट और सर्वस्व हार जाता, तब रानी प्रमुख बालकुमार को बचाने की पूरी तैयारियाँ करती। बालक को लेकर वह भाग जाती, क्योंकि वह जानती थी कि जो राजबीज बच जाएगा, तो पति द्वारा खोया हुआ राज्य पुनः प्राप्त किया जा सकेगा।

राजबीज जैसा ही यह सम्यग्दर्शन है। आध्यात्मिक मार्ग में, मोक्षपथ में सम्यक् दर्शन से रहित व्यक्ति चाहे कितना ही ऊँचा चारित्रधर हो, तो भी वह कदापि मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता है। उ. यशोविजयजी ने अध्यात्मसार में कहा है- “अर्धे व्यक्ति की तरह कोई पुरुष संसार से निवृत्त हो गया हो, काम भोग त्याग कर दिए हों; कष्टसहिष्णु हो; अनेक प्रकार की त्याग-वैराग्य की प्रवृत्ति होने

^{२२४} दर्शनं निश्चयः पुंसि बोधस्तद्बोध इष्यते।

स्थितिरत्रैव चारित्रमिति योगः शिवाश्रयः॥११४॥

-एकत्वसप्तति अधिकार पद्मनन्दिपंचविंशतिका- आ. श्रीपद्मनन्दि

^{२२५} नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विना न हुंति चरणगुणा

अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोवखस्स नित्वाणं॥ -मोक्षमार्गगति

२८/३०-उत्तराध्ययन

^{२२६} कनीनिकेव नेत्रस्य कुसुमस्येव सौरभम्

सम्यक्त्वमुच्यते सारः सर्वेषां धर्मकर्मणाम् ॥५॥ -सम्यक्त्व अधिकार -अध्यात्मसार -उ.

यशोविजयजी

पर भी अगर वह मिथ्यादृष्टि है, तो मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता है।”^{२२७} सम्यक्त्व के बिना की गई शुभ क्रियाएँ भी घानी के बैल जैसी हैं, संसार में भटकाने वाली हैं, जबकि द्रव्यचारित्र से भ्रष्ट हुई आत्मा यदि सम्यग्दर्शन को प्राप्त हो गई हो, तो उसको कभी-कभी द्रव्यचारित्र लिए बिना भी वीतरागदशा और केवलज्ञान प्राप्त हो सकता है, जैसे ईलायचीकुमार आदि। यहाँ यह ध्यान देना आवश्यक है कि यदि द्रव्यचारित्र नहीं हो, तो भी उसमें भावचारित्र तो अवश्य होता ही है, क्योंकि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र-तीनों सहचारी रूप से मोक्षमार्ग के कारण हैं। उत्तराध्ययन में कहा गया है- “जीव सम्यग्ज्ञान से जीवादि पदार्थों और उनकी द्रव्य, गुण, पर्यायों को जानता है। सम्यग्दर्शन से उन पर यथार्थ श्रद्धा करता है। सम्यक्चारित्र से नवीन आते हुए और आत्मा के साथ बँधते हुए कर्मों का निरोध करता है तथा तप से पूर्वसंचित कर्मों का क्षय करता है।”^{२२८} इसी बात को स्पष्ट करते हुए विशेषावश्यक भाष्य में कहा गया है- “ज्ञान प्रकाशक है, तपशोधक है और संयमगुप्ति (रक्षण) करने वाला है और तीनों का योग हो, तो ही जिनशासन में मोक्ष की प्राप्ति कही है।”^{२२९}

“जैसे अच्छा प्रकाशवाला मात्र दीपक घर का कचरा शुद्ध नहीं कर सकता है, उसी प्रकार ज्ञान भी प्रकाशमात्र स्वभाव वाला होने से संयमादि की सहायता के बिना आत्मगृह को शुद्ध नहीं कर सकता है तथा अंधकार वाले घर के कचरे को ‘मनुष्य की क्रिया’ दूर नहीं कर सकती हैं, उसी प्रकार चारित्ररूप क्रिया भी आत्मग्रह की सम्यग्ज्ञान के प्रकाश बिना सर्वथा विशुद्धि नहीं कर सकती है, परंतु दीपक का प्रकाश और सत्क्रिया द्वारा कचरे आने के द्वार को बंद कर देने से गृह जिस प्रकार शुद्ध होता है, उसी प्रकार ज्ञानरूप प्रकाश और तपरूप क्रिया द्वारा कर्मरूपी कचरा बाहर निकालने से तथा संयम द्वारा आश्रवद्वार

^{२२७} कुर्वन्निवृत्तिमप्येवं, कामभोगांस्त्यजन्पि ।

दुखस्योरो ददानोऽपि, मिथ्यादृष्टि न सिद्ध्यति ॥४॥ -सम्यक्त्व अधिकार-अध्यात्मसार

-उ. यशोविजयजी

^{२२८} नाणेण जाणइ भावे, दसणेण य सट्टहे

चस्तिण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झई ॥ -उत्तराध्ययन २८/३५

^{२२९} नाणं पयासयं सोहओ, तवो संजमो य गुत्तिकरो ।

तिण्हं पि समाओगे, मोक्खो, जिणसासणे भणिओ ॥११६६॥ -विशेषावश्यकभाष्य

-जिनभद्रगणि

को बंद कर देने से आत्मरूपी गृह शुद्ध होता है।^{२३०} ज्ञान का सार चारित्र और चारित्र का सार मोक्ष है। सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी दो अश्व सम्यग्दर्शन रूपी रथ को खींचते हैं। सम्यग्दर्शन होने के बाद व्यक्ति ज्ञान तथा क्रिया द्वारा आध्यात्मिक विकासमार्ग में आगे बढ़ता जाता है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र- तीनों का साहचर्य मोक्षप्राप्ति का साधन है, तो अब यह प्रश्न उठता है कि जीव को इनकी प्राप्ति एक साथ होती है, या एक के बाद दूसरे की? इस विषय में उत्तराध्ययन में लिखा गया है- “सम्यग्दर्शन के बिना सम्यक्चारित्र नहीं होता है, किन्तु सम्यक्चारित्र के बिना सम्यग्दर्शन हो सकता है। सम्यग्दर्शन और चारित्र एक साथ भी होते हैं, किन्तु चारित्र से सम्यग्दर्शन पहले होता है,”^{२३१} अर्थात् सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन के बाद ही होता है। सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान सम्यक् हो नहीं सकता है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि का ज्ञान अज्ञान ही कहलाता है। जिस ज्ञान के साथ आत्मा एवं मोक्ष के प्रति यथार्थ श्रद्धा होती है, वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। ज्ञान के तीनों दोष संशय, विभ्रम और विपर्यय सम्यग्दर्शन के स्पर्श से नष्ट हो जाते हैं और सामान्य ज्ञान सम्यग्ज्ञान में परिवर्तित हो जाता है। ‘सा विद्या या विमुक्तये’- विद्या या ज्ञान वही है, जो मुक्ति प्रदान करे। उ. यशोविजयजी ने अध्यात्मोपनिषद् में कहा है कि ज्ञान के परिपाक से क्रिया असंगभाव को प्राप्त होती है। चंदन से जैसे सुगन्ध अलग नहीं होती है, उसी प्रकार ज्ञान से क्रिया अलग नहीं होती है।^{२३२} “जिस तरह उत्तम चंदन कभी भी सुगंधरहित नहीं होता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी कभी भी स्वोचित प्रवृत्ति से रहित नहीं होते हैं। इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए उ. यशोविजयजी कहते हैं- “जब तक ज्ञान और महापुरुषों के आचारों का समान रूप से अभ्यास

२३०. अलहाबमसौहिकरं, नाणमिह पगासमेतभावाओ।

सोहेइ घरकयारं जह, सुपगासोऽवि न पईवो।।११७०।।

नय सब्विसोहिकरी, किरियावि जमपगासधम्मा सा

जह न तमोगेहमलं, नरकिरिया सब्वा हरइ।।११७१।।

दीवाइपयासं पुण सक्किरियाए विसोहियकयारं

संवरियकयारागमदारं सुद्धं घरं होइ ।।११७२।।

तह नाणदीपविमलं, तवकिरियासुद्धकम्भयकयारं

संजमसंवरियपहं जीवधरं होइ सुविसुद्धं ।।११७३।। -विशेषावश्यक भाष्य-श्री जिनभद्रगणी

२३१. नत्थिचस्ति सम्मत्तविहूणं दंसणे उ भइयत्वं

सम्मत्त-चरित्ताइं जुगवं पुत्वं व सम्मत्तं ।।२६।।-मोक्षमार्गगति -२८-उत्तराध्ययन

२३२. ज्ञानस्यपरिपाकाद्धि, क्रियाऽसङ्गवमङ्गाति।

न तु प्रयाति पार्थक्यं, चन्दनादिव सौरभम् ।।४०।।-अध्यात्मोपनिषद् -उ. यशोविजयजी

नहीं किया जाता, अर्थात् उसका बारबार परिशीलन नहीं किया जाता, तब तक व्यक्ति को ज्ञान या क्रिया में से एक भी वस्तु सिद्ध नहीं होती है।”^{२३३}

अन्य दर्शनकारों ने भी इस बात को स्वीकार किया है। योगवशिष्ट में कहा गया है- “जैसे आकाश में दोनों ही पाँखों द्वारा पक्षी की गति होती है, उसी प्रकार ज्ञान और क्रिया द्वारा परमपद की प्राप्ति होती है। केवल क्रिया से या मात्र ज्ञान से मोक्ष नहीं होता है, किन्तु दोनों के द्वारा ही मोक्ष होता है। दोनों ही मोक्ष के साधन हैं।”^{२३४} इस प्रकार साधनामार्ग में विविधता होते हुए भी वे समुच्चयरूप से ही मोक्ष के साधन हैं।

उ. यशोविजयजी की दृष्टि में योगचतुष्टय

१. शास्त्रयोग :

कोई व्यक्ति जंगल से गुजर रहा हो और मार्ग पर घोर अंधकार हो, साथ ही प्रकाश की व्यवस्था भी नहीं हो, तो वह भटक जाता है, अपने गन्तव्य-स्थान पर नहीं पहुँच सकता है, किन्तु यदि किसी के हाथ में दीपक है, तो वह उस रास्ते को पार करके अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाता है। यह संसार भी अज्ञानरूपी अंधकार से घिरा हुआ है, लेकिन जिसके साथ में, जिसके हृदय में शास्त्ररूपी दीपक है, तो वह अपने गन्तव्य-स्थान पर पहुँच सकता है।

उपाध्याय यशोविजयजी ने ज्ञानसार में कहा है- “सामान्यतः मनुष्य चमड़े की आँख वाले होते हैं। देवता अवधिज्ञानरूपी चक्षु वाले होते हैं। सिद्ध सर्वत्र चक्षु वाले, अर्थात् केवलज्ञानरूपी चक्षु वाले होते हैं और साधु आगम (शास्त्र) रूपी चक्षु वाले होते हैं।”^{२३५} “समयसार में भी साधुओं को आगमरूपी चक्षु वाले कहा

^{२३३} न यावत्सममभ्यस्तौ, ज्ञानसत्पुरुष क्रमौ ।

एकोऽपि नैतयोस्तावत् पुरुषस्येह सिध्यति ॥३५॥ -अध्यात्मोपनिषद् -उ. यशोविजयजी

^{२३४} उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा हवे पक्षिणां गतिः

तथैव ज्ञान कर्मभ्यां जायते परमं पदम् ॥७॥

केवलात् कर्माणोज्ञानात् नहि मोक्षाऽभिजायते

किन्तूभाभ्यां भवेन्मोक्षः साधनं तूभयं विदुः ॥८॥ -प्रथमाधिकार-योगवशिष्ट

^{२३५} चर्मचक्षुर्भूतः सर्वे देवाश्चावधिचक्षुषः ।

सर्वतश्चक्षुषः सिद्धाः साधवः शास्त्रचक्षुषः ॥११॥ -शास्त्राष्टक-२४, ज्ञानसार-उ.

है।”^{२३६} साक्षात् परमात्मा की अनुपस्थिति में भव्य जीवों के लिए उनकी वाणी का ही आधार है, इसलिए उ. यशोविजयजी ने योगचतुष्टय में सर्वप्रथम शास्त्रयोग का वर्णन किया है। वे शास्त्र शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ बताते हुए कहते हैं कि “जो हितोपदेश करे और जिसमें रक्षण करने का सामर्थ्य हो उसे पंडितों ने शास्त्र कहा है इन शास्त्रों में वीतराग के वचन हैं, किसी अन्य के नहीं।”^{२३७}

शास्त्र शब्द दो धातुओं के योग से बना है। ‘शास्’ तथा ‘त्रै’। ‘शास्’ धातु का अर्थ है- शासन करना, अर्थात् हितोपदेश करना। ‘त्रै’ धातु का अर्थ है- रक्षण करना। ‘शास्त्र’ शब्द अपने व्युत्पत्ति लक्ष्य अर्थ के अनुसार गुणनिष्पन्न है। उ. यशोविजयजी की दृष्टि में कष, छेद और ताप परीक्षा से शुद्ध और अध्यात्ममार्ग पर प्रकाश फैलाने वाले तथा अर्थ की अपेक्षा से सर्वज्ञ कथित, सूत्र की अपेक्षा से गणधर द्वारा ग्रथित हैं तथा माध्यस्थभावना से युक्त ऐसे स्थविरों द्वारा परिपुष्ट हुए हैं। इस प्रकार के शास्त्र ही जीवों पर अनुशासन और रक्षण करने का सामर्थ्य रखते हैं। इन शास्त्रों में बताई गई विधि अनुसार मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करने वाले निर्मल बुद्धि वाले साधकों का योग अर्थात् प्रवृत्ति शास्त्रयोग कहलाता है।^{२३८}

अध्यात्मतत्त्वालोक में न्यायविजयजी शास्त्रयोग का वर्णन करते हुए कहते हैं- “उत्कृष्ट श्रद्धा और बोधवाला तथा अप्रमादी- ऐसे महात्मा का यथाशक्ति आगमानुसार जो स्वच्छ धर्मक्रियारूप आचरण है, उसे शास्त्रयोग कहते हैं।” संसार में विभिन्न दर्शनों के अनेक प्रकार के शास्त्र उपलब्ध हैं। किस शास्त्र को स्वीकार करें? क्योंकि हर चमकने वाली वस्तु स्वर्ण नहीं होती है। इसके समाधान में उपाध्याय यशोविजयजी कहते हैं- “जैसे लोग कष, छेद और ताप द्वारा स्वर्ण की परीक्षा करते हैं, उसी प्रकार विद्वान् पुरुषों को भी शास्त्रों के विषय में

^{२३६}. आगमचक्रब्रूसाहू चम्मचक्रब्रूणि सव्वभूयाणि।

देवाय ओहिचक्रब्रू सिद्धापुण सव्व दो चक्रब्रू।।-समयसार-आचार्य कुन्दकुन्द

^{२३७}. शासनात्त्राणशक्तेश्च बुधैः शास्त्रं निरुच्यते।

वचनं वीतरागस्य तत्त्व (त्रु) नान्यस्य कस्यचित् ॥१२॥ -अध्यात्मोपनिषद् तथा ज्ञानसार

-उ. यशोविजयजी

^{२३८}. श्रद्धान-बोधौ दधतः प्रकृष्टौ हतप्रमादस्य यथाऽऽत्मशक्ति।

यो धर्मयोगो वचनानुसारी स शास्त्रयोगः परिवेदितव्यः ॥६॥

-सप्तम् प्रकरणम् -अध्यात्मतत्त्वालोक-न्यायविजयजी

वर्णिकाशुद्धि की परीक्षा करनी चाहिए।”^{२३६} इससे यह फलित होता है कि जो शास्त्र परीक्षा में अनुत्तीर्ण होते हैं, वे शास्त्र अशुद्ध कहलाते हैं। योगबिन्दु में कहा गया है- “प्रत्यक्ष, अनुमान आदि द्वारा प्रतीतियोग्य तत्त्व भी जिन शास्त्रों द्वारा सिद्ध नहीं होता है, उनके आधार पर अदृष्ट में प्रवृत्त होना, प्रवृत्त व्यक्तियों की अन्धश्रद्धा का परिचायक है। उससे लक्ष्य की प्राप्ति संभव नहीं है। जो प्रत्यक्ष अनुमान आदि से अनुगत या संगत है, उन्हीं शास्त्रों के आधार पर दृष्ट तथा अदृष्ट में प्रवृत्त होना उपयुक्त है,”^{२४०} इसलिए जिन शास्त्रों को स्वीकार किया जाए उनकी परीक्षा करना आवश्यक है। उ. यशोविजयजी शास्त्ररूपी स्वर्ण की कष परीक्षा के विषय में कहते हैं- “एक अधिकार में अनेक कर्तव्यों के विधान और अकर्तव्यों के निषेध का जिन शास्त्रों में वर्णन किया गया है, उसे कष-शुद्धि कहते हैं।”^{२४१} जैसे संयम के विषय में विधान रूप समिति और गुप्ति निषेध रूप। जिसमें एकेन्द्रियादि जीवों की भी हिंसा करना नहीं, कराना नहीं और उसका अनुमोदन भी करना नहीं- ऐसे सूक्ष्म हिंसा के निषेध वाक्य जिन आगमों में हों, वे आगम कषशुद्धि कहलाते हैं।

शास्त्ररूपी स्वर्ण की छेद परीक्षा का वर्णन करते हुए उ. यशोविजयजी कहते हैं- “जिन शास्त्रों में पूर्वोक्त विधि निषेधों का योग-क्षेम करने वाली क्रियाएँ बताई हों, वे शास्त्र छेदशुद्धि वाले कहलाते हैं।”^{२४२}

सिद्धान्तों के रूप में शास्त्र में जो विधि तथा निषेध बताएँ गए हैं, वे व्यावहारिक जीवन में तथा अनुष्ठानों में प्रतिबिम्बित हों और आगे प्रवाहित हों, ऐसी क्रियाओं को बताने वाले शास्त्र छेदशुद्धि वाले कहलाते हैं। छेदपरीक्षा को उ. यशोविजयजी उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए कहते हैं- “शास्त्रों में कहा है कि

^{२३६}. परीक्षन्ते कषच्छेदतापैः स्वर्णं यथा जनाः।

शास्त्रेऽपि वर्णिकशुद्धि परीक्षन्तां तथा बुधाः॥१७॥ -अध्यात्मोपनिषद् -उ. यशोविजयजी

^{२४०}. दृष्टबाधैव यत्रास्ति ततोऽदृष्टप्रवर्तनाम्।

असच्छत्रद्धाभिभूतानां केवलं ध्यानध्यसूचकम्॥२४॥

प्रत्यक्षणानुमानेन यदुक्तोऽर्थो न बाध्यते।

दृष्टोऽदृष्टेऽपि युक्ता स्यात् प्रवृत्तिस्तत एव तु॥२५॥ -योगबिन्दु -हरिभद्रसूरि

^{२४१}. विधयः प्रतिषेधाश्च भूयांसो तत्र वर्णिताः

एकाधिकारा दृश्यन्ते, कषशुद्धिं वदन्तिताम्॥१९८॥ -अध्यात्मोपनिषद् - उ. यशोविजयजी

^{२४२}. विधीनां च निषेधानां, योगक्षेमकरी क्रिया

वर्ण्यते यत्र सर्वत्र, तच्छास्त्रं छेदशुद्धिमत्॥२९॥ - अध्यात्मोपनिषद् - उ. यशोविजयजी

मुनि कायिकी आदि, अर्थात् मूलमंत्र आदि के विसर्जन की क्रिया में भी समिति और गुप्ति के पालन करे, तो फिर बड़े कार्यों का तो कहना ही क्या?"^{२४३} इसका तात्पर्य यही है कि साधु को प्रत्येक कार्य उपयोगपूर्वक करना चाहिए। उठना, बैठना, शयन करना, बोलना, आहार, विहार, निहार आदि सभी क्रियाएँ जयणापूर्वक करना चाहिए। स्वाध्याय धर्मदेशना आदि बड़े कार्यों में भी सदा पाँच समिति और तीन गुप्ति में अप्रमत्त रहकर ही साधुओं को करना चाहिए। निषेधरूप में छेदशुद्धि प्रमाद को उत्पन्न करें, ऐसा गरिष्ठ आहार एवं शय्यादि का सेवन नहीं करना चाहिए। अकाल में शस्त्रादि द्वारा देहत्याग नहीं करना चाहिए। उ. यशोविजयजी कहते हैं- "जिन शास्त्रों में उपसर्ग कथन और अपवाद कथन दोनों के प्रयोजन भिन्न-भिन्न हों, तो वे शास्त्र छेदशुद्धि वाले नहीं होते हैं, क्योंकि उनमें रहे हुए विधि और निषेध दोषग्रस्त हैं।"^{२४४}

अतः उत्सर्ग और अपवाद- दोनों मार्गों का उद्देश्य एक ही होना चाहिए। जैसे साधुओं को संयम पालन के लिए नवकोटि शुद्ध, अर्थात् बयालीस दोषरहित आहार ग्रहण करना चाहिए, यह उत्सर्ग मार्ग है, किन्तु विकट परिस्थितियों में कोई दूसरा उपाय नहीं होने पर यतनापूर्वक अनेषणीय आदि ग्रहण करना यह अपवाद है। जितना हो सके संयम में दोष कम लगे और कम से कम प्रायश्चित्त का कारण बने। इसी प्रकार अति गम्भीर परिस्थिति में अशुद्ध आहार आदि को संयम पालन के उद्देश्य से ही सजगता पूर्वक ग्रहण करना यह अपवाद मार्ग है। यह अपवाद मार्ग भी संयम की रक्षा के हेतु से है। जो दीर्घ संयमीजीवन का कारण है।

सामान्य रूप से कहे गए विधान उत्सर्ग तथा विशेष रूप से बताए गए विधि विधान अपवाद मार्ग कहलाते हैं। उपर्युक्त उदाहरण में उत्सर्ग और अपवाद-दोनों कथनों का उद्देश्य एक ही 'संयम की वृद्धि' है। मुनि यशोविजयजी ने अध्यात्मोपनिषद् की टीका अध्यात्मवैशारदी में कहा है- "अन्य दर्शनियों के शास्त्रों में उत्सर्ग का प्रयोजन अलग और अपवाद का प्रयोजन अलग होता है। जैसे

^{२४३} कायिकाद्यपि कुर्वीत गुप्तश्च समितो मुनिः

कृत्ये ज्यायसि किं वाच्यमित्युक्तं समये यथा ॥२२॥ - अध्यात्मोपनिषद् - उ. यशोविजयजी

^{२४४} अन्यार्थ किंचिदुत्सृष्टं, यत्रान्यार्थमपोद्यते।

दुर्विधिप्रतिषेधं तद् न शास्त्रं छेदशुद्धिमत् ॥२३॥ - अध्यात्मोपनिषद् - उ. यशोविजयजी

छान्दोग्योपनिषद् में उत्सर्ग कथन करते हुए कहा है कि “किसी भी जीव को मारना नहीं,”^{२४५} प्रयोजन -दुर्गति का निवारण।

याज्ञवल्क्यस्मृति में अपवाद कथन करते हुए कहा है कि वेदपाठी ब्राह्मण को बड़ा बैल या बड़ा अज अर्पण करना चाहिए, प्रयोजन - अतिथि की प्रीति। इस प्रकार विधि और निषेध का प्रयोजन अलग-अलग होने से कोई भी शास्त्रीय व्यवस्था यहाँ संगत नहीं होती है। इस प्रकार शास्त्रों की कषशुद्धि तथा छेदशुद्धि के निरीक्षण के बाद ताप परीक्षा करना भी आवश्यक है। उ. यशोविजयजी कहते हैं- “जिनशास्त्रों में सभी नयों के आश्रित विचारस्वरूप प्रबल अग्नि द्वारा तात्पर्य की मलिनता न हो, तो वह शास्त्र तापशुद्धि वाला कहलाता है।”^{२४६} धर्मबिन्दु ग्रंथ में हरिभद्रसूरि ने कहा है कि “पूर्वोक्त कष और छेद परीक्षा के परिणामी स्वरूप जीवादि के भावों की प्ररूपणा- यह शास्त्र की ताप-परीक्षा है।”^{२४७} इसका विशेष अर्थ करते हुए मुनिचंद्रसूरि कहते हैं- “जिन शास्त्रों में द्रव्यरूप में उत्पत्ति तथा विनाश से रहित नित्य तथा पर्यायरूप में प्रतिसमय अलग-अलग स्वभाव को प्राप्त करने के द्वारा अनित्य स्वभाव वाले जीवादि तत्त्वों की व्यवस्था बताई गई है, उन शास्त्रों में तापशुद्धि होती है, क्योंकि परिणामी आत्मा में तथाविध अशुद्ध पर्यायों को दूर करके ध्यान, अध्ययन आदि द्वारा शुद्ध पर्याय प्रकट होने से पूर्वोक्त कष और बाह्य क्रिया से शुद्धिस्वरूप छेद संभव हो सकता है।”^{२४८} आत्मा को एकान्त नित्य या एकान्त क्षणिक मान लें, तो कष तथा छेद सार्थक नहीं बन सकते हैं।

मुनि यशोविजयजी अध्यात्मवैशारदी नामक टीका में कहते हैं- “शास्त्ररूपी स्वर्ण की कषशुद्धि और छेदशुद्धि होने पर भी यदि तापशुद्धि नहीं हो, तो उन्हें नकली स्वर्ण की तरह अशुद्ध जानना चाहिए। ताप से शुद्ध होने पर ही शास्त्र शुद्ध कहलाता है।”^{२४९}

^{२४५}. न हिंस्यात् सर्वभूतानि - छान्दोग्योपनिषद् - ८

^{२४६}. यत्र सर्वनयात्मिन्विचारप्रबलाग्निना।

तात्पर्यश्यामिका न स्यात् तच्छास्त्रं तापशुद्धिमत् ॥२६॥ -अध्यात्मोपनिषद् - ३.

यशोविजयजी

^{२४७}. धर्मबिन्दु ग्रन्थ - हरिभद्रसूरि

^{२४८}. धर्मबिन्दु व्याख्याग्रन्थ पृष्ठ - ३८ - मुनिचंद्रसूरि

^{२४९}. अध्यात्मवैशारदी - मुनियशोविजयजी

माध्यस्थभावना और ज्ञान से सम्पन्न निर्मल बुद्धिवाले साधक शुद्धशास्त्रों के बताए अनुसार मोक्ष मार्ग की ओर गमन करते हैं। ऐसे साधक शास्त्र योगी कहलाते हैं।

शास्त्र की प्राप्ति होने पर भी अभव्य तथा अचरमावर्ती भव्य जीवों को शास्त्रयोग संभवित नहीं है, क्योंकि जो मोक्ष से जोड़े, वह योग कहलाता है, इसलिए अभव्यादि को मिले हुए शास्त्र भी उनको मोक्ष से नहीं जोड़ सकते हैं। अपुनर्बन्धक मार्गानुसारी जीवों को शास्त्रयोग संभव है, किंतु शास्त्रयोगशुद्धि संभव नहीं है, क्योंकि उन्हें अभी ग्रंथिभेद नहीं हुआ है। निर्मल सम्यक्त्व वाला व्यक्ति ही शास्त्रयोग की शुद्धि को प्राप्त कर सकता है।

विशुद्ध शास्त्रयोग तब ही सफल होता है जब साधक ज्ञानयोग की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करें, इसीलिए उपाध्याय यशोविजयजी के अनुसार 'शास्त्रयोग' की विवेचना के बाद अब 'ज्ञानयोग' का विवेचन किया जा रहा है।

उपाध्याय यशोविजयजी की दृष्टि में ज्ञानयोग

ज्ञानयोग बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। मोह का त्याग ज्ञान से ही होता है। जैसे राजहंस हमेशा मानसरोवर में मग्न रहते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी हमेशा ज्ञान में ही मग्न रहते हैं। उ. यशोविजयजी अध्यात्मसार में ज्ञानयोग की व्याख्या करते हुए कहते हैं- "ज्ञानयोग शुद्ध तप है, आत्मरति उसका एक लक्षण है। ज्ञानयोग इन्द्रियों को विषयों से दूर ले जाता है, इसलिए ज्ञानयोग मोक्षसुख का साधक तप है।"^{२५०} ज्ञानयोग ऐसा श्रेष्ठ तप है, जिसमें आत्मा के प्रति घनिष्ठ प्रीति तथा आत्मसम्मुख होने की उत्कृष्ट अभिलाषा होती है, इसलिए यह तप पुण्यबंध का निमित्त नहीं बनता है, बल्कि कर्मनिर्जरा का निमित्त बनता है। इन्द्रियों के विषय जीव को पौद्गलिक सुख की तरफ खींचते हैं, किन्तु ज्ञानयोग में पौद्गलिक सुखों की इस भव के लिए, या भवान्तर के लिए कोई अभिलाषा नहीं रहती है। इसमें सिर्फ मोक्षसुख की अभिलाषा रहती है। इसीलिए ज्ञानयोग का माहात्म्य विशेष है।

उ. यशोविजयजी ने अध्यात्मोपनिषद् में ज्ञानयोग का वर्णन करते हुए कहा है कि "प्रातिभज्ञान ही ज्ञानयोग है। यह योगजन्य अदृष्ट से उत्पन्न होता है।

^{२५०}. ज्ञानयोगस्तपः शुद्धमात्मरत्येकलक्षणम्
इन्द्रियार्थोन्मनीभावात् स मोक्षसुखसाधकः - अध्यात्मसार - उ. यशोविजयजी

जैसे दिवस और रात्रि से संध्या भिन्न है, उसी प्रकार केवलज्ञान और श्रुतज्ञान से प्रातिभज्ञान भिन्न है।”^{२५१} इसे अनुभव ज्ञान भी कहते हैं। यह मतिश्रुत का उत्तरभावी तथा केवलज्ञान का पूर्वभावी है।

मुनि यशोविजयजी अध्यात्मोपनिषद् की अध्यात्मवैशारदी नामक टीका में योगज अदृष्ट को स्पष्ट करते हुए कहते हैं- “जो मोक्ष के साथ जोड़े, इस प्रकार की सभी शुद्ध धर्मप्रवृत्तियों से उत्पन्न हुआ विशिष्ट पुण्यानुबंधी पुण्य पुष्कल कर्मनिर्जरा में सहायक होता है, उसी को योगज अदृष्ट कहते हैं। उससे प्रातिभ नाम का ज्ञान उत्पन्न होता है, वही ज्ञानयोग है।”^{२५२}

उ. यशोविजयजी ने षोडशक ग्रंथ की योगदीपिका नामक टीका में बताया है कि “प्रतिभा ही प्रातिभज्ञान कहलाती है।”^{२५३} यह मतिज्ञान का विशेष स्वरूप है। यह अदृष्टार्थ विषयक होता है। वास्तव में तो क्षपकश्रेणी के द्वारा मोक्षमार्ग का अनुसरण करने वाला प्रकृष्ट ‘ऊह’ नाम का ज्ञान ही प्रातिभज्ञान है। यह श्रुतज्ञान भी नहीं है, उसी प्रकार केवलज्ञान भी नहीं है तथा पाँच ज्ञानों के अतिरिक्त छठवाँ ज्ञान भी नहीं है। परंतु रात और दिन के बीच होने वाले अरुणोदय जैसा है। जैसे अरुणोदय रात या दिन से एकान्त भिन्न भी नहीं है, किन्तु दोनों में उसका समावेश भी नहीं होता है। यथासंभव क्षपकश्रेणी में तथाविध उत्कृष्ट क्षयोपशम वाले जीव को प्रातिभज्ञान उत्पन्न होने से उसका वास्तव में श्रुतज्ञानरूपी व्यवहार नहीं हो सकता है, उसी प्रकार क्षायोपक्षमिक होने के कारण तथा सर्वद्रव्यपर्याय विषयक नहीं होने के कारण वह केवलज्ञानस्वरूप भी नहीं है। हरिभद्रसूरि ने भी योगदृष्टिसमुच्चय में बताया है कि “प्रातिभज्ञान सर्वद्रव्यपर्यायविषयक नहीं होने से केवलज्ञान स्वरूप नहीं है।”^{२५४} उसी प्रकार प्रातिभज्ञान को अन्य दर्शनकारों ने ‘तारकनिरीक्षण ज्ञान’ के रूप में मान्य किया है। वाचस्पति मिश्र ने तत्त्ववैशारदी नामक टीका में कहा है कि प्रातिभज्ञान का मतलब है स्वयं की प्रतिभा से उत्पन्न हुआ उपदेश निरपेक्ष ज्ञान। यह संसार-सागर से पार होने का उपाय होने के कारण तारक कहलाता है।

- ^{२५१}. योगजादृष्टजनितः स तु प्रातिभसंज्ञितः
सन्ध्येव दिनरात्रिभ्यां केवलश्रुतयोः पृथक् ॥२॥ -अध्यात्मोपनिषद् -उ. यशोविजयजी
- ^{२५२}. अध्यात्मवैशारदी -भाग-२, पृ. १५५ -मुनियशोविजयजी
- ^{२५३}. प्रतिभैव प्रातिभं अदृष्टार्थविषयो मतिज्ञानविशेषः -योगदीपिका (षोडशकवृत्ति) - उ. यशोविजयजी
- ^{२५४}. योगदृष्टिसमुच्चयवृत्ति -हरिभद्रसूरि (पृ. ७१)

स्याद्वादकल्पलता में भी उ. यशोविजयजी ने प्रातिभज्ञान के विषय में चर्चा की है। उन्होंने बताया कि “केवलज्ञान के पूर्व तथा चार ज्ञान के प्रकर्ष के बाद में, होने वाला सचित्र आलोक समान प्रज्ञा आलोक नाम का विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है। उसका दूसरा नाम प्रातिभज्ञान भी है।”^{२५५}

ज्ञानयोग में निर्दिष्ट प्रातिभज्ञान क्षपकश्रेणी में ही प्राप्त होता है, कारण कि प्रातिभज्ञान सामर्थ्ययोग के साथ रहने वाला है।

अध्यात्मोपनिषद् में उ. यशोविजयजी ने प्रातिभज्ञान को ज्ञानयोग के रूप में स्वीकार किया है, जबकि अध्यात्मसार में उ. यशोविजयजी स्वयं ने तथा शास्त्रवार्तासमुच्चय में हरिभद्रसूरि ने तो आशंस दोष से रहित शुद्ध तप को ही ज्ञानयोग बताया है। इस प्रकार यहाँ यह शंका होती है कि इन ग्रंथों में एक ही तत्त्व के विषय में इस प्रकार विरोधी बातें क्यों कही गई हैं। इस शंका का समाधान करते हुए यशोविजयजी कहते हैं- अध्यात्मसार तथा शास्त्रवार्तासमुच्चय की टीका स्याद्वाद कल्पलता में ज्ञान से अपृथग्भूत ऐसे ध्यानरूप शुद्ध तप को ज्ञानयोग कहा है। पुष्कल निर्जरा के कारण के रूप में प्रसिद्ध होने से हरिभद्रसूरि ने भी प्रातिभज्ञान के बदले तप शब्द का प्रयोग किया है।

उ. यशोविजयजी अध्यात्मसार में ज्ञानयोगी की दशा का वर्णन करते हुए कहते हैं- “ज्ञानयोगी को इस लोक में कार्य करने का या कार्य को नहीं करने का भी कोई प्रयोजन नहीं होता है तथा सभी प्राणियों के प्रति समदृष्टि होती है। किसी के प्रति स्वार्थ या मोह नहीं होता है।”^{२५६} ज्ञानयोगी को इच्छा नहीं होती है, उसी प्रकार उसकी अनिच्छा भी नहीं होती है। कोई कार्य करने का प्रसंग आने पर वे कार्य करते भी हैं, किन्तु मन से उसमें जुड़ते नहीं हैं, उसमें लिप्त नहीं होते हैं। कार्य करने से, या नहीं करने से उनकी चित्तशुद्धि में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता है। ऐसे ज्ञानयोगी को किसी भी जीव के प्रति राग, द्वेष, स्वार्थ आदि नहीं होते हैं। वे संसार को मात्र साक्षीभाव से देखते हैं।

निर्द्वन्द्व आत्मा के स्वरूप का आनंद प्राप्त कराने वाले ऐसे अनुभवज्ञान का स्वरूप बताते हुए उ. यशोविजयजी कहते हैं- ‘अनुभव’- यह सुषुप्तिदशा नहीं है, क्योंकि

^{२५५}. प्रज्ञालोकश्च केवलज्ञानादयः सचित्राऽऽलोककल्पः

चतुर्ज्ञानप्रकभोत्तराकालभावी, प्रतिभापरनामा ज्ञानविशेषः - स्याद्वादकल्पलता स्तवक

-१-गाथा २१ पृ. ८३

^{२५६}. नैवं तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन

न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥६॥ -अध्यात्मसार - उ. यशोविजयजी

वह मोहशून्य है; उसी प्रकार सुप्त, अर्थात् स्वप्नदशा या जाग्रत दशा भी नहीं है, क्योंकि अनुभव संकल्प-विकल्पों से रहित है। अनुभव तो चौथी उजागर दशा है।^{२५७} प्रातिभज्ञान के काल में अनुभवदशा होती है, क्योंकि उस समय संकल्प-विकल्प मोहादि नहीं होते हैं। अनुभव चतुर्थ चैतन्य है।

उ. यशोविजयजी कहते हैं- “अनुभवज्ञान, अर्थात् प्रातिभज्ञान के बिना इन्द्रियों से अगोचर ऐसी शुद्धात्मा के स्वरूप का अनुभव सैंकड़ों शास्त्रों की युक्तियों द्वारा भी नहीं कर सकते हैं।”^{२५८} बुद्धि कल्पना से शास्त्रों को समझने वाले बहुत होते हैं, किंतु अनुभवज्ञानरूपी जीभ द्वारा शास्त्रों के रहस्यों का आस्वाद ग्रहण करने वाले बहुत कम होते हैं। उ. यशोविजयजी ‘शास्त्रयोग से ज्ञानयोग बलवान है’- इसी बात को एक सुन्दर रूपक द्वारा स्पष्ट करते हैं- “किसकी कल्पना रूपी कड़वी शास्त्ररूप दूधपाक में नहीं घूमती है? अर्थात् सभी की कल्पना शास्त्रों में विचरण करती हैं, किंतु शास्त्ररूपी दूधपाक के स्वाद का अनुभव तो ज्ञानयोगी ही अपनी अनुभवज्ञानरूपी जीभ से कर सकते हैं,”^{२५९} अर्थात् शास्त्रों का ज्ञान बाढ़ है और अनुभवज्ञान अन्तरंग है।

प्रत्येक शास्त्रमार्ग मोक्षमार्ग को बता सकता है, किन्तु मोक्षमार्ग में गति नहीं करने वाले को वह चला नहीं सकता है, आगे नहीं बढ़ा सकता है। मात्र ‘ज्ञानयोग’ से साध्य- ऐसी मोक्षमार्ग की साधना तो शब्द का विषय ही नहीं है। शास्त्र तो शब्दविशेष के समूह रूप हैं, इस कारण से शास्त्रों में अनुभवगम्य मार्ग को बताने का सामर्थ्य नहीं है। वास्तव में इस अवस्था में तो शास्त्र निवृत्त हो जाते हैं। प्रत्येक अनुभव मात्र गम्य विशेषताओं को बताने की तथा मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति कराने की शास्त्रों में शक्ति नहीं है। केवल शास्त्रों से ही केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती, तो चौदह पूर्वधर निगोद में नहीं जाते। शास्त्र तो आत्मा का

^{२५७}. न सुषुप्तिरमोहत्वान्नापि च स्वापजोगरौ
कल्पनाशिलपविश्रान्तेस्तुर्यवानुभवो दशा ॥२४॥ - अध्यात्मोपनिषद् /ज्ञानसार - उ.

यशोविजयजी

^{२५८}. अतीन्द्रियं परं ब्रह्म, विशुद्धानुभवं दिना
शास्त्रयुक्तिशतेनापि नैवगम्यं कदाचन ॥२१॥ - अध्यात्मोपनिषद् /ज्ञानसार - उ.

यशोविजयजी

^{२५९}. केषां न कल्पनादर्षी शास्त्रक्षीरान्नाग्राहिनी
विरलास्तद्रसास्वाद विदोऽनुभवजिह्वया ॥२२॥ - अध्यात्मोपनिषद् /ज्ञानसार - उ.

यशोविजयजी

सामान्य रूप से परिचय कराता है। विशेष रूप से आत्मा का साक्षात्कार कराने में शास्त्र समर्थ नहीं है।

हाथ तो भोजन को मुँह तक लाने में मदद करते हैं, किन्तु उसका स्वाद जीभ ही अनुभव करती है। शास्त्रयोग हाथ के समान हैं और ज्ञानयोग जीभ के समान। आत्मा के परोक्ष ज्ञान की अपेक्षा आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान ही कर्मोदयजन्य भ्रमणाओं को दूर करने का सामर्थ्य रखता है। ज्ञान के साथ तादात्म्य ही मोक्ष है।

आत्मसाक्षात्कार की इच्छा वाले साधक को ज्ञान द्वारा अन्तर्मुख होना चाहिए, ज्ञानगर्भित अन्तर्मुखता को प्राप्त करना चाहिए। उ. यशोविजयजी कहते हैं- “अत्यंत मधुर ज्ञानानंद रूपी अमृत का आस्वादन जिसने कर लिया है, उसका चित्त जहर जैसे विषयों में आकर्षित नहीं होता है, अर्थात् विषयों के प्रति राग नहीं होता है।”^{२६०}

ज्ञान तो अनेक को होता है, किन्तु प्रश्न यह उठता है कि ‘ज्ञानयोग’ किसको होता है? अर्थात् ज्ञानयोग का अधिकारी कौन? अभव्यों के पास भी तो पूर्व से कुछ अधिक ज्ञान होता है, किन्तु मिथ्यात्व होने के कारण उनका ज्ञान अज्ञानरूप ही है। अपुनर्बन्धक जीवों का जो बोध है, वह सहजमलहास के कारण से ज्ञान के बीजरूप है। सम्यग्दृष्टि आदि जीवों के पास जो बोध है, वह वास्तविक ज्ञानरूप हैं, क्योंकि ग्रंथिभेद होने पर उसकी विपरीत मति नष्ट हो जाती है। आठवें गुणस्थानक से बारहवें गुणस्थानक तक रहे हुए जीवों के पास निश्चयनय से ज्ञानयोग है। इसका दूसरा नाम प्रातिभज्ञान है। ज्ञानयोग की परिपूर्ण शुद्धि या सार्थकता तो केवल ज्ञान में है।

ध्यानदशा में ज्ञान मुख्य होता है और व्यवहारदशा में क्रिया मुख्य होती है, इसलिए आगे उ. यशोविजयजी की दृष्टि में ‘क्रियायोग’ का वर्णन है।

उ. यशोविजयजी की दृष्टि में क्रियायोग

‘ज्ञानस्य फलं विरतिः’- ज्ञान का फल विरति है। क्रिया बिना ज्ञान निरर्थक है। यह गंधे द्वारा चंदन का भार ढोने के समान है। क्रियासहित ज्ञान ही हितकारी है। उ. यशोविजयजी ने ज्ञानसार में क्रियायोग की महत्ता बताते हुए कहा

^{२६०}. आस्वादिता सुमधुरा येन ज्ञानरतिः सुधा

न लगत्येव तत्तेतो विषयेषु विषेष्विव ॥७॥ -अध्यात्मोपनिषद् - उ. यशोविजयजी

है- “क्रियारहित अकेला ज्ञान मोक्षरूपी फल को साधने के लिए असमर्थ है। मार्ग को जानने वाला भी कदम आगे बढ़ाए बिना, अर्थात् गति किए बिना इच्छित नगर में नहीं पहुँच सकता है।”^{२६१}

जहाँ क्रिया होती है, वहाँ ज्ञान होता है और जहाँ ज्ञान होता है, वहाँ क्रिया होती है। पुष्प में जैसे सुगंध समाई हुई है, वैसे ही ज्ञान में क्रिया समाविष्ट है। यह बात जरूर है कि एक गौण रूप में होता है, तो दूसरा प्रध्वानरूप में। कर्मयोग में क्रिया प्रधान है और ज्ञान गौण, ज्ञानयोग में ज्ञान प्रधान है और क्रिया गौण। कर्मयोग की योग्यता तब तक नहीं आती है, जब तक ज्ञानयोग की योग्यता नहीं आती है।

‘नाणचरणेण मुक्खो’- ज्ञान सहित चारित्र्य द्वारा ही मोक्ष होता है। इसी बात को अधिक स्पष्ट करते हुए उ. यशोविजयजी कहते हैं- “दीपक स्वयं प्रकाशरूप है, तो भी जैसे तेल डालने आदि की क्रिया करनी पड़ती है, उसी प्रकार स्वयं के स्वभाव में स्थित रहने की क्रिया तो पूर्ण ज्ञानी को भी करना जरूरी है।”^{२६२}

शास्त्रकार ने जिस प्रकार का क्रियामार्ग बताया है, श्रद्धा सहित उस मार्ग में प्रवृत्ति करना क्रियायोग कहलाता है।

जिनशासन में कही हुई चरण सत्तरी एवं करण सत्तरी रूप सभी आचार मोक्ष के उपाय होने से योगरूप ही हैं, किंतु उ. यशोविजयजी ने ज्ञानसार में “स्थान, वर्ण, अर्थ, आलम्बन और एकाग्रता- ये पाँच प्रकार के योग बताए हैं, जिनमें से स्थान और वर्ण को उन्होंने कर्मयोग कहा है।”^{२६३} उन्होंने अध्यात्मोपनिषद् में कहा है- “ज्ञानयोग का आराधक प्रारंभ में जिन साधनों को ग्रहण करता है, वे ही साधन योगसिद्ध पुरुष के स्वभाव से लक्षण बन जाते

^{२६१} क्रियाविरहितं हन्त! ज्ञानमात्रमनर्थकम्
गतिं बिना पथज्ञोऽपि नाप्नोति पुरमीप्सितम् ॥२॥ -क्रियाष्टक -ज्ञानसार -उ.

यशोविजयजी

^{२६२} स्वानुकूलां क्रिया काले ज्ञानपूर्णाऽप्यपेक्षते
प्रदीपः स्वप्रकाशोऽपि तैलपूर्वादिकं यथा ॥३॥ -क्रियाष्टक -ज्ञानसार

^{२६३} मोक्षेणयोजनाद्योमः सर्वोप्याचार इष्यते ।
विशेषस्थानवर्णार्थालम्बनैकाग्रयगोचरः ॥११॥ - योगाष्टक -ज्ञानसार -उ. यशोविजयजी

हैं,"^{२६४} अर्थात् वे श्वास की तरह सहज स्वभावभूत बन जाते हैं। सम्यग्दृष्टि प्रथम संवर कार्य की रुचिवाला होता है। वह देशविरति तथा सर्वविरति ग्रहण करने रूप क्रिया का आश्रय लेता है। निर्मल चारित्रधारी आत्मज्ञानी भी केवलज्ञान को प्राप्त करने की रुचि वाला होने से शुक्लध्यान में चढ़ने रूप क्रिया का आश्रय लेता है। केवलज्ञानी भी सर्वसंवर के पूर्ण आनंद रूप मोक्षप्राप्ति के अवसर पर योगनिरोधरूप क्रिया करते हैं, इसलिए कहा गया है कि ज्ञानी को भी क्रिया की अपेक्षा रहती है। ज्ञानसार में क्रिया की आवश्यकता पर जोर देते हुए कहा गया है- "गुणों की वृद्धि के लिए और गुणों से पतित न हो जाए इसलिए क्रिया करनी चाहिए।"^{२६५} कर्मयोग दोषों के निवारण के लिए तथा ज्ञानयोग की वृद्धि के लिए सुंदर भूमिका निभाता है, क्योंकि ज्ञानयोग में चित्त की शुद्धि की प्रथम आवश्यकता है और उस आवश्यकता की पूर्ति कर्मयोग करता है। शुभक्रिया द्वारा सम्यग्ज्ञानादि संवेगनिर्वेदरूप प्रकट हुए भाव स्थिर रहते हैं और नहीं प्रकटे हुए गुण धर्मध्यान, शुक्लध्यान आदि के द्वारा प्रकट हो जाते हैं। जैसे चंडस्त्र के शिष्य को गुरुभक्ति से, कुरगडु मुनि को अन्य तपस्वी मुनियों के तप के बहुमान रूपी क्रिया के द्वारा परमानंद की प्राप्ति हुई। उ. यशोविजयजी कहते हैं- "क्षायोपशमिक भाव में रहकर जो शुभक्रिया करने में आती है, तो उस क्रिया द्वारा गिरे हुए शुभभावों की फिर से प्रकृष्ट वृद्धि होती है," अर्थात् सदनुष्ठान से शुभभाव उत्पन्न होते हैं, किन्तु भवितव्यता की वक्रता और निकाचित कर्म के उदय से योगी कभी शुभ परिणाम की धारा से भ्रष्ट हो जाता है। ऐसा होने पर भी नदिषेण, अषढाभूति, आर्द्रकुमार आदि की तरह संयम से पतित होने पर भी पूर्व प्राप्त शुभभाव वापस वृद्धि को प्राप्त होते हैं, क्योंकि इन जीवों में पहले की गई विधि-आदर-यतना-बहुमानपूर्वक धर्मक्रिया से उत्पन्न शुभ अनुबंध विद्यमान हैं। इस प्रकार आत्मसाक्षी से पूर्व में की गई धर्मक्रिया जीव को शुभ अनुबंध द्वारा फिर से निर्मल अध्यवसाय के शिखर पर पहुँचा देती है। इसीलिए उ. यशोविजयजी ने कहा है- "गुणवृद्धि के लिए, अथवा स्वलना न हो इसलिए क्रिया करनी चाहिए। एक अखण्ड संयमस्थान तो जिनेश्वर भगवंत को ही होता है।"^{२६६} ज्ञान से नष्ट हों, ऐसे कर्मों के क्षय के

^{२६४} यान्येव सधनान्यादौ, गृहणीयान्ज्ञानसाधकः।

सिद्धयोगस्य तान्येव, लक्षणानि स्वभावात्: 119।। -अध्यात्मोपनिषद् - उ. यशोविजयजी

^{२६५} क्षायोपशमिके भावे, या क्रिया क्रियते तथा।

पतितस्यापि तद्भाव प्रवृद्धिर्जायते पुनः 119७।।

-(क) अध्यात्मोपनिषद् - उ. यशोविजयजी (ख) ज्ञानसार - क्रियाष्टक -

उ. यशोविजयजी

^{२६६} गुणवृद्धयै ततः कुर्यात् क्रियामस्खलनाय वा

लिए ज्ञान जरूरी है और जो क्रिया से नष्ट हों, ऐसे कर्मों के क्षय के लिए क्रिया उपयोगी है। इस कारण से ही सभी कर्मों के क्षय के लिए ज्ञान और क्रिया का समुच्चय जरूरी है। गुणों की पूर्णता प्राप्त न हो, तब तक शास्त्रोक्त क्रिया करने योग्य है। मात्र इतना ही नहीं, पूर्वगुणवाले को भी दूसरों के उपकार के लिए क्रिया करना होती है। जैसे केवलज्ञानी अगर दोषित गोचरी का उपभोग करे या निष्कारण विहार आदि नहीं करें, तो भी उनको कोई कर्मबंध नहीं होगा, किन्तु दूसरे धर्म से च्युत न हों, उन्हें धर्मश्रवण का अवसर मिले इसलिए वे विहार करते हैं। स्वयं को केवलज्ञान प्राप्त होने पर भी वे समवसरण में गणधरों की देशना में भी लोगों की आस्था बढ़े, इसलिए वहाँ उपस्थित रहते हैं। इस प्रकार स्वयं के आवश्यक नहीं होने पर भी परोपकार के लिए केवलज्ञानी भी समयानुसार उचित प्रवृत्ति करते हैं, तो फिर जिन्हें केवलज्ञान नहीं हुआ है, ऐसे तत्त्वज्ञानी को तो नियमतः शास्त्रोक्त उचित प्रवृत्ति का आचरण करना चाहिए। उ. यशोविजयजी कहते हैं- “जिस तरह छद्मस्थकालीन ज्ञान और क्रिया परस्पर सहकारी है उसी तरह क्षायिकज्ञान और क्रिया भी परस्पर सहकारी है।”^{२६७} अंधे और पंगु के दृष्टान्त की तरह क्षायोपशमिक ज्ञान और क्षायोपशमिक सत्क्रिया परस्पर सहकारी है। कर्मनिर्जरा के लिए केवलज्ञान की तरह यथाख्यातचारित्र भी आवश्यक है। मोक्षप्राप्ति के समय मात्र केवलज्ञान या मात्र यथाख्यातचारित्र ही विद्यमान नहीं रहता है, किन्तु दोनों ही विद्यमान रहते हैं, इसलिए ‘ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः’ कहा है, अर्थात् ज्ञान और क्रिया का परस्पर सहकार ही मोक्ष का हेतु है। तीर्थंकर स्वयं भी क्रिया करते हैं, इस बात को उ. यशोविजयजी ने अध्यात्मोपनिषद् में स्पष्ट किया है। “आपकी यात्रा किस प्रकार की है? इस प्रकार का प्रश्न सोमिल के द्वारा पूछने पर भगवान ने सत्, तप, नियम आदि के प्रति स्वयं की यतना को निश्चित रूप से यात्रास्वरूप बताई।”^{२६८} इस बात का मुनि यशोविजयजी अपनी अध्यात्मवैशारदी नामक टीका में तात्त्विक अर्थघटन करते हुए कहते हैं- तीर्थंकर को केवली अवस्था में तप, नियम आदि कोई भी योगसाधना कक्षा के प्रीति भक्ति और वचन अनुष्ठान के रूप में संभव नहीं है, तो भी असंग अनुष्ठान के रूप में

एकं तु संयमस्थानं जिनानामवतिष्ठते ॥१८॥

-(अ) अध्यात्मोपनिषद् -उ. यशोविजयजी (ब) ज्ञानसार -नवाँ अष्टक

^{२६७} यथाछद्मस्थिके ज्ञानकर्मणी सहकृचरे ।

क्षायिके अपि विज्ञेये तथैव मतिशालिभिः ॥३६॥ -अध्यात्मोपनिषद् -उ. यशोविजयजी

^{२६८} अतएव जगौ यात्रां सप्तपोनियमादिषु यतनां सोमिलप्रश्ने, भगवान् स्वस्थ निश्चिताम् ॥२॥ - अध्यात्मोपनिषद् - उ. यशोविजयजी

सभी योग स्वरूप से केवली अवस्था में भी उपस्थित हैं। जैसे भगवान् महावीर को केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद जघन्य से रोज एकासना रूप तप था और अंत समय में दो-दो उपवास का तप था। पंच महाव्रतस्वरूप नियम भी केवली तीर्थंकर को होते हैं। बयालीस दोषों से रहित गौचरी आदि रूप संयम भगवान में होता है। आत्मानुभवरूप स्वाध्याय भी तीर्थंकर द्वारा सर्वदा किया जाता है, उसी प्रकार धर्मकथारूप स्वाध्याय प्रतिदिन दो प्रहर तक होता है। दीक्षा लेते समय जीवनपर्यंत की सामायिक उच्चरते हैं, अतः प्रथम सामायिक नाम का आवश्यक होता ही है। भगवान देशना में वर्तमान उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी में हुए चौबीसों तीर्थंकरों के नाम देहमान आदि की प्ररूपणा करते हैं। देशना के समय 'नमो तित्थस्स' कहकर सिंहासन पर बैठते हैं। तीर्थ श्रमणप्रधान संघस्वरूप भी है, इसलिए गुरुतत्त्व भी तीर्थस्वरूप है, इससे वंदन नाम का तीसरा आवश्यक भी भगवान में संगत होता है। सर्वथा पाप नहीं करने रूप मूल प्रतिक्रमण तो नियम से होता ही है। इस प्रकार चौथा प्रतिक्रमण आवश्यक भगवान में होता है। संपूर्ण रूप से देह का ममत्व छोड़ने रूप नैश्चयिक कायोत्सर्ग भगवान में सदा-सर्वदा होता है। भगवान् को सर्वसावद्य का नैश्चयिक पचक्खाण होता ही है, अतः छठवाँ पचक्खाण आवश्यक भी होता है।^{२६६} इस प्रकार असंग अनुष्ठान के रूप में सम्पूर्ण ज्ञानी को भी क्रियायोग रहता ही है। छाया की तरह क्रिया ज्ञान के साथ ही चलती है।

अब जिज्ञासा यह उठती है कि ज्ञान की तरह ही क्रिया भी मोक्षमार्ग में सहायक है, तो अभव्यादि जीव भी दीक्षा लेकर निरतिचार चारित्र का पालन करते हैं, तो भी उनका धर्मव्यापार योगरूप क्यों नहीं होता है? इसका कारण यह है कि उनकी क्रिया उन्हें मोक्षमार्ग पर एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा सकती है। अभव्यादि का धर्मव्यापार भावतः नहीं होने के कारण परिशुद्ध नहीं होता है। वह जो भी क्रिया करता है, पौद्गलिक सुखों की प्राप्ति के लिए ही करता है। उसके मन में मोक्ष के प्रति श्रद्धा ही नहीं होती है, इसलिए अभव्यादि की क्रिया 'क्रियाकाण्ड' कहलाती है 'क्रियायोग' नहीं कहलाती है। उनका चारित्र द्रव्यचारित्र ही कहलाता है।

अपुनर्बन्धक आदि जीवों में क्रियायोग का बीज होता है, किंतु क्रियायोग नहीं होता है। अविरतिधर सम्यग्दृष्टि को प्रतिक्रमण आदि क्रियायोग संभव होने पर भी क्रियायोग की शुद्धि संभव नहीं है, क्योंकि उन्हें चारित्रमोहनीय कर्म का विशेष उदय रहता है। क्रियायोग की शुद्धि तो पाँचवें गुणस्थानक से ही प्रारम्भ

^{२६६}. अध्यात्मवैशारदी -अध्यात्मोपनिषद् टीका- मुनि यशोविजयजी

होती हैं, क्योंकि व्रतधारी श्रावकों और साधुओं में क्रमशः अप्रत्याख्यानी तथा प्रत्याख्यानी चारित्रमोहनीय कर्म का प्रबल क्षयोपशम रहता है।

कर्मयोग और ज्ञानयोग इमारत के समान तथा साम्ययोग नींव के समान है। यदि नींव के बिना इमारत बनाएं, तो वह टिक नहीं सकती हैं, उसी प्रकार साम्ययोगरूपी नींव के बिना ज्ञान और क्रियारूपी इमारत की महत्ता नहीं है, इसलिए अब साम्ययोग का वर्णन किया जा रहा है।

उ. यशोविजयजी की दृष्टि में साम्ययोग

प्रत्येक कार्य का कोई न कोई हेतु अवश्य होता है। यह प्राचीन कहावत है कि- 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते', अर्थात् प्रयोजन बिना मूर्ख भी प्रवृत्ति नहीं करता है। उदाहरणार्थ व्यापार करने का हेतु धन कमाना है। माल की बिक्री तो बहुत की, लेकिन मुनाफा कुछ नहीं हुआ, तो वह व्यापार या पुरुषार्थ व्यर्थ ही कहा जाएगा। उसी प्रकार ज्ञान भी बहुत प्राप्त क्रिया तथा तप, जप, व्रत संयमादि अनेक क्रियाएँ की, किन्तु साम्ययोग को नहीं साधा, समता प्राप्त नहीं की तो सब व्यर्थ है। मोक्षमार्ग में केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए साधने योग्य सर्वश्रेष्ठ वस्तु 'समता' है। समभाव के बिना सभी क्रियाएँ वस्तुतः 'छार उपर लीपण' जैसी है। विकाररहित और शत्रु तथा मित्र पर समान, राग-द्वेष से रहित परिणाम उसे शम कहते हैं। उपाध्याय यशोविजयजी ने ज्ञानसार में कहा है कि "ध्यानरूपी वृष्टि से दयारूपी नदी में साम्य या समतारूपी उफान आने पर नदी के किनारे पर रहे हुए विकाररूपी वृक्ष जड़ से नष्ट हो जाते हैं, बह जाते हैं।"^{२७०} कहने का तात्पर्य यह है कि एक बार जिसके जीवन में समता ने प्रवेश कर लिया है, फिर उसके हृदय से काम-क्रोधादि विकार निकल जाते हैं तथा वह विकार रहित हो जाता है। अध्यात्मज्ञान का प्रथम बीज समता है। यह संसार जन्म, जरा, मृत्यु, आधि, व्याधि जैसे दुःखों से भरपूर है। यहाँ सुख का अनुभव कैसे करें? इस प्रश्न का समाधान करते हुए उ. यशोविजयजी कहते हैं- स्वर्ग का सुख तो दूर है और मोक्ष का सुख भी बहुत दूर है, परंतु समता का सुख तो हमारे मन के भीतर ही रहा हुआ

^{२७०} ध्यानवृष्टेर्दयानद्याः शमपूरे प्रसर्पति ।

विकारतीरवृक्षाणां मूलादुन्मूलनं भवेत् ॥४॥ -शमाष्टकम् -ज्ञानसार - उ. यशोविजयजी

है, जिसे स्पष्ट रूप से अनुभव कर सकते हैं।^{२७१} समता का आस्वादन सम्पूर्ण रूप से कर सकते हैं, इसलिए समता में रमण करने वाले के लिए यहीं स्वर्ग है तथा यहीं मोक्ष हैं, प्रशम-यह आत्मा का गुण है। गुण और गुणी में अभेद होने से प्रशम भाव का साक्षात्कार ही आत्मा का साक्षात्कार है। सम्यग्दृष्टि जीव को उसका अनुभव होता है। इस साम्ययोग का आनंद आत्मा से सीधा प्रकट होता है, इसलिए यह भोगजन्य सुख की तरह पराधीन नहीं है। न इसका क्षय होता है और न ही यह दुःख से मिश्रित है। इस अपूर्व आनंद को प्राप्त करने के बाद साधक को अन्य किसी आनंद की अपेक्षा नहीं रहती है। उ. यशोविजयजी कहते हैं- “समतारूपी सागर में डुबकी लगाने वाले योगी को बाह्य सुख में आनंद नहीं आता है। जिसके घर में कल्पवृक्ष प्रकट हो गया हो, वह अर्थ का इच्छुक व्यक्ति धन के लिए बाहर क्यों भटकें?”^{२७२} वैराग्यरति नामक ग्रंथ में कहा गया है कि परमार्थिक योगियों को मोहनीयकर्म की ‘रति’ नामक नोकषायरूप कर्मप्रकृति क्षीण हो जाती है तथा साम्यसुख की प्राप्ति हो जाती है। इन दो कारणों से उनको विषयभोग में रति उत्पन्न नहीं होती है। योगबिन्दु में हरिभद्रसूरि ने कहा है- “अज्ञान द्वारा परिकल्पित इष्ट अनिष्ट वस्तुओं की यथार्थता का सम्यक् बोध हो जाने से उधर का आकर्षण समाप्त हो जाता है, निस्पृहता आ जाती है, अपेक्षाएँ समाप्त हो जाती हैं और सबके प्रति जो समानता का भाव उत्पन्न होता है, उसे ही समता कहते हैं। समता रस में निमग्न होने पर उसके रागादि मल नष्ट हो जाते हैं। साम्ययोग के प्राप्त हो जाने पर व्यक्ति की वृत्ति में एक ऐसा वैशिष्ट्य उत्पन्न होता है कि वह प्राप्त ऋद्धियों, विभूतियों या चामत्कारिक शक्तियों का भी प्रयोग नहीं करता है। उसके सूक्ष्मकर्मों का क्षय होने लगता है। संसाररूपी सागर को पार करने के लिए समता नाव के समान है।

शास्त्रों में सिद्ध के पन्द्रह भेद बताए गए हैं उसमें एक भेद अन्यलिंग सिद्ध का भी आता है। जैनागमों के अनुसार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय की आराधना करके जीव मोक्ष प्राप्त करता है, किंतु जो जैन नहीं है, अन्य धर्म का पालन करता है तथा सम्यग्दर्शनादि शब्दों से परिचित भी नहीं है, तो वह

^{२७१} दूरे स्वर्गसुखं मुक्तिपदवी सा दवीयसी।

मनः संनिहितं दृष्टं स्पष्टं तु समतासुखम् ॥१३॥ -समताअधिकार- अध्यात्मसार - उ.

यशोविजयजी

^{२७२} अन्तर्निमग्नः समतासुखाधौ, बाह्ये सुखे नो रतिमेति योगी

अदत्त्यटव्यां क इवार्थलुब्धो, गृहे समुत्सर्पति कल्पवृक्षे ॥५॥ -अध्यात्मोपनिषद् - उ.

यशोविजयजी

व्यक्ति सिद्ध किस प्रकार होता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उ. यशोविजयजी अध्यात्मसार में कहते हैं- “अन्यलिङ्गी आदि जो सिद्ध होते हैं, उनका आधार समता ही है। समता द्वारा रत्नत्रय के फल की प्राप्ति हो जाने से उसमें भावजैनत्व उत्पन्न होता है।” जो द्रव्य से जैन नहीं हो, किन्तु जिनके रागद्वेष से रहितता का गुण, अर्थात् साम्ययोग का गुण विकसित हो गया है, तो उनमें रत्नत्रय के फलस्वरूप भावजैनत्व प्रकट हो ही जाता है।

शीतल शुद्ध पानी की झील में कोई व्यक्ति डुबकी लगाए और तैरने का आनंद ले, तो उसको तीन प्रकार के लाभ होते हैं- (१) आँखों को ठंडक मिलती है और आँखें निर्मल हो जाती हैं। (२) मस्तिष्क में चढ़ी हुई गरमी दूर हो जाती है और शांति तथा शीतलता का अनुभव होता है। (३) शरीर का मल दूर हो जाता है और स्वस्थता का अनुभव होता है। उ. यशोविजयजी कहते हैं- “समतारूपी अमृत की झील में डुबकी लगाए, तो उसका आँखों में रहा हुआ क्रोध रूपी ताप का क्षय हो जाता है। चित्त शान्त हो जाता है तथा अविनय के कारणभूत अहंरूपी मल का नाश हो जाता है।”^{२७३}

बाह्य क्रियायोग साम्यभाव की प्राप्ति के लिए बताया गया है। जैसे कोई व्यक्ति यदि चिंतामणि रत्न को कौए को उड़ाने के लिए फेंक देता है तथा श्रेष्ठ हाथी से लकड़ियों की ढुलाई करवाता है, स्वर्ण की थाल से धूल भरकर फेंकता है, तो वह व्यक्ति मूर्ख कहलाता है, क्योंकि वह उन वस्तुओं का अवमूल्यन कर रहा है, उसी प्रकार बाह्य क्रियायोग को साम्ययोग का साधन बनाने के बदले यशः कीर्ति का साधन बनाकर अपने-आपको कृतार्थ माने, तो वह जीव क्रियायोग का अवमूल्यन कर रहा है। उ. यशोविजयजी कहते हैं कि ज्ञान, ध्यान, तप, शील, सम्यक्त्व से युक्त साधु उस गुण को प्राप्त नहीं कर सकता है, जिस गुण को एक समभाव से युक्त साधु प्राप्त करता है।^{२७४} संप्रति मुनि यशोविजयजी ने उ. यशोविजयजी की इस बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि समता के बिना ज्ञान ध्यान आदि से जो गुण प्राप्त होते हैं, वे निरनुबन्ध होते हैं, जबकि समता या समाधि से प्राप्त होने वाले आत्मगुण सानुबंध होने के कारण सर्वोत्कृष्ट होते हैं और वे गुण मोक्ष प्राप्ति में अति सहायक हैं। जिसे

^{२७३} दुःशोस्मरविषं शुष्येत् क्रोधतापः क्षयं व्रजेत् ।

औद्धत्यमलनाशः स्यात् समतामृतमज्जनात् ॥१४॥ -समताधिकार, अध्यात्मसार -उ.

यशोविजयजी

^{२७४} ज्ञान ध्यान तपः शील-सम्यक्त्व सहितोऽप्यहो ।

तं नाप्नोतिगुणं साधुर्यमाप्नोति शमान्वितः ॥५॥ -शमाष्टक -ज्ञानसार - उ. यशोविजयजी

सम्यग्दर्शन होता है, उसे अनंतानुबंधीकषाय के क्षयोपशम से प्राप्त होने वाली समता होती है, लेकिन समकित्ती को अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान कषाय के विशिष्ट क्षयोपशम से प्राप्त होने वाली समता नहीं होती हैं। उ. यशोविजयजी ने प्राथमिक कक्षा के साधुओं की अपेक्षा से उपर्युक्त बात कही है।

गंदे पानी में फिटकरी डालने से जैसे पानी शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार धर्मक्रिया रूपी पानी में समतारूपी फिटकरी का मिश्रण होने से वह शुद्ध हो जाता है। सर्वोच्च समता को प्राप्त करना साधारण नहीं है, किंतु आध्यात्मिक मार्ग पर जिसने अपने कदम आगे बढ़ाए हैं, वे प्रबल पुरुषार्थ करके गजसुकुमाल; मेतारजमुनि, दमदन्तमुनि आदि की तरह साम्ययोग को प्राप्त कर सकते हैं।

साम्यभाव तो अभव्य आदि में भी हो सकता है, किंतु अभव्य आदि में साम्ययोग नहीं हो सकता है। अभव्यादि भी यथाप्रवृत्तिकरण कर सकता है। ग्रथिदेश के समीप अवस्था में उसे श्रुतसम्यक्त्व, दीपकसम्यक्त्व और उत्कृष्ट द्रव्यचारित्र के प्रभाव से उसमें भी साम्यभाव सुलभ है, किंतु उसका साम्यभाव उसे मोक्ष से नहीं जोड़ सकता है, अर्थात् मोक्ष की ओर गति नहीं करा सकता है। योग तो उसे ही कहते हैं, जो मोक्ष से जोड़े, इसलिए अभव्य का साम्यभाव साम्ययोग नहीं कहलाता है। आ. हरिभद्रसूरि ने योगबिन्दु में पूर्वसेवारूप, अर्थात् गुरुदेवादि गुरु आदि के पूजन, सदाचार, तप, अद्वेष आदि रूप बताए हैं। उनसे अपुनर्बन्धक आदि जीवों को भी साम्ययोग संभव हो सकता है, क्योंकि इनका साम्यभाव इनको मोक्ष के साथ जोड़ने में सहायक बनता है, लेकिन हेय उपादेय आदि का सम्यग्ज्ञान तथा स्वानुभूति नहीं होने के कारण इनके साम्ययोग में शुद्धि नहीं होती है।

सम्यग्दृष्टि जीव वेद्यसंवेद्यपद में रहते हैं, अर्थात् उसे हेय उपादेय की संवेदना रहती है, किंतु अप्रत्याख्यानीकषाय आदि का उदय होने से तथाविध साम्ययोग की शुद्धि नहीं होती है। यहाँ जिस साम्ययोग की चर्चा की गई है, वह तो परम मुनियों में ही होता है। वे ही इस साम्ययोगरूपी अमृत का आस्वादन करते हैं।

पंचम अध्याय

ज्ञानयोग की साधना

ज्ञान को आत्मा का नेत्र कहा गया है। जैसे नेत्रविहीन व्यक्ति के लिए सारा संसार अंधकारमय है, उसी प्रकार ज्ञानविहीन व्यक्ति संसार के वास्तविक स्वरूप को नहीं जान पाता है। भौतिक जीवन की सफलता और आत्मिक जीवन की पूर्णता के लिए प्रथम सीढ़ी ज्ञान की प्राप्ति है। जीवन की समस्त उलझनों, अशान्ति सुख-दुःख, राग-द्वेष; इन सभी का मूलकारण ज्ञान का अभाव ही है। बिना ज्ञान के न तो जीवन सफल होता है, न ही सार्थक। जो व्यक्ति अपने जीवन को सफल बनाना चाहता है, उसे ज्ञानार्जन के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए। जीवन तब ही सार्थक हो सकता है, जबकि उसकी गति, उसकी दिशा और उसका पथ सही हो और इनका सम्यक् निर्धारण ज्ञान के द्वारा ही किया जा सकता है ज्ञान के समान अन्य कोई निधि नहीं है। सूचनात्मक ज्ञान वस्तुतः 'ज्ञान' की श्रेणी में नहीं आता है। यहाँ जिस ज्ञान की चर्चा की जा रही है, वह ज्ञान आध्यात्मिक ज्ञान है और मोक्षमार्ग से जोड़ने वाला है। पिछले अध्याय में उ. यशोविजयजी की दृष्टि में ज्ञानयोग-इस विषय की अतिसंक्षिप्त विवेचना है।

यहाँ ज्ञानयोग का विस्तृत विवेचन किया जा रहा है-

ज्ञान के विभिन्न स्तर एवं प्रकार

जैनदर्शन में ज्ञान के पाँच प्रकार बताए गए हैं-

१. मतिज्ञान (आभिनिबोधिक ज्ञान)
२. श्रुतज्ञान
३. अवधिज्ञान
४. मनःपर्यवज्ञान और

५. केवलज्ञान^{२७५}

इनमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष ज्ञान है और शेष तीन प्रत्यक्ष ज्ञान हैं।

जिसके द्वारा तत्त्व का यथार्थ स्वरूप जाना जाए, उसे ज्ञान कहते हैं। 'ज्ञायते परिच्छिद्यते वस्त्वनेति ज्ञानम्', अर्थात् जानना ज्ञान है, या जिसके द्वारा जाना जाए, उसे ज्ञान कहते हैं।

सारांश यह है कि आत्मा को ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय अथवा क्षयोपशम से जो तत्त्वबोध होता है, वही ज्ञान कहलाता है। ज्ञानावरणीय कर्म के सम्पूर्ण क्षय से होने वाला ज्ञान 'केवलज्ञान' क्षायिक है और क्षयोपशम से होने वाले शेष चार ज्ञान क्षायोपशमिक हैं।

जो ज्ञान पाँच इन्द्रियों और मन के द्वारा उत्पन्न हो, उसे मतिज्ञान कहते हैं। मतिज्ञान को परोक्ष ज्ञान कहा गया है, क्योंकि जिस ज्ञान के होने में इन्द्रिय-मन आदि बाह्य साधनों की आवश्यकता पड़ती है, वह ज्ञान परोक्ष कहलाता है। परः+अक्ष (आत्मा)- आत्मा के सिवाय पर की सहायता से प्राप्त ज्ञान। मतिज्ञान श्रुतनिश्चित और अश्रुतनिश्चित-दो प्रकार का होता है।

मतिज्ञानपूर्वक श्रुत- मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है, अर्थात् किसी भी शब्द का श्रवण करने पर वाच्य-वाचकभाव संबंध के आधार से अर्थ की जो उपलब्धि होती है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान भी परोक्ष होता है। मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान ये दोनों ज्ञान सम्यक् ज्ञान या मिथ्याज्ञान रूप में न्यूनाधिक मात्रा में समस्त संसारी जीवों में रहते हैं।

अवधिज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना केवल आत्मा द्वारा रूपी (मूर्त) पदार्थों का प्रत्यक्ष करने वाला ज्ञान है। यह ज्ञान द्रव्यक्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा मर्यादा लिए हुए होता है, अतः अवधिज्ञान कहलाता है। अन्य परंपरा में इसे अतीन्द्रिय ज्ञान भी कहा जाता है।

संज्ञी जीवों के मन की पर्यायों को जिस ज्ञान के द्वारा जाना जाता है, उसे मनःपर्यव ज्ञान कहते हैं। इसका क्षेत्र मनुष्य क्षेत्र तक ही होता है।

समस्त लोकालोक और तीनों काल के सभी पदार्थों को हाथ में रखे हुए आँवले की तरह प्रत्यक्ष जानने की सामर्थ्य वाला केवलज्ञान होता है। यहाँ पाँचों

^{२७५}. (अ) भगवतीसूत्र श. ८, उ. २, सूत्र ३१८ (ख) स्थानांग स्थान ५, उ. उ. सूत्र ४६३
(स) नंदीसूत्र -१ (द) अनुयोगद्वारसूत्र-१ (ध) तत्त्वार्थसूत्र १/६

ज्ञान का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। अब ज्ञानयोग के सदंर्भ में उ. यशोविजयजी ने ज्ञान के जो प्रकार बताए हैं, उनका वर्णन किया जा रहा है।

उपाध्याय यशोविजयजी ने ज्ञान के निम्न तीन प्रकार बताए हैं- १. श्रुतज्ञान २. चिन्ताज्ञान ३. भावनाज्ञान।^{२७६}

वस्तुतः ये तीनों ज्ञान के प्रकार की अपेक्षा ज्ञान के स्तर माने जाते हैं, क्योंकि इन तीनों में ज्ञान क्रमशः विशुद्धि को प्राप्त होता है और इस प्रकार ये एक-दूसरे की अपेक्षा उच्च स्तर के ज्ञान हैं।

उ. यशोविजयजी ने ज्ञान के इन तीन स्तरों की जो चर्चा की है, वैसी ही चर्चा उनसे पूर्व आचार्य हरिभद्रसूरि ने षोडशक में भी की। इस प्रकार यह कह सकते हैं कि ज्ञान के तीन स्तरों की यह चर्चा आ. हरिभद्रसूरि से लेकर उ. यशोविजयजी के काल तक चलती रही। ज्ञान के इन तीन स्तरों का क्रमशः विस्तारपूर्वक वर्णन निम्न प्रकार से है।

श्रुतज्ञान -

ज्ञान के तीन स्तरों में श्रुतज्ञान प्रथम स्तर है। उ. यशोविजयजी ने इस ज्ञान को भंडार में रखे हुए अनाज के दानों के समान माना है। जिस प्रकार भंडार में रखे हुए अनाज के दानों में उगने की शक्ति रही हुई है, किन्तु जब तक वे भंडार में रहते हैं, तब तक उनकी यह शक्ति अभिव्यक्त नहीं होती है। चिन्तन, विमर्श और अनुभूति का अभाव होता है। उदाहरण के रूप में 'सव्वे जीवा न हंतव्वा' इस आगम-वचन का श्रुतज्ञानी की दृष्टि में मात्र इतना ही अर्थ है कि किसी भी जीव की हिंसा नहीं करना चाहिए। श्रुतज्ञान आगम वचनों का मात्र शाब्दिक अर्थ ही जानता है, उसका फलितार्थ नहीं जानता। चूँकि इस ज्ञान में चिन्तन अथवा विमर्श का अभाव है, इसलिए यह ज्ञान न तो उसके फलितार्थ को जानता है और न उसके अर्थ निर्धारण में विभिन्न अपेक्षाओं अर्थात् नय-निक्षेप का प्रयोग करता है। श्रुतज्ञान की दृष्टि से 'सव्वे जीवा न हंतव्वा', अथवा 'सव्वे जीवा वि इच्छंति', जीविंउ न मरिज्जिउं, पाणवहो न कायव्वो, आदि वाक्यों का सामान्य अर्थ हिंसा नहीं करना तक ही सीमित है; इसलिए उ. यशोविजयजी ने

^{२७६}. त्रिविधं ज्ञानमारव्यातं, श्रुतं चिन्ता च भावना

आद्यं कोष्ठगबीजाभं, वाक्यार्थविषयं मतम् ॥६५॥-अध्यात्मोपनिषद् - उ. यशोविजयजी

यह माना है कि श्रुतज्ञान में नय निक्षेप प्रमाण की दृष्टि से किसी प्रकार का चिन्तन नहीं होता है।

अतः उनका कथन है कि नय और प्रमाण से रहित जो सहज बोध है, वह श्रुतज्ञान कहलाता है। उ. यशोविजयजी की दृष्टि में यह प्राथमिक बोध है। उदाहरण के रूप में समावायांग सूत्र का 'एगे आया'- यह पद लें, तो श्रुतज्ञान की अपेक्षा से इसका अर्थ होगा 'आत्मा एक है'। यह कथन आचारांगसूत्र के 'पुढो जीवा पुढो सत्ता', अर्थात् 'प्रत्येक जीव की सत्ता अलग-अलग है' का विरोधी वचन है। श्रुतज्ञान में इस विरोध को उठाने की तथा उसके समाधान की शक्ति नहीं है। विरोध तथा समाधान दूसरे चिन्ताज्ञान से ही संभव हैं, क्योंकि चिन्ताज्ञान में प्रमाणनय आदि की अपेक्षा से विचार किया जाता है। उस अपेक्षा से इस विरोध का समाहार इस प्रकार होगा कि संग्रहनय की दृष्टि से आत्मद्रव्य एक है, किन्तु व्यवहारनय की दृष्टि से प्रत्येक जीव की स्वतंत्र सत्ता है।

दूसरा उदाहरण किसी जीव की हिंसा नहीं करना चाहिए और श्रावक को जिनमंदिर बनाना चाहिए- दोनों ही शास्त्रवचन हैं। इनका विरोध और उसके समाधान का प्रयत्न श्रुतज्ञान में नहीं है, क्योंकि श्रुतज्ञान विमर्शात्मक नहीं है। हिंसा का त्याग और जिनमंदिर के निर्माण की कर्तव्यता दोनों में जो विरोध है, उस विरोध का समाधान श्रुतज्ञान में न होकर ज्ञान के अगले स्तर (चरण) चिन्ताज्ञान में ही संभव है, क्योंकि चिन्ताज्ञान शास्त्रवचन के अर्थ ग्रहण में नय-प्रमाण आदि की दृष्टि से विचार करता है। श्रुतज्ञान की विशेषता यह है कि वह पदार्थ का बोध करा देता है और इस प्रकार परिपूर्ण अर्थबोध का कारण भी बनता है, लेकिन श्रुतज्ञान की प्राप्ति के बाद ऊहापोह रूप नय प्रमाण आदि से चिन्ताज्ञान नहीं प्रकट हो, तब तक उस श्रुतज्ञान को सुरक्षित रखना आवश्यक है, क्योंकि श्रुतज्ञान ही अगर नष्ट हो जाएगा, तो तर्क वितर्क रूप विचारणा किसकी होगी? जो श्रुतज्ञान चिन्ताज्ञान का उत्पादक नहीं बने और नष्ट हो जाए, उस श्रुतज्ञान का महत्त्व ही क्या?

पानी भरने के लिए घट खरीद कर लाएं और उसमें पानी भरा ही नहीं उसके पूर्व ही वह फूट गया, तो उस घड़े का लाना भी नहीं लाने के समान है। कोठार में रहे हुए बीज की तरह श्रुतज्ञान को सुरक्षित भी रहना चाहिए, तो ही उससे चिन्ताज्ञान संभव हो सकता है। जैसे कोठार में रहा हुआ बीज सुरक्षित रहे, तो ही आगे वह अंकुरित हो सकता है। गुरुभक्ति, विधिपरायणता, यथाशक्ति व्रतों का पालन बहुमानगर्भित श्रवण आदि से प्राप्त श्रुतज्ञान प्रायः सुरक्षित रहता है।

उ. यशोविजयजी ने श्रुतज्ञान की चार विशेषताएँ बताई हैं-

१. सर्वशास्त्रानुगत
२. प्रमाणनयवर्जित
३. कोठार में रहे हुए बीज के समान अविनष्ट
४. परस्पर विभिन्न विषयक पदार्थों में गति नहीं करने वाला^{२७७}

आचार्य हरिभद्र ने षोडशक प्रकरण में कहा है कि मात्र वाक्यार्थ विषयक कोठार में रहे हुए बीज के समान प्राथमिक ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान मिथ्याभिनिवेश से रहित होता है,^{२७८} क्योंकि यदि इसमें मिथ्याविकल्प या कदाग्रह हो, तो यह अज्ञान बन जाता है। संक्षेप में श्रुतज्ञान ज्ञान का प्राथमिक स्तर है।

चिन्ताज्ञान-

पूर्वोक्त श्रुतज्ञान के पश्चात् चिन्ताज्ञान का क्रम है। उ. यशोविजयजी चिन्ताज्ञान का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जो ज्ञान महावाक्यार्थ से उत्पन्न हुआ हो, तथा सैंकड़ों सूक्ष्म युक्तियों से गर्भित हो और पानी में जैसे तेल का बिंदु फैल जाता है, उसी प्रकार जो ज्ञान चारों ओर व्याप्त होता है, अर्थात् विस्तृत होता है, उसे चिन्ताज्ञान कहते हैं।^{२७९}

वस्तुतः यह चिन्तनपरक विमर्शात्मक ज्ञान है। यह विवेचनात्मक व्यापक ज्ञान है और नयप्रमाण से युक्त होता है।

सूत्र की व्याख्या चार प्रकार से की जाती है-

१. पदार्थ २. वाक्यार्थ ३. महावाक्यार्थ ४. ऐदंपर्याय। सूत्र की व्याख्या की इन चार विधियों में से महावाक्यार्थ से जो बोध होता है, वह चिन्ताज्ञान

^{२७७} श्रुतं सर्वानुगाद्वाक्यात्प्रमाणनयवर्जितात् ॥१०॥

उत्पन्नमविनष्टं च बीजं कोष्ठगतं यथा।

परस्परविभिन्नोक्तपदार्थं विषयं तु न ॥११॥ - देशनाद्वात्रिंशिका - उ. यशोविजयजी

^{२७८} वाक्यार्थमात्रविषयं कोष्ठगकगतबीजसन्निभं ज्ञानम्

श्रुतमयमिह विज्ञेयं मिथ्याभिनिवेशरहितमलम् ॥११॥ - षोडशक-हरिभद्रसूरि

^{२७९} (अ) महावाक्यार्थजंयन्तु सूक्ष्मयुक्तिशतान्वितम्

तद्विद्वितीये जले तैल-बिन्दुरीत्या प्रसूत्वरम् ॥६६॥ - अध्यात्मोपनिषद् - उ. यशोविजयजी

(ब) देशनाद्वात्रिंशिका - (२/१२) - द्वात्रिंशिका - उ. यशोविजयजी

(स) षोडशक - (११/८) - हरिभद्रसूरि

कहलाता है। जैसे आत्मा नित्य एवं सच्चिदानंदरूप है- यह व्याख्या मात्र वाक्य के पद का अर्थ करती है, किन्तु तद्विषयक अन्य अभिप्रायों के उपस्थित होने पर जो शंका आदि उत्पन्न होती है, उनका निवारण करने वाली व्याख्या महावाक्यार्थ कहलाती है। जैसे 'यदि आत्मा नित्य एवं सच्चिदानंदरूप है', तो फिर आत्मा में कर्तृत्व और भोक्तृत्व आदि गुण किस प्रकार संभव होंगे? आत्मा में कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि गुण हैं, यह कथन किस नय की अपेक्षा से कहा गया है? इस सदेह का समाधान महावाक्यार्थ से होता है। जैसे- 'आत्मा नित्य है' यह बात द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से कही गई है तथा कर्तृत्व भोक्तृत्व पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से है। यह कथन महावाक्यार्थ है। यही चिन्ताज्ञान भी है। ऐसा ज्ञान अत्यंत सूक्ष्मबुद्धिपूर्वक ही गम्य है। अर्थबोध से किसी प्रकार का विसंवाद न हो, इस प्रकार के सभी प्रमाणों और नयों से गर्भित युक्तियों से कथन करना या अर्थ का निर्धारण करना चिन्ताज्ञान है। जैसे तेल का बिंदु छोटा होने पर भी पानी में फैलता जाता है, उसी प्रकार चिन्ताज्ञान भी शास्त्रीय प्रमाणों तथा नय-निक्षेप आदि की युक्तियों से विस्तार को प्राप्त होता है। यह चिन्ताज्ञान ही व्यापक बनता हुआ भावनाज्ञान को उत्पन्न करता है। यह ज्ञान सूक्ष्म बुद्धिगम्य चिन्तन से युक्त होने के कारण 'घटोऽस्ति' इतना श्रवण करने पर ही तुरंत विचार करता है कि घट का अस्तित्व स्वद्रव्य देश-काल आदि के आधार पर है, या परद्रव्य देश काल आदि के आधार पर आदि। तुरंत क्षयोपशम के प्रभाव से यह घट स्वद्रव्य क्षेत्र-काल आदि की अपेक्षा सत् है, किंतु परद्रव्य क्षेत्र-काल आदि की अपेक्षा असत् है- ऐसा निर्णय करता है, इसलिए स्यादस्त्येव स्यन्नास्त्येव आदि रूप सप्तभंगी की उसके चिंतन में स्फुरणा होती है।

चिन्ताज्ञान वाले को आग्रह या कदाग्रह नहीं होता है। इसका कारण यह है कि वह नय-निक्षेप एवं प्रमाण को जानता है। जैसे स्वदर्शन में जो बात कही गई है, वह अमुक नय की अपेक्षा से कही गई हैं; उसी प्रकार अन्य दर्शन में भी जो बात कही गई है, वह अमुक नय की अपेक्षा से कही गई है। उदाहरण के रूप में पर के प्रति अतिशय राग भवभ्रमण का प्रधान कारण है, अतः संसार के भोगों के प्रति तीव्र आसक्ति को, या ममत्व को नष्ट करने के लिए 'सर्वं क्षणिकं'- यह बौद्धदर्शन का सिद्धान्त भी उपयोगी है। जैनदर्शन में भी पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से तो सभी वस्तुएं क्षणिक या विनाशशील मानी गई हैं। जैनदर्शन की साधना में भी अनित्यभावना बताई गई है। इस अपेक्षा से जैनदर्शन भी बौद्धदर्शन सर्वक्षणिक सिद्धान्त को पर्यायार्थिकनय रूप में स्वीकार करता है। इसी प्रकार दूसरे जीवों के प्रति द्वेष दूर करने के लिए 'सर्वखल्विदं ब्रह्म'- यह वेदान्त-दर्शन का

कथन भी स्वीकारना आवश्यक है। संग्रहनय की अपेक्षा से वेदान्तदर्शन का यह कथन भी सत्य है।

जीवत्व, सच्चिदानंदमयत्व आदि धर्मों की अपेक्षा से सभी जीव एक ही हैं। स्थानांग सूत्र में भी संग्रहनय की दृष्टि से 'एगे आया' यह सूत्र आया है।

इस प्रकार चिंताज्ञान विमर्शात्मक होने से किसी भी कथन पर विभिन्न दृष्टियों से विचार विमर्श कर उसे समझने का प्रयत्न करता है।

उपाध्याय यशोविजयजी भावनाज्ञान का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जिनाज्ञा को प्रधानता देने वाला ज्ञान ऐदंपर्य ज्ञान कहा जाता है, इसे भावनाज्ञान भी कहते हैं। इस ज्ञान में बहुमान भाव प्रधान होता है। ऐसा भावनायुक्त ज्ञान अपरिष्कारित होने पर भी बहुमूल्य श्रेष्ठ रत्न की कान्ति के समान है।^{२८०}

'षोडशक' में हरिभद्रसूरि ने भी भावनाज्ञान की इसी प्रकार की परिभाषा दी है।^{२८१}

सभी ज्ञेय पदार्थों को स्वीकार करने में सर्वज्ञ की आज्ञा ही प्रधान है, यह मानना ऐदंपर्य कहलाता है। तत्त्व तीन प्रकार के होते हैं- हेय, ज्ञेय और उपादेय। उसमें हेय तथा उपादेय पदार्थ का वास्तविक बोध निर्मल सम्यग्दर्शन वाले साधकों को मिथ्यात्व के क्षयोपशम से तथा दृष्टिवादोपदेशिक संज्ञा के प्रभाव से स्वतः, या गुरु के उपदेश से होता है, किंतु व्यक्ति में ज्ञानावरणीय कर्म के उदय के कारण कुछ तथ्यों में पूर्णतः संदेहरहित ज्ञान संभव नहीं होता है, जैसे अभव्य जीव अनंत है, निगोद में अनंत जीव हैं, जातिभव्य जीव भी अनंत हैं, अनंत जीव मोक्ष में गए हैं, जा रहे हैं और जाएंगे फिर भी वे जीव निगोद के एक शरीराश्रित जीवों की संख्या के मात्र अनंतवे भाग के बराबर हैं। इस प्रकार के जिन वचनो में संशय या भ्रम संभावित है। इन संशयों को दूर करने के लिए सर्वज्ञ के वचन ही प्रमाणभूत होते हैं। सभी प्रकार के ज्ञानों के प्रमाण में सर्वज्ञ के वचन ही प्रधान है।

ज्ञेय पदार्थों के ज्ञान में नयों की अपेक्षा से कथन चार प्रकार के होते हैं

१. पदार्थ २. वाक्यार्थ ३. महावाक्यार्थ ४. ऐदंपर्यार्थ।

^{२८०}. ऐदम्पर्यगतं यत्त्व विध्यादौ यत्त्वच्च यत्

तृतीयं तदशुद्धोच्च-जात्यरत्नविभानितम् ॥६७॥ -अध्यात्मोपनिषद् - उ. यशोविजयजी

^{२८१}. ऐदम्पर्यगतं यद्विध्यादौ यत्त्वत्तथैवोच्चेः।

एतत्तु भावनामयमशुद्ध सद्रत्नदीप्तिसमम् ॥६॥ -षोडशक -११/६ -हरिभद्रसूरि

जैसे “हिंसामन्यस्य नाचरेत्”, इस वाक्य का ‘किसी भी जीव को पीड़ा नहीं देना’- यह अर्थ है। इसमें यह जिज्ञासा उठती है कि ऐसी स्थिति में श्रावक मन्दिर का निर्माण किस प्रकार करवा सकते हैं? साधु नदी को किस प्रकार पार कर सकते हैं ? उसी प्रकार लोच आदि में भी प्रयत्न कैसे कर सकते हैं ? क्योंकि इन सबमें हिंसा की संभावना है। यह जिज्ञासा वाक्यार्थ है। ‘अविधि से जिनालय निर्माण आदि कोई भी कार्य करें, तो वह हिंसा दोषरूप है, इसलिए ये सभी कार्य शास्त्रोक्त विधि और जयणापूर्वक करना चाहिए’- यह महावाक्यार्थ है।

जैसे संयमरक्षार्थ नदी पार करने हेतु शास्त्रदर्शित-विधि का पालन करने में भी परपीड़ा परिहार का भाव तो है ही। इससे यह फलित होता है कि प्रमाद, अजयणा, अविधि और मन की मलिनता आदि हिंसा के हेतु होने से नदी उतरने में, जिनालय-निर्माण आदि में होती बाह्य हिंसा से कर्मबंध नहीं होते हैं।

कोई भी प्रवृत्ति धर्मरूप बने या अधर्मरूप, इसमें हिंसा या अहिंसा का प्रश्न इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, किन्तु यह महत्त्वपूर्ण है कि इस हेतु जिनाज्ञा है या नहीं। जिसमें हिंसा होती हो, वह त्याज्य और जिसमें हिंसा नहीं होती है, वह कर्तव्य, ऐसा एकांत नियम नहीं है, बल्कि जिसमें जिनाज्ञा का पालन हो, वही करने योग्य है और जो जिनाज्ञा अनुसार नहीं है, वह छोड़ने योग्य है। ‘जिनाज्ञा ही धर्म का सार है’-यही ऐदंपर्यार्थ, रहस्यार्थ, परमार्थ एवं गूढार्थ है।

भावनाज्ञान की दूसरी विशेषता विधि के प्रति बहुमान का भाव है। भावनाज्ञान विधि, द्रव्य दाता, पात्र आदि के प्रति अत्यंत आदरयुक्त होता है, जैसा आदरभाव श्रेयांसकुमार रेवतीश्राविका, सुलसाश्राविका, शालिभद्र के पूर्व भव के जीव का था। अब यहाँ भावनाज्ञान की तीसरी विशेषता ‘जात्य रत्न विभा’ को स्पष्ट किया जा रहा है। मिट्टी आदि का लेप करके गरम करने की प्रक्रिया के अभाव में अपरिशुद्ध होने पर भी श्रेष्ठ रत्न की कान्ति स्वभाव से ही अन्य रत्नों की कान्ति की अपेक्षा अधिक होती है, उसी प्रकार कर्मरज से मलिन भव्यजीव का भावनाज्ञान दूसरे ज्ञान से अधिक प्रकाश करने वाला होता है। भावनाज्ञान से जानी हुई वस्तु ही वास्तव में जानी हुई (ज्ञात) कहलाती है। धर्मक्रिया की भावनाज्ञानपूर्वक हो, तो ही शीघ्र मोक्ष की प्राप्ति होती है।

धर्मबिंदु ग्रंथ में हर्षिभद्रसूरि ने कहा है- “भावनायुक्त ज्ञान ही वास्तव में ज्ञान है। श्रुतमय प्रज्ञा द्वारा जानी हुई वस्तु वास्तव में जानी हुई नहीं होती है।

भावनाज्ञान से जाना हुआ पदार्थ ही जाना हुआ कहलाता है।”^{२८२} देशनाद्वात्रिंशिका में उ. यशोविजयजी ने बताया है- “तात्पर्यवृत्ति से सर्वत्र भगवान की आज्ञा को मान्य करने वाला ज्ञान भावनाज्ञान होता है।”^{२८३}

भावनाज्ञान का फल बताते हुए उ. यशोविजयजी कहते हैं- “घास और संजीवनी - दोनों को चराने वाली स्त्री के दृष्टान्त से यह स्पष्ट होता है कि सभी ज्ञानों की साधना करते हुए व्यक्ति भावनाज्ञान को प्राप्त हो जाता है।”^{२८४}

उ. यशोविजयजी ने देशनाद्वात्रिंशिका में भी इन्हीं सब बातों की चर्चा की है।^{२८५} हरिभद्रसूरि ने षोडशक में भी बताया है कि- “चारा खाने वाले और संजीवनी औषधि नहीं खाने वाले को संजीवनी खिलाने की वृत्ति से भावनाज्ञान में समाप्ति के कारण सभी जीवों के प्रति हितकारी वृत्ति की सूचना मिलती है।”^{२८६} चारिसंजीवनी के दृष्टान्त को उ. यशोविजयजी ने षोडशक की योगदीपिका नामक टीका में इस प्रकार स्पष्ट किया कि किसी स्त्री ने अपने पति को वश में करने के लिए किसी योगिनी से उपाय पूछा। उस योगिनी ने मंत्रतंत्र के प्रभाव से उस स्त्री के पति को बैल बना दिया। अब वह स्त्री बहुत दुःखी हुई। वह स्त्री बैलरूप धारी अपने पति को चारा खिलाती और पानी पिलाती। एक बार वह वटवृक्ष के नीचे बैल को लेकर बैठी हुई थी। उसी समय दो विद्याधरी वहाँ आईं, बैल को देखकर एक विद्याधरी ने कहा कि यह कृत्रिम बैल है, स्वाभाविक नहीं। जब दूसरी विद्याधरी ने पूछा कि यह अपने मूल रूप में किस प्रकार आ सकता है? तो प्रथम विद्याधरी ने कहा कि इस पेड़ के नीचे संजीवनी नामक औषधि है। जो यह बैल

२८२. भावनानुगतस्य ज्ञानस्य तत्त्वतो ज्ञानत्वादिति ।

न हि श्रुतमय्या प्रज्ञया भावनादृष्टं ज्ञातं नामेति ।- धर्मबिन्दु (६/३०-३१) -हरिभद्रसूरि

२८३. सर्वत्राज्ञापुरस्कारि ज्ञानं स्याद्भावनामयम्

अशुद्धजात्यरत्नाभासमं तात्पर्यवृत्तितः ॥१३॥ -देशनाद्वात्रिंशिका -द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका -उ. यशोविजयजी

२८४. चारिसंजीविनीचारकारकज्ञाततोऽन्तिमे ।

सर्वत्रैव हिता वृत्तिर्गाम्भीर्यात्तत्त्वदर्शिनः ॥६२॥ -अध्यात्मोपनिषद् -उ. यशोविजयजी

२८५. सर्वत्रैव हितावृत्तिः समापत्त्याऽनुरूपया ।

ज्ञाने संजीविनीचारज्ञातेन चरमे स्मृता ॥१५॥ -देशनाद्वात्रिंशिका, द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका-उ. यशोविजयजी

२८६. चारिचरक-संजीवन्यचरकचारणविधानतश्चरमे ।

सर्वत्रहिता वृत्तिर्गाम्भीर्यात् समरसापत्त्या १११/१११॥ -षोडशक -हरिभद्रसूरि

उसे खाये तो यह मनुष्य रूप में आ सकता है। यह बात उस स्त्री ने सुनी किंतु वह संजीवनी औषधि को पहचानती नहीं थी, इसलिए उसने उस जगह पर उगा हुआ सभी चारा बैल को खिला दिया। जैसे ही बैल को चारे के साथ में संजीवनी औषधि खाने में आई, वह तुरंत मनुष्यरूप हो गया। जिस प्रकार स्त्री की बैल को चारा खिलाने में हितकारी प्रवृत्ति थी, उसी प्रकार भावनाज्ञान वाले की 'स्वसिद्धान्त सभी दर्शनों का समूहरूप है'- इस प्रकार की उत्पन्न हुई बुद्धि के प्रभाव से अन्य दर्शन में रहे हुए जीवों पर भी अनुग्रह करने की परिणति होती है, ^{२८७} इसलिए जिस जीव का जिस प्रकार कल्याण होने की संभावना हो, उसी प्रकार प्रवृत्ति करने का उपदेश भावनाज्ञान वाला देता है। जैसे किसी ने वैदिककुल में जन्म लिया हो, और नास्तिक की तरह जीवन बिताता हो, तो भावनाज्ञान का उपदेशक उसे गायत्री-पाठ करने का उपदेश देगा, नवकारमंत्र का नहीं। अतिथिसत्कार का उपदेश देगा, जैनों को भोजन कराने का नहीं। उपाश्रय में जैनमुनि के व्याख्यान सुनने की प्रेरणा नहीं करेगा बल्कि हिन्दू सन्तों की रामायण कथा में जाने की प्रेरणा देगा। उसके ईष्टदेव के दर्शन आदि की प्रेरणा देगा। इस प्रकार वह व्यक्ति भी धार्मिक बनकर आर्यसंस्कृति की सुरक्षा करते हुए हिंसा, झूठ, चोरी, विषय कषाय आदि व्यसनों से मुक्त रहकर मोक्षमार्ग में आगे बढ़ता है। यदि उसे जैनधर्म का उपदेश दें, तो वह भड़क जाएगा। तात्विकधर्म की जिज्ञासावाले सिद्धराज जयसिंह को 'हेमचंद्रसूरि' ने सभी देवों की उपासना करने को कहा था तथा समकिति बने कुमारपाल को केवल वीतरागदेव और जैनधर्म की आराधना करने का उपदेश दिया था।

इस प्रकार सभी धर्मों के जीवों के लिए हितकारी प्रवृत्ति गंभीर मन वाले भावनाज्ञानी ही कर सकते हैं।

श्रुतज्ञान बीजरूप गेहूँ के स्थान पर है। चिंताज्ञान अंकुरित गेहूँ के स्थान पर है तथा भावनाज्ञान फलरूप, गेहूँ रूप में दोनों के समान होने पर भी दोनों में अन्तर रहा हुआ है, उसी प्रकार 'आज्ञा ही प्रमाण है'- इस जिनवचन से श्रुतज्ञान में जो प्राथमिक कक्षा का ज्ञान होता है, उसमें और चिंताज्ञान के तथा उसके बाद होने वाले भावनाज्ञान में आज्ञा ही प्रमाण है- इस पद के अर्थ में अन्तर होता है। आज भावनाज्ञान का विकास करके सारे साम्प्रदायिक झगड़े समाप्त किए जा सकते हैं।

शास्त्रज्ञान और आत्मानुभूति में अंतर

शास्त्रज्ञान और आत्मानुभूति में जमीन-आसमान का अन्तर है। शास्त्रज्ञान शाब्दिक ज्ञान है, बाह्य है; जबकि अनुभूतिज्ञान अन्तरंग है। शास्त्रज्ञान और अनुभूतिज्ञान में अन्तर स्पष्ट करते हुए उ. यशोविजयजी ने अध्यात्मोपनिषद् के प्रथम प्रकरण के दसवें श्लोक में कहा है- “शास्त्रज्ञान अंधे व्यक्ति के द्वारा हाथ के स्पर्श से होने वाले रूप के ज्ञान के समान है। जिस प्रकार अन्धा व्यक्ति रूप को अनुभूति करके नहीं, किन्तु स्पर्श के माध्यम से जानता है, उसी प्रकार शास्त्रज्ञान के द्वारा व्यक्ति वस्तुतत्त्व को अनुभव के आधार पर नहीं, मात्र अन्य सूचनाओं के आधार पर जानता है।”^{२८८} जिस प्रकार एक व्यक्ति तैरने के संबंध में एक आलेख या निबंध को पढ़े और दूसरा व्यक्ति तैरना जानता हो, तो इसमें पहले व्यक्ति का ज्ञान अनुभूति के आधार पर न होकर मात्र सूचना आधारित होता है, जबकि दूसरे व्यक्ति का ज्ञान सूचना पर आधारित न होकर अनुभूति के आधार पर होता है।

जिस प्रकार तैरने के सम्बन्ध में केवल आलेख को पढ़कर यदि कोई नदी में उतर जाए, तो वह डूब जाता है, केवल तैरने सम्बन्धी आलेख पढ़कर नदी पार नहीं कर सकते उसके लिए अनुभव आवश्यक है; उसी प्रकार साधना के क्षेत्र में अनुभूति चाहिए, मात्र शास्त्रज्ञान नहीं अनुभूति के माध्यम से जो आन्तरिक आनंद प्राप्त कर सकते हैं, वह आनंद शास्त्रों को पढ़ने मात्र से नहीं होता है।

उ. यशोविजयजी कहते हैं- “शास्त्र सिर्फ मार्ग दिखाने का काम करता है, लेकिन मार्ग दिखाने के बाद वह साधक के साथ एक कदम भी नहीं चलता है, जबकि अनुभवज्ञान तो जब तक केवलज्ञान नहीं हो, तब तक साधक का सान्निध्य नहीं छोड़ता है।”^{२८९} वह छाया की तरह उसके साथ-साथ चलता है। वास्तव में प्रत्येक शास्त्र केवल मोक्षमार्ग का दिग्दर्शन कराता है, लेकिन मोक्षमार्ग को जानने के बाद भी कोई व्यक्ति एक कदम भी उस ओर नहीं बढ़ाए, मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति

^{२८८} अन्तरा केवलज्ञानं छद्मस्थाः खल्वचक्षुषः

हस्तस्पर्शसमं शास्त्रज्ञानं तद्व्यवहारकृत् ॥१०॥ - अध्यात्मोपनिषद्-उ. यशोविजयजी

^{२८९} पदमात्रं हि नान्वेति, शास्त्रं दिग्दर्शनोत्तरम्

ज्ञानयोगो मुनेः पार्श्वमाकैवल्यं न मुंचति ॥३॥ - द्वितीय अधिकार- अध्यात्मोपनिषद्- उ. यशोविजयजी

नहीं करें, तो शास्त्र उसे उस दिशा में हाथ पकड़ कर नहीं चला सकता, गति तो योगी को स्वयं करना होती है। आत्मानुभूति के आधार पर मोक्षमार्ग में उच्चकक्षा की ओर बढ़ते हुए योगी को कोई भी शास्त्र स्वयं के सान्निध्य से लेशमात्र भी उपकार नहीं करता है, क्योंकि उच्च अवस्था में रहे हुए योगी पर उपकार करने का सामर्थ्य शास्त्रों में नहीं है। आत्मानुभूति, अर्थात् अनुभव साध्य 'मोक्षमार्ग की साधना' शब्द का विषय नहीं है। शास्त्र तो शब्दों का समूहमात्र है, इस कारण से शास्त्रों में तथाविध अनुभवगम्य सत्य को बताने का सामर्थ्य नहीं है। केवल शास्त्रों से केवलज्ञान प्राप्त हो जाता, तो चौदह पूर्वों के ज्ञाता निगोद में नहीं जाते।

इस तरह शास्त्र को एक सूचनापट की तरह मान सकते हैं। सूचनापट सूचना देता है कि यह रास्ता किस नगर की ओर जा रहा है? क्या आगे कोई खतरा है? उसी प्रकार रास्ते में आते हुए मोड़, घाट, भयस्थान आदि की सूचना देकर पथिक को सावधान करता है, किन्तु उसका कार्य मुसाफिर को आगे बढ़ाने का, या उसके साथ जाने का नहीं है। इतना अवश्य है कि सूचनापट पर लिखी हुई सूचना के अनुसार पथिक आगे बढ़े तो वह निर्विघ्न रूप से अपने इष्टस्थान पर पहुँच जाता है।

इसी तरह शास्त्र भी सूचनापट की तरह मोक्षमार्ग की जानकारी देता है, किन्तु जबरन मोक्षमार्ग पर चला नहीं सकता।

उ. यशोविजयजी ज्ञानसार के अनुभव अष्टक में अनुभवज्ञान की महत्ता बताते हुए कहते हैं—"सभी शास्त्रों का व्यापार दिशा दिखाने का है, परंतु एक अनुभव ही संसाररूपी समुद्र को पार लगा सकता है।

इन्द्रियों से अगोचर सर्व उपाधि से रहित शुद्ध आत्मतत्त्व को शुद्ध अनुभूति बिना सैंकड़ों शास्त्रों की युक्तियों द्वारा भी नहीं समझ सकते हैं।^{२६०} अमूर्त अखंड ज्ञानानंद स्वरूप आत्मा का ज्ञान तो तत्त्वानुभव में लीन महापुरुष ही कर सकते हैं, परंतु वचन-युक्ति से वाणी-विलास में रमण करने वाले तत्त्वज्ञान का रस चख नहीं सकते, उसका वास्तविक आनंद नहीं ले सकते हैं।

^{२६०} व्यापारः सर्वशास्त्राणां, दिवप्रदर्शनमेव हि ।

पारं तु प्रापयत्येकोऽनुभवो भववारिधेः॥२॥

अतीन्द्रियं परं ब्रह्म, विशुद्धाऽनुभवं विना

शास्त्रयुक्तिशतेनाऽपि, न गमयं यद् बुधा जगुः॥३॥-अनुभवाष्टक २७, ज्ञानसार- उ.

यशोविजयजी

शास्त्र अतीन्द्रिय पदार्थों का सिर्फ स्वरूप ही बता सकते हैं, उसकी अनुभूति नहीं करा सकते, जबकि अनुभवज्ञान के द्वारा साधक, आत्मा में रमण करते हुए उसके आस्वादन में तन्मय हो जाता है। जैसे किसी पुस्तक द्वारा रसगुल्ले बनाने की विधि और उसके स्वरूप को जाना जा सकता है, किन्तु सिर्फ पुस्तक को पढ़कर उसके स्वाद का आनंद नहीं लिया जा सकता है, उसके स्वाद का आनंद तो रसगुल्ले को खाने वाला अनुभवी ही प्राप्त कर सकता है।

उ. यशोविजयजी कहते हैं- “बुद्धि-कल्पना से शास्त्रों को समझने की मति अनेकों को होती है, जबकि अनुभवरूपी जीभ द्वारा शास्त्रों के रहस्य का आस्वादन करने वाले थोड़े ही होते हैं। शास्त्ररूपी दूधपाक में सभी की कल्पनारूपी चम्मच घूमती है, किन्तु अनुभवरूपी जीभ के द्वारा चखने वाले शास्त्रों के रहस्य को जानने वाले थोड़े ही होते हैं।”^{२६१}

संत कबीर ने भी कहा है-

“पोथि पढ़-पढ़ जग मुवा, पंडित भया न कोई ।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होई।”

उन्होंने भी इसी बात को सूचित किया है कि केवल शास्त्रों को पढ़ने से कोई वास्तविक ज्ञानी नहीं हो सकता है। चाहे थोड़ा भी पढ़ा हो, लेकिन पढ़े हुए का अपने जीवन में अनुभव कर लिया है, वही ज्ञानी है।

उ. यशोविजयजी अध्यात्मसार के आत्मनिश्चयाधिकार में कहते हैं। कि “अध्यात्मशास्त्र भी शाखाचन्द्रन्याय की तरह दिशा बताने वाला है, कारण कि परोक्ष (शाब्दिक) ज्ञान प्रत्यक्ष विषय की शंका को दूर नहीं कर सकता है।”^{२६२}

अध्यात्मसार में दिशा बताने के लिए शाखाचंद्रन्याय का उल्लेख किया गया है। उदाहरणार्थ आकाश में बीज का चंद्रमाँ हो और वह किसी को दिखाई नहीं दे, तो उसे दिखाने के लिए कोई बड़ा पदार्थ बताने की आवश्यकता होती है, जैसे कहा जाए कि वृक्ष की शाखा के ठीक ऊपर चन्द्र दिखाई दे रहा है, तो इस

^{२६१} केषां न कल्पनादर्वी, शास्त्रक्षीरान्गाहिनी ।

विरलास्तत्रसास्वादविदोऽनुभवजिह्वया ॥५॥-अनुभवाष्टक, ज्ञानसार- उ. यशोविजयजी

^{२६२} दिशः प्रदर्शकं शाखाचन्द्रन्यायेन तत्पुनः

प्रत्यक्षविषयां शंकां न हि हन्ति परोक्षधीः ॥१७५॥-आत्मनिश्चयाधिकार १८,
अध्यात्मसार, उ. यशोविजयजी

प्रकार कहने से उसे चन्द्र की दिशा का पता चलता है; इसे शाखाचन्द्रन्याय कहते हैं। इसी प्रकार अध्यात्मशास्त्र का काम दिशा बताने का है। शास्त्र का ज्ञान परोक्ष बुद्धिरूप है। वह प्रत्यक्ष विषय की शंका को दूर नहीं कर सकता है। जैसे कोई व्यक्ति जादू का खेल देख रहा हो और वह जानता है कि यह सत्य नहीं है, युक्ति है, परंतु प्रत्यक्ष रूप से वह जादू देख रहा है, तो उसे उसमें सत्य का आभास होता है, इसी प्रकार नाटक आदि देखने वाले यह जानते हैं कि ये घटनाएँ सत्य नहीं हैं, फिर भी मोहवश नाटक देखने वाले दुःखदर्द की घटनाओं को देखकर रोने लग जाते हैं। हिंसा आदि का दृश्य देखते हुए उत्तेजित हो जाते हैं। नाटक में कई प्रकार के दृश्यों को देखते हुए, उनके भाव उसी प्रकार के बनते हैं, क्योंकि वे सत्य को परोक्ष रूप में जानते हैं, लेकिन जो पात्र उसमें भूमिका निभाते हैं, वे सुखी या दुखी नहीं होते हैं, क्योंकि उन्हें सत्यता का प्रत्यक्ष अनुभव है। परोक्षज्ञान से प्रत्यक्षज्ञान बलवान् होता है।

अतः शास्त्रों के द्वारा 'मैं' पत्नी, परिवार, शरीर, धन आदि से बँधा हुआ नहीं हूँ, इनसे भिन्न हूँ, यह जानता है, किन्तु जिसने अनुभवज्ञान द्वारा आत्मा का साक्षात्कार नहीं किया, उसका 'मैं' पत्नी, परिवार, शरीर से बँधा हुआ हूँ— यह भ्रम दूर नहीं होता है। परोक्षज्ञान से प्रत्यक्षज्ञान के बलवान् होने पर शास्त्रजन्य परोक्षज्ञान प्रत्यक्ष भ्रम को दूर नहीं कर सकता है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए उ. यशोविजयजी ने एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है—“शंख श्वेत है, यह सब जानते हैं, किन्तु किसी व्यक्ति को पीलिया का रोग हो जाता है, तो उसे सभी पदार्थ पीले दिखाई देते हैं। पीलिया का रोगी जब श्वेत शंख को देखता है, तो वह मन से जानता है कि शंख श्वेत है, किन्तु उसे प्रत्यक्ष में वह पीला दिखता है। इस कारण से उसके मन में शंका हो जाती है कि क्या शंख पीला है? ^{२६३} उसी प्रकार आत्मा शुद्ध-बुद्ध निरंजन है, यह बात शास्त्रों से जानने पर भी व्यक्ति के मन की शंका, उसके मिथ्या संस्कार दूर नहीं होते हैं।” वह भ्रम तत्त्वों का चिंतन, मनन, स्मरण करके उसका साक्षात् अनुभव करें, तो ही वे दूर हो पाते हैं, अर्थात् अनुभवज्ञान द्वारा ही अतीन्द्रिय सम्बन्धी भ्रान्तियाँ दूर हो सकती हैं, केवल शास्त्रज्ञान द्वारा नहीं। पंचदशी नामक ग्रन्थ में कहा गया है—

^{२६३} शंखे श्वैत्यानुमानेऽपि दोषात्पीतत्वधीर्यथा ।

शास्त्रज्ञानेऽपि मिथ्याधीसंस्काराद्बन्धधीस्तथा ।।१७६ ।।-आत्मनिश्चयाधिकार १८,
अध्यात्मसार, उ. यशोविजयजी

“अल्पबुद्धि के कारण शरीर आदि में आत्मत्व की भ्रमणा हो, तो आत्मा ही ब्रह्म है, यह जानने में पुरुष समर्थ नहीं है।”^{२६४}

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आत्मा के परोक्षज्ञान (शास्त्र ज्ञान) की अपेक्षा आत्मा का प्रत्यक्ष या अनुभवज्ञान ही हमारी भ्रमणाओं को दूर करने में समर्थ है।

इस अनुभवज्ञान को प्रातिभज्ञान भी कहते हैं। इसके विषय में उ. यशोविजयजी ज्ञानसार में लिखते हैं—“यह अनुभवज्ञान अरुणोदय जैसा है। जैसे अरुणोदय होने पर यह बोध हो जाता है कि अंधेरा नहीं है, वैसे ही अनुभवज्ञान केवल ज्ञान नहीं है, क्योंकि यह क्षायोपशमिक है और सर्वद्रव्यपर्यायविषयक नहीं है, जबकि केवलज्ञान तो क्षायिक और सर्वद्रव्यपर्यायविषयक है। अनुभवज्ञान श्रुतज्ञान भी नहीं है, क्योंकि यह शास्त्रजन्य बोध भी नहीं है,^{२६५} किंतु जिस तरह अरुणोदय के बाद अल्पसमय में ही सूर्योदय होता है, वैसे ही अनुभवज्ञान के बाद अल्पसमय में ही केवलज्ञान हो जाता है।

उ. यशोविजयजी ने अनुभवज्ञान का समावेश मतिज्ञान में किया है, परन्तु वह मतिज्ञान सामान्य नहीं है। विशिष्ट कोटि की प्रबल विशुद्ध आंतरिक शक्ति से मतिज्ञानावरण के उत्कृष्ट क्षयोपशम से अनुभवज्ञान प्रकट होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शास्त्रज्ञान श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम से प्रकट होता है, जबकि अनुभवज्ञान मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से प्रकट होता है।

शास्त्रज्ञान और अनुभवज्ञान-दोनों में अन्तर स्पष्ट है। शास्त्रज्ञान शाब्दिक तथा बाह्य है, जबकि अनुभवज्ञान आन्तरिक है। शास्त्रज्ञान में केवलज्ञान प्राप्त कराने की सामर्थ्य नहीं है, जबकि अनुभवज्ञान के बाद अवश्य केवलज्ञान होता है। शास्त्रज्ञान परोक्ष है, जबकि अनुभवज्ञान प्रत्यक्ष है।

शास्त्रों को पढ़-पढ़कर मात्र मस्तिष्क को पुस्तकों का वाचनालय बनाने से साधक की प्रगति नहीं होती है। शास्त्रों द्वारा पदार्थ का स्वरूप को जानने के बाद उसकी स्वानुभूति आवश्यक है। यह मात्र ज्ञान नहीं ज्ञानाचार है।

^{२६४} देहाद्यात्मत्वविभ्रान्तौ जाग्रत्यां न हठात् पुमान्
ब्रह्मात्मत्वेन विज्ञातुं क्षमते मन्दधीत्वतः ॥६/२१॥-पंचदशी -विद्यारण्यस्वामी

^{२६५} सन्ध्येव दिनरात्रिभ्यां केवलश्रुतयोः पृथक्
बुधैरनुभवो दृष्टः केवलाऽर्काऽरुणोदयः ॥११॥ -अनुभवाष्टक-ज्ञानसार- उ. यशोविजयजी

ध्यान और ज्ञानयोग में अन्तर

उ. यशोविजयजी ने अध्यात्मसार में चार प्रकार के योग बताए हैं- १. कर्मयोग २. ज्ञानयोग ३. ध्यानयोग और ४. मुक्तियोग। ये चारों क्रमानुसार हैं। कर्मयोग का अच्छी तरह अभ्यास करके ज्ञानयोग में अच्छी तरह स्थिर होकर ध्यानयोग पर आरूढ़ होकर मुनि मुक्तियोग को प्राप्त कर सकता है।^{२६६}

प्रातिभज्ञान या अनुभवज्ञान को ही ज्ञानयोग कहते हैं। ज्ञानयोग का स्थूल अर्थ इतना ही है कि 'आत्मज्ञान में रमणता'। ज्ञानयोग से ही समता और समाधि प्राप्त होती है। उ. यशोविजयजी अठारहवीं द्वात्रिंशिका के तेईसवें श्लोक की वृत्ति में लिखते हैं-“समता और ध्यान दोनों परस्पर एकदूसरे को उत्कृष्ट बनाने के साधन हैं। सामान्यतः दोनों का हेतु क्षयोपशम विशेष ही है।”^{२६७} शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार तो प्रातिभज्ञान केवल ज्ञान के अरुणोदयरूप होने से बारहवें गुणस्थान से निम्न गुणस्थान पर नहीं होता है, परंतु उ. यशोविजयजी ने ज्ञानबिन्दु आदि ग्रन्थों में तरतमभाव वाले प्रातिभज्ञान का भी निरूपण किया है, जिसमें निम्न-निम्नतर कक्षा का प्रातिभज्ञान चौथे आदि गुणस्थान में भी संभव है।

अध्यात्मतत्त्वालोक में कहा गया है कि शुद्धध्यान का प्रारंभ इसी ज्ञानयोग से होता है। सातवें गुणस्थान में बाह्य क्रियारहित निर्मल ध्यानदशा प्राप्त होने से ज्ञानयोग का प्रादुर्भाव भी वहीं से होता है।

ज्ञानयोगी ही ध्यानयोगी होते हैं। जो ज्ञानयोगी होते हैं, वे निर्भय होते हैं। संसार में आकस्मिक दुर्घटनाएँ घट जाती हैं, स्वजन का वियोग हो जाता है, रोगादि का उपद्रव हो जाता है, किन्तु ज्ञानयोगी सभी परिस्थितियों में शोकरहित तथा भयरहित होता है। उसका चित्त अस्वस्थ, व्यग्र या उद्विग्न नहीं होता है। उन्हें किसी पर तिरस्कार या द्वेष नहीं होता है। ऐसा ज्ञानयोगी ही ध्यान के योग्य होता है।

^{२६६} कर्मयोगं समभ्यस्य ज्ञानयोगसमाहितः
ध्यानयोगं समारूढ्य मुक्तियोगं प्रपद्यते ॥८३॥-१५, योगाधिकार-अध्यात्मसार -उ.
यशोविजयजी

^{२६७} "अप्रकृष्टयोस्तयोर्मिथ उत्कृष्टयोर्हेतुत्वात् सामान्यतस्तु
क्षयोपशमभेदस्यैव हेतुत्वात्" - योगभेद (१८ वीं) द्वात्रिंशिका के २३ श्लोक की वृत्ति-उ.
यशोविजयजी

उ. यशोविजयजी ने अध्यात्मसार में ध्यान में लीन होने वाले ज्ञानयोगी के स्वरूप का सुंदर चित्रण किया है- “ज्ञानयोगी जब ध्यान में बैठते हैं, तब वे सुखासन या पद्मासन आदि में (जो उसे सुखप्रद हो) बैठे हुए होते हैं। उनकी दृष्टि नाक के अग्रभाग पर स्थिर होती है, वे दिशाओं का अवलोकन नहीं करते हैं। उनके देह का मध्यभाग, मस्तक और ग्रीवा सीधी रहती है। ऊपर नीचे के दाँत परस्पर स्पर्श किए हुए रहते हैं और दोनों होठ परस्पर मिले हुए होते हैं। वे ज्ञानयोगी आर्त और रौद्र ध्यान का त्याग करके धर्मध्यान या शुक्लध्यान में बुद्धि को स्थिर रखने वाले तथा प्रमादरहित होकर ध्यान में तल्लीन होते हैं।”^{२६८}

इस प्रकार ज्ञानयोगी की यह विशेष अवस्था ही ध्यानयोग कहलाती है। उ. यशोविजयजी कहते हैं कि जो स्थिर अध्यवसाय है, वह ध्यान है, अर्थात् “एक ही विषय पर मन की एकाग्रता अंतर्मुहूर्त तक रहे, वह ध्यान है और एक विषय से दूसरे विषय पर, दूसरे विषय से तीसरे विषय पर मन की जो बदलती दीर्घ और अविच्छिन्न स्थिति है, वह ध्यानश्रेणी या ध्यानसंतति कहलाती है।”^{२६९}

कोई भी छद्मस्थ व्यक्ति अधिक से अधिक एक विषय पर अन्तर्मुहूर्त (४८ मिनट) ध्यान रख सकता है, इससे अधिक नहीं। अड़तालीस मिनट बाद उसका ध्यान टूट जाता है। टूटा हुआ ध्यान वापस उसी विषय में या अन्य विषय में लग सकता है। इस प्रकार लंबे समय तक चलते हुए ध्यान को ध्यान की श्रेणी कहते हैं।

न्यायविजयजी ने अध्यात्मतत्त्वालोक में कहा है- “ध्यान के लिए कोई समय नियत नहीं है। जब चित्त समाधि में हो, वह समय ध्यान के लिए प्रशस्त है। बैठकर, खड़ा होकर और सोए-सोए भी ध्यान कर सकता है, जो अवस्था या

^{२६८}. निर्भयः स्थिरनासाग्रदृष्टिर्व्रतस्थितः। सुखासनः प्रसन्नास्यो दिशश्चानवलोकयन्
देहमध्यशिरोग्रीवमवक्रं धारयन्बुधः। दन्तैरसंपृशन् दंतान् सुश्लिष्यधर पल्लवः आर्तरीद्रे
परित्यज्य धर्मं शुक्ले च दत्तधीः। अग्रमत्ते रतो ध्याने ज्ञानयोगी भवेन्मुनिः- योगाधिकार
१५/८०, ८१, ८२-अध्यात्मसार- उ. यशोविजयजी

^{२६९}. मुहूर्तान्तिभवेद् ध्यानमेकार्ये मनसः स्थितिः।
बह्यर्थसंक्रमे दीर्घाप्यच्छिन्ना ध्यानसंततिः।।२।।-ध्यानाधिकार १६/२- अध्यात्मसार- उ.
यशोविजयजी

आसन स्वयं के अनुकूल हो, जिससे ध्यान में विघ्न नहीं आए, वही आसन ध्यान के लिए प्रशस्त है।”^{३००}

ध्यानमार्ग की उत्कृष्ट भूमिका पर जो रहे हुए हैं, उनके लिए स्थान, आसन, समय आदि का कोई प्रतिबन्ध नहीं होता है, किन्तु ध्यान की प्रारंभिक अवस्था में स्थानादि का ध्यान रखना आवश्यक है। चित्त की एकाग्रता हो, तो कहीं भी ध्यान हो सकता है, किन्तु सामान्य स्थिति में ध्यान के योग्य स्थल का विचार अपेक्षित है, इसलिए उ. यशोविजयजी ने कहा है- “स्त्री, पशु, नपुंसक और दुःशील से वर्जित स्थान ध्यान के लिए उपयुक्त है।”^{३०१}

हेमचन्द्राचार्य ने योगशास्त्र के चौथे अध्ययन में ध्यान कैसे स्थल पर करना चाहिए यह बताते हुए कहा है- “आसनसिद्ध योगी को ध्यान की सिद्धि के लिए तीर्थकरों की जन्म, दीक्षा, केवलनिर्वाण भूमियों पर जाना चाहिए। उसके अभाव में स्वस्थता के हेतु भूत स्त्री, पशु-पंडक आदि से रहित किसी भी एकांत स्थल का आश्रय लेना चाहिए।”^{३०२}

ज्ञानयोग और ध्यानयोग-दोनों ही स्थिति में साधक अन्तर्मुख होता है। उसका बहिरात्मभाव प्रायः समाप्त हो जाता है। ज्ञानयोगी की अवस्था विशेष ही ‘ध्यानयोग’ कहलाती है। ज्ञानयोग प्राप्त करने के बाद ध्यानयोग होता है। छद्मस्थ को ध्यान एक विषय पर अन्तर्मुहूर्त (४८ मिनट) तक ही रहता है, जबकि ज्ञानयोग हमेशा रहता है। ध्यानयोग में आसन आदि की अपेक्षा रहती है, जबकि ज्ञानयोग में नहीं।

^{३००} ध्यानाय कालोऽपि न कोऽपि निश्चितो यस्मिन् समाधिः समयः स शस्यते
ध्यायेन्निषण्णः शयितः स्थितोऽथवाऽवस्था जिता ध्यानविधातिनी न या ॥१५॥
-ध्यानसिद्धि-छटवां प्रकरण, अध्यात्मतत्वालोक, न्यायविजयजी

^{३०१} स्त्रीपशुक्लीबदुःशीलवर्जित स्थानमागमे
सदा यतीनामाज्ञप्तं ध्यानकाले विशेषतः ॥२६॥-ध्यानाधिकार १६, अध्यात्मसार, उ.
यशोविजयजी

^{३०२} तीर्थवा स्वस्थताहेतुं यत्तद्वा ध्यानसिद्धये
कृत्तासनजयो योगि विविक्तं स्थानमाश्रयेत् ॥१२३॥- योगशास्त्र, चतुर्थप्रकाश, आ.
हेमचन्द्र

“योग के आठ अंग हैं। यम, नियम, आसन, प्रणायाम, प्रत्याहार, धारणा ध्यान समाधि उसमें से ध्यान का सातवाँ स्थान है।^{३०३} उ. यशोविजयजी ने आगमिक परम्परा के अनुसार ध्यान के चार प्रकार बताए हैं। आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान।^{३०४} इन चारों ध्यानों में, आर्त्तध्यान रोगादि की चिन्ता तथा इष्ट के संयोग एवं अनिष्ट के वियोग की चिन्तारूप तथा रौद्रध्यान, अर्थात् भयंकर हिंसादि के परिणाम- ये दोनों अशुभध्यान हैं और संसार-वृद्धि के कारण हैं। यहाँ प्रशस्त ऐसे धर्मध्यान और शुक्लध्यान का ही वर्णन है।

आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान से बचाने वाला धर्मध्यान ही है। उ. यशोविजयजी ने धर्मध्यान के चार प्रकार बताए हैं। १. आज्ञा २. अपाय ३. विपाक ४. संस्थान।^{३०५}

तत्त्वार्थसूत्र में भी आ. उमास्वाति ने कहा है-

आज्ञाऽपाय-विपाक संस्थान विचयायधर्ममप्रमत्तसंयतस्य।।^{३०६}

आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान- इनका विचार करने के लिए चित्त को एकाग्र करना धर्मध्यान है। यह धर्मध्यान अप्रमत्तसंयत को होता है। ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान वाले जीवों को भी धर्मध्यान सम्भव है।

आज्ञाविचय :- नयभंग और प्रमाण से व्याप्त, हेतु तथा उदाहरण से युक्त, प्रमाणित- ऐसी जिनेश्वर की आज्ञा का ध्यान करना। यहाँ आज्ञा का अर्थ जिनवचन, जिनागम जिनवाणी है।

अपायविचय :- धर्मध्यान का दूसरा प्रकार अपायविचय है। अपाय, अर्थात् कष्ट, अनर्थ, दुःख। उ. यशोविजयजी कहते हैं-“ऐहिक और पारलौकिक ऐसे तमाम दुःखों का मूल रागद्वेष है, अतः राग, द्वेष, कषाय, मिथ्यात्व से उत्पन्न

^{३०३} यमनियमासनबंध प्राणायामेन्द्रियार्थसंवरणम् ।

ध्यानं ध्येयसमाधि योगाष्टांगानि चेति भजः ॥ -ध्यानदीपिका -केशरसूरि म.

^{३०४} आर्त्तं रौद्रं च धर्मं च शुक्लं चेति चतुर्विधम् ।

तत् स्याद् भेदाविह द्वौ द्वौ कारणं भवमौक्षयोः ॥३॥ -ध्यानाधिकार- अध्यात्मसार- उ.

यशोविजयजी

^{३०५} आज्ञापायविपाकानां संस्थानस्य च चिन्तयात् ।

धर्मध्यानापयुक्तानां ध्यातव्यं स्याच्चतुर्विधम् ॥३६॥ - वही

^{३०६} तत्त्वार्थसूत्र - ६/३७

विविध प्रकार के विकारों से बचने का विचार करना अपायविचय है।” ३०७
अपायविचय नामक धर्मध्यान से आर्त्तध्यान रुक जाता है।

विपाकविचय :- इसमें उ. यशोविजयजी ने “मन, वचन, काया के योग से बंधते कर्म तथा कर्म की प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश तथा शुभ और अशुभ प्रकार के कर्मों का चिंतन करना बताया है।” ३०८ शुभ कर्मों के उदय से सुख का अनुभव होता है, अशुभकर्म के उदय से दुःख का अनुभव होता है आदि के विषय में चिंतन करना विपाकविचय कहलाता है।

संस्थानविचय :- उ. यशोविजयजी संस्थानविचय की परिभाषा देते हुए कहते हैं- “उत्पत्ति, स्थिति और नाश आदि के पर्यायरूप लक्षणों से युक्त लोकसंस्थान का चिंतन करना। संस्थानविचय ध्यान है।” ३०९ जैसे- इस संसार में जीवास्तिकाय आदि छः द्रव्य हैं। इन छः द्रव्यों के लक्षण, आकृति, आधार, प्रकार, प्रमाण तथा उत्पाद, व्यय घोव्य युक्त पर्यायों का चिंतन करना। देवलोक, नरकलोक आदि सहित चौदह राजलोक के विषय में चिंतन कर सकते हैं। संसार एक समुद्र है, चारित्ररूपी जहाज में बैठकर मोक्षनगर में जा सकते हैं। इस प्रकार संस्थानविचय में पदार्थों का चिंतन विस्तार से कर सकते हैं।

उ. यशोविजयजी कहते हैं- “मन और इन्द्रियों पर जिसने विजय प्राप्त कर ली है, ऐसे निर्विकार बुद्धि वाले शान्त और दान्त मुनि ही धर्मध्यान के ध्याता होते हैं।” ३१० वस्तुतः जैनधर्म में जो लक्षण धर्मध्यानी के बताए हैं वैसे ही लक्षण गीता में स्थितप्रज्ञ के बताए गए हैं। उ. यशोविजयजी ने अन्य दर्शनों का भी तलस्पर्शी अध्ययन किया है। उन्होंने अध्यात्मसार में प्रसंगवश भगवद्गीता के भी श्लोक दिए हैं। गीता के दूसरे अध्याय का दूसरा श्लोक अध्यात्मसार में दिया गया है, जिसमें स्थितप्रज्ञ का लक्षण बताते हुए कहा गया है-“दुःख में जो उद्वेगरहित

३०७. रागद्वेषकषायादिपीडितानां जनुष्मताम् ।

ऐहिकामुष्मिकांस्तांस्तान्नापायान् विचिन्तयेत् ॥३७॥- वही

३०८. ध्यायेत्कर्मविपाकं च तं तं योगानुभावजम् ।

प्रकृत्यादिचतुर्भेदं शुभाशुभविभागतः ॥३८॥- ध्यानाधिकार १६, अध्यात्मसार- उ.

यशोविजयजी

३०९. उत्पादस्थितिभंगादिपर्यायैर्लक्षणैः पृथक् ।

भेदेनमिदिभिलोकसंस्थानं चिन्तयेद्भृतम् ॥३९॥- वही

३१०. मनश्चेन्द्रियाणां च जयाद्यो निर्विकारधीः ।

धर्मस्थानस्य स ध्याता शान्तो दान्तः प्रकीर्तितः ॥६२॥- वही

मनवाला है, सुख के प्रति जिसे राग नहीं है, जिसके राग, भय और क्रोध चले गए हैं, वह मुनि स्थिरबुद्धि वाला कहलाता है।^{३११} इन लक्षणों से युक्त साधक ही धर्मध्यान के योग्य होता है, इसलिए हम इस प्रकार कह सकते हैं कि गीता के स्थितप्रज्ञ और जैनदर्शन के धर्मध्यानध्याता एक जैसे होते हैं।

वस्तुतः जो धर्मध्यान का ध्याता होता है, वही आगे जाकर अधिक योग्यता प्राप्त होने पर शुक्लध्यान का ध्याता हो सकता है। धर्मध्यान का ध्याता प्रमत्त गुणस्थानक वाला भी हो सकता है और अप्रमत्त गुणस्थानक वाला भी हो सकता है। धर्मध्यान के फल का निर्देश करते हुए उ. यशोविजयजी कहते हैं- “शील और संयम से युक्त ऐसे उत्तम धर्मध्यान के ध्याता को उत्कृष्ट पुण्य का अनुबंध होता है और स्वर्गरूपी फल की प्राप्ति होती है।^{३१२} वह उच्च देवलोक में जाता है जहाँ मोक्षाभिलाषा और आत्मचिंतन चलता रहता है। उ. यशोविजयजी ने धर्मध्यानी को पहचानने के चार लक्षण बताए हैं, जो निम्नलिखित हैं-

१. आगमश्रद्धा
२. विनय
३. सद्गुण स्तुति
४. अन्तिम तीन शुभ लेश्या^{३१३}

धर्मध्यान के बाद चौथा शुक्लध्यान आता है। यह शुभ और सर्वोत्कृष्ट ध्यान है। उ. यशोविजयजी ने शुक्लध्यान के चार प्रकार या चार पाए बताए हैं।

१. सपृथक्त्व, सवितर्क, सविचार
२. एकत्व, सवितर्क सविचार
३. सूक्ष्मक्रिया अनिवृत्ति
४. समुच्छिन्न (व्यवच्छिन्न) क्रिया अप्रतिपाति

^{३११}. दुखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।

वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥६५॥-भगवद्गीता २/२

^{३१२}. शीलसंयममुक्तस्य ध्यायतो धर्म्यमुत्तमम्।

स्वर्गप्राप्तिं फलं प्राहुः प्रौढपुण्यानुबंधिनीम् ॥७२॥-ध्यानाधिकार, १६, अ. सार- उ.

यशोविजयजी

^{३१३}. तीव्रादिभेदभाजः स्युर्लेश्यास्तिस्त्र इहोत्तराः

लिंगान्यत्रागमरद्धा विनयः सद्गुण स्तुतिः ॥७१॥- वही

शुक्लध्यान के पहले प्रकार में ध्याता किसी भी द्रव्य की पर्यायों की उत्पत्ति स्थिति और नाश का ध्यान करता है। इस ध्यान में ध्याता का चित्त एक पर्याय से दूसरे पर्याय में संक्रमण कर सकता है।

शुक्लध्यान के दूसरे प्रकार में चित्त अधिक स्थिर बनता है, निर्वातस्थान पर रखे हुए दीपक की ज्योति के समान निष्कम्प होता है। इसमें केवलद्रव्य की एक ही पर्याय का ध्यान किया जाता है। इस ध्यान में ध्याता, ध्यान तथा ध्येय एकरूप बन जाते हैं। इन दोनों प्रकार के शुक्लध्यानों के ध्याता अप्रमत्त गुणस्थानक वाले चौदह पूर्वधर ही होते हैं तथा ये दोनों प्रकार के ध्यान स्वर्ग की प्राप्ति कराते हैं।

शुक्लध्यान का तीसरा पाया सूक्ष्मक्रिया अनिवृत्ति हैं। इसमें योगनिरोध की क्रिया प्रारम्भ होती है। यह तेहरवें गुणस्थानक में सयोगीकेवली को ही होता है। आयुष्य पूर्ण होने के पहले केवली मनयोग, वचनयोग तथा बादरकाययोग का निरोध करते हैं, तब शरीर की मात्र श्वासोच्छ्वास की सूक्ष्म क्रिया बाकी रहती है। तेरहवें गुणस्थानक के अंत में जब साधक सूक्ष्मकाययोग का भी निरोध कर देता है, तब वह अयोगी गुणस्थानक को प्राप्त करता है। वहाँ आत्म-प्रदेश की स्थिरतारूप शुक्लध्यान होने से मेरूपर्वत के समान स्थिर होता है। तीसरे तथा चौथे प्रकार का ध्यान अल्पकालीन होता है। इन दोनों ध्यानों का फल मोक्ष है।

ध्यान के अंतर्गत ज्ञानधारा में विषयान्तर का संचार नहीं होता है। संयम के प्रारंभ में साधक मुख्यतया ज्ञानयोग की ही साधना करता है। प्रारंभ में प्रधानतया सतत स्वाध्याय में प्रवृत्ति रहती है, जबकि ध्यान के अधिकारी प्रायः उपर की कक्षा के योगी होते हैं।

पदार्थ ज्ञान और आत्मज्ञान

जब हम ज्ञानयोग की बात करते हैं, तो ज्ञान के दो रूप सामने आते हैं—एक बाह्यार्थ का ज्ञान और दूसरा आत्मज्ञान। जैनदर्शन में जब भी प्रमाणों की चर्चा आई, तब उन्होंने प्रमाण को स्वपरप्रकाशक बताया। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रमाण स्वयं को, और पर को अर्थात् बाह्यार्थ को दोनों को जानता है। ज्ञान ही प्रमाण है, इसलिए ज्ञान भी आत्मसापेक्ष और वस्तुसापेक्ष—दोनों प्रकार का होता है। उ. यशोविजयजी अध्यात्मोपनिषद में कहते हैं— “मुनिजन आत्मज्ञान में ही मग्न रहते हैं और पुद्गल को मात्र इन्द्रजाल के समान जानते हैं, इसलिए उनका

पदार्थों पर राग नहीं होता है।”^{३१४} यहाँ यह ज्ञातव्य है कि उ. यशोविजयजी ने पुद्गलज्ञान को, अर्थात् बाह्यार्थ के ज्ञान को इन्द्रजाल के समान कहा है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे बाह्यार्थ की सत्ता को अस्वीकार करते हैं। वे बाह्यार्थ की सत्ता को स्वीकार करते हुए भी यह मानते हैं कि बाह्यार्थों में जो ममत्व का आरोपण किया जाता है, वह मिथ्या है, क्योंकि बाह्य पदार्थ कभी भी अपने नहीं हो सकते हैं। बाह्यार्थ की सत्ता और उनके प्रति अपनेपन का बोध अलग है, अर्थात् बाह्यार्थों में ममत्वबुद्धि या अपनेपन का भाव करना भिन्न है। उ. यशोविजयजी ने ज्ञानसार में ममत्व के नाश करने के हेतु कहा है- “मैं शुद्ध आत्मद्रव्य हूँ। ज्ञान ही मेरा गुण है, मैं ज्ञान से अन्य नहीं हूँ। अन्य पदार्थ न मेरे हैं और न मैं उनका हूँ- इस प्रकार का चिन्तन मोह का नाश करने वाला तीव्र शस्त्र है।”^{३१५}

यहाँ हमें यह भी जानना चाहिए कि बाह्यार्थ की अनुभूति आत्मगत होती है, किन्तु बाह्यार्थ की सत्ता आत्मा से भिन्न ही होती है, इसलिए उ. यशोविजयजी कहते हैं- “आत्मदर्शन का आकांक्षी ज्ञान के द्वारा अन्तर्मुखी होता है। चर्मचक्षुओं से दिखाई देने वाले बाह्यार्थों के प्रति ममत्व को वह संसार-परिभ्रमण का कारण मानता है, इसलिए वह बाह्यार्थों को जानते हुए भी उनके प्रति ममत्वभाव का त्याग करता है।”^{३१६}

जैनदर्शन में बाह्यार्थ के रूप में जानने वाले ज्ञान का निषेध नहीं है, किन्तु उस ज्ञान के माध्यम से आत्म-अनात्म का विवेक जाग्रत होना चाहिए। जैनदर्शन में जिस ज्ञान को मोक्ष का हेतु माना गया है, उस ज्ञान को भेदविज्ञान कहा गया है। भेदविज्ञान का अर्थ है कि ज्ञान के माध्यम से स्व और पर का भेद जानना। वस्तुतः जो भी बाह्यार्थ हैं, वे सब मुझसे भिन्न हैं- इस प्रकार उनकी आत्मा से भिन्नता को समझ लेना ही ज्ञान की सार्थकता है।

^{३१४}. आत्मज्ञाने मुनिर्मग्नः सर्वं पुद्गलविभ्रमम्
महेन्द्रजालवद्वेत्ति नैव तत्रानुरज्यते ॥६॥ अध्यात्मोपनिषद्, २/६-उ. यशोविजयजी

^{३१५}. शुद्धात्मद्रव्यमेवाऽहं शुद्धज्ञानं गुणो मम।
नान्योऽहं न ममान्ये चेत्यदो मोहास्त्रमुल्वणम् ॥२॥ मोहत्यागाष्टक ४, ज्ञानसार -उ.
यशोविजयजी

^{३१६}. तेनात्मदर्शनाकाङ्क्षी ज्ञानेनान्तर्मुखो भवेत्
द्रष्टुर्द्रुगात्मता मुक्तिर्द्रुशैकात्म्यं भवन्नमः ॥५॥ २, अध्यात्मोपनिषद् - उ. यशोविजयजी

जैनदर्शन में जड़ और चेतन- दोनों पृथक्-पृथक् द्रव्य माने गए हैं। दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व है और दोनों शाश्वत द्रव्य हैं, किन्तु शाश्वत होकर भी दोनों के गुण-धर्म बिल्कुल अलग हैं। यद्यपि ये दोनों स्वतंत्र द्रव्य हैं, फिर भी अनंतकाल से दोनों का संयोग संबंध है। दोनों का संयोग संबंध होने पर भी आज तक जड़ चेतन रूप नहीं हुआ और चेतन जड़रूप नहीं हुआ। चेतन की सत्ता अलग है और जड़ की सत्ता अलग है। यही बोध पदार्थ और आत्मा का भेदविज्ञान है।

जैनदर्शन पदार्थगत ज्ञान को निषेध तो नहीं करता है, किन्तु वह यह मानता है कि उसे भेदविज्ञान में या आत्म अनात्म के विवेक में सहायक होना चाहिए। भेदविज्ञान की विधि यह है कि जो भी मेरे ज्ञान के बाह्य विषय हैं, वे सब मुझसे भिन्न हैं। दूसरे शब्दों में ज्ञाता अलग है और ज्ञेय अलग है। ज्ञाता आत्मा को स्व के रूप में और ज्ञेय पदार्थों को पर के रूप में पहचानना- यही भेदविज्ञान का सार है। भेदविज्ञान से जीव का ममत्व दूर होता है। ममत्व दूर होने पर उसके दुःख-दर्द भी दूर हो जाते हैं, क्योंकि परपदार्थों पर ममत्व रखना ही दुःख का मूल कारण है। पर पदार्थ, अर्थात् बाह्यार्थ से आत्मा की भिन्नता बताते हुए आनंदधनजी उनतीसवें पद में कहते हैं- “हम दृश्य नहीं, स्पर्श नहीं, रसरूप नहीं, गंधरूप नहीं, हम तो आनंदस्वरूप चैतन्यमय मूर्ति हैं।”^{३१०}

जो दिखता है, वह पुद्गल या पदार्थ और जो देखता है, वह चैतन्य है। उ. यशोविजयजी कहते हैं। कि पुद्गलों के द्वारा पुद्गल तृप्ति प्राप्त करते हैं और आत्मगुणों के द्वारा आत्मा तृप्त होती है। इस कारण से पुद्गल तृप्ति में आत्मतृप्ति घटित नहीं होती है-ऐसा ज्ञानियों का अनुभव है। यह जीव अपनी अनन्तशक्ति से अपरिचित है, मात्र पौद्गलिक-जगत से परिचित है। वह जड़ में रहता है, इसलिए उसे जड़ के सिवाय कुछ दिखाई नहीं देता है। अनित्य संयोग को उसने अपना स्वभाव मान लिया है, इसलिए दुःखी हो रहा है, अतः उ. यशोविजयजी कहते हैं। कि भेदविज्ञान को समझकर, अर्थात् पदार्थज्ञान और आत्मज्ञान के भेद को जानकर पर पदार्थों से ममत्वत्याग करके अपनी आत्मा की अनन्तशक्ति का विकास करें, यही ज्ञानयोग की साधना का सार है।^{३१८}

^{३१०} ना हम दरसन ना हम परसन, रस न गंध कछु नाहि;

आनंदधन चेतनमय मूरति, सेवक जन बलिहारी।-उनतीसवां पद- आनंदधन

^{३१८} पुद्गलैः पुद्गलास्तृप्तिं यान्यात्मा पुनरात्मना

परतृप्ति समारोपो, ज्ञानिनस्तन्न युज्यते।।५।।- तृप्ति अष्टक, १०, ज्ञानसार- उ.

यशोविजयजी

आत्मज्ञान की श्रेष्ठता का प्रश्न?

आत्मज्ञान और पदार्थज्ञान को जानने के बाद अब प्रश्न यह उठता है कि इन दोनों ज्ञानों में श्रेष्ठ कौन है? यदि आत्मज्ञान श्रेष्ठ है, तो वह किस कारण से? आत्मज्ञान, अर्थात् स्व का ज्ञान, चेतन-सत्ता का ज्ञान।

हम यह प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि चाहे व्यक्ति दुनिया की दृष्टि में एक बहुत बड़ा आदमी हो, बहुत सुखी और सम्पन्न हो, फिर भी वह प्रतिक्षण तनावरहित चित्त कि स्थिरता का अनुभव नहीं करता है। हर समय वह अपने मन को बदलता हुआ ही अनुभव करता है। कभी हर्ष में, कभी शोक में, कभी चिन्ता में, तो कभी भय में, ऐसी विषम परिस्थितियों में वह वास्तविक शांति का अनुभव नहीं कर सकता है। इसका कारण यही है कि यह जीव आत्मज्ञान के अभाव में जड़ को ही सर्वस्व मान रहा है। यह जीव अपनी चेतन सत्ता की अनन्तशक्ति से अपरिचित है।

उ. यशोविजयजी कहते हैं- “धतूरे का पान करने से उन्मादी जीव जिस प्रकार ईंट आदि को भी स्वर्ण मान लेता है ठीक उसी प्रकार अविवेकी आत्मज्ञान के अभाव के कारण जड़ शरीर आदि में आत्मबुद्धि करता है।”^{३१६}

कितने ही ऐसे वैज्ञानिक हैं, जिन्होंने अणुशक्ति का बहुत बड़ा चमत्कार उपस्थित किया। जड़ की शक्ति के विकास में सारी जिन्दगी दाव पर लगा दी, किन्तु आत्मा की अनन्तशक्ति के बारे में कभी विचार ही नहीं किया। जड़शक्ति का विकास, जड़ पदार्थों का ज्ञान आत्मज्ञान के अभाव में कभी लाभदायक सिद्ध नहीं होता है।

‘जे एगं जाणइ ते सव्वं जाणइ’- जिसने एक आत्मा को जाना उसने सबको जान लिया है, अर्थात् जिसे आत्मज्ञान हो गया है, उसे पदार्थज्ञान की आवश्यकता ही नहीं रहती है और जिसने चाहे सारे जड़ पदार्थों का अध्ययन कर लिया है, किन्तु अपने को नहीं जाना, तो वह जानना नहीं जानने के समान है। मात्र जड़ पदार्थों का ज्ञान अपने आप में कोई महत्त्व नहीं रखता है। आत्मज्ञान के अभाव में जड़ पदार्थों का ज्ञान मात्र एक विडम्बना ही है।

^{३१६} इष्टकाद्यपि हि स्वर्ण, पीतोन्मत्तो यथेक्षते ।

आत्माऽभेदभ्रमस्तद्दृग्देहादावविवेकिनः ॥५॥- विवेक अष्टक, १५-ज्ञानसार- उ.
यशोविजयजी

आध्यात्मिक विकास में आत्मज्ञान ही सहायक होता है। वही ज्ञानसाधना को गति प्रदान कर सकता है। आत्मज्ञान हमें अशांति, राग, द्वेष आदि से बचाता है। उ. यशोविजयजी कहते हैं- “आत्मज्ञानी कभी कर्मों से लिप्त नहीं होते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि पौद्गलिक भावों का करने वाला, कराने वाला और अनुमोदना करने वाला मैं नहीं हूँ।”^{३२०} गीता में कहा गया है- “जो योगी ब्रह्म में मन को रखकर, आसक्ति को छोड़कर क्रियाएँ करते हैं, वे पानी से जैसे कमल का पत्र लिप्त नहीं होता है, उसी प्रकार लिप्त नहीं होते हैं,”^{३२१} अर्थात् आत्मज्ञानी परिस्थिति से प्रभावित नहीं होता है। वह दुःख में दुःखी और सुख में सुखी नहीं होता है, इसलिए उसके कर्मबन्ध अल्प होते हैं। अध्यात्मबिन्दु में भी कहा गया है- “परद्रव्य मेरी मालिकी का नहीं और मैं परद्रव्य का मालिक नहीं हूँ। इस प्रकार सभी पौद्गलिक भावों को दूर करके जो जीव रहे, तो उसे किस प्रकार कर्मबंध हो सकते हैं।”^{३२२} इस प्रकार आत्मज्ञान हो जाने पर व्यक्ति आत्मिक आनंद में ही मग्न रहता है।

आत्मज्ञान की श्रेष्ठता निम्नलिखित कारणों से कही गई है-

१. **समत्वभाव की प्राप्ति** - जब तक आत्मा को आत्मा का ज्ञान नहीं होगा, तब तक समत्व की अनुभूति नहीं होती है। आत्मज्ञान के प्राप्त हो जाने पर व्यक्ति अनिष्ट संयोग में इष्टवियोग में, अनुकूलता में, प्रतिकूलता में, आधि, व्याधि, उपाधि के संयोगों में शान्ति का अनुभव करता है। विपरीत परिस्थिति में भी आत्मज्ञानी का समत्व भंग नहीं होता है। जैसे दशरथ ने राम के राज्याभिषेक की घोषणा की और कुछ ही समय बाद उनको वनवास दे दिया। लेकिन आत्मज्ञानी राम को राज्याभिषेक होने पर न आनंद हुआ और न वनवास होने पर दुःख हुआ। दोनों ही परिस्थितियों में उनका समत्व भंग नहीं हुआ। अतः आत्मज्ञान होने पर ही व्यक्ति को समत्व की उपलब्धि होती है। उ. यशोविजयजी

३२०. नाऽहं पुद्गलभावानां कर्ता कारयिताऽपि न।

नानुमन्ताऽपि चेत्यात्मानवान् लिप्यते कथम्॥

- (अ) निर्लेपाष्टक, २/११, ज्ञानसार- उ. यशोविजयजी

(ब) अध्यात्मोपनिषद् २. २६-उ. यशोविजयजी

३२१. ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संग त्यक्त्वा करोति यः।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रभिवाम्भसा॥१०॥- भगवद्गीता ५/१०

३२२. न स्वं मम परद्रव्यं नाहं स्वामी परस्य च

अपास्तेत्यरिवलान् भवान् यद्यास्ते बध्यतेऽथ किम्? -अध्यात्मबिन्दु (३/५)

कहते हैं- “आत्मज्ञानी दुःख में दीन नहीं होते हैं, सुख में लीन नहीं होते हैं। वे जानते हैं कि यह पूरा जगत् कर्मविपाक (फल) वश पराधीन है।”^{३२३}

२. अहंकार का नाश - शरीर, मकान, परिवार, भोजन ही अहंकार का कारण है। उ. यशोविजयजी कहते हैं- “जो आत्मज्ञानी है, वह शरीर के रूप लावण्य, गाँव, बगीचा, धन आदि पर पर्यायों का अभिमान क्या करेगा?”^{३२४} आत्मगुणों में रमण करने वाले आत्मज्ञानी को कर्म-उपाधि से जो प्राप्त हुआ, उसका अहंकार नहीं होता है, क्योंकि वह जानता है कि यह सब पर है। जैसे बैंक में केशियर लाखों रुपयों की लेनदेन करता है, करोड़ों रुपए उसके हाथ से गुजरते हैं, किन्तु वह उन्हें देखकर खुश नहीं होता है, उनका अभिमान नहीं करता है, क्योंकि वह जानता है कि यह मेरे नहीं हैं।

३. वास्तविक सुख की प्राप्ति - आत्मज्ञानी यह जानता है कि सांसारिक भोगों में सुखाभास होता है। परद्रव्यों से कभी भी शाश्वत सनातन सुख नहीं मिल सकता है। उ. यशोविजयजी कहते हैं- “जिस प्रकार सूजन आ जाने से कोई पुष्ट हो जाने की कल्पना करे, वध करने के लिए ले जाते हुए पुरुष को माला पहनाने से वह अपने आपको गौरवान्वित महसूस करें, तो यह केवल विभ्रम होगा। आत्मज्ञानी इस विभ्रम में नहीं पड़ता है। भौतिक सुख वास्तविक सुख नहीं है, यह जानते हुए आत्मज्ञानी हमेशा अपनी आत्मा में ही रमण करते हैं।”^{३२५}

उत्तराध्ययनसूत्र में भी एलक (बकरा) के दृष्टान्त से समझाया गया है कि भौतिक सुख के प्रति तीव्र राग कितना भयानक है। जिस प्रकार खा-पीकर हष्ट-पुष्ट हुए बकरे का अन्त में वध कर दिया जाता है, ठीक उसी प्रकार भौतिक सुख में लुब्ध हुए जीव की हालत होती है। सारे विश्व का ज्ञान प्राप्त करने वाले बड़े-बड़े वैज्ञानिक, धनपति, शिक्षक, डाक्टर, इंजीनियर भी यह नहीं समझ पाए कि भौतिक सुख वास्तविक सुख नहीं है। सुख की सामग्री के प्रति तीव्र राग सुख

^{३२३} दुखं प्राप्य न दीनः स्यात् सुखं प्राप्य च विस्मितः

मुनिः कर्म विपाकस्य, जानन परवशं जगत् ॥११॥ -कर्मविपाक, २१, ज्ञानसार

^{३२४} शरीर रूप लावण्य ग्रामाऽऽरामधनादिभिः।

उत्कर्षः परपर्यायै शिचदानन्दधनस्य कः ॥५॥ - आत्मप्रशंसा -१८ -ज्ञानसार

^{३२५} यथा शोफस्य पुष्टत्वं यथा वा बध्यमण्डनम्

तथा नानम्भवोन्मादमात्मतृप्तो मुनिर्भवेत् ॥६॥ -मौन, १३, ज्ञानसार

का कारण न होकर दुःख का ही कारण बनता है। मूल कारण सुख के साधनों के प्रति राग ही है। आत्मज्ञानी जानते हैं कि 'खणमित्त सुक्खा, बहुकाल दुक्खा'^{३२६}

क्षणिक सुख बहुत काल तक दुःख देने वाला है। पं. हुकुमचन्द्रभारिल्ल^{३२७} ने लिखा है कि -

मंथन करे दिन रात जल, घृत हाथ में आवे नहीं,
रज रत पेले रात दिन, पर तेल ज्यों पावे नहीं।
सद्भाग्य बिन ज्यों संपदा मिलती नहीं व्यापार में
निज आत्मा के भान बिन, त्यों सुख नहीं संसार में।

आत्मज्ञान ही वास्तविक सुख से परिचय करवाता है। आत्मज्ञान के बिना हुआ पदार्थों का ज्ञान तथा भौतिक सुख-दोनों ही अनर्थ का कारण होते हैं। लेकिन जैसे-जैसे आत्मज्ञान में वृद्धि होती जाती है, वैसे-वैसे उस जीव का अहंकार मोह, कषाय, राग, द्वेष कम होते जाते हैं। उसकी इच्छाएँ, आकांक्षाएँ समाप्त होती जाती है। दोषों को दूर होने पर आत्मज्ञानी, वास्तविक सुख, आत्मिक सुख को प्राप्त करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आत्मज्ञान ही अमूल्य है, श्रेष्ठ है, अविनाशी है।

ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का भेदाभेद

आत्मज्ञान की श्रेष्ठता को सिद्ध करने के बाद अब ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान- तीनों में भेदाभेद किस प्रकार है, इसकी व्याख्या की जा रही है। ज्ञाता, अर्थात् जानने वाला। आत्मज्ञान का शाब्दिक अर्थ है जानना, और ज्ञेय, अर्थात् जानने योग्य विषय, आत्मा जानने वाली है, अर्थात् आत्मा ज्ञायक है और ज्ञान ही उसका स्वभाव है। ज्ञान आत्मा से अपृथक् ही है, किन्तु ज्ञेय से भिन्न है। ज्ञाता और ज्ञेय- दोनों सत्ता की अपेक्षा से अलग-अलग है। उ. यशोविजयजी ज्ञानसार में कहते हैं- "मैं शुद्ध आत्मद्रव्य हूँ और ज्ञान मेरा गुण है।"

शुद्धात्माद्रव्यमेवाऽहं, शुद्धज्ञान गुणो मम

३२६. उत्तराध्ययन - एलइज्जं - ७/१,२

३२७. हुकुमचन्द्रभारिल्ल- बारहभावना

अर्थात् आत्मा गुणी है और ज्ञान गुण है। गुण और गुणी के बीच में हमेशा अभेद होता है। गुण आधार के बिना स्वतंत्र नहीं रह सकते हैं, अतः गुण गुणी से अभिन्न होकर ही रहता है।

उ. यशोविजयजी ने आत्मा और उसके गुणों में अभिन्नता बताते हुए कहा है- “जैसे रत्न की प्रभा, निर्मलता और शक्ति (वांछित फल प्रदान करने की चिंतामणि रत्नादि की शक्ति) रत्न से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार ज्ञान, दर्शन आत्मा से भिन्न नहीं है।”^{३२८} ज्ञाता और ज्ञान-दोनों में भिन्नता नहीं है। पट और उसके तन्तु-दोनों में जैसे तादात्म्य है, उसी प्रकार आत्मा और ज्ञान में तादात्म्य है। दोनों को एक-दूसरे से पृथक् नहीं कर सकते हैं।

व्यवहार में हम कहते हैं। कि ‘आत्मा का ज्ञान’, इस प्रकार यहाँ षष्ठी विभक्ति के प्रत्यय लगाने से ज्ञान और आत्मा का अलग-अलग होने का आभास होता है। वस्तुतः इसमें षष्ठी विभक्ति का प्रयोग व्यवहारमात्र है, वास्तव में तो निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा ही ज्ञान है। ज्ञानादि गुणों के साथ आत्मा की अभिन्नता है। उ. यशोविजयजी कहते हैं। कि जैसे “घट का रूप” इसमें भेद विकल्प से उत्पन्न हुआ है, उसी प्रकार “आत्मा के गुण” या ‘आत्मा का ज्ञान’ इनमें भेद तात्त्विक नहीं है।”^{३२९}

‘घड़े का रूप या आकार, यह व्यवहारनय से बोला जाता है। यहाँ घड़ा और उसका रूप या आकार इन दोनों में षष्ठी विभक्ति लगाकर भेद सूचित किया गया है, किन्तु निश्चयनय की दृष्टि से घड़ा और उसका रूप दोनों अभिन्न हैं, अलग-अलग नहीं है। इसी प्रकार आत्मा का ज्ञान- यह कहकर व्यवहार में किसी को समझाने के लिए ‘आत्मा और ज्ञान’ अलग-अलग बताने में आया है, किन्तु निश्चयनय से तो आत्मा ही ज्ञान है। ‘आत्मा और ज्ञान भिन्न नहीं है अभिन्न ही हैं’- इस बात को आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में पुष्ट किया है। वे कहते हैं कि शुद्धनय से आत्मा की अनुभूति ही ज्ञान की अनुभूति है। यह जानकर तथा

^{३२८}. प्रभानैर्मल्यशक्तीनां यथा रत्नान् भिन्नता ।

ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणानां, तथात्मनः ॥७॥ आत्मनिश्चयाधिकार, १८- अध्यात्मसार- उ. यशोविजयजी

^{३२९}. घटस्य रूपमित्यत्र यथा भेदो विकल्पजः

आत्मनश्च गुणानां च तथा भेदो न तात्त्विकः ॥६॥ आत्मनिश्चयाधिकार, अ. सार- उ. यशोविजयजी

आत्मा में आत्मा को निश्चल स्थापित करके आत्मा ज्ञानधन है, इस प्रकार जानना चाहिए।”^{३३०}

निश्चय नय से ‘आत्मा ज्ञानादिमय’ है और व्यवहारनय से आत्मा ज्ञानादि गुण वाली है।

वस्तुतः निश्चयनय मुख्य है, किन्तु पदार्थ को समझने के लिए व्यवहारनय की आवश्यकता पड़ती है। उ. यशोविजयजी कहते हैं- “यदि ज्ञानादि गुणों को आत्मा से भिन्न मानो, तो उनके भिन्न होने से स्वरूपतः आत्मा अनात्मरूप सिद्ध हो जाएगी और ज्ञानादि भी जड़ हो जाएंगे।”^{३३१} आत्मा जो चेतनवंत है, उसमें से ज्ञानादि गुण के निकल जाने पर मृत शरीररूप हो जाएंगे, अर्थात् जड़ बन जाएगी और दूसरी तरफ ज्ञानादि गुण आत्मा से अलग होने पर आधार रहित हो जाएंगे, किन्तु ऐसा कभी भी शक्य नहीं है। ज्ञानादि गुण आत्मा के लक्षण हैं, जिन्हें कभी भी आत्मा से पृथक् नहीं किया जा सकता है।

उ. यशोविजयजी ने अध्यात्म उपनिषद में भी कहा है- “आत्मा का ही स्वरूप प्रकाशशक्ति की अपेक्षा से ज्ञान कहलाता है।”^{३३२} उ. हर्षवर्धन ने अध्यात्मबिंदु ग्रंथ में बताया कि “जैसे पीलापन, स्निग्धता और गुरुत्व स्वर्ण से भिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार दर्शन, ज्ञान और चारित्र- इन निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा भिन्न नहीं है। व्यवहारनय से तो ज्ञानादि गुण आत्मा से भिन्न प्रतीत होते हैं। जैसे ‘राहु का सिर’ इसमें राहु और सिर के बीच में अभेद होने पर भी भेद की प्रतीति होती है, उसी प्रकार आत्मा ज्ञानादि गुणों के अभेद होने पर भी व्यवहारनय से आत्मा और ज्ञानादि गुणों में परस्पर भेद की प्रतीति होती है।”^{३३३}

^{३३०} आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्या। आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकंप मेकोऽस्ति नित्यमवबोधधनः समंतात् ॥१३॥-समयसार- आ. कुंदकुंद

^{३३१} वस्तुतस्तु गुणानां तद्रूपं न स्वात्मनः पृथक्

आत्मा स्यादन्यथाऽनात्मा ज्ञानाद्यपि जड़ं भवेन् ॥११॥- आत्मनिश्चयाधिकार- अध्यात्मसार

^{३३२} प्रकाश शक्त्या यदुपमात्मनो ज्ञानमुच्यते।-अध्यात्मोपनिषद् - उ. यशोविजयजी

^{३३३} पीत स्निग्ध गुरुत्वानां यथा स्वर्णान् भिन्नता।

तथा दृग्ज्ञानवृत्तानां निश्चयान्नात्मनो भिदा ॥

व्यवहारेण तु ज्ञानादीनि भिन्नानि चेतनात्।

राहोः शिरोवदप्येषोऽभेदे भेदप्रतीतिकृत् ॥-अध्यात्मबिन्दु ३/१०,११, उ. हर्षवर्धन

आचार्य अमृतचंद्र ने प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका नामक टीका में कहा है- “आत्मा से अभिन्न केवल ज्ञान ही सुख है।”^{३३४} इस व्याख्या से भी यही स्पष्ट होता है कि ज्ञान ज्ञाता से (आत्मा से) भिन्न नहीं है। समयसार की टीका प्रवचनरत्नाकर में भी आत्मा और ज्ञान में तादात्म्य बताया है और कहा गया है कि ज्ञान स्वभाव और आत्मा एक ही वस्तु हैं। दोनों में अन्तर नहीं है।^{३३५}

आचारांगसूत्र में भी कहा गया है कि ‘जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया’ अर्थात् जो विज्ञाता है, अर्थात् जानने वाला है वही आत्मा और जो आत्मा है, वही विज्ञाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि ज्ञायक गुण या आत्मा अभिन्न है, किन्तु यहाँ हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि ज्ञान ज्ञेय आधारित भी है। ज्ञेय का ज्ञाता से भेद होने के कारण ज्ञान में आत्मा से कथंचित् भिन्नता भी है। जैनदर्शन गुण और गुणी में निश्चयनय से अभेद और व्यवहारनय से भेद मानता है। ज्ञान ज्ञाता अभिन्न हैं, किन्तु ज्ञेय से भिन्न भी है। इस प्रकार ज्ञाता और ज्ञान में जैनदर्शन भेदाभेद को स्वीकार करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्ञान आत्मा का लक्षण है और उससे अभिन्न है, लेकिन यहाँ कोई यह प्रश्न करें कि यदि आत्मा का ज्ञान के साथ तादात्म्य है, आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है, तो फिर उसे ज्ञान की उपासना करने की शिक्षा क्यों दी जाती है?

उसका समाधान यह है कि यद्यपि ज्ञान का आत्मा के साथ तादात्म्य है, तथापि अज्ञानदशा में वह एक क्षणमात्र भी शुद्ध ज्ञान का संवेदन नहीं करता है। ज्ञान दो कारणों से प्रकट होता है। बुद्धत्व-काल के परिपक्व होने पर बुद्ध स्वयं ही जान ले, अथवा बोधितत्त्व का कोई दूसरा उपदेश देने वाला मिले, तब जाने। जैसे सोया हुआ व्यक्ति या तो स्वयं जागे, या कोई जगाए, तब जागे। आत्मा तो ज्ञानस्वरूप ही है, परन्तु ज्ञान मिथ्यात्वरूप भी हो सकता है और सम्यक्त्वरूप भी है। ज्ञान पूर्ण भी हो सकता है और अपूर्ण भी।

आत्मा ज्ञान से अभिन्न है, किन्तु ज्ञेय, ज्ञान तथा आत्मा-दोनों से भिन्न है। उ. यशोविजयजी ने ज्ञानसार में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान तीनों की

^{३३४}. अनाकुलतां सौख्यलक्षणभूतानात्मनोऽव्यतिरिक्ती

विभ्रानां केवलमेव सौख्यम्। -प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका (१/६० -पृ. ७१)

^{३३५}. प्रवचनरत्नाकर-भाग-३, २६ पैज

अभिन्नता बताते हुए कहा है- “आत्मा आत्मा में ही शुद्ध आत्मा को आत्मा के द्वारा जानता है।”

आत्माऽऽत्मन्येव यच्छुद्धं जानात्यात्मानमात्मना।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि ज्ञेय आत्मा से अभिन्न कैसे है? यहाँ पर ज्ञाता भी आत्मा हो, ज्ञेय भी आत्मा हो और जब ज्ञान भी आत्मा का ही हो, अर्थात् ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान तीनों ही आत्मस्वरूप हों, तो वहाँ तीनों में अभेद सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि जब आत्मा स्व को ही जाने, तब ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान-तीनों में अपृथक्त्व है, किन्तु जब आत्मा पर को जाने, तब ज्ञेय पदार्थ, ज्ञाता और ज्ञान-दोनों से भिन्न होगा।

जैसे कुर्सी का ज्ञान आत्मा में ही होता है, किन्तु कुर्सी ज्ञानरूप नहीं है, वह भिन्न है; उसी प्रकार कर्म नोकर्म आदि ज्ञेयों का प्रतिबिम्ब आत्मा में दिखाई देता है, किन्तु ये ज्ञाता तथा ज्ञान- दोनों से भिन्न हैं। जैसे दर्पण में अग्नि की ज्वाला दिखाई देती है, वहाँ यह ज्ञान होता है कि ज्वाला तो अग्नि में ही है, वह दर्पण में प्रविष्ट नहीं है और जो दर्पण में दिखाई दे रही है, वह दर्पण की स्वच्छता ही है; उसी प्रकार “कर्म” तथा “नोकर्म” का प्रतिबिम्ब भी आत्मा की स्वच्छता के कारण उसमें प्रतिभासित होता है। ज्ञेय का प्रतिबिम्ब आत्मा में होता है, अतः उस अपेक्षा ज्ञेय भी आत्मा से अभिन्न है।

उ. यशोविजयजी ने ज्ञानसार में कहा है- “जिस प्रकार तिमिररोग होने से स्वच्छ आकाश में भी नील, पीत रेखाओं द्वारा मिश्रत्व भासित होता है, उसी प्रकार आत्मा में अविवेक के कारण के विकारों द्वारा मिश्रत्व भासित होता है।”^{३३६} आत्मा तो स्वभाव से ही शुद्ध है।

इस प्रकार आत्मा का ज्ञायक स्वभाव है और पदार्थों का ज्ञेय स्वभाव है। पदार्थों में बदलाव हो, ऐसा उनका स्वभाव नहीं है और उनके स्वभाव में कुछ बदलाव करें, ऐसा ज्ञान का स्वभाव भी नहीं है। जिस प्रकार आँख नीम को नीमरूप से और गुड़ को गुड़रूप से देखती है, किन्तु नीम को बदलकर गुड़ नहीं बनाती और गुड़ को बदलकर नीम नहीं बनाती और साथ ही वह नीम भी अपना स्वभाव छोड़कर गुड़रूप नहीं होता और गुड़ भी अपना स्वभाव छोड़कर नीम नहीं

^{३३६}. शुद्धेऽपि प्योम्नि तिमिराद् रेखाभिर्मिश्रमता यथा।

विकारैर्मिश्रता भाति, तथाऽऽत्मन्यविवेकतः ॥३॥-विवेकाष्टक-१५, ज्ञानसार, उ.

यशोविजयजी

होता है; ठीक उसी प्रकार आत्मा का ज्ञानस्वभाव समस्त स्व-पर ज्ञेयों को यथावत् जानता है, किन्तु उसमें कहीं कुछ भी फेरबदल नहीं करता और ज्ञेय भी अपने स्वभाव को छोड़कर अन्य रूप नहीं होते। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ अपने अपने स्वभाव में ही विद्यमान है। स्वतंत्र ज्ञेयों को यथावत् जानना ही सम्यग्ज्ञान है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्ञान का कार्य जानने का है; किन्तु वह ज्ञेय से भिन्न है। ज्ञाता तथा ज्ञान अभिन्न हैं, किन्तु ज्ञेय पृथक् है। यह ज्ञान वीतराग विज्ञान भी कहलाता है। इस प्रकार का ज्ञान होने से व्यक्ति में कर्तृत्व की बुद्धि समाप्त हो जाती है। वह पदार्थों में अनासक्त रहकर मात्र उसका ज्ञाता-दृष्टा बना रहता है।

अध्यात्म के क्षेत्र में अनेकान्तदृष्टि का स्थान

जैनदर्शन में वस्तु को अनंतधर्मात्मक कहा गया है। वस्तु की यह तात्त्विक अनंतधर्मात्मकता ही जैनदर्शन के अनेकान्त सिद्धान्त का आधार है। अनेकान्तदृष्टि शुद्ध आध्यात्मिक व्यक्ति को ही उपलब्ध हो सकती है, क्योंकि जिसमें रागद्वेष आग्रह और पक्षपात नहीं है, वही सच्चे अर्थ में अनेकान्तवादी हो सकता है। आध्यात्मिक साधना अनेकान्त का आधार है। आध्यात्मिक व्यक्ति का व्यवहार और सिद्धान्त अनेकान्त से युक्त होते हैं। अनेकान्तदृष्टि के बिना न तो अध्यात्म व्याख्या की जा सकती है, और न ही उसकी साधना की जा सकती है। जब अनेकान्तदृष्टि का विकास होता है, तब व्यक्ति के मन में जमा हुआ सारा आग्रह और एकान्तमल धुल जाता है और मन दर्पण के समान निर्मल हो जाता है।

जैनदर्शन में प्राचीन समय से ही आगमों में वस्तुतत्त्व को अनेकान्तिक शैली में परिभाषित किया जाता रहा है। भगवतीसूत्र में विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा पूछे गए अनेक प्रश्नों के उत्तर भगवान् महावीर ने स्याद्वादशैली में दिए हैं।

उ. यशोविजयजी ने 'अध्यात्मोपनिषद् के', भगवतीसूत्र में सोमिल द्वारा पूछे गए प्रश्नों के भगवान् महावीर द्वारा दिए गए, उत्तरों की सुंदर ढंग से व्याख्या करते हुए अनेकान्त के सिद्धान्त की पुष्टि की है।

सोमिल ने प्रश्न किया- "हे भगवन् ! आप एक हो, दो हो, अक्षय हो, अब्यय हो, अवस्थित हो, अथवा अनेक भूतभावी पर्यायरूप हो?" स्याद्वाद की सिद्धि के लिए भगवान् ने कहा- "मैं द्रव्य की दृष्टि से एक हूँ और दर्शन-ज्ञान

की अपेक्षा से उभयरूप हूँ। आत्मप्रदेश के विचार से मैं अक्षय, अव्यय, अवस्थित हूँ और पर्यायार्थिकनय के आश्रय से मैं अनेक भूतभावी पर्यायस्वरूप हूँ।”

एकधर्मी में भी भिन्न-भिन्न धर्मों की अपेक्षा से एकत्व और अनेकत्व का विरोध नहीं है। एक ही वस्तु में किसी एक गुणधर्म की अपेक्षा एकत्व और गुणधर्मों की अपेक्षा अनेकत्व हो सकता है। इसी प्रकार एक ही धर्मों में नित्यत्व और अनित्यत्व के समावेश का समर्थन करते हुए भगवान् महावीर ने कहा कि आत्मप्रदेशों का न तो कभी नाश होता है और न वे कभी कम या अधिक होते हैं, अतः इन आत्मप्रदेशों से आत्मा अपृथग्भूत होने से इनकी अपेक्षा से आत्मा को अक्षय और अव्यय मानना युक्तिसंगत है, किन्तु पर्यायों की अपेक्षा से अनित्यता भी युक्तिसंगत है, क्योंकि अतीत, अनागत, वर्तमानकालीन विविध विषयक अनेक उपयोग आत्मा से कथंचित भिन्न भी है। पर्याय की अपेक्षा से अनित्यता को स्वीकार करने में भी इसलिए ही कोई बाधा नहीं है।

यदि कोई शंका करे कि परस्पर विरुद्ध नित्यत्व अनित्यत्व आदि धर्मों को एक ही वस्तु में समावेश करने में विरोध क्यों नहीं आएगा? जो वस्तु नित्य है, वही अनित्य कैसे हो सकती है? इसका उत्तर देते हुए उ. यशोविजयजी कहते हैं- “जैसे एक ही व्यक्ति में पितृत्व, पुत्रत्व आदि भिन्न-भिन्न गुण अपेक्षा से रहे हुए हैं, उनमें कोई विरोध नहीं रहता है, उसी प्रकार एक ही वस्तु में नित्यत्व, अनित्यत्व आदि विरोध नहीं होता है।”

जैसे एक ही राम में लवकुश की अपेक्षा से पितृत्व तथा दशरथ की अपेक्षा से पुत्रत्व, लक्ष्मण आदि की अपेक्षा से भ्रातृत्व, सीता की अपेक्षा से पतित्व रहा हुआ है और विद्वानों का इसमें कोई विरोध नहीं है, उसी प्रकार द्रव्यत्व की अपेक्षा से आत्मा नित्य और बालावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था आदि विभिन्न पर्यायों की अपेक्षा से आत्मा अनित्य है। वस्तुतः आत्मा का नित्यानित्य स्वीकार करें, तो ही आध्यात्मिक विकास-यात्रा संभव है।

यदि आत्मा को एकांतनित्य माना जाए, तो ध्यान, स्वाध्याय, प्रतिक्रमण आदि का विधान तथा हिंसा, झूठ चोरी आदि का निषेध और इनका योगक्षेम करने वाली समिति, गुप्ति आदि क्रियाएँ निरर्थक हो जाएंगी। एकांतनित्य आत्मा में विकार सम्भव नहीं होंगे, अतः ध्यान तप आदि के द्वारा निर्जरा, या संवर संभव नहीं होगा। उसी प्रकार यदि आत्मा को एकांत क्षणिक माना जाए तो भी ध्यान आदि निष्फल होंगे, क्योंकि दूसरे ही क्षण वह आत्मा ही नहीं रहती है, तो फिर ध्यान आदि का फल किसे प्राप्त होगा। आत्मा को एकांतक्षणिक मानने पर

कृतप्रनाश (की गई क्रिया का निष्फल होना) तथा अकृत आगम (स्वयं के द्वारा नहीं की गई क्रिया के फल की प्राप्ति होना) आदि दोष उत्पन्न होंगे, अतः स्याद्वादी आत्मा के नित्यानित्य स्वरूप को स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार सभी जगह नित्यत्व, अनित्यत्व सिद्ध होने पर भी पदार्थ में एकांतनित्यता या एकांत अनित्यता का आग्रह रखें, तो यह महामोह का उदय है, मूढ़ता है। इसी अभिप्राय से हमेचन्द्राचार्य ने अन्ययोगव्यच्छेद द्वात्रिंशिका में कहा है कि दीपक से लेकर आकाश तक की प्रत्येक वस्तु स्याद्वाद की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करती, नित्यानित्य उभयात्मक है। फिर भी हे वीतराग ! आपकी आज्ञा के द्वेषी (अनेकांत के द्वेषी) अन्य दर्शनकार आकाश को एकांतनित्य तथा दीपक को एकांत अनित्य मानते हैं। कार्तिकेय अनुप्रेक्षा में कहा गया है कि जो वस्तु अनेकान्तस्वरूप है, वही नियमा कार्य करती है।

भगवान् महावीर द्वारा जितनी भी दृष्टियाँ सामने आती हैं, उतनी ही दृष्टियों से प्रश्न का समाधान किया जाता है। एक दृष्टि से चिन्तन करने पर ऐसा भी हो सकता है लेकिन दूसरी दृष्टि से सोचने पर ऐसा नहीं भी हो सकता है। प्रश्नोत्तर की यह शैली विचारों को सुलझाने वाली शैली है। इस शैली के द्वारा किसी वस्तु के अनेक पहलुओं का ठीक-ठीक पता लग जाता है और उनका विश्लेषण एकांगी नहीं होता है। महावीर ने इस दृष्टि को अनेकान्तवाद या स्याद्वाद कहा और इससे विपरीत दृष्टि को एकान्तवाद का नाम दिया। बुद्ध ने भी इस अनाग्रही दृष्टि को विभज्यवाद का नाम दिया इससे विपरीत दृष्टि को एकांशवाद कहा।

जैन साहित्य में आचारांग अत्यन्त प्राचीन ग्रंथ है। इसमें भी हमें “जे आसवा ते परिसवा, जे परिसवा ते आसवा”, अर्थात् जो आश्रव के कारण हैं, वे ही निर्जरा के कारण बन जाते हैं और जो निर्जरा के कारण हैं, वे आश्रव के कारण बन जाते हैं- यह कहकर अनेकान्तवाद को ही पुष्ट किया है।

अन्य दार्शनिक परम्पराएँ और अनेकान्तवाद

डॉ. सागरमल जैन “अनेकान्तवादः सिद्धान्त और व्यवहार” में लिखते हैं- “यह अनेकान्तदृष्टि श्रमण-परम्परा के अन्य दार्शनिकों में भी प्रकार भेद से

उपलब्ध होती है। संजयवेलट्टिपुत्र का मन्तव्य बौद्ध ग्रन्थों में निम्न रूप से प्राप्त होता है-

१. है? ऐसा नहीं कह सकता।
२. नहीं है? ऐसा भी नहीं कह सकता।
३. है भी और नहीं भी? ऐसा भी नहीं कह सकता।
४. न है और न नहीं है? ऐसा भी नहीं कह सकता।

इससे यह फलित होता है कि संजयवेलट्टिपुत्र भी एकान्तवादी दृष्टि के समर्थक नहीं थे। उपनिषदों में भी हमें सत्-असत्, उभय व अनुभय, अर्थात् ये चार विकल्प प्रकीर्ण रूप से उपलब्ध होते हैं। औपनिषादिक चिन्तन एवं उसके समानान्तर विकसित श्रमण-परम्परा में यह अनेकान्तदृष्टि किसी न किसी रूप में अवश्य उपस्थित रही है, किन्तु उसके अभिव्यक्ति की शैली भिन्न है। इस युग के बाद भारतीय चिन्तन के दार्शनिक युग में भी विविध दर्शनों ने इस शैली को अपनाया है।^{३३७} ब्रह्मानन्द ग्रंथ के अद्वैतानन्द प्रकरण में विद्यारण्यस्वामी ने कहा है- “घट मिट्टी से भिन्न नहीं है, क्योंकि जब मिट्टी का वियोग होता है, तब घट नहीं दिखता है, उसी प्रकार घट मिट्टी से अभिन्न भी नहीं है, क्योंकि पूर्व में पिंड अवस्था में घट नहीं दिखता है।”^{३३८} इस प्रकार एक ही घट में भिन्नत्व अभिन्नत्व इन दो विरुद्ध धर्मों को स्वीकार करके स्याद्वाद की पुष्टि की गई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अनेकान्तवाद (स्याद्वाद) के बिना अध्यात्म एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता है, क्योंकि आध्यात्मिक साधना का मुख्य लक्ष्य राग, द्वेष, आसक्ति, अहंकार, आग्रह की समाप्ति है, साथ ही समता, सहिष्णुता, माध्यस्थभाव, मैत्री, प्रमोद, कारुण्य आदि भावों का विकास करना है। जहाँ जैन धर्म की साधना का लक्ष्य वीतराग है, वहीं बौद्ध धर्म की साधना का लक्ष्य वीततृष्णा होना माना गया है, इसी प्रकार वेदान्तदर्शन में भी अहं और आसक्ति से मुक्त होना मानव का साध्य बताया गया है, लेकिन जब तक जीवन में आग्रह है, दृष्टिराग है, अन्य दर्शन के प्रति द्वेष है, तब तक अध्यात्मिक क्षेत्र में वीतरागता के लक्ष्य की सिद्धि कैसे होगी ? डॉ. सागरमल जैन ने अनेकान्त जीवनदृष्टि नामक पुस्तिका में लिखा है- “जिन साधना-पद्धतियों में अहिंसा के आदर्श को स्वीकार किया गया, उनके लिए आग्रह या एकान्त वैचारिक हिंसा का

^{३३७}. अनेकान्तवाद स्याद्वाद और सप्तभंगी पृ. xviii डॉ. सागरमल जैन।

^{३३८}. स घटो नो मृदो भिन्नः, वियोगे सत्यनीक्षणत्वात्।

नाय्यभिन्नः पुरापिण्डदशायामनवेक्षणात् ।। ब्रह्मानन्द, अद्वैतानन्दप्रकरण - पृ. ३५

प्रतीक भी बन जाता है। एक ओर साधना के वैयक्तिक पहलू की दृष्टि से मताग्रह वैचारिक आसक्ति या राग का ही रूप है, तो दूसरी ओर साधना के सामाजिक पहलू की दृष्टि से वह वैचारिक हिंसा है। वैचारिक आसक्ति और वैचारिक हिंसा से मुक्ति के लिए आध्यात्मिक क्षेत्र में अनाग्रह और अनेकान्त की साधना अपेक्षित है।”^{३३६}

उ. यशोविजयजी ने अध्यात्मोपनिषद् में कहा है- “जैसे माता को अपने सब बच्चों के प्रति समान स्नेह होता है, ठीक वैसे ही जिस अनेकान्तवाद को सब नयों (दृष्टिकोणों या मतवादी) के प्रति समान दृष्टि होती है, उस स्याद्धादी या अनेकांतवादी को एक नय में हीनता की बुद्धि और अन्य नय के प्रति उच्चता की बुद्धि कैसे होगी?”^{३४०} अर्थात् किसी भी नय में हीनता या उच्चता की बुद्धि स्याद्धादी को नहीं होती है। इस प्रकार की निर्मल दृष्टि हो जाने पर व्यक्ति में समत्व का विकास होता है। साधन भिन्न-भिन्न होने पर भी सभी धर्मों का साध्य एक ही है- समत्वलाभ, अर्थात् आन्तरिक तथा बाह्य शान्ति की स्थापना के लिए राग और द्वेष को नष्ट करना। साध्य की अपेक्षा से धर्म एक होने पर भी साधन की अपेक्षा से धर्म अनेक हो सकते हैं, क्योंकि राग और द्वेष के निराकरण के अनेक उपाय हो सकते हैं। एक ही साध्य की ओर उन्मुख होने से वे परस्पर विरोधी नहीं कहे जा सकते हैं। एक ही केन्द्र से खिंची गई विभिन्न रेखाओं में पारस्परिक विरोध प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में विरोध नहीं होता है, क्योंकि केन्द्र से संयुक्त प्रत्येक रेखा में एक-दूसरे को काटने की क्षमता नहीं होती है, लेकिन जैसे ही वे केन्द्र का परित्याग करती हैं, तब एक दूसरे को अवश्य काटती हैं, उसी प्रकार सभी धर्मों का साध्य एक ही है, किन्तु उनमें साधनरूपी धर्म की अनेकता स्थित है। साध्य एक होने पर उनमें विरोध कैसा? अनेकान्त का सिद्धान्त धर्मों की साध्यपरक एकता तथा साधनपरक अनेकता को इंगित करते हुए सभी धर्मों में सामंजस्य स्थापित करता है।

^{३३६}. अनेकान्त की जीवनदृष्टि, पृ. २३ -सौभाग्यमल जैन, डॉ. सागरमल जैन

^{३४०}. यस्य सर्वत्र समता, नयेषु तनयेष्विव।

तस्यानेकान्तवादस्य, क्व न्यूनाधिकशेषुषी ॥६११॥ अध्यात्मोपनिषद् १/६२- उ. यशोविजयजी

अतः आध्यात्मिक क्षेत्र में अनेकान्तवाद के सिद्धान्त का वही स्थान है, जैसे तारों के मध्य चन्द्रमा का। जिसके हृदय में अनेकान्त बसा हुआ है, उसका हृदय हमेशा समता, सहिष्णुता तथा शान्ति के दिव्य प्रकाश से आलोकित रहता है।

एकान्तवाद की समीक्षा और अनेकान्तवाद की व्यापकता

अनेकान्तवाद का आध्यात्मिक क्षेत्र में क्या स्थान है? इसका वर्णन पूर्व में किया जा चुका है। वैसे तो अनेकान्तवाद की व्यापकता इतनी है कि कोई भी क्षेत्र उससे अछूता नहीं है। चाहे धार्मिक क्षेत्र हो या सामाजिक, राजनीतिक क्षेत्र हो या अन्य कोई भी क्षेत्र, अगर अनेकान्त सिद्धान्त स्वीकार नहीं किया जाए, तो कई विवाद खड़े हो जाते हैं, जिन्हें अनेकान्त को स्वीकार किए बिना सुलझाया भी नहीं जा सकता है। समग्र भारतीय दार्शनिक चिन्तन की पृष्ठभूमि में अनेकान्तिक दृष्टि रही हुई है, चाहे उन्होंने अनेकान्त के सिद्धान्त को सम्यक् प्रकार से नहीं समझा हो और उसकी आलोचना की हो। अनेकान्तवाद का विरोध करने वाले एकान्तवादियों के कुतर्क एवं कुयुक्तियों का अनेकान्तवाद द्वारा निराकरण कर देने पर उनकी वापस एकान्तवाद में प्रवेश पाने की क्षमता समाप्त हो जाती है। उनके लिए भी अपने एकान्तवाद की त्रुटियाँ दूर करने के लिए स्याद्वाद का ही आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है, ठीक वैसे ही जैसे कोई व्यक्ति बिल्ली को छोड़ने जंगल में जाता है और स्वयं ही घर का रास्ता भूल जाने से उसी बिल्ली के पीछे-पीछे ही वापस घर लौटता है।

सापेक्षवाद से बहिर्भूत निरपेक्ष एकान्तवाद की प्रतिष्ठा कभी नहीं की जा सकती है। अनेकान्तवाद की कुक्षि में रहकर ही सापेक्ष एकान्तवाद का जन्म सम्भव है। एकान्तवादी के दर्शनों में भी अनेकान्त किस तरह समाया हुआ है, यह जानने से पहले एकान्तवाद किसे कहते हैं। यह समझना आवश्यक है।

एकान्तवाद किसी एक दृष्टि का ही समर्थन करता है। चाहे वह दृष्टि सामान्य की हो या विशेष की, नित्यता की हो या अनित्यता की, जो लोग सामान्य का ही समर्थन करते हैं, वे अभेद को ही जगत् का मौलिक तत्त्व मानते हैं और भेद को मिथ्या कहते हैं। उनके विरोधी भेदभाव का समर्थन करने वाले अभेद को सर्वथा मिथ्या समझते हैं। सद्वाद का एकान्तरूप से समर्थन करने वाले किसी भी कार्य की उत्पत्ति या विनाश को वास्तविक नहीं मानते। दूसरी ओर असद्वाद के समर्थक प्रत्येक कार्य को नया मानते हैं। वे कहते हैं कि कारण में कार्य नहीं

रहता है, अपितु कारण से भिन्न नए कार्य की उत्पत्ति होती है। जहाँ एक प्रकार का एकान्तवाद खड़ा होता है, वहाँ उसका विरोधी एकान्तवाद तुरन्त मुकाबले में खड़ा हो जाता है। सत्यता का दावा करने वाले प्रत्येक दो विरोधी पक्ष आपस में इतना लड़ते क्यों है? यदि दोनों पूर्ण सत्य हैं, तो दोनों में विरोध क्यों? इससे ज्ञात होता है कि दोनों पूर्णरूप से सत्य तो नहीं हैं, किन्तु ऐसा भी नहीं है कि दोनों पूर्णरूप से मिथ्या हों। एकान्तवादी के सिद्धान्त अपने दुराग्रह के कारण मिथ्यात्व से युक्त हैं। सत्यता एकान्तवाद में नहीं, अपितु अनेकान्तवाद में है। एकान्तवादी दर्शनों के सिद्धान्त किस तरह अनेकान्तवाद में सम्मिलित हैं, इस विषय का सतर्क सम्यक् प्रतिपादन उ. यशोविजयजी ने अपने ग्रंथ अध्यात्मोपनिषद् में किया है। अनेकान्तवाद का क्षेत्र इतना व्यापक है कि किसी भी क्षेत्र में इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है।

उ. यशोविजयजी कहते हैं- “दही के रूप में जो उत्पन्न हुआ है और वही दूध के रूप में नष्ट हुआ है, तथा वही गोरस के रूप में स्थाई है, इस प्रकार जानते हुए भी कौन व्यक्ति ऐसा होगा, जो स्याद्वाद से द्वेष करे?”^{३४१} स्थाई ऐसे गोरस में पूर्वकालीन दूध की पर्याय (अवस्था) का नाश और उत्तरकालीन दही पर्याय की उत्पत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होने के कारण विरुद्ध नहीं है, अतः वस्तु द्रव्यपर्याय उभयात्मक होने से उत्पादव्ययध्रोव्यात्मक सिद्ध होती है।

सांख्यदर्शन में स्याद्वाद :

उ. यशोविजयजी कहते हैं- “सत्त्व, रजस् और तमस्- इन तीन विरोधी गुणों से युक्त प्रकृतितत्त्व को स्वीकार करने वाले बुद्धिशालियों में मुख्य ऐसा सांख्य अनेकांतवाद का प्रतिक्षेप नहीं करता है,^{३४२} क्योंकि स्याद्वाद का विरोध करने पर उसको मान्य प्रधान प्रकृति तत्त्व का ही उच्छेद हो जाएगा। परस्पर विरोधी गुण-धर्म से युक्त प्रकृतितत्त्व को स्वीकार करना तथा अनेकांतवाद का विरोध करना तो जिस डाली पर बैठे, उसी को काटने जैसा होगा। साथ ही सांख्य

^{३४१}. उत्पन्नं दधिभावेन नष्टं दुग्धतया पयः
गोरसत्वात् स्थिरं जानन् स्यादद्वादद्विद्धं जनोऽपि कः॥४४॥ -अध्यात्मोपनिषद्, उ.
यशोविजयजी

^{३४२}. इच्छन् प्रधानं सत्त्वाद्यैर्विरुद्धैर्गुम्भितं गुणैः
सांख्यः संख्यावतां मुख्यो नानेमान्तं प्रतिक्षिपेत्॥४६॥
- (अ) अध्यात्मोपनिषद्, उ. यशोविजयजी (ब) वीतरागस्तोत्रं, ८, आ. हेमचन्द्र

दर्शन प्रकृति में प्रवृत्ति और निवृत्ति- दोनों गुणों को स्वीकार करता है। सांसारिक पुरुषों की अपेक्षा से वह प्रवृत्यात्मक और मुक्तपुरुष की अपेक्षा से निवृत्यात्मक देखी जाती है। इसी प्रकार पुरुष में ज्ञान-अज्ञान, कर्तृत्व-अकर्तृत्व, भोक्तृत्व-अभोक्तृत्व के विरोधी गुण रहते हैं। सांख्य दर्शन की इस मान्यता को महाभारत में भी स्पष्ट किया गया है। उसमें लिखा है कि “जो विद्वान् जड़ और चेतन के भेदाभेद को तथा एकत्व और नानात्व को देखता है, वह दुःख से छूट जाता है।”^{३४३} डॉ. सागरमल जैन लिखते हैं- “जड़ और चेतन का यह भेदाभेद तथा एकत्व में अनेकत्व और अनेकत्व में एकत्व की यह दृष्टि अनेकांतवाद की स्वीकृति के अतिरिक्त और क्या हो सकती है।” यही भेदाभेद की दृष्टि अनेकांत की आधारभूमि है, जिसे किसी न किसी रूप में सभी दर्शनों को स्वीकार करना ही होता है।

नैयायिक वैशेषिक

दर्शन में स्याद्वाद :

उ. यशोविजयजी कहते हैं- “जो एक ही वस्तु चित्ररूप या अनेकरूप मानते हैं, वे नैयायिक या वैशेषिक भी अनेकांतवाद का अनादर नहीं कर सकते हैं।”^{३४४} जो स्वयं एक ही घट में व्याप्यवृत्ति की अपेक्षा एकचित्ररूप एवं अव्याप्यवृत्ति की अपेक्षा विलक्षण चित्ररूपों को मान्य करते हैं, उनके लिए अनेकान्त का अनादर करना, यानी स्वयं के पैर पर कुल्हाड़ी मारने जैसा है। स्याद्वाद के उन्मूलन से उनके अपने मन्तव्य का ही उन्मूलन हो जाएगा। एकानेक रूपों का एक ही धर्मी में समावेश करना ही अनेकान्तवाद की स्वीकृति है। डॉ. सागरमल जैन लिखते हैं- “वैशेषिक दर्शन में जैनदर्शन के समान ही प्रारम्भ में जिन तीन पदार्थ की कल्पना की गई, वे द्रव्य, गुण और कर्म हैं, जिन्हें हम जैनदर्शन के द्रव्य, गुण और पर्याय कह सकते हैं। अनुभूति के स्तर पर द्रव्य से

^{३४३}. यो विद्वान् सहसंवासं विवासं चैव पश्यति ।

तथैवैकत्व नानात्वे स दुःखात् परिमुच्यते ॥१७॥- आश्वमेधिक, अनुगीता, अ. ३५ वॉ

^{३४४}. चित्रमेकमनेकं च रूपं प्रामाणिकं वदन् ।

योगो वैशेषिको वाऽपि नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥४७॥

-(अ) अध्यात्मोपनिषद्, उ. यशोविजयजी (ब) वीतरागस्तोत्रं, ८, आचार्य हेमचन्द्र

पृथक् गुण तथा द्रव्य और गुण से पृथक् कर्म नहीं होते हैं। यही उनका भेदाभेद है, यही तो अनेकांत है।”^{३४५}

वैशेषिकसूत्र^{३४६} में भी कहा गया है-

“द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च सामान्यानि विशेषाश्च”- द्रव्य, गुण और कर्म को युगपद सामान्य, विशेष, उभय रूप मानना, यही तो अनेकांत है।

पुनः, वस्तु सत्-असत् रूप है इस तथ्य को भी कनाद महर्षि ने अन्योन्य भाव के प्रसंग से स्वीकार किया है। तात्पर्य यह है कि वस्तु स्वस्वरूप की अपेक्षा से अस्तिरूप है और पर स्वरूप की अपेक्षा नास्तिरूप है। यही तो अनेकांत है, वैशेषिकों को भी मान्य है।

बौद्धदर्शन में अनेकांतवाद :

उ. यशोविजयजी कहते हैं। कि बौद्धदर्शन भी अनेकान्तवाद से मुक्त नहीं है। वे कहते हैं- “विचित्र आकार वाली वस्तु का एक आकार वाले विज्ञान में प्रतिबिम्बित होने को मान्य करने वाले प्राज्ञ बौद्ध भी अनेकान्तवाद का अपलाप नहीं कर सकते हैं।”^{३४७}

विभिन्न वर्ण से युक्त पट का जो ज्ञान होता है, वहाँ ज्ञान का स्वरूप तो एक ही है, परंतु वह विविध वर्ण के उल्लेख वाले अनेक आकार से युक्त है। आशय यह है कि ग्राहकत्व रूप से ज्ञान का स्वरूप एक होने पर भी उसमें नील, पीत आदि अनेक रूप भी हैं। यह मान्यता अनेकान्तवाद का अवलम्बन लेने पर ही सम्भव है। अपने सिद्धान्त की नींव में रहे हुए अनेकान्तवाद का तिरस्कार करने का मतलब यही हुआ कि वह तिरस्कार अपने पैरों पर ही कुठार प्रहारतुल्य है।

शाश्वतवाद और उच्छेदवाद- इन दोनों एकांतों को अस्वीकार करने वाले गौतमबुद्ध की स्याद्वाद में मूक सहमति तो है ही। एकान्तवाद से बचने के लिए

^{३४५}. भारतीय दार्शनिक चिन्तन में अनेकान्त - डॉ. सागरमल जैन

^{३४६}. वैशेषिक सूत्र, १/२/५

^{३४७}. विज्ञानस्यैकमाकारं, नानाकारकरम्बितम्

इच्छंस्तथागतः प्राज्ञो, नानेकान्त प्रतिक्षिपेत् ॥४६॥

- (अ) अध्यात्मोपनिषद् -उ. यशोविजयजी (ब) वीतरागस्तोत्रं, ८, आ. हेमचन्द्र

बुद्ध ने या तो मौन का सहारा लिया, या विभज्यावाद को अपनाया, अथवा निषेधमुख से मात्र एकांत का खण्डन किया। डॉ. सागरमल जैन^{३४८} लिखते हैं- “त्रिपिटक में ऐसे अनेक सन्दर्भ हैं, जहाँ बुद्ध ने एकान्तवाद का निरसन किया है। जब उनसे पूछा गया क्या आत्मा और शरीर भिन्न है ? वे कहते हैं, मैं ऐसा नहीं कहता। फिर जब यह पूछा गया कि आत्मा और शरीर अभिन्न हैं, तो उन्होंने कहा कि मैं ऐसा भी नहीं कहता।

बौद्ध परम्परा में विकसित शून्यवाद तथा जैनपरम्परा में विकसित अनेकान्तवाद-दोनों का ही लक्ष्य एकान्तवादी धारणाओं को अस्वीकार करना था। दोनों में फर्क इतना ही है “शून्यवाद निषेधपरक शैली को अपनाता है, जबकि अनेकान्तवाद में विधानपरक शैली अपनाई गई है।”

शून्यवाद के प्रमुख ग्रन्थ मध्यमकारिका में नागार्जुन ने लिखा है-

“न सद् नासद् न सदसत् न चानुभयात्मकम्।
चतुष्कोटि विनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः।”^{३४९}

अर्थात् परमतत्त्व न सत् है, न असत् है, न सत्-असत् है और न सत्-असत्-दोनों नहीं है। यही बात विधिपरक शैली में जैनाचार्यों ने भी कही है-

यदेवतत्तदेवातत् यदेवैकं तदेवानेकं
यदेवसत् तदेवासत् यदेवनित्यं तदेवानित्यम्।

अर्थात् जो तत्त्वरूप है, वही अतत्त्वरूप भी है, जो एक है, वही अनेक भी है, जो सत् है, वही असत् भी है, जो नित्य है, वही अनित्य भी है।

तात्पर्य यह है कि अनेकांतवाद और शून्यवाद की पृष्ठभूमि में बहुत कुछ समरूपता है। उ. यशोविजयजी ने महावीरस्तव ग्रंथ में कहा है- “हे वीतराग! इस जगत में त्रिगुणात्मक प्रधान प्रकृति में परस्पर विरोधी गुणों को स्वीकार करने वाले सांख्य, विविध आकार वाली बुद्धि का निरूपण करने वाले बौद्ध, उसी प्रकार अनेक प्रकार के चित्रवर्णवाला चित्ररूप को स्वीकारने वाले नैयायिक तथा वैशेषिक

^{३४८}. भारतीय दार्शनिक चिंतन में अनेकांत, १४, डॉ. सागरमल जैन
^{३४९}. माध्यमिककारिका, २/३- नागार्जुन

आपके मत की निंदा कर सकते हैं”,^{३१०} अर्थात् उनको अपना मत मान्य रखना है, तो वे अनेकान्त का अपलाप नहीं कर सकते।

मीमांसक मुख्य प्रभाकर मिश्र की अनेकांत की स्वीकृति :

उ. यशोविजयजी कहते हैं कि मीमांसकों के सिद्धान्त की मंजिल भी अनेकान्त की नीव पर ही खड़ी है। वे कहते हैं- “जो ज्ञान स्वयं की अपेक्षा प्रत्यक्ष होता है, वही ज्ञान ज्ञेय की अपेक्षा परोक्ष भी होता है। इस प्रकार स्वीकार करने वाले प्रभाकर मिश्र को अनेकान्त का सहारा लेना ही पड़ता है।”^{३११}

विषय और इन्द्रिय के संनिकर्ष होने पर ‘यह घट है’- यहाँ ज्ञान ज्ञानत्व, ज्ञातृत्व और ज्ञेयत्व की अपेक्षा से प्रत्यक्ष ही है, परंतु अनुमान में तीनों का प्रत्यक्ष संभव नहीं है। जैसे मैं घट की अनुमिति करता हूँ, यहाँ ज्ञान तथा ज्ञाता की अपेक्षा प्रत्यक्ष होने पर भी वह ज्ञान विषय (ज्ञेय) की अपेक्षा से परोक्ष भी है। प्रत्यक्षत्व और परोक्षत्व का विरोध होने पर भी दो ज्ञान की कल्पना करना उचित नहीं है, अतः ज्ञातृत्व और ज्ञानत्व की अपेक्षा से प्रत्यक्ष होने पर भी वही ज्ञान ज्ञेयत्व की अपेक्षा से परोक्ष भी होता है, ऐसा प्रभाकर मिश्र स्वीकार करते हैं।

अतः एक ही वस्तु में दो विरोधी गुण को अपेक्षाभेद से स्वीकार करना-यही तो स्याद्वाद है।

साथ ही उ. यशोविजयजी कुमारिलभट्ट के मत की व्याख्या करते हुए हुए कहते हैं- “वस्तु जाति (सामान्य) और व्यक्ति (विशेष) उभयात्मक है। इस प्रकार अनुभवगम्य बात स्वीकार करने वाले कुमारिलभट्ट भी अनेकांत का अपलाप नहीं कर सकते हैं”,^{३१२} क्योंकि अनेकांत का विरोध करने पर इनको, मान्य वस्तु सामान्य विशेषात्मक है- यह बात असिद्ध हो जाएगी।

^{३१०}. सांख्यः प्रधानमुपयस्त्रिगुणं विचित्रां बौद्धोधिदेशिद यन्न्थ गौतमीयः। वैशेषिकश्च भुवि चित्रमनेकचित्रं वांछन् मतं न तव निन्दति चेत् सलज्जः॥४४॥ - महावीरस्तव ग्रंथ - उ. यशोविजयजी

^{३११}. प्रत्यक्षं, मितिमात्रंशे, मेयांशे तद्विलक्षणम्।

गुरुज्ञानं वदन्नेकं, नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत्॥४८॥ - अध्यात्मोपनिषद् - उ. यशोविजयजी

^{३१२}. जातिव्यक्त्यात्मकं वस्तु, वदन्ननुभवोचितम्।

भट्टो वाऽपि मुरारिर्वा, नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत्॥४९॥-अध्यात्मोपनिषद् - उ. यशोविजयजी

कुमारिलभट्ट द्वारा पदार्थ को उत्पत्ति विनाश और स्थितियुक्त मानना अवयवी और अवयव में भेदाभेद मानना, सामान्य और विशेष को सापेक्ष मानना आदि तथ्यों से इस बात को बल मिलता है कि उनके दार्शनिक चिन्तन की पृष्ठभूमि में कहीं न कहीं अनेकांत के तत्त्व उपस्थित हैं।

पातंजल योगसूत्र की राजमार्तण्डटीका में भोजदेव ने प्रतिपादित किया है- “जैसे रुचक को तोड़कर स्वस्तिक बनाने में सुवर्ण रुचक परिणाम को त्याग करके स्वस्तिक परिणाम को धारण करता है और स्वयं स्वर्ण, स्वर्णरूप में अनुगत ही है। स्वर्ण से कथंचित् अभिन्न ऐसे रुचक तथा स्वस्तिक अपने परिणामों में भिन्न भिन्न हों, किन्तु उनमें सामान्य धर्मरूप सुवर्ण रहता है।”^{३५३} इस प्रकार भोजराजर्षि सामान्य विशेष उभयात्मक वस्तु को सिद्ध करके स्याद्वाद का ही सम्मान करते हैं।

वेदान्तदर्शन में स्याद्वाद की स्वीकृति :

उ. यशोविजयजी सभी दर्शनों में स्याद्वाद अन्तर्निहित है- यह सिद्ध करते हुए कहते हैं- “ब्रह्मतत्त्व परमार्थ से बंधनरहित है और व्यवहार से बंधा हुआ है, इस प्रकार कहने वाले वेदान्ती अनेकान्तवाद का अनादर नहीं कर सकते हैं।”^{३५४} डॉ. सागरमल जैन^{३५५} लिखते हैं- “आचार्य शंकर सृष्टिकर्ता ईश्वर के प्रसंग में स्वयं ही प्रवृत्ति-अप्रवृत्ति रूप दो परस्पर विरोधी गुणों को स्वीकारते हैं। वे लिखते हैं-

**ईश्वरस्य तु सर्वज्ञत्वात् सर्व शक्तिमत्त्वात्
महामायत्वाच्च प्रवृत्त्यप्रवृत्ति न विरुध्यते।**

पुनः माया को न ब्रह्म से पृथक् कहा जा सकता है और न अपृथक्, क्योंकि पृथक् मानने पर अद्वैत खण्डित होता है और अपृथक् मानने पर ब्रह्म माया के कारण विकारी सिद्ध होता है। पुनः माया को न सत् कह सकते हैं और न असत्। यदि माया असत् है, तो सृष्टि कैसे होगी और यदि माया सत् है, तो फिर मुक्ति कैसे होगी? वस्तुतः माया न सत् है और न असत् है। वह न ब्रह्म से

^{३५३} पातंजलयोगसूत्रटीका राजमार्तण्ड-समाधिपाद सू. १४

^{३५४} अबद्धं परमार्थेन, बद्धं च व्यवहारतः।

ब्रवाणो ब्रह्म वेदान्ती, नानेकान्तं, प्रतिक्षिपेत् ॥५०॥-अध्यात्मोपनिषद् - उ. यशोविजयजी

^{३५५} भारतीय दार्शनिक चिन्तन में अनेकांत - पृ. १२ -डॉ. सागरमल जैन

भिन्न है और न ही अभिन्न है। यहाँ अनेकांतवाद जिस बात को विधिमुख से कह रहा है, वही शंकर उसे निषेधमुख से कह रहे हैं।

निम्बार्कभाष्य की टीका में श्रीनिवास आचार्य कहते हैं- “जगत् और ब्रह्मतत्त्व का परस्पर भेदाभेद स्वाभाविक है। श्रुति, वेद, उपनिषद्, स्मृति स्वरूप शास्त्रों से सिद्ध हैं, इस कारण से उनमें विरोध कैसा?”^{३५६} इस प्रकार श्रीनिवास आचार्य भी अनेकान्त की अवहेलना नहीं कर सकते हैं।

उपनिषदों में स्याद्वाद का प्रतिबिम्ब :

उ. यशोविजयजी कहते हैं- “अलग-अलग नयों की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न अर्थों का प्रतिपादन करने वाले वेद भी सार्वतान्त्रिक, सर्वदर्शनव्यापक ऐसे स्याद्वाद का विरोध नहीं कर सकते।”^{३५७} वेद और उपनिषदों में तो स्याद्वाद का स्पष्ट प्रतिबिम्ब उपलब्ध होता है-

अथर्वशिर उपनिषद् में कहा गया है- ‘सोऽहं नित्यानित्यो व्यक्ताव्यक्तो ब्रह्माऽहं’^{३५८} मैं नित्यानित्य हूँ, मैं व्यक्त-अव्यक्त ब्रह्मस्वरूप हूँ।

छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है- “आकाशे रमते आकाशे न रमते”^{३५९} ऋग्वेद में लिखा है-

‘नाऽसदासीत् नो सदासीत् तदानी’,^{३६०} अर्थात् तब वह असत् भी नहीं था और सत् भी नहीं था। सुबाल उपनिषद् में कहा गया है कि न सन्नाऽसन्न सदसदिति।^{३६१}

वह सत् नहीं, वह असत् नहीं, वह सदसत् नहीं। मुण्डोपनिषद् का वचन है- ‘सदसद्वरेण्यम्’^{३६२}, श्रेष्ठ तत्त्व सदसत् है। ब्रह्मबिंदु में कहा गया है- ‘नैव

^{३५६}. जगद्-ब्रह्मणोर्भेदाभेदी स्वाभाविकौ श्रुति-स्मृति-श्रुतसाधितौ भवतः, कः तत्र विरोधः?

-निम्बार्कभाष्य की टीका-श्रीनिवासाचार्य

^{३५७}. ब्रवाणा भिन्नभिन्नार्थान् नयभेदव्यपेक्षया

प्रतिक्षिपेयुर्नोवेदाः, स्याद्वादं सार्वतान्त्रिकम् ॥५१॥ -अध्यात्मोपनिषद् -१ -उ. यशोविजयजी

^{३५८}. अथर्वशिर उपनिषद्।

^{३५९}. छान्दोग्योपनिषद् ४/५/२३

^{३६०}. ऋक्सूत्रसंग्रह (१०/१२६/१)

^{३६१}. सुबालोपनिषद् (१/१)

चिन्त्यं न चाचिन्त्यं अचिन्त्यं चिन्त्यमेव च^{३६३} अर्थात् वह चिन्त्य नहीं और अचिन्त्य भी नहीं तथा अचिन्त्य ही है और चिन्त्य ही है। त्रिपुरातापिनी^{३६४} में कहा गया है- 'अक्षरमहं क्षरमहं', अर्थात् मैं अविनाशी हूँ, मैं विनाशी हूँ तेजोबिंदु उपनिषद् में बताया गया है- द्वैताद्वैतस्वरूपात्मा द्वैताद्वैतविवर्जितः^{३६५}, अर्थात् आत्मा द्वैताद्वैतस्वरूप है और द्वैताद्वैतरहित है। भस्मजाबाल उपनिषद् का वचन है- "आत्मा चक्षुररहित होने पर भी विश्वव्यापी चक्षु वाली है, कर्ण रहित होने पर भी सर्वव्यापी कर्णमय है, पैररहित होने पर भी लोकव्यापी है, हाथरहित होने पर भी चारों तरफ है।"^{३६६}

इन सभी वेद एवं उपनिषद् वाक्यों की संगति अनेकांत का आश्रय लिए बिना संभव नहीं है। यदि भारतीय दर्शनों के मूल ग्रन्थों और उनकी टीकाओं का सम्यक् रूप से अध्ययन किया जाए, तो ऐसे अनेक वाक्य हमें दिखाई देंगे, जो उन दर्शनों की पृष्ठभूमि में रही हुई अनेकांतदृष्टि को स्पष्ट करते हैं। अनेकांत एक अनुभूत्यात्मक सत्य है, इसे नकारा नहीं जा सकता है।

हरिभद्र के शास्त्रवार्ता समुच्चय की टीका में उ. यशोविजयजी कहते हैं। कि अन्य मतावलम्बियों के मत स्याद्वाद की अपेक्षा एक-एक नय (दृष्टिकोण) के प्रतिपादक हैं। अतः वे जैनशासन के लिए क्लेशकारक नहीं हो सकते। क्या जटिल ज्वाला की अग्नि से निकले इधर-उधर फैले हुए अग्नि के छोटे-छोटे कण उस अग्नि का पराभव कर सकते हैं ? अर्थात् नहीं। आगे वे कहते हैं कि चाहे अपने विषदंश से सर्प शीघ्रता से गरुड़ पर विजय प्राप्त कर ले, चाहे हाथी हठवश सिंह को अपने गले में बांध ले एवं अंधकार का समूह सूर्य के अस्त होने का भान कराए, किन्तु स्याद्वाद के विरोधी भी स्याद्वाद का

-
३६२. मुण्डोपनिषद् (२/१)
 ३६३. ब्रह्मबिन्दु (६)
 ३६४. त्रिपुरातापिनी (१)
 ३६५. तेजोबिंदु उपनिषद् (४/६६)
 ३६६. भस्मजाबाल उपनिषद् (२)

अपलाप नहीं कर सकते हैं। कोई भी मतवाद (नयवाद) विरोधी कैसे हो सकते हैं, वह तो उसी का अंश है।^{३६७}

व्यावहारिक पक्ष में अनेकांतवाद :

व्यावहारिक जगत् में अनेकान्तवाद के महत्त्व को दर्शाते हुए सिद्धसेनदिवाकर^{३६८} भी कहते हैं- “मैं उस अनेकान्तवाद को नमस्कार करता हूँ, जिसके बिना जगत् का व्यवहार नहीं चल सकता है। सत्य की प्राप्ति की बात तो दूर, समाज और परिवार के सम्बन्धों का निर्वाह भी अनेकांतवाद के बिना नहीं होता है। अनेकान्त सबकी धुरी में है, इसलिए वह समूचे जगत् का गुरु और अनुशास्ता है। समग्र सत्य और समग्र व्यवहार उसके द्वारा ही अनुशासित हो रहा है, इसलिए मैं अनेकांतवाद का नमस्कार करता हूँ। व्यवहार का क्षेत्र एक ऐसा क्षेत्र है, जहाँ अनेकांतदृष्टि के बिना काम नहीं चलता है। परिवार के एक ही पुरुष को कोई पिता तो कोई पुत्र, कोई काका तो कोई दादा, कोई भाई, कोई मामा आदि नामों से पुकारता है। एक व्यक्ति के सन्दर्भ में विभिन्न पारिवारिक संबंधों की इस संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता है।

अनेकांत वह सूत्र प्रदान करता है जिससे भविष्य की सम्भावनाओं का आकलन कर अतीत से बोधपाठ लेते हुए वर्तमान में जिया जा सकता है। अनेकांत अनागत भविष्य को अस्वीकार नहीं करता है, अतीत के पर्यायों को ध्यान में रखता है और दोनों का स्वीकार कर वर्तमान पर्याय के आधार पर व्यवहार का निर्णय करता है। जो व्यक्ति अनेकान्त को जानता है, वह कभी दुःखी नहीं होता है। उसका लाभ-अलाभ, जय-पराजय, निंदा-प्रशंसा, जीवन-मरण सभी के प्रति सम भाव रहता है, वह अपना सन्तुलन नहीं खोता है।”

^{३६७} नया: परेषां पृथगेकदेशाः क्लेशाय नैवाऽऽर्हतशासनस्य ।

सप्तार्चिषः किं प्रसूताः स्फुलिङ्गं भवन्ति तस्यैव पराभवाय ॥२॥

ब्यालश्वेद् गरुडं प्रसर्पिगरलज्वाला जयेयुर्जवाद्

गृह्युर्द्विरदाश्च यद्यतिहठात् कण्ठेन कण्ठीवरम् ।

सूरं चेत् तिमिरोत्कराः स्थगयितुं व्यापारयेधुर्वलं ।

बध्नीयुर्बल दुर्नयाः प्रसृमराः स्याद्वादविधां तदा ॥१॥ -स्याद्वादकल्पलता -७ - उ.

यशोविजयजी

^{३६८} जेण बिना लोगस्य ववहारो सव्वहाण निव्वडइ ।

तस्य भुवणेवकागुरुणो, णमो अणेगंतवास्स ॥-सन्मति-तर्क-प्रकरण- ३/७०,

सिद्धसेनदिवाकर

डॉ. सागरमल जैन^{३६६} लिखते हैं कि आर्थिक क्षेत्र में भी अनेक ऐसे प्रश्न हैं, जो किसी एक तात्त्विक एकान्तवादी अवधारणा के आधार पर नहीं सुलझाए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए यदि हम एकान्तरूप से यह मान लें कि व्यक्ति प्रति समय परिवर्तनशील है, वह वहीं नहीं रहता है, भिन्न हो जाता है, तो आधुनिक शिक्षा-प्रणाली में भी अध्ययन, परीक्षा, प्रमाण-पत्र उसके आधार पर मिलने वाली नौकरी आदि में एकरूपता नहीं होगी। यदि व्यक्ति क्षण-क्षण बदलता ही रहता है तो अध्ययन करने वाला छात्र, परीक्षा देने वाला छात्र, प्रमाण-पत्र पाने वाला छात्र और उन प्रमाण-पत्रों के आधार पर नौकरी प्राप्त करने वाला व्यक्ति भिन्न-भिन्न होगा। इस प्रकार व्यवहार के क्षेत्र में असंगतियाँ होंगी। इसके विपरीत हम यह मान लें कि व्यक्ति में परिवर्तन ही नहीं होता, तो उसके प्रशिक्षण की व्यवस्था निरर्थक होगी। इस प्रकार अनेकान्तदृष्टि ही व्यवहार जगत् की समस्याओं का निराकरण करती है।

इसी प्रकार अनेकान्तदृष्टि के आधार पर जनकल्याण को लक्ष्य में रखते हुए विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं के मध्य संतुलन स्थापित करके पूरे विश्व में शांति की स्थापना की जा सकती है।

जिस प्रकार वस्तु अनंतधर्मात्मक है, उसी प्रकार मानव व्यक्तित्व भी विविध विशेषताओं का पुंज है। मानव व्यक्तित्व भी बहुआयामी है, उसे सही प्रकार से समझने के लिए अनेकान्तदृष्टि की आवश्यकता है। सामाजिक क्षेत्र में भी अनेकान्तदृष्टि हमें यह बताती है कि वैयक्तिक कल्याण में सामाजिक कल्याण और सामाजिक कल्याण में वैयक्तिक कल्याण समाया हुआ है। दोनों परस्पर भिन्न होते हुए भी एक दूसरे से पृथक नहीं है, अतः दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। अनेकान्तदृष्टि से कौटुम्बिक संघर्ष को भी टालकर शान्तिपूर्ण वातावरण बनाया जा सकता है। प्रबन्ध के क्षेत्र में बिना अनेकान्तदृष्टि को अपनाए सफल नहीं हुआ जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चाहे, अर्थतंत्र हो या राजतंत्र, या धर्मतंत्र अनेकान्तदृष्टि को स्वीकार किए बिना वह सफल नहीं हो सकता है। वस्तुतः अनेकान्तदृष्टि ही एक ऐसी दृष्टि है, जो मानव के समग्र कल्याण की दिशा में हमें अग्रसर कर सकती है, इस प्रकार अनेकान्त का क्षेत्र इतना अधिक व्यापक है कि कोई भी क्षेत्र इससे अछूता नहीं है।

^{३६६}. अनेकान्तवाद सिद्धान्त और व्यवहार पु. ग्गट - डॉ. सागरमल जैन

आग्रह-मुक्ति के लिए अनेकान्तदृष्टि की अपरिहार्यता :

सत्य का आधार अनाग्रह है और असत्य का आधार आग्रह। आग्रह के अनेक प्रकार हैं- साम्प्रदायिक आग्रह, पारिवारिक और सामाजिक आग्रह, जातीय और राष्ट्रीय आग्रह। आग्रह और एकान्त के रोगाणुओं से फैली हुई विभिन्न बीमारियों की एक ही औषधि है और वह है अनेकान्तवाद। अनेकान्तवाद तीसरा नेत्र है, जिसके खुलते ही राग-द्वेष, दुराग्रह, विलय हो जाते हैं और तदस्थता की भावना जाग्रत होती है। जब तक किसी बात का आग्रह है, तब तक ही झगड़ा है, अशांति है। अनेकान्तवाद यही सिखाता है कि पकड़ना नहीं, अकड़ना नहीं और झगड़ना नहीं।

एक विचारक एक दृष्टिकोण को पकड़कर उसका पक्ष करता है, समर्थन करता है, उसके प्रति राग रखता है। दूसरा विचारक दूसरे दृष्टिकोण का पक्ष करता है, समर्थन करता है। पहला विचार दूसरे विचार का खण्डन करता है। दूसरा विचार पहले का खण्डन करता है। इस तरह अपने विचारों की पकड़ मजबूत होती जाती है, आपस में द्वेष बढ़ता जाता है, लेकिन जैसे ही हृदय में अनेकान्तवाद का बीज प्रस्फुटित होता है, वैसे ही अपना विचार छूट जाता है, पराया विचार भी छूट जाता है और केवल सच्चाई रह जाती है। व्यक्ति पूर्ण तटस्थ हो जाता है।

एक तपस्वी योगी था। उसकी जटा उलझ गई। वह कंधी लेकर सुलझाने लगा। कंधिया टूटती गई। जटा नहीं सुलझी। भक्त ने कहा महाराज यह जटा जोगी की है, यह कंधियों से नहीं सुलझेगी, यह सुलझेगी उस्तरे से।

अनेकान्त उस्तरा है। वह जोगी की जटा की भाँति उलझी हुई हर क्षेत्र की समस्त समस्याओं को सुलझा देता है।

साम्प्रदायिक आग्रह स्याद्वाद से किस प्रकार दूर किए जा सकते हैं, सर्वप्रथम इसी विषय का विवेचन है।

आज जो साम्प्रदायिक झगड़े बढ़ते जा रहे हैं और मतभेद के साथ-साथ मन भेद भी हो रहे हैं, उसका एक कारण साम्प्रदायिक आग्रह भी है। आचार्य हेमचन्द्र ने वीतरागस्तोत्र में एक बहुत मार्मिक बात कही है कि-

“काम रागस्नेहागौ, ईषत्करनिवारणौ।
दृष्टिरागस्तु पापीयान् दुरच्छेदः सतामपि”।।^{३७०}

कामराग और स्नेहराग-ये दोनों सरलता से मिटाए जा सकते हैं, किन्तु दृष्टिराग अर्थात् विचारों के प्रति अनुरक्ति को मिटा पाना सहज, सरल नहीं है। दृष्टि का अनुराग भयंकर बंधन है। जिन्होंने घर-द्वार छोड़ दिया, जिन्होंने, परिवार का स्नेह तोड़ दिया, वे सब कुछ छोड़ने पर भी विचारों के अनुराग को नहीं तोड़ पाए। विचारों के प्रति तटस्थ रहना सहज नहीं है। अनेकान्त के बिना तटस्थता नहीं आती है। उ. यशोविजयजी कहते हैं-

माध्यस्थ्यसहितं ह्येकपदज्ञानमपि प्रमा।
शास्त्रकोटिर्वृथैवान्या तथा चोक्तं महात्मना।। ७३।।^{३७१}

माध्यस्थ्य भाव के रहने पर शास्त्र के एक पद का ज्ञान भी सफल है, अन्यथा करोड़ों शास्त्र व्यर्थ हैं; क्योंकि जहाँ आग्रह-बुद्धि होती है, वहाँ विपक्ष में निहित सत्य का दर्शन संभव नहीं होता है। उ. यशोविजयजी ने ज्ञानसार में कहा है- “एकांगी दृष्टिकोण रखकर वाद और प्रतिवाद करने वाले तील को पील रहे घानी के उस बैल के समान हैं, जो सुबह से शाम तक सतत चलने पर भी एक कदम भी आगे नहीं बढ़ता है। वादी-प्रतिवादी अपने पक्ष में कदाग्रह रखने के कारण तत्त्व को प्राप्त नहीं कर सकते हैं।”^{३७२}

डॉ. सागरमल जैन^{३७३} लिखते हैं कि वस्तुतः शाश्वतवाद, उच्छेदवाद, नित्यवाद, अनित्यवाद, भेदवाद, अभेदवाद, द्वैतवाद, अद्वैतवाद, हेतुवाद, अहेतुवाद, नियतिवाद, पुरुषार्थवाद आदि जितने भी दार्शनिक मत-मतान्तर हैं, वे सभी परमसत्ता के विभिन्न पहलू से लिए गए चित्र हैं और आपेक्षिक रूप से सत्य हैं। द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि के आधार पर इन विरोधी सिद्धान्तों में समन्वय किया जा सकता है, अतः एक सच्चा स्याद्वादी किसी भी दर्शन से द्वेष नहीं करता है, वह सभी दर्शनों का आराधक होता है।

^{३७०}. वीतरागस्तोत्र ६/१० -आ. हेमचन्द्राचार्य

^{३७१}. अध्यात्मोपनिषद् १/७३ - उ. यशोविजयजी

^{३७२}. वादांश प्रतिवादांशच वदन्तो निश्चितास्तथा।

तत्त्वान्त नैव गच्छन्ति तिलपीलकवद्गतौ। १७४।।- (१) अध्यात्मोपनिषद् (२) ज्ञानसार

^{३७३}. डॉ. सागरमल जैन-अभिनन्दन ग्रंथ -स्याद्वाद और सप्तभंगी एक चिन्तन-पृ. १६३,

डॉ. सागरमल जैन

उ. यशोविजयजी कहते हैं- “स्याद्वाद का आश्रय लेकर मोक्ष का उद्देश्य समान होने की अपेक्षा से सभी दर्शनों में जो साधक समानता को देखता है, वही शास्त्र का ज्ञाता है।”^{३७४}

आचार्य हेमचन्द्र ने महादेवस्तोत्र में कहा है- “संसार के बीज को अंकुरित करने वाले राग और द्वेष- ये दोनों जिसके समाप्त हो चुके हैं, उसका नाम चाहे ब्रह्मा हो, विष्णु हो, महादेव हो, या जिन हो; उन सबको मेरा नमस्कार है।”^{३७५}

ये बातें अनेकान्त के आलोक में ही कही जा सकती है। सत्य का प्रकाश केवल अनाग्रही को ही प्राप्त हो सकता है। आ. हरिभद्रसूरि के जीवन में भी अनेकान्त फलित था। उन्होंने लोकतत्त्वनिर्णय ग्रंथ में कहा है- “जिसमें सभी दोष नहीं रहते, अर्थात् जिसके सभी दोष नष्ट हो गए हैं और जिसमें सभी गुण ही निवास करते हैं, चाहे, वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, महादेव हो, या जिनेश्वर हो; उन्हें मेरा नमस्कार है।”^{३७६} उन्होंने कहा -

पक्षपातो न मे वीरो, न द्वेषः, कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥

महावीर के प्रति मेरा पक्षपात नहीं है और सांख्यमत के प्रवर्तक कपिलऋषि के प्रति मेरा द्वेष नहीं है। महावीर मेरे मित्र नहीं है। कपिल मेरे शत्रु नहीं है। जिनका वचन युक्तिसंगत है, वही मुझे मान्य है।

जिसके हृदय में स्याद्वाद का प्रकाश है, वह साधक गुणग्राही होने के कारण नाममात्र के भेद से कदाग्रह नहीं करता है। अध्यात्मगीता में कहा गया है- “परस्पर विरुद्ध ऐसे असंख्य धर्मदर्शन हैं, जो स्याद्वादी के हाथ में जाकर

^{३७४}. तेन स्याद्वादमालम्ब्य सर्वदर्शनतुल्यताम्

मोक्षोदेशाविशेषण, यः पश्यति स शास्त्रवित् - अध्यात्मोपनिषद् - उ. यशोविजयजी

^{३७५}. भवबीजांकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य

ब्रह्म वा विष्णुर्वा, हृदो जिनो वा नमस्तस्मै ॥३३॥ - महादेवस्तोत्र - आ. हेमचन्द्र

^{३७६}. भवबीजांकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।

ब्रह्मा वा विष्णुर्वा महेश्वरो वा नमस्तस्मै ॥३३॥ - लोकतत्त्वनिर्णय - हरिभद्रसूरि

विरोधमुक्त बन जाते हैं।”^{३७७} स्याद्वाद विविध दार्शनिक एकान्तवादी में समन्वय करने का प्रयास करता है। आ. हरिभद्रसूरि का एक ग्रन्थ शास्त्रवार्तासमुच्चय है और उस पर उ. यशोविजयजी द्वारा टीका लिखी गई है, उस टीका में विरोधी प्रतीत होने वाले विचारों का समन्वय किया गया है। उनकी दृष्टि में अनित्यवाद, नित्यवाद, द्वैतवाद, अद्वैतवाद आदि सभी वस्तुस्वरूप के आंशिक पक्षों को स्पष्ट करते हैं। इनमें से कोई भी असत्य तो नहीं है, किन्तु पूर्ण सत्य भी नहीं है। स्याद्वाद इन सभी के बीच समन्वय करने का प्रयास करता है और यह बताता है कि सत्य तभी असत्य बन जाता है, जबकि हम आग्रही दृष्टि से उसे देखते हैं। स्याद्वाददृष्टि वाले को आग्रह-कदाग्रह नहीं होता है। स्वदर्शन में जो बात कही गई वह अमुक नय की अपेक्षा से कही गई और अन्य दर्शन में कही हुई बात भी अमुक नय की अपेक्षा से सत्य है।

जैसे संसार के भोगों के प्रति तीव्र आसक्ति को तोड़ने की दृष्टि से ‘सर्व क्षणिक’- यह बौद्धदर्शन की बात उपयोगी है। पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से भी सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं, नश्वर हैं। जैनदर्शन में भी अनित्यभावना बताई गई है। इस अपेक्षा से स्याद्वादी बौद्धदर्शनों के द्वारा मान्य क्षणिकवाद को स्वीकार करेगा।

उसी प्रकार शास्त्रवार्तासमुच्चय में “आत्मैवेदं सर्वं”^{३७८} ब्रह्मैवेदं सर्वं^{३७९}, सर्वं खल्विदं ब्रह्म^{३८०}, जीवोब्रह्मैव नैतरः- अर्थात् सभी ब्रह्म हैं, वेदान्तदर्शन की बात को स्वीकार करते हुए हरिभद्रसूरि ने कहा है- “सभी जीवों के प्रति समभाव की प्राप्ति के लिए, दूसरे जीवों के प्रति द्वेष और तिरस्कार के भाव को तोड़ने के लिए, आत्मवत् दृष्टि के विकास के लिए शास्त्रों में अद्वैतवाद बताया है।”^{३८१} अतः संग्रहनय की अपेक्षा से वेदान्तदर्शन की बात भी सही है। जीवत्व की अपेक्षा से सभी जीव समान ही हैं।

^{३७७} परस्पर विरुद्धा या असंख्या धर्मदृष्टयः

अविरुद्धा भवन्त्येव सम्प्राप्याध्यात्मवेदिनम् ॥२२१॥ -अध्यात्मगीता

^{३७८} छान्दोग्योपनिषद् (७/५/२)

^{३७९} नृसिंहोपनिषद् (२/१७)

^{३८०} निरालम्बोपनिषद्

^{३८१} समभावप्रसिद्धयेडद्वैतदेशना शास्त्रे निर्दिष्टा न तु तत्त्वतः -शास्त्रवार्तासमुच्चय, हरिभद्रसूरि (८/८)

अन्य दर्शनों में कही हुई बात को उचित अपेक्षा से स्वीकार करने की बात स्याद्वाद कहता है। वेद और उपनिषदों के अलग-अलग वचनों के बीच आते हुए विरोध को भी स्याद्वाद से परिहार कर सकते हैं।

अनेकान्त आए बिना तटस्थता नहीं आ सकती है। अनेकान्तवाद को अपनाकर सारे साम्प्रदायिक झगड़े सुलझाए जा सकते हैं। परमयोगी आनंदघन जी^{३८२} लिखते हैं-

षट् दरसण जिनअंग भणीजे, न्याय षंडग जो साधे रे।
नमि जिनवरना चरण उपासक षटदर्शन आराधे रे॥१॥

जिनसुर पादप पाय बखाणुं, सांख्य जोग दोग भेदे रे।
आतम सत्ता विवरण करता, लही दुय अंग अखेदे रे॥२॥

भेद अभेद सुगत मीमांसक जिनवर दोग कर भारी रे।
लोकालोक अवलंबन भजिये गुरुगमथी अवधारी रे॥३॥

लोकायतिक सुख कूख जिनवर की, अंशविचार जो कीजे।
तत्त्व विचार सुधारस धारा, गुरुगम विण केम पीजे॥४॥

जैन जिनेश्वर उत्तम अंग, अंतरंग बहिरंगे रे।
अक्षरन्यास धरा आराधक, आराधे धरी संगे रे॥५॥

आनंदघनजी ने अन्य दर्शनों को जिनमत के ही अंग कहकर उन्होंने हृदय की विशालता का परिचय दिया। स्याद्वाद को हृदयंगम किए बिना यह बात नहीं कही जा सकती। जिस प्रकार हाथ पैर या किसी भी अंग के कट जाने पर व्यक्ति अपंग हो जाता है, उसी प्रकार किसी भी दर्शन की काट करना, टीका करना अपनी अज्ञानता का परिचय देना है।

विविध और परस्पर विरोध रखने वाली मान्यताओं का विपरीत तथा विघातक विचार श्रेणियों का समन्वय करके सत्य की शोध करना, दार्शनिक क्लेशों को मिटाना सभी धर्मों एवं दार्शनिक सिद्धान्तों को मोतियों की माला के समान एक ही सूत्र में पिरो देना यही स्याद्वाद की महत्ता है।

^{३८२}. नमिनाथ जिनवर स्तवन -आनंदघनचौबीसी - २१ वाँ स्तवन

राजनैतिक विवादों के हल में स्याद्वाद की उपयोगिता

अनेकान्त का सिद्धान्त केवल दार्शनिक ही नहीं अपितु राजनैतिक दुराग्रहों को भी दूर करके विवादों को सुलझाता है। डॉ. सागरमल जैन^{३८३} लिखते हैं- “आज के राजनैतिक जीवन में स्याद्वाद के दो व्यावहारिक फलित वैचारिक सहिष्णुता और समन्वय अत्यन्त उपादेय है। मानव-जाति ने राजनैतिक जगत् में राजतन्त्र से प्रजातन्त्र तक की जो लम्बी यात्रा तय की है, उसकी सार्थकता स्याद्वाददृष्टि को अपनाने में ही है। विरोधी पक्ष द्वारा की जाने वाली आलोचना के प्रति सहिष्णु होकर उसके द्वारा अपने दोषों को समझना और उन्हें दूर करने का प्रयास करना, आज के राजनीतिक जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता है। विपक्ष की धारणाओं में भी सत्यता हो सकती है और सबल विरोधी दल की उपस्थिति से हमें अपने दोषों के निराकरण का अच्छा अवसर मिल सकता है, इस विचारदृष्टि और सहिष्णु भावना में ही प्रजातन्त्र का भविष्य उज्ज्वल रह सकता है, इस दुनिया में कोई पूर्ण नहीं, सभी अधूरे हैं कोई निरपेक्ष नहीं है, सभी सापेक्ष हैं, इसलिए एक दूसरे के विचारों को समझकर उनका सम्मान करके ही आगे बढ़ा जा सकता है। एक-दूसरे का विरोध करके, एक दूसरे को गिराने के प्रयास में कभी देश का, विश्व का विकास नहीं हो सकता है।” आचार्य अमृतचन्द्र ने एक सुन्दर श्लोक लिखा है -

एकेनाकर्षन्ती श्लघयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी।।

ग्वालिन बिलौना करती है, तो एक हाथ आगे जाता है और दूसरा पीछे खिसक जाता है और जब दूसरा हाथ आगे आता है, तो पहला पीछे चला जाता है। इसी क्रम से मक्खन प्राप्त होता है। दोनों हाथ यदि एक साथ आगे या पीछे चलें, तो विलौना नहीं होगा, नवनीत नहीं मिलेगा। लोकतन्त्र का विकास इसी गौण मुख्य व्यवस्था के आधार पर हुआ था। एक व्यक्ति मुख्य बनता, तो शेष गौण होकर पीछे चले जाते। दूसरा कोई मुख्यता में आता, तो पहले वाला पीछे खिसक जाता। यह उचित व्यवस्था है। जब एक कुर्सी पर सौ आदमी बैठना चाहें, तो लोकतंत्र की व्यवस्था टूट जाती है। अनेकान्त का यह महत्त्वपूर्ण सूत्र है कि एक मुख्य होगा, शेष सारे गौण हो जाएंगे। इसी आधार पर सापेक्षता का विकास हुआ। जो मुख्य होगा, वह दूसरों की अपेक्षा रख करके चलेगा। वह निरपेक्ष

^{३८३}. डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रंथ - स्याद्वाद और सप्तभंगी एक चिन्तन - डॉ. सागरमल जैन

होकर नहीं चलेगा। सब उसके साथ जुड़े रहते हैं और वह सबको अपने साथ जोड़े रखता है।^{३८४} अतः अनेकान्त वादी सबके विचारों को समझकर समय-समय पर उनका भी सम्मान करता है। अनेकान्तवाद में वह ताकत है कि वह दुश्मन को भी दोस्त बना लेता है। राज्य व्यवस्था का मूल लक्ष्य जन कल्याण है अतः अनेकान्तवाद का आश्रय लेकर विभिन्न राजनैतिक विचारधाराओं के मध्य एक संतुलन स्थापित करके आपस के विवादों को समाप्त किया जा सकता है।

पारिवारिक संघर्षों से मुक्ति अनेकान्तदृष्टि के द्वारा

प्रायः परिवार में संघर्ष भी एक-दूसरे के विचारों को नहीं समझने के कारण तथा अपने विचार को पकड़कर रखने के कारण होते हैं। घर को फर्नीचर की सजावट से भव्य बनाने का काम तो पैसे कर देते हैं, परन्तु घर को प्रसन्नता से हरा-भरा बनाने का काम प्रेम के बिना सम्भव नहीं है और प्रेम बिना अनेकान्तदृष्टि के टिक नहीं सकता है। बैलगाड़ी के युग और कम्प्यूटर के युग में विरोध तो है ही। पिता बैलगाड़ी के युग का और पुत्र कम्प्यूटर के युग का सांस प्राचीन विचारों की, बहू नवीन आधुनिक विचारों की, अतः प्रायः पिता-पुत्र और सास-बहू में संघर्ष होते रहते हैं। “पिता जिस परिवेश में बड़ा हुआ, उन्हीं संस्कारों के आधार पर पुत्र का जीवन ढालना चाहता है। पिता की दृष्टि अनुभवप्रधान होती है, जबकि पुत्र की दृष्टि तर्कप्रधान। यही स्थिति सास-बहू में होती है। सास यह अपेक्षा करती है कि बहू ऐसा जीवन जिए जैसा मैंने जिया। वह उसे नियंत्रण में रखना चाहती है, जबकि बहू चाहती है कि वह अपने माता-पिता के यहाँ जैसा स्वतंत्र जीवन बिताती थी, वैसा ही बिताए। यही विवाद के कारण बनते हैं। इसमें जब तक सहिष्णुदृष्टि और दूसरे की स्थिति को समझने का प्रयास नहीं किया जाता है, तब तक संघर्ष समाप्त नहीं हो सकता।”^{३८५} अनेकान्तवाद समस्याओं का महान समाधान है। अनेकान्तवाद हर परिस्थिति हर विचार के प्रत्येक पहलू पर विचार करने की उदार भावना को जन्म देता है। अनेकान्तवाद अन्य के विचारों को समझने का अवसर प्रदान करता है। अधिकार और कर्तव्य दोनों में भी सन्तुलन होना आवश्यक है। यदि व्यक्ति केवल अपने

^{३८४} अनेकान्त है तीसरा नेत्र -पृ. ४६ -आचार्य महाप्रज्ञ

^{३८५} डॉ. सागरमल जैन - चिन्तन ग्रंथ - स्याद्धाद और सप्तभंगी एक चिन्तन

अधिकार का उपयोग करना चाहे, और कर्तव्य नहीं निभाये तो भी संघर्ष उत्पन्न होता है, उसी प्रकार परिवार में प्रेम से रहने के लिये परिवार का पालन पोषण करने के लिए केवल बुद्धि की ही नहीं बल्कि हृदय की भी महती आवश्यकता रहती है। अनेकान्तवाद बुद्धि और हृदय में गाड़ी के दो पहियों की तरह सन्तुलन बनाए रखता है।

“अनेकान्तवाद का सिद्धान्त दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन के विरोधों के समन्वय की एक ऐसी विधायक दृष्टि प्रस्तुत करत है, जिससे मानव जाति के संघर्षों के निराकरण में सहायता मिल सकती है।”^{३८६}

वास्तव में अनेकान्तवाद सत्य-पथ प्रदर्शक है, जगत् का गुरु है। विभिन्न विवादों को सुलझाने वाला, सत्य निर्णय देने वाला अनेकान्तवाद जगत् का न्यायाधीश है।

षष्ठ अध्याय क्रियायोग की साधना

क्रियायोग का स्वरूप

‘कर्मयोग’ या ‘क्रियायोग’ दो शब्दों के संयोग से बना है ‘कर्म’ तथा ‘योग’। योग शब्द संस्कृत धातु ‘युज’ से व्युत्पन्न है। युज का अर्थ जोड़ना है। जो क्रियाएँ आत्मा को मोक्ष से जोड़े वे ‘कर्मयोग’ कहलाती हैं। उ.यशोविजयजी ने अध्यात्मसार में कर्म तथा ज्ञान के आधार पर योग दो प्रकार का बताया है- ‘कर्मयोग’ तथा ‘ज्ञानयोग’। उसमें कर्मयोग आवश्यक आदि क्रियाओं के सम्पादनरूप है।^{३८७}

शरीर द्वारा जो-जो भी क्रियाएँ की जाती हैं, वे सभी क्रियाएँ ‘कर्मयोग’ नहीं कहलाती हैं। उ. यशोविजयजी के अनुसार “शरीर द्वारा जो कुछ छोटी-बड़ी क्रियाएँ होती हैं, उसमें से प्रशस्तभाव से देवगुरु और धर्म के प्रति अनुरागपूर्वक पुण्य का बंध कराने वाली जो आवश्यक क्रियाएँ होती हैं, उन्हें कर्मयोग कहते हैं।”^{३८८} साधना में कर्मयोग इसलिए आवश्यक है कि अकर्मण्यता या प्रमाद का निवारण हो सके। आध्यात्मिक मार्ग में आगे बढ़ने के लिए आलस्य अर्थात् प्रमाद का त्याग और वीर्यस्फुरन की अर्थात् पुरुषार्थ की आवश्यकता रहती है। शरीर पर मोह रखने वाले ‘क्रियायोग’ की साधना नहीं कर सकते हैं। ‘क्रियायोग’ वास्तव में एक प्रकार का पुरुषार्थ है, जिससे आध्यात्मिक जीवन को बहुत बल मिलता है।

^{३८७}. कर्मज्ञानविभेदेन स द्विधा तत्र चाऽदिमः।

आवश्यकदिविहित क्रियारूपः प्रकीर्तितः॥२॥ - योगाधिकार-१५, अध्यात्मसार, उ. यशोविजयजी

^{३८८}. शरीरस्पन्दकर्मात्मा यदयं पुण्यलक्षणम्

कर्माऽतनोति सदरागात् कर्मयोगस्ततः स्मृतः॥३॥ - योगाधिकार-१५, अध्यात्मसार, उ. यशोविजयजी

अनादिकाल से जीव को स्वच्छंदाचार पसंद है, इसलिए जीव को ज्ञान की बात मीठी लगती है और क्रिया की बात कड़वी लगती है। उ. यशोविजयजी कहते हैं- जैसे-

“जैसे पाग कोउ शिर बाँधे, पहिरन नहीं नहीं लंगोटी,
सद्गुरु पास क्रिया बिनु सीखे, आगम बात तूँ खोटी”।^{३८६}

नीचे का अंग ढंकने के लिए जिसके पास एक छोटी लंगोट भी नहीं है, वह मस्तक पर पगड़ी बांधकर बाजार में से गुजरे तो हँसी का पात्र बनता है, उसी प्रकार लगे हुए पाप के शुद्धिकरण करने इतनी स्वल्प क्रिया भी जो नहीं करता है और उनकी उपेक्षा करता है तथा ज्ञान की और शास्त्रों की बड़ी-बड़ी बातें करता है, तो बात करने मात्र से उसका शुद्धिकरण या सद्गति नहीं होती है। चौथे गुणस्थान पर सम्यक्त्व प्राप्त होता है और उसका रक्षण करने वाली क्रिया देव-गुरु-संघ की भक्ति और शासनोन्नति की क्रिया है। देशविरति का रक्षण करने वाली क्रियाएँ, गृहस्थ के षट्कर्म, बारहव्रत आदि का पालन है। सर्वविरति का रक्षण करने वाली क्रिया साधु की प्रतिदिन की सामाचारी और प्रतिक्रमण प्रतिलेखन आदि क्रियाएँ हैं। इन क्रियाओं के अवलंबन बिना ये गुणस्थानक टिक नहीं सकते हैं। प्रमत्तसंयत गुणस्थान पर्यन्त यदि बिना क्रिया के केवल भाव से विशुद्धि मानें तो यह उचित नहीं है।

दोष की प्रतिपक्षी ऐसी क्रियाएँ ही उन दोषों का निग्रह कर सकती है। उ. यशोविजयजी ने ज्ञानसार में कहा है- “जीव को परमसुख स्वरूप मोक्ष के साथ जोड़ने वाला सभी प्रकार का धर्म व्यापारयोग है।”^{३९०} चारित्रगुण से हीन ज्ञान की अधिकता भी अंधे के सामने लाखों दीपक जलाने के समान निष्फल है? चारित्रयुक्त थोड़ा सा ज्ञान चक्षुसहित व्यक्ति को एक दीपक की तरह प्रकाश करने वाला होता है, इसीलिए जब तक अप्रमत्तगुणस्थान के योग्य उत्कृष्ट धर्मध्यान या शुक्तध्यान की प्राप्ति नहीं हो, तब तक आवश्यक क्रियाओं द्वारा दोषों को दूर करना जरूरी है। उ. यशोविजयजी ने आवश्यक क्रियाओं को क्रियायोग माना है।

यह आवश्यक छः प्रकार के होते हैं-

१. सामायिक २. चतुर्विंशतिस्तव ३. वंदन ४. प्रतिक्रमण ५. कायोत्सर्ग और ६. प्रत्याख्यान आवश्यक।

^{३८६}. गु. सा. सं. भाग-१, गाथा -६, पृष्ठ १६२ - उ. यशोविजयजी

^{३९०}. योग-२७/१, ज्ञानसार, उ. यशोविजयजी

(१) सामायिक आवश्यक :

सम् उपसर्गपूर्वक गति अर्थवाली 'इण्' धातु से मिलकर 'समय' शब्द बनता है। सम् का अर्थ एक समान भाव और अण् का अर्थ है गमन करना। समभाव के द्वारा बाह्य परिणति से वापस मुड़कर आत्मा की ओर जो गमन किया जाता है, उसे समय कहते हैं। समय का भाव सामायिक होता है। समभावरूप सामायिक के धारण करने से मानव जीवन तनावयुक्त नहीं होता है, क्योंकि संसार में जो कुछ भी मानसिक वाचिक एवं कायिक का अशान्ति होती है, वह सब विषमभाव से ही उत्पन्न होती है और ऐसा विषमभाव सामायिक में नहीं होता है।

उ. यशोविजयजी कहते हैं- “बिना जूता या चप्पल पहने कोई व्यक्ति गाँव में काँटों के मार्ग पर पैदल चलते हुए जो पीड़ा का अनुभव करता है, वह पीड़ा रथ या वाहन में बैठा हुआ व्यक्ति अनुभव नहीं करता है। उसी प्रकार ज्ञान और क्रियारूपी दो घोड़ों से युक्त समतारूपी रथ में आरूढ़ व्यक्ति, समतारूपी रथरहित व्यक्ति की तरह मोक्षमार्ग में अरति की पीड़ा अनुभव नहीं करता है।”^{३६१} सामायिक की साधना वह साधना है, जिसमें प्रतिक्षण कर्मों के समूह के समूह सहज ही नष्ट हो जाते हैं। सामायिक में साधक सभी सावद्योगों का त्याग करता है तथा छःकाय के जीवों के प्रति संयत होता है। आचार्य भद्रबाहु ने सामायिक के तीन भेद बताए हैं- १. सम्यक्त्व-सामायिक २. श्रुत-सामायिक और ३. चारित्र-सामायिक।^{३६२} सम्यक्त्व-सामायिक से श्रद्धा की शुद्धि होती है, श्रुत सामायिक से विचारों की शुद्धि होती है और चारित्र-सामायिक से आचार की शुद्धि होती है।

धर्मक्षेत्र की जितनी भी अन्य साधनाएँ हैं, उन सबका मूल सामायिक ही है।

(२) चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक :

मंजिल पर पहुँचने के लिए जिस प्रकार मार्ग का आलंबन लेना पड़ता है, उसी प्रकार सामायिक साधना के लिए आलम्बनरूप दूसरा आवश्यक चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक है। इसका दूसरा नाम, अनुयोगद्वार में उत्कीर्तन भी है।

^{३६१} ज्ञानक्रियाश्वद्ययुक्तसाम्यरथाधिरूढः शिवमार्गगामी ।

न ग्रामपूः कण्टकजारतीनां जनोऽनुपानत्क इवार्तिमेति ।।१।।-अध्यात्मोपनिषद् ४/१-३.
यशोविजयजी

^{३६२} सामाङ्यं च तिविहं, सम्मतं सुयं तथा चरितं च ।-आवश्यकनिर्युक्ति-७६६-आ. भद्रबाहु

समभावरूप सामायिक को जिन्होंने पूर्णतया सिद्ध कर लिया है, जो त्याग-वैराग्य के, संयम-साधना के महान आदर्श हैं, उनकी स्तुति करना, उनके गुणों का स्मरण करना—यह चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक कहलाता है। तीर्थकरों की स्तुति करने से साधक को महान् आध्यात्मिक बल प्राप्त होता है, उसका साधनामार्ग प्रशस्त होता है। घोर अंधकार को अगर धक्का मारें, तो वह दूर नहीं होगा, उसे दूर करने के लिए एक दीपक लाकर रख दें, तो वह अपने आप दूर हो जाएगा। तीर्थकर दीपक के समान हैं। अज्ञानरूपी अंधकार को नष्ट करने के लिए तीर्थकरों की स्तुति करना चाहिए। उ. यशोविजयजी ने चौबीस तीर्थकरों की स्तुति करते हुए तीन चौबीसी की रचना की है। लोगस्ससूत्र भी चौबीस तीर्थकरों की स्तुतिरूप है, इसलिए इसे भी चतुर्विंशति स्तव कहते हैं। आचार्य भद्रबाहुस्वामी कहते हैं— “तीर्थकरों की स्तुति पूर्वसंचित कर्मों को नष्ट करती है।”^{३६३} यदि हम अपने हृदय में परमात्मा को स्थापित करेंगे, तो आत्मा अपूर्व त्याग-वैराग्य की भावनाओं से आलोकित हो उठेगी।

बावना चन्दन के वन में अनेकों जहरीले सर्प रहते हैं और यदि उनको भगाना है, तो उस वन में एक-दो मयूर लाकर छोड़ने पर सभी सर्प भाग जाएंगे। उसी प्रकार अपने मनरूपी बावना चंदन के वन में दोषरूपी जहरीले सर्पों को दूर करने के लिए तीर्थकरों की स्तुति-भक्ति रूप मयूर अपने हृदय में बसाने पर दोषरूपी सर्प अपने-आप भाग जाएंगे।

(३) वन्दन आवश्यक :

मन, वचन और काया का वह प्रशस्त व्यापार जिसके द्वारा गुरुदेव के प्रति भक्ति और बहुमान प्रकट किया जाता है, वन्दन कहलाता है।

भक्ति बिना मात्र भय, लज्जा आदि से किया गया वन्दन निरर्थक है, वह मात्र द्रव्यवन्दन है। पवित्र भावना द्वारा उपयोगपूर्वक किया गया भाववन्दन ही तीसरे आवश्यक का प्राण है। जब तक अहंकार का विसर्जन नहीं हो, तब तक पूज्यों के प्रति विनयभाव नहीं आता है। दशवैकालिक में कहा गया है— “धर्मवृक्ष का मूल विनय है और उसका अन्तिम फल एवं रस मोक्ष है।”^{३६४}

^{३६३} . भत्तीइ जिणवराणं खिज्जंती पुव्वसंचिया कम्मा । आवश्यकनियुक्ति - १०७६

^{३६४} . मूलाओं खंधप्यभवो दुमस्स, खंधाओ पच्छा समुवेत्ति साहा ।

साहप्यसाहा विरुहंति पत्ता तओ से पुप्फं च फलं रसो य ।। -दशवैकालिक - ६/२/१

वन्दन आवश्यक का यथाविधि पालन करने से विनय की प्राप्ति होती है। जैनधर्म के अनुसार वीतराग देव तथा द्रव्य और भाव- दोनों प्रकार के चारित्र से युक्त पंचमहाव्रतधारी त्यागी गुरु आदि ही वन्दनीय है। उनको भावपूर्वक वन्दन करने से साधक आत्मा अपना आत्मकल्याण कर सकती है।

आचार्य जिनदासगणि ने आवश्यकचूर्णि में द्रव्यवन्दन और भाववन्दन के विषय में एक कथानक दिया है, वह इस प्रकार है- बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि के दर्शन के लिए वासुदेव श्रीकृष्ण और उनके मित्र वीरकौलिक दोनों गए। श्रीकृष्ण ने भगवान् अरिष्टनेमि और अन्य सभी साधुओं को बहुत ही निर्मलभाव से श्रद्धापूर्वक वन्दन किया। वीरकौलिक ने भी श्रीकृष्ण का अनुसरण करते हुए श्रीकृष्ण को प्रसन्न करने के लिए उनको वन्दन किया। वन्दन का फल बताते हुए तीर्थंकर नेमि ने कहा- “श्रीकृष्ण! तुमने बढ़ते हुए शुद्ध परिणाम से भाववन्दन किया है, अतः तुमने क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त किया और साथ में तीर्थंकरगोत्र की शुभ प्रकृति का बन्ध भी किया। इतना ही नहीं तुमने चार नरक के बन्धन भी तोड़ दिए हैं, परन्तु वीरक ने भावशून्य वन्दन किया है, अतः उसका वन्दन द्रव्यवन्दन होने से निष्फल है, क्योंकि भाववन्दन ही आत्मशुद्धि का मार्ग है।”

(४) प्रतिक्रमण आवश्यक :

मनुष्यमात्र भूल का पात्र है, इसी बात को शास्त्रकारों ने इस प्रकार कहा है कि छद्मस्थमात्र भूल का पात्र है, तो भूल का प्रतिकार भी छद्मस्थमात्र को अनिवार्य है। भूल रूपी विष का प्रतिकार शुभभाव रूप अमृत से ही हो सकता है। प्रतिक्रमण की क्रिया भूल रूपी विष को बढ़ने से रोकती है। प्रतिक्रमण आध्यात्मिक साधना का प्राण है। जो पाप मन से, वचन से और काया से स्वयं किए जाते हैं, दूसरों के द्वारा करवाए जाते हैं एवं दूसरों के द्वारा किए गए पापों की अनुमोदना की जाती है- इन सब पापों की निवृत्ति के लिए आलोचना करना प्रतिक्रमण है।

आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ बताते हुए कहा है कि ‘प्रतीपं क्रमणं-प्रतिक्रमणम्’, अर्थात् शुभयोगों से अशुभयोगों में गए हुए अपने-आपको पुनः शुभयोगों में ले आना प्रतिक्रमण है।^{३६५} आचार्य हरिभद्र ने भी आवश्यकसूत्र की टीका में प्रतिक्रमण की व्याख्या करते हुए कहा है-

^{३६५}. शुभयोगेभ्योऽशुभयोगान्तरं क्रान्तस्य शुभेषु एव क्रमणात्प्रतीपं क्रमणम् ।
-योगशास्त्र (तृतीय प्रकाश की वृत्ति)-आ. हेमचन्द्र

“क्षायोपशमिकभाव से औदायिक भाव में परिणत हुआ साधक पुनः औदायिकभाव से क्षायोपशमिकभाव में लौट आता है, तो उसका भी लौटना प्रतिक्रमण कहलाता है।”^{३६६} भद्रबाहुस्वामी ने आवश्यकनिर्युक्ति में साधक के लिए चार विषयों का प्रतिक्रमण बताया है-

१. अकर्तव्य को करने पर
२. कर्तव्य को नहीं करने पर
३. तत्त्वों में संदेह करने पर
४. आगमविरुद्ध विचारों का प्रतिपादन करने पर।

प्रत्येक साधक को मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और अप्रशस्तयोग- इन चार दोषों का प्रतिक्रमण करना आवश्यक है।^{३६७}

जैन साधु के द्वारा शौच, पेशाब, प्रतिलेखना इत्यादि कोई भी क्रिया की जाए, तो उसके बाद उसे प्रतिक्रमण करना आवश्यक है।

प्रमाद के निवारण के लिए भी प्रतिक्रमण करना आवश्यक है।

जैनशासन में प्रतिक्रमण द्वारा आत्मशुद्धि के लिए जो मुख्य शब्द बोला जाता है, वह है- ‘मिच्छामि दुक्कडं’ (मेरा दुष्कृत्य मिथ्या हो)।

आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक निर्युक्ति में काल के भेद से प्रतिक्रमण तीन प्रकार का बताया है-

१. भूतकाल में लगे हुए दोषों की आलोचना करना।
२. वर्तमान काल में लगने वाले दोषों से संवर द्वारा बचना।
३. प्रत्याख्यान द्वारा भावी दोषों को अवरुद्ध करना।^{३६८}

भगवतीसूत्र में भी काल की अपेक्षा से तीन प्रकार के प्रतिक्रमण की चर्चा की गई है।^{३६९}

^{३६६}. आवश्यकसूत्र की टीका में उद्धृत प्राचीन श्लोक -आ. हेमचन्द्र

^{३६७}. भिच्छत्त पडिवक्कमणं, तहेव असंजमेय पडिवक्कमणं

कसायाण पडिवक्कमणं जोगाण य अप्पसत्थाणं -१२५० -आवश्यकनिर्युक्ति

^{३६८}. मिच्छताइ ण गच्छइ, ण य गच्छावेइ णाणुजोणेई

जं भण-वय-काएहिं, तं भणियं भावडिवक्कमणं ।।

^{३६९}. अइयं पडिवक्कमेई, पडुप्पन्नं संवरेइ, अणाणयं पच्चक्खाइ -भगवतीसूत्र

विशेषकाल की अपेक्षा से प्रतिक्रमण के पाँच भेद भी माने गए हैं- १. दैवसिक- प्रतिदिन सायंकाल के समय दिनभर के पापों की आलोचना करना। २. रात्रिक- प्रतिदिन प्रातः काल में रात्रि के पापों की आलोचना करना। ३. पाक्षिक- महीने में दो बार चतुर्दशी को पन्द्रह दिनों के पापों की आलोचना करना। ४. चातुर्मासिक- चार-चार माह के बाद कार्तिक शुक्ल चतुर्दशी, फाल्गुन शुक्ल चतुर्दशी, आषाढ़ शुक्ल चतुर्दशी को चार माह के पापों की आलोचना करना। ५. सांवत्सरिक - भाद्र शुक्ल चतुर्थी या पंचमी के दिन वर्ष भर के पापों की आलोचना करना।

उ. यशोविजयजी द्वारा ज्ञानसार में प्रतिपादित स्थान, वर्ण, अर्थ, आलंबन और अनालंबन- इन पाँच प्रकार के योगों की साधना प्रतिक्रमण में विशिष्ट रूप से होती है।^{४००}

स्थान	-	कायोत्सर्ग आदि आसन विशेष प्रतिक्रमण में होते हैं।
वर्ण	-	सूत्र उच्चारण करते समय ध्वनि का प्रयोग।
अर्थ	-	उन अक्षरों में रहते हुए अर्थ का विशेष निर्णय।
आलंबन	-	बाह्य प्रतिमा या अक्षस्थापना आदि विषयक ध्यान।
अनालंबन	-	बाह्य रूपी द्रव्य के आलंबनरहित सिद्धस्वरूप के साथ तन्मयता, केवल निर्विकल्प चिन्मय समाधि।

इनमें स्थान और वर्ण- ये दो क्रियायोग हैं, शेष तीन ज्ञानयोग हैं।

पापक्षेत्र से वापस आत्मशुद्धि के क्षेत्र में लौट आने की क्रिया प्रतिक्रमण कहलाती है। अपने दोषों को देखने वाला सुधरता है। स्वदोषदर्शन अन्तर्विवेक जाग्रत करता है, फलतः दोषों को दूर कर सद्गुणों की ओर अग्रसर होने के लिए प्रतिक्रमण प्रेरणा प्रदान करता है।

(५) कायोत्सर्ग आवश्यक :

यह आवश्यक भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। कायोत्सर्ग दो शब्दों के योग से बना है- 'काय' और 'उत्सर्ग'। दोनों का मिलकर अर्थ होता है- काया का त्याग।

^{४००} मोक्षेण योजनाद्योगः सर्वोडप्याचार इष्यते ।

विशिष्य स्थानवर्णाधालम्बनैकाग्रयोगोचरः ।।१।।-योग-२७-ज्ञानसार- उ. यशोविजयजी

अमुक समय तक अपने शरीर के प्रति ममत्व का त्याग करके जिनमुद्रा में खड़ा हो जाना कायोत्सर्ग है। आवश्यकसूत्र के तस्सउत्तरीसूत्र में यही कहा गया है- “संयमजीवन को विशेष रूप से परिष्कृत करने के लिए, प्रायश्चित्त करने के लिए, आत्मा को विशुद्ध करने के लिए, आत्मा को शल्यरहित बनाने के लिए, पाप कर्मों के निर्घात के लिए ‘कायोत्सर्ग’ किया जाता है।”^{४०१} कायोत्सर्ग अन्तर्मुख होने की साधना है। ‘कायोत्सर्ग’ का उद्देश्य शरीर पर की मोहमाया को कम करना है।

कायोत्सर्ग में सब दुःखों और क्लेशों की जड़ ‘ममता’ का शरीर से संबंध तोड़ने के लिए साधक को यह दृढ़ संकल्प कर लेना चाहिए कि ‘शरीर’ अन्य है और आत्मा अन्य।^{४०२}

आज देश के प्रत्येक स्त्री-पुरुष को कायोत्सर्ग संबंधी शिक्षा लेने की आवश्यकता है। शरीर और आत्मा को अलग-अलग समझने की कला ही राष्ट्र में कर्तव्य की चेतना जगा सकती है। जड़ और चेतन का भेद समझे बिना सारी साधना मृत साधना है। जीवन के ‘प्रत्येक कदम पर कायोत्सर्ग का स्वर गूंजते रहने में ही आज के धर्म, समाज और राष्ट्र का कल्याण है। कायोत्सर्ग की भावना के बिना समाज पर महान् उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आगे आने तथा तुच्छ स्वार्थों को बलिदान करने का विचार तक नहीं आ सकता है। इस जीवन में शरीर का मोह बहुत बड़ा बन्धन है। यह बन्धन प्राणी को कर्तव्य साधना से पराङ्मुख करता है। कायोत्सर्ग द्वारा शरीर और आत्मा का भेद समझकर आध्यात्मिक आनंद की अनुभूति प्राप्त कर सकते हैं।

(६) प्रत्याख्यान आवश्यक :

प्रत्याख्यान का अर्थ है- ‘त्याग करना।’ प्रत्याख्यान में दो शब्द हैं- प्रति+आख्यान। “अविरति और असंयम के प्रति मर्यादायुक्त प्रतिज्ञा करना प्रत्याख्यान कहलाता है।”^{४०३} प्रतिक्रमण एक कायोत्सर्ग के द्वारा आत्मशुद्धि हो जाने के बाद पुनः आसक्ति के द्वारा पापकर्म का प्रवेश नहीं हो, इसलिए

^{४०१}. तस्सउत्तरीकरणेणं, पायच्छित्तकरणेण, विसोहीकरणेणं, बिसल्लीकरणेणं, पावाणं कम्माणं निग्घायणद्वाए ठामि काउस्सगं।

^{४०२}. अन्नं, इमं शरीरं अन्नो जीवुत्ति कयबुद्धिं।

दुक्खपरिकिलोसकरं छिंद ममत्तं सरीराओ- १५५२ - आवश्यकनियुक्ति-आ. भद्रबाहु

^{४०३}. अविरतिस्वरूपप्रभृति प्रतिकूलतया आमर्यादया आकारकरणस्वरूपया आख्यानं - कथनं प्रत्याख्यानम्। -प्रवचनसारोद्धारवृत्ति

प्रत्याख्यान ग्रहण किया जाता है। एक बार मकान साफ कर देने के बाद दरवाजा बंद कर देना ठीक है, ताकि वापस धूल का प्रवेश न हो पाए।

त्यागने योग्य वस्तुएँ दो प्रकार की होती हैं, अन्न, वस्त्र आदि वस्तुएँ द्रव्यरूप हैं, अतः इनका त्याग द्रव्यत्याग माना जाता है। अज्ञान, मिथ्यात्व, असंयम तथा कषाय आदि विकार भावरूप हैं, अतः इनका त्याग भावत्याग माना गया है। द्रव्यत्याग की वास्तविक आधारभूमि भावत्याग ही है,^{४०४} इसलिए द्रव्यत्याग भी तभी सार्थक होता है, जब वह कषायों को मन्द करने के लिए तथा गुणों की प्राप्ति के लिए किया जाए। लिए गए प्रत्याख्यान को भाव एवं श्रद्धासहित विशुद्ध रूप से पालन करने में ही साधक की महत्ता है। प्रमत्त अवस्था में उचित ऐसी धर्मस्थान पोषक क्रियाएँ अध्यात्म का प्राण हैं। गीता में कहा गया है- “योगः कर्मसु कौशलम्।” कहने का तात्पर्य यह है कि सभी आवश्यक क्रियाओं में व्यक्ति को पूरी सजगता रखना चाहिए। सजगता और निपुणता से की गई क्रियाएँ कर्मयोग कहलाती हैं।

शुद्धक्रिया और अशुद्धक्रिया

आध्यात्मिक साधना अनादि से मलिन आत्मा को उज्ज्वल बनाने के लिए है। धर्मसाधना को साधने के लिए महापुरुषों ने दान, शील, तप, भावादि अनेक प्रकार की क्रियाएँ बताई हैं। विविध प्रकार की इन धर्मक्रियाओं को अनुष्ठान भी कहते हैं। प्रत्येक अनुष्ठान स्वयं अपने-आप में शुद्ध ही होता है। अनुष्ठान करने वाले साधकों की कक्षा भी एक जैसी नहीं होती है। अनुष्ठान करने के पीछे सभी का आशय एक जैसा नहीं होता है। अध्यवसाय भी सभी के भिन्न-भिन्न होते हैं। इस प्रकार अनुष्ठानों के और उनकी आराधना के अनेक भेद हो सकते हैं। उ. यशोविजयजी ने साधकों के अध्यवसाय के आधार पर मुख्य पाँच प्रकार के अनुष्ठान बताए हैं।^{४०५}

^{४०४}. श्रमणसूत्र-उ. अमरमुनि - पृ. १०४

^{४०५}. विषं गरोऽनुष्ठान तद्धेतुरमृतं परम्।

गुरुसेवाधनुष्ठानमिति पंचविधं जगुः॥२॥ -सद्नुष्ठान अधिकार-अध्यात्मसार-उ.

यशोविजयजी

१. विषानुष्ठान २. गरानुष्ठान ३. अन्-अनुष्ठान ४. तद्हेतु अनुष्ठान
५. अमृतानुष्ठान

सर्वज्ञदर्शित सर्व अनुष्ठान स्वरूपतः तो सत् ही हैं, उनमें सत् और असदनुष्ठान का जो भेद है, वह स्वरूपतः नहीं, किन्तु फलतः या हेतु की अपेक्षा से है। हरिभद्रसूरि ने योगबिन्दु नामक ग्रंथ में कहा है कि एक ही अनुष्ठान कर्ता के भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार का हो जाता है। जैसे एक ही भोज्यपदार्थ एक रोगी व्यक्ति सेवन करे और उसे ही एक स्वस्थ व्यक्ति सेवन करे, तो भोज्य पदार्थ की परिणति एक जैसी नहीं होती है, भिन्न-भिन्न होती है, इसलिए कर्ता के आधार पर शुद्धक्रिया और अशुद्धक्रिया का भेद होता है।”^{४०६}

१. विषानुष्ठान :

मन में सहज जिज्ञासा होती है कि कोई भी अनुष्ठान विषानुष्ठान में किस प्रकार रूपान्तरित हो जाता है? या किन्हीं अनुष्ठानों को विषानुष्ठान कहने का कारण क्या? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उ. यशोविजयजी कहते हैं- “जब साधक आहार, उपधि, पूजा, ऋद्धि आदि की आकांक्षा से अनुष्ठान, अर्थात् धार्मिक क्रिया करता है, तो वे आकांक्षाएँ शुभ परिणाम या शुभचित्तवृत्ति को शीघ्र ही दूषित करने वाली होने से उन्हें विषानुष्ठान कहते हैं।”^{४०७}

सभी जीवों की धर्मक्रियाओं की मनोभूमिका एक जैसी कक्षा की नहीं होती है। उनके क्रिया करने का हेतु भी भिन्न-भिन्न होता है। अज्ञानी जीवों की धर्मक्रियाएँ प्रायः जीवन के ऐहिक और भौतिक लाभों के लिए होती है। दस प्रकार की संज्ञाओं, अर्थात् इच्छाओं और आकांक्षाओं से अभिभूत व्यक्ति अपने अनुष्ठानों को दूषित करता है।

योगदृष्टिसमुच्चय की टीका में हरिभद्रसूरि ने दस प्रकार की संज्ञाएँ बताई हैं- १. आहारसंज्ञा २. भयसंज्ञा ३. मैथुनसंज्ञा ४. परिग्रहसंज्ञा ५. क्रोधसंज्ञा ६. मानसंज्ञा ७. मायासंज्ञा ८. लोभसंज्ञा ९. ओषसंज्ञा १०. लोकसंज्ञा। इनकी पूर्ति के लिए की जाने वाली धर्मक्रिया विषानुष्ठान है। वर्तमान जीवन के संकट, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग आदि के कारणों से प्रेरित होकर साधक धार्मिक अनुष्ठानों को

^{४०६}. असदनुष्ठानगाथा-१५३, योगबिन्दु-आ. हरिभद्रसूरि

^{४०७}. आहारोपधिपूजर्द्धि-प्रभृत्याशंसया कृतम्।

शीघ्रम सच्चित्तहन्तृत्वाद्रिषानुष्ठानमुच्यते ॥३॥-सदनुष्ठान अधिकार-अध्यात्मसार- उ. यशोविजयजी

आकांक्षा (निदान) आदि के द्वारा दूषित कर देता है। पंचाशक में हरिभद्रसूरि ने कहा है- “जिनभवन निर्माण आदि धार्मिक अनुष्ठान निर्मल आशय से भावपूर्वक करने से वे अनुष्ठान सर्वविरति का कारण बनते हैं। यदि वे धार्मिक अनुष्ठान इहलोक या परलोक में भौतिक सुख पाने के लिए किए जाएँ, तो वे फलाकांक्षा (निदान) से युक्त होने के कारण दूषित बन जाते हैं।”^{४०८} कई लोग मान-सम्मान पाने के लिए अच्छे आहार के लिए, वस्त्रादि उपकरणों के लिए, ऋद्धि-समृद्धि को प्राप्त करने के लिए गुरुसेवा, जिनभक्ति, व्रत, तप आदि धार्मिक क्रियाएँ करते हैं। मनुष्य की इच्छाओं, आकांक्षाओं का कोई अन्त नहीं है। दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा के अभाव में जीव तात्कालिक लोभ का विचार पहले करता है। वह अपनी आत्मा के हित-अहित का विचार नहीं करता है। इस प्रकार की धर्मक्रियाएँ चित्त की निर्मलवृत्ति को नष्ट कर देती हैं, इसलिए इस अनुष्ठान को विषानुष्ठान कहा गया है। उ. यशोविजयजी कहते हैं- “जिस प्रकार विष का भक्षण करने से तत्काल मृत्यु हो जाती है, उसी प्रकार ऐहिक भोगों की आकांक्षा से जीव का निर्मल चित्त दूषित हो जाता है।”^{४०९} यशोविजयजी ने दो प्रकार के विष बताएँ हैं। स्थावरविष जैसे- अफीम आदि और जंगमविष जैसे सर्प, बिच्छु आदि का विष। दोनों प्रकार में से कोई भी विष का भक्षण करने से व्यक्ति की जिस प्रकार मृत्यु हो जाती है, उसी प्रकार सकामवृत्ति से दृढ़ आसक्ति से की गई धार्मिक क्रियाएँ भी विष का काम करती हैं और मोक्षमार्ग से दूर कर देती हैं। उ. यशोविजयजी सवासो गाथा के स्तवन में कहते हैं- “अध्यात्म बिना की गई क्रियाएँ शरीर के मेल के समान तुच्छ बन जाती हैं।”

अध्यात्मविष जे क्रिया तनुमल तोले।

ममकारादिक योग थी ऐम ज्ञानी बोले। ३/१२

भोगों में तृप्ति नहीं है और जड़ वस्तुओं में कहीं भी सुख नहीं है। भोगों में जितनी आसक्ति होगी, उतनी ही आत्मा अपने स्वरूप से दूर रहेगी। आत्मा जितनी अपने स्वरूप से दूर रहेगी, उतनी ही पाप की वृद्धि होगी और

^{४०८}. (अ) स्तवविधि पंचाशक -६/४, पंचाशक प्रकरण-हरिभद्रसूरि (ब) आचारांगनिर्युक्ति -३६ गाथा

^{४०९}. स्थावरं जंगमं चापि तत्क्षणं भक्षितं विषम्
यथाहन्ति तथेदं सच्चित्तमैहिक भोगतः ॥४॥-सदनुष्ठान अधिकार-अध्यात्मसार-उ.
यशोविजयजी

परिणाम में अधोगति में जाना पड़ेगा; अतः पौद्गलिक सुख की प्राप्ति के लिए जो धार्मिक क्रियाएँ करता है, वह वास्तव में कानी कौड़ी के लिए लाखों स्वर्णमुद्राएँ गवाँ देता है। यही कारण है कि विषानुष्ठान को अशुद्ध अनुष्ठान कहते हैं।

२. गरानुष्ठान :

विषानुष्ठान की तरह गरानुष्ठान भी अशुद्ध ही है। विषानुष्ठान ऐहिक सुख की कामना से किया जाता है और गरानुष्ठान पारलौकिक भोगोपभोग सुख की प्राप्ति के लिए किया जाता है।

यशोविजयजी कहते हैं- “जीव अपने पुण्यकर्म का फल पूरा होने पर पुनः कालान्तर में क्षय को प्राप्त वाला होने वाले दिव्यभोगों की अभिलाषा से जो व्रत अनुष्ठान करता है, वह गरानुष्ठान कहलाता है।”^{४१०}

बीज बोए बिना फल की प्राप्ति नहीं होती है। यह निश्चित है कि जब तक व्यक्ति प्रयत्न नहीं करेगा, त्याग नहीं करेगा, कष्ट नहीं उठाएगा, तब तक उसको सुख या पुण्यफल की प्राप्ति नहीं हो सकती है, अतः देवगति आदि के सुखभोग भोगने के लिए, या चक्रवर्ती वासुदेव आदि पदवियों को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति जो तप, जप, गुरुभक्ति, जिनभक्ति आदि धर्मक्रियाएँ करता है, वे सभी क्रियाएँ गरानुष्ठान कहलाती हैं। विष तो तत्काल प्राणों को हरण कर लेता है, किन्तु गरल वह ‘धीमा जहर’ (Slow Poison) है, जो कालान्तर में व्यक्ति के प्राणों का हरण करता है। इस प्रकार की धर्मक्रियाओं से पुण्य का उपार्जन होता है। यह पापानुबंधी पुण्य होता है। इसके फल के रूप में देवगति आदि के सुख-भोग प्राप्त हो जाते हैं, किंतु इन भोगों को भोगते समय बहुत आसक्ति होती है। चित्त की शुद्धि नष्ट हो जाती है और जीव भयंकर पापकर्म करके दुर्गति में चला जाता है। पुण्य का क्षय होने पर वह अधोगति का मेहमान बन जाता है। मकड़ी अपना जाल बनाती है और स्वयं ही उसमें फँस जाती है और अपनी जान गवाँ देती है, उसी प्रकार गरलानुष्ठान वाला स्वयं ही प्राप्त हुए भोगों के जाल में फँस जाता है और उससे निकल नहीं पाता है तथा दुर्गति में चला जाता है। अतः विषानुष्ठान और गरलानुष्ठान करने वाले व्यक्ति का भवभ्रमण बढ़ जाता है। सामान्य जीव का लक्ष्य स्वरूपप्राप्ति का या मोक्षप्राप्ति का नहीं रहता है,

^{४१०}. दिव्यभोगाभिलाषेण कालान्तरपरिक्षयात् ।

स्वादृष्टफलसंपूर्तगरानुष्ठानमुच्यते ॥५॥-सदनुष्ठान अधिकार- अध्यात्मसार- उ.

यशोविजयजी

पौद्गलिक सुख भोगों को प्राप्त करने का ही रहता है। गरलानुष्ठान से प्राप्त सुखभोगों में फँसा हुआ व्यक्ति जल पीने के लिए गया हुआ, किन्तु दलदल में फँसा हुआ उस हाथी के समान है, जो किनारों को देखते हुए भी उसे नहीं पा सकता है। वह कामभोगों के दुष्परिणाम को जानते हुए भी त्याग मार्ग का अनुसरण नहीं कर सकता है।

उत्तराध्ययन में संभूतिमुनि का दृष्टान्त आता है^{४११} कि वह धर्मानुष्ठान के फल के रूप में चक्रवर्ती के भोगों की प्राप्ति का निदान कर लेता है और चक्रवर्ती पद को प्राप्त करके भोगों में आसक्त होकर भयंकर पापों का उपार्जन करके सातवीं नरक में जाता है। उस सुख की आशा क्या करना, जिसके पीछे दुःख हों।

इसीलिए उपर्युक्त दोनों ही अनुष्ठान हेय हैं, त्यागने योग्य है। उ. यशोविजयजी कहते हैं- “विभिन्न प्रकार के अनर्थों को उत्पन्न करने वाले इन दोनों अनुष्ठानों को निषेध करने के लिए जिनेश्वरों ने फलाकांक्षा (नियाना) करने का निषेध किया है।”^{४१२} शुभ भाव से किया हुआ कठोर तप कभी भी निष्फल नहीं जाता है। उस तप के बदले में कोई फल की इच्छा करना या फल को मांगना वह निदान कहलाता है। निदान तीन प्रकार के होते हैं। १. प्रशस्तनिदान २. भोगकृतनिदान ३. अप्रशस्तनिदान।

सामान्यतः मनुष्य तप के फल के रूप में संभूति मुनि की तरह भोगरूपी निदान बांधता है। तप के फल के रूप में यदि अग्निशर्मा की तरह किसी की हत्या करने का या अहित करने को निदान करे तो वह अप्रशस्त निदान कहलाता है- मोक्ष गति प्राप्त हो, भव-भव में आपके चरणों की सेवा प्राप्त हो..... आदि, ये प्रशस्त निदान कहलाते हैं। (किसी अपेक्षा से प्रशस्तनिदान दोष रूप नहीं है।)

इस प्रकार भोग-सुख की प्राप्ति की इच्छा से किए जाने वाले विषानुष्ठान और गरलानुष्ठान आत्मविकास में और अंत में मोक्ष प्राप्ति में प्रतिबंधक होते हैं।

^{४११}. चित्तसंभूतीय-१३ वाँ अध्ययन-उत्तराध्ययन

^{४१२}. निषेधायानयोरेव विघ्नानर्थदायिनो । सर्वत्रैवानिदानत्वं जिनन्दैः प्रतिपादितम् ।।११।।

-सदनुष्ठान अधिकार, अध्यात्मसार, उ. यशोविजयजी

गीता में 'श्रीकृष्ण' ने भी कहा है- "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्" अर्थात् कर्म करो, लेकिन निष्काम भाव से करो, फल की इच्छा मत करो। इस प्रकार गीता में भी विषानुष्ठान और गरतानुष्ठान का निषेध है।

३. अननुष्ठान :

तीसरे प्रकार का अनुष्ठान अननुष्ठान कहलाता है। "प्रणिधान आदि के अभाव से अध्ववसायरहित तथा संमूर्च्छिम की प्रवृत्ति के समान जो क्रिया की जाती है, या जो अनुष्ठान किया जाता है, वह अननुष्ठान कहलाता है।"^{४१३} इसे अन्योन्यानुष्ठान भी कहते हैं। प्रणिधान यानी मन-वचन-काया की एकाग्रता। कोई भी क्रिया एकाग्रता के अभाव में जड़ या यंत्रवत् हो जाती है। उसमें भूल होने की संभावना भी रहती है। इस अनुष्ठान में प्राणिधान के अलावा क्रिया में, बहुमान, उत्साह, आदर, पुरुषार्थ आदि का भी अभाव रहता है। आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लक्ष्य बिना, अध्ववसाय से रहित यह क्रिया संमूर्च्छिम के समान होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि जिसको मन ही नहीं है, ऐसे संमूर्च्छिम जीव क्रिया करें और मन वाले होने पर भी मन बिना क्रिया करें- इन दोनों में कुछ खास अन्तर नहीं होता है, अर्थात् उनकी क्रिया संमूर्च्छिम जीवों की प्रवृत्ति के समान रहती है।

अननुष्ठान प्रकार की होने वाली धर्मक्रियाओं के उ. यशोविजयजी ने दो कारण बताए हैं- १. सामान्य ज्ञानरूप ओघसंज्ञा २. निर्दोष शास्त्रसिद्धान्त के ज्ञान के बिना लोकसंज्ञा।^{४१४}

दुनिया में कितनी धर्मप्रवृत्ति ओघसंज्ञा से होती रहती है, इसमें व्यक्ति को गहरी समझ नहीं होती है। ओघसंज्ञा से अनुष्ठान करने वाले के लिए सूत्र में या शास्त्र में क्या कहा है? वह यह नहीं जानता है, उसको जानने की इच्छा भी नहीं होती है और वह गुरु के मार्गनिर्देशन की अपेक्षा नहीं रखता है। वह अपनी मति के अनुसार क्रिया करता है और क्रिया भावविहीन होती है।

लोकसंज्ञा में, बहुत से लोग विभिन्न धर्मक्रियाएं करते हैं, इसलिए इन्हें करना, अथवा परंपरा से ज्येष्ठ लोग करते आए हैं, इसलिए इन्हें करना, इस प्रकार गतानुगतिक देखादेखी से होती उपयोगशून्य प्रवृत्ति लोकसंज्ञा वाली प्रवृत्ति है।

^{४१३} प्रणिधानाद्यभावेन कर्मनाध्ववसायिनः
संमूर्च्छिमप्रवृत्त्याभमननुष्ठानमुच्यते ।। ८ ।।-सदनुष्ठान अधिकार- अध्यात्मसार-उ.
यशोविजयजी

^{४१४} ओघसंज्ञाऽत्र सामान्य

कई बार आवश्यक आदि क्रिया करते समय व्यक्ति सूत्र, अर्थ, विधि आदि कुछ नहीं जानता है, नहीं करने के भाव होते हैं, फिर भी गतानुगतिकता से, लक्ष्य बिना कई लोग इन क्रियाओं से जुड़े रहते हैं। उ. यशोविजयजी कहते हैं कि तीर्थ-उच्छेद के भय से अशुद्ध क्रिया का आदर करने में आए तो, गतानुगतिकत्व को लेकर शुद्ध क्रिया का लोप हो जाएगा, क्योंकि फिर अशुद्ध क्रिया का आदर करने से 'यही सत्य'- ऐसा भ्रम होगा और इसलिए ही लोग अशुद्ध क्रिया करते हों, तो भी आदर, महिमा और आग्रह तो शास्त्रविहित शुद्ध क्रिया का ही होना चाहिए।

अननुष्ठान से मात्र अकामनिर्जरा होती है, इसलिए सूत्रार्थरहित, अज्ञान से युक्त गतानुगतिक, ओषसंज्ञा और लोकसंज्ञा से कराए गए अनुष्ठान अननुष्ठान कहलाते हैं और यह मोक्षमार्ग के लिए उपकारक नहीं होते हैं, इसलिए इसे भी अशुद्ध क्रिया या अशुद्ध अनुष्ठान कहते हैं।

४. तद्हेतु अनुष्ठान :

मोक्ष की प्राप्ति के लिए किया गया अनुष्ठान तद्हेतु-अनुष्ठान कहलाता है। उ. यशोविजयजी कहते हैं- "मार्गानुसारी जीवों को सदनुष्ठान के प्रति राग होने से तद्हेतु-अनुष्ठान प्राप्त होता है। यह अनाभोगादि से युक्त चरमावर्तकाल में प्राप्त होता है।"^{४१५} तद्हेतु अनुष्ठान में अनाभोगिक, अर्थात् अनुपयोग, अनादर, विस्मृति, आशंका आदि दोष नहीं होते हैं। मोक्षमार्ग की अभिलाषा रखने वाले को चरमावर्तकाल में यह तद्हेतु अनुष्ठान प्राप्त होता है। चरमावर्त में आने के बाद आत्मा की आध्यात्मिक विकास-यात्रा प्रारंभ हो जाती है।

आ. हरिभद्रसूरि ने योगबिन्दु में कहा है- "अन्तिम पुद्गलावर्त में गुरुपूजा, देवपूजा आदि जो अनुष्ठान किए जाते हैं वे तथा अन्तिम पुद्गलावर्त से पूर्ववर्ती आवर्तों में जो अनुष्ठान किए जाते हैं, वे परस्पर भिन्न होते हैं। दोनों के अनुष्ठाताओं में मूलतः भेद होता है। एक संसार में पौद्गलिक सुखों में अत्यंत आसक्त होता है, तो दूसरा संसार में रहते हुए भी धर्म की ओर उन्मुख रहता

^{४१५}. सद्नुष्ठानरागेण तद्धेतु मार्गगमिनाम्। एतच्च चरमावर्तेऽनाभोगादेर्विना भवेत् ॥१७॥
-सदनुष्ठान अधिकार-१०, अध्यात्मवाद, उ. यशोविजयजी

है”, ४१६ इसलिए उनके अनुष्ठान में भी भेद होना स्वाभाविक है। चरमपुद्गलावर्तवर्ती को सहज रूप में कर्ममल की अल्पता होती है तथा भावों की शुद्धि होती है। उसके फलस्वरूप प्राणियों के जीवन में शुभ अनुष्ठान क्रियान्वित होने लगता है, इसलिए उ. यशोविजयजी ने इसे धर्म का यौवनकाल कहा है। इसमें सत्क्रिया के प्रति राग होता है।

उन्होंने इस अनुष्ठान को एक वृक्ष का रूपक दिया है। जिस प्रकार वृक्ष में बीज, अंकुर, स्कंध, पत्र, पुष्प और फल आदि अंग होते हैं, उसी प्रकार शुद्ध अनुष्ठान करने वाले मनुष्यों को देखकर उनके प्रति बहुमान और प्रशंसा व्यक्त करते हुए शुद्ध क्रिया करने की जो इच्छा होती है, वह तद्हेतु-अनुष्ठान करने वाले जीव का बीजरूप प्रथम लक्षण है। वह शुद्धिक्रिया कब करेगा? बार-बार इस प्रकार की भावना होने से, परिणाम की निर्मलता से जो अनुबंध होता है, वह अंकुर रूप में है तथा उसके बाद यह शुद्ध किस प्रकार हो सकती है, इसका चिंतन-मनन करना तद्हेतु वृक्ष का स्कंधरूप है। इस अनुष्ठान में जो-जो सत्क्रियाएँ करने में आती हैं, वे छोटे-बड़े पत्ते माने जा सकते हैं। उसके बाद किसी सद्गुरु का संयोग होने पर जो बोध होता है, उनके मार्गदर्शन में जो शास्त्राभ्यास आदि होते हैं- ये इस अनुष्ठान के पुष्प हैं। सद्गुरु का संयोग होने पर जो बोध हाने के बाद सत्देशना सुनने से उसके मिथ्यात्वमोहनीय कर्म का क्षयोपशम होता है और सम्यक्स्वरूपी शुद्ध भावधर्म की प्राप्ति होती है, यही तद्हेतु अनुष्ठान का फल रूप है। ४१७ यह फल अवश्य मोक्ष को प्राप्त कराने वाला होता है। (तद्हेतु-अनुष्ठान में भी भौतिकफलाभिलाषा तो तीव्र रहती है, किंतु मुक्ति के प्रति राग भी होता है, इसलिए यह अभव्य में नहीं होता है।)

४१६. एवं च कर्तृभेदेन चरमेऽन्यादृशं स्थितम् ।

पुद्गलानां परावर्ते गुरुदेवादिपूजनम् ॥१६१॥ योगबिन्दु- हरिभद्रसूरि

४१७. बीजं चेह जनान् दृष्ट्वा शुद्धानुष्ठानकारिणः । बहुमानप्रशंसाम्यां चिकीर्षा शुद्धगोचरा ॥२१॥

तस्याएवानुबंधश्चाकलंकः । तिर्यतेऽङ्कुरः । तद्भेदत्वन्वेषणा चित्ता स्कंधकल्पा च वर्णिता ॥२२॥

प्रवृत्तिस्तेषु चित्रा च पत्रादिसदृशी मता । पुष्पं च गुरुयोगादिहेतुसंपत्तिलक्षणम् ॥२३॥

भावधर्मस्य संपत्तिर्या च सद्देशनादिना । फलं तदत्र विज्ञेयं नियमान्मोक्षसाधकम् ॥२४॥

-सदनुष्ठान अधिकार -अध्यात्मसार- उ. यशोविजयजी

५. अमृतानुष्ठान :

पाँचों प्रकार के अनुष्ठानों में सर्वश्रेष्ठ अनुष्ठान अमृतानुष्ठान है। यह अनुष्ठान जहाँ मरण नहीं- ऐसी अमरण अवस्था का, अर्थात् मोक्ष का कारण है, इसलिए यह अमृतानुष्ठान है। यशोविजयजी ने अमृतानुष्ठान के छः लक्षण बताए हैं - १. जिनेश्वर की आज्ञा के प्रति अचल श्रद्धा जैसे सुलसा श्राविका आदि के समान २. चित्त की शुद्धि ३. तीव्र वैराग्य (संवेग) और मोक्ष की प्राप्ति अभिलाषा ४. शास्त्रार्थ का सम्यक् आलोचन ५. अनुष्ठान में दृढ़ प्राणिधान, अर्थात् चित्त की एकाग्रता ६. कालादिक अंगों का अविपर्यास^{४९८}, अर्थात् आवश्यकदि धर्मक्रियाओं को जिस समय पर करने का कहा है, उन्हें उसी समय पर करना। अमृतानुष्ठान करने वाले व्यक्ति में प्रत्येक धर्मक्रिया में उत्साह होता है, स्वस्थता होती है और अप्रमत्तता होती है। किसी भी कार्य में वह उपयोगशून्य नहीं होता है।

यशोविजयजी के अध्यात्मसार में दी गई यह व्याख्या अमृतानुष्ठान की उत्कृष्ट व्याख्या है, क्योंकि विषम संयोगों में आवश्यकदि क्रियाओं का जो समय शास्त्रों में बताया है, उसके अनुसार न हो-यह संभव है। परिस्थितिवश शास्त्राभ्यास न भी हो, किन्तु जितना करना शक्य है, उतना प्रयत्न तो अवश्य होता है।

आ. हरिभद्रसूरि ने योगबिन्दु में अमृतानुष्ठान की जो व्याख्या दी है, वह सर्वव्यापी है। उन्होंने व्याख्या करते हुए कहा है- “जिस अनुष्ठान के साथ साधक के मन में मोक्षोन्मुख आत्मभाव तथा भववैराग्य की अनुभूति जुड़ी रहती है और साधक यह आस्था लिए रहता है कि यह अर्हत् प्रतिपादित है, उसे अमृतानुष्ठान कहते हैं।”^{४९९} अमृतानुष्ठान में आंशिक फलापेक्षा रहती है, किन्तु मोक्षाभिलाषा ही मुख्य होती है।

श्रीपाल जैसे विशिष्ट भूमिका में रहे हुए जीवों को भी कभी व्यक्तरूप में भौतिक फलाकांक्षा दिखाई देती है, किन्तु उनका संवेग तीव्र होता है और

^{४९८}. जैनीमाज्ञां पुरस्कृत्य प्रवृत्तं चित्तशुद्धितः। संवेगगर्भमत्यन्तममृतं तद्विदो विदुः।।२६।।
शास्त्रार्थालोचनं सम्यक्प्राणिधानं च कर्मणि। कालाद्यंगाविपर्यासोऽमृतानुष्ठान
लक्षणम्।।२७।।

-सदनुष्ठान अधिकार- अध्यात्मसार- उ. यशोविजयजी

^{४९९}. जिनोदितमिति त्वाहूर्भावसारमद पुनः।

संवेगगर्भमत्यन्तममृतं मुनिपुङ्गवाः।।१६०।। -योगबिन्दु - आ. हरिभद्रसूरि

मोक्षाभिलाषा अखण्ड रहती है। भौतिक फलापेक्षा से उनकी मोक्षाभिलाषा बहुत तीव्र होती है। भौतिक फलापेक्षा तो कामचलाऊ तथा प्रासंगिक होती है, जबकि मोक्षाभिलाषा सतत रहती है, इसलिए उनका अनुष्ठान अमृतानुष्ठान ही बनता है।

इस प्रकार पाँच अनुष्ठानों में प्रथम तीन अनुष्ठान असत्, अर्थात् अशुद्ध हैं और अन्तिम दो अनुष्ठान शुद्ध हैं। इसमें भी अमृतानुष्ठान मोह के उग्र विष के नाश का कारण होने से सर्वश्रेष्ठ है।

विषानुष्ठान और गरलानुष्ठान में विपरीत प्रणिधान होने से, अथवा अननुष्ठान में प्रणिधानशून्यता होने से उनमें प्रणिधानादि आशय नहीं होते हैं, अतः ये अनुष्ठान तुच्छ हैं, हेय हैं। तद्देहु-अनुष्ठान परंपरा से तथा अमृतानुष्ठान साक्षात् रूप में जीव को मोक्ष के साथ जोड़ने वाले होने से सद्योगरूप है और आदर करने योग्य हैं।

अविरतसम्यग्दृष्टि और अपुनर्बन्धक जीवों को विरति नहीं होने से अमृतानुष्ठान संभावित नहीं है, लेकिन तद्देहु-अनुष्ठान संभवित है। देशविरतिधर को अमृतानुष्ठान होता है तथा सर्वविरति धर को परमामृतानुष्ठान होता है। यह बात योगविशिका की वृत्ति में उ. यशोविजयजी ने कही है।^{४२०}

शुभ व्यवहार और अशुभ व्यवहार

प्रत्येक मनुष्य सुख चाहता है, दुःख कोई भी नहीं चाहता है। इच्छित सुखों की साधन-सामग्री ऊपर से नहीं टपकती है, न ही इन्हें ईश्वर प्रदान करते हैं। व्यक्ति के शुभ कर्मों या पुरुषार्थ से ही पुण्य का उपार्जन होता है और उसी से मनुष्यजन्म, आर्यदेश, संस्कारी कुल, पंचेन्द्रिय की पूर्णता, निरोगी काया, सद्गुरु का योग, धर्मश्रवण की रुचि आदि सर्वप्रकार की अनुकूलता प्राप्त होती है। इसके विपरीत तिर्यचगति, नरकगति के दुःख, मनुष्यजन्म में असंस्कारी कुल, शारीरिक और मानसिक यातनाएं, विभिन्न प्रकार की प्रतिकूलता अशुभव्यवहार से उपार्जित पाप के उदय से प्राप्त होती है। उ. यशोविजयजी ने अध्यात्मसार में शुभकर्म को पुण्य तथा अशुभकर्म को पाप कहा है।^{४२१}

^{४२०}. योगविशिका की वृत्ति, पृ. १७६ - उ. यशोविजयजी

^{४२१}. पुण्यकर्म शुभं प्रोक्तमशुभं पापमुच्यते। -आत्मनिश्चयाधिकार, अध्यात्मसार, उ. यशोविजयजी

अभिधानराजेन्द्रकोष में 'पुण्य' की व्याख्या करते हुए कहा गया है- "जो आत्मा को शुभ करता है, पुनीत या पवित्र करता है, वह पुण्य है।"^{४२२}

शुभ व्यवहार या शुभकर्म किसे कहते हैं? शुभकार्य करने के साधन या मार्ग क्या हैं? कई तरह की जिज्ञासाएँ उठती हैं। इन जिज्ञासाओं को शांत करने के लिए सर्वप्रथम हमें यह जानना होगा कि शुभ व्यवहार किसे कहते हैं?

जिस प्रकार के व्यवहार से हमें कष्ट होता है, या जो व्यवहार हमें अप्रिय लगता है, उस प्रकार का व्यवहार हमें दूसरे के प्रति नहीं करना तथा जैसा व्यवहार या आचरण हमको प्रिय लगता है, अनुकूल लगता है, वैसा व्यवहार दूसरे के प्रति करना-यही शुभव्यवहार या शुभआचरण है। इससे विपरीत अशुभव्यवहार होता है। सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि ही व्यवहार के शुभत्व का प्रमाण है। योगशास्त्र में हेमचन्द्राचार्य ने कहा- "आत्मवत् सर्वभूतेषु सुखदुःखे प्रियाप्रियो।" जैसे स्वयं को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है, वैसे ही सभी जीवों को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है, इसलिए किसी की भी राह में काँटे नहीं बिछाना चाहिए, अर्थात् किसी का अहित हो-ऐसा आचरण नहीं करना चाहिए।

अब प्रश्न यह आता है कि यह कर्म शुभ है या अशुभ-यह किस प्रकार सिद्ध करेंगे? इसका आधार क्या है? डॉ. सागरमल जैन से 'जैनकर्मसिद्धान्त : एक विश्लेषण' नामक लेख में यह स्पष्ट किया है कि "कर्म का बाह्यस्वरूप, अर्थात् समाज पर उसका प्रभाव तथा कर्ता का अभिप्राय इन दोनों में कौन सा आधार यथार्थ है यह विवाद का विषय रहा है। गीता और बौद्धदर्शन में कर्ता के अभिप्राय को ही कृत्यों की शुभता अशुभता का सच्चा आधार माना गया है। गीता स्पष्ट रूप से कहती है कि जिसमें कर्तृत्व भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि निर्लिप्त है, वह इन सब लोगों को मार डाले, तो भी यह समझना चाहिए कि उसने न तो किसी को मारा है और न वह उस कर्म से बंधन को प्राप्त होता है। धम्मपद में बुद्धवचन भी इस प्रकार ही है। उसमें कहा गया है कि- नैष्कर्य स्थिति को प्राप्त ब्राह्मण माता-पिता को, दो क्षत्रिय राजाओं को एवं प्रजासहित राष्ट्र को मारकर भी निष्पाप होकर जाता है। इस प्रकार बौद्धदर्शन में कर्ता के अभिप्राय को ही पुण्य-पाप का आधार माना गया है। इसका प्रमाण सूत्रकृतांग के आर्द्रकसंवाद में भी मिलता है। जहाँ तक जैन-मान्यता का प्रश्न है, विद्वानों के अनुसार उसमें भी

^{४२२} 'पुण्य' शुभे इति वचनात् पुण्यति शुभी करोति, पुनाति वा पवित्रीकरोत्यात्मानमिति पुण्यम्
- अभिधान राजेन्द्रकोष, भाग -५, पृ. ६६१

कर्ता के अभिप्राय को ही शुभता-अशुभता का आधार माना गया है। शुभ-अशुभ कर्म का मुख्य आधार मनुष्य की मनोवृत्तियाँ हैं।”^{४२३} जैन-आचार्यों द्वारा कहा भी गया है कि ‘मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः’ अर्थात् मनुष्य का मन ही शुभ तथा अशुभ बंध का कारण होता है और मन ही मोक्ष का कारण है।

आवश्यकचूर्णि^{४२४} तथा निशीथसूत्रचूर्णि^{४२५} में प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का दृष्टान्त आता है। इसके अनुसार पोतनपुर नगर में प्रसन्नचन्द्र नामक राजा ने वीरप्रभु के पास दीक्षा स्वीकार कर ली थी। वे महावीर के साथ विहार करते हुए राजगृही नगरी में आए और वहाँ आकर खड्गासन में कायोत्सर्ग कर ध्यान में स्थिर हो गए। राजा श्रेणिक सैन्यसहित महावीर प्रभु को वन्दना करने के लिए उसी रास्ते से निकले। उस समय दुर्मख नामक दूत ने प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को देखकर कहा- “अरे यह तो वही कायर है, जिसने अपने निर्बल पुत्र को राज्यसिंहासन पर बैठाकर स्वयं शत्रुओं के भय से दीक्षा अंगीकार कर ली। इसके कारण से ही राजपुत्र तथा प्रजा शत्रुओं से पीड़ित हो रही है।” जैसे ही दुर्मख के ये शब्द राजर्षि के कर्णपटल से टकराए, वैसे ही वे संयम की मर्यादा भूलकर कुपित होते हुए चिन्तन करने लगे- अरे! कौन मेरे जीवित होते हुए मेरे राज्य पर आक्रमण कर सकता है? वे तन से कायोत्सर्ग में स्थिर रहे, किन्तु मन उनका भीषण युद्ध करने लगा। इधर ध्यानमग्न प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को देखकर श्रेणिक अहोभाव से भर गया और उसने भगवान से पूछा “ध्यान में निरत प्रसन्नचन्द्रराजर्षि की अभी मृत्यु हो जाए, तो वे कहाँ उत्पन्न होंगे? प्रभु ने कहा “सातवीं नरक में उत्पन्न होंगे।” इस पर श्रेणिक विचार करने लगा कि शायद मैंने ठीक से नहीं सुना। वह बार-बार भगवान् से पूछने लगा।

इधर मन द्वारा युद्ध करते हुए राजर्षि के सारे शस्त्र खत्म हो गए, तब उन्होंने मुकुट द्वारा शत्रु को मारने की इच्छा से जैसे ही हाथ मस्तक पर लगाया, लोच किए हुए मस्तक का स्पर्श होते ही उनकी चेतना जाग्रत हुई- “अरे! मैं श्रमण होकर इस तरह युद्ध कर रहा हूँ।” इस प्रकार पश्चाताप करते-करते निर्मल अध्यवसाय के कारण उन्होंने शुक्लध्यान को प्राप्त किया, जिससे उनकी उसी समय केवलज्ञान प्राप्त हुआ। देवों ने दुन्दुभिनाद किया। दुन्दुभि को सुनकर

^{४२३} जैनकर्मसिद्धान्त : एक विश्लेषण; डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रंथ - ग्रंथ

भगवद्गीता, १८/१७, घम्मपद, २४६, सूत्रकृतांग, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, आद्रकसंवाद २/६

^{४२४} आवश्यकचूर्णि - (भाग १, ४५६)

^{४२५} निशीथचूर्णि (भाग ४, पृ. ६८)

श्रेणिक ने भगवान से पूछा- “हे भगवन् ! यह दुन्दुभी किस कारण से बज रही है?” तब भगवान ने कहा- “प्रसन्नचंद्रराजर्षि को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है।” इस दृष्टान्त से यह स्पष्ट होता है कि बाहर की वृत्ति शुभ दिखाई देने पर भी मन के अशुभ परिणाम के कारण प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ने सातवीं नरक तक जाने के कर्मदलिक एकत्रत कर लिए और जैसे ही परिणाम की धारा बदली, शुभध्यान में आए वैसे ही केवलज्ञान भी प्राप्त कर लिया। इस प्रकार शुभव्यवहार और अशुभव्यवहार प्रमुख रूप से मन की वृत्तियों पर निर्भर करता है। उत्तराध्ययन आदि जैनग्रन्थों में बंधन का मुख्य कारण राग और द्वेष की वृत्तियाँ ही मानी गई हैं। दूसरों के रक्षण और सम्पोषण के प्रयत्नों में चाहे किसी सीमा तक हिंसा की बाह्य प्रवृत्ति भी हो सकती है, किन्तु यह यथार्थरूप में अशुभबंध का हेतु नहीं है। जैन ग्रन्थों में इस प्रकार के कई दृष्टान्त आते हैं, जिसमें शीलधर्म की रक्षा के लिए जैन मुनियों को बाह्यरूप से हिंसक प्रवृत्ति भी अपनाना पड़ी।^{४२६}

जैनाचार्य कालकसूरि ने साध्वी सरस्वती के शील की तथा धर्म की रक्षा के लिए अवधूत का वेश धारण कर उज्जैन के राजा गर्दभिल्ल से युद्ध करके उसकी हत्या की। विष्णुकुमार मुनि ने भी पूरे जैनसंघ की रक्षा के लिए नमुचि की हत्या की। यहाँ बाह्य प्रवृत्ति हिंसा की है, परंतु भाव में हिंसा नहीं है, भाव तो किसी की रक्षा का है। यहाँ हिंसा अल्प है और पुण्यबंध अधिक हैं, इसलिए यह प्रवृत्ति शुभ ही कहलाएगी। कालसौरिक कसाई जो रोज ५०० पाड़ों का वध करता था, श्रेणिक ने सिर्फ एक दिन के लिए उसे हिंसा बंद करने की आज्ञा दी। वह नहीं माना, श्रेणिक ने उसे कुएं में उतार दिया और यह सोचकर खुश हुआ कि मैंने एक दिन की हिंसा बंद करवा दी, किंतु कुएं में भी वह कसाई मिट्टी के पाड़े बनाकर मारता रहा। श्रेणिक उसके द्वारा होने वाली द्रव्यहिंसा पर रोक लगा सका, किंतु भावहिंसा नहीं रोक सका। उसने द्रव्य से हिंसा नहीं करते हुए भी भाव से उतने ही अशुभकार्य का बंध कर लिया।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जैनधर्म में भी शुभता और अशुभता का आधार मन की वृत्तियाँ ही हैं, फिर भी उसमें बाह्यक्रिया उपेक्षित नहीं है। निश्चयदृष्टि से तो भाव ही कर्मों की शुभता-अशुभता का निर्णायक है, फिर भी व्यवहार की दृष्टि

^{४२६} रागो य दोसो वि य कम्मवीर्यं, कम्मं च मोहप्पभवं वयंति ।

कम्मं च जाई-मरणस्स मूलं, दुक्खं च जाइ-मरणं वयंति ।। १७ ।। -प्रमादस्थान, ३२क
अध्ययन, उत्तराध्ययन

से कर्म का बाह्यस्वरूप भी शुभता-अशुभता का निश्चय करता है, क्योंकि प्रायः जैसे भाव अन्तर में होते हैं, वैसी ही क्रिया बाहर होती है। अन्तर की क्रिया शुभ हों, भाव पवित्र हों और बाहर प्रवृत्ति अशुभ हो- ऐसा प्रायः अपवाद स्वरूप होता है, उसे निर्दोष नहीं माना जा सकता है। सूत्रकृतांग (२१६१) में आर्द्रककुमार बौद्धों की एकांगी धारणा का निरसन करते हुए कहते हैं कि जो मांस खाता हो-चाहे न जानते हुए भी खाता हो, उसको पाप लगता ही है। हम जानकर नहीं खाते, इसलिए दोष नहीं लगता, ऐसा कहना असत्य नहीं तो क्या है? इससे स्पष्ट है कि जैनदृष्टि में मनोवृत्ति के साथ ही कर्मों का बाह्यस्वरूप भी शुभता-अशुभता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। मन में शुभभाव हों, तो पापाचरण सम्भव नहीं है।”^{४२७}

प्रश्न उठता है कि शुभ कर्म कौन-कौन से हैं ?

स्थानांगसूत्र^{४२८} में शुभकर्म के बीज नौ प्रकार के बताए गए हैं। “नव विहे पुण्णे पण्णते, अन्नपुण्णे, पाणपुण्णे, लयणपुण्णे, शयण पुण्णे, वत्थपुण्णे, मणपुण्णे, वइपुण्णे, कायपुण्णे, नमोकारपुण्णे”- इस प्रकार पुण्य नौ प्रकार का है।

१. अन्नपुण्य -

भोजन का दान देकर क्षुधार्त की क्षुधा- निवृत्ति करना; साधु एवं त्यागी आत्मा को अन्न, अर्थात् भोजन का दान देना- यह सुपात्रदान है और यह धर्म का कारण है, किन्तु अनाथ, अपंग, दरिद्र, असहाय, भूखे व्यक्ति को भूख से पीड़ित देखकर उसे भोजन देना अन्नपुण्य कहलाता है। अन्नदानियों में जगदूशाह, चंपाशाह, खेमाशाह जैन-इतिहास में प्रसिद्ध है।

२. पानपुण्य -

जल को जीवन भी कहा गया है और अमृत भी। भूख लगने पर अन्न से तृप्ति होती है, तो प्यास लगने पर जल से। तृषा से पीड़ित व्यक्ति को पानी पिलाना पानपुण्य है। प्रत्येक कार्य में तीन बातों का विवेक रखना चाहिए-

- अ. अनछाना जल नहीं पिलाना
- ब. जल की बर्बादी नहीं करना
- स. जल पिलाने के साथ प्यासे के प्रति सद्भाव और शुभभाव रखना।

^{४२७}. जैनकर्म सिद्धान्त एक विश्लेषण - पेज २०१, डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रंथ

^{४२८}. टाणांगसूत्र -नवन स्थान

३. लयणपुण्य -

लयन का अर्थ है- आश्रयस्थान, केन्द्र आदि। स्वयं के रहने के लिए भवन आदि का निर्माण करना लयणपुण्य नहीं है, क्योंकि अपने लिए पशु-पक्षी भी शीत, ताप, वर्षा आदि से बचने के लिए कोई न कोई आश्रयस्थान बना लेते हैं। आश्रयहीन, विपत्तिग्रस्त, भूकम्प आदि दुर्घटना से प्रभावित व्यक्तियों के संकट दूर करने के लिए उन्हें आश्रय देना, साथ ही ज्ञानप्राप्ति के लिए विद्यालय रोगनिवारण के लिए चिकित्सालय, तपस्या, साधना आदि के लिए उपाश्रय देना-यह सब लयनपुण्य है। जैन-आगमों में साधुओं को स्थान देने वाले को शय्यातर कहा गया है। शय्या, अर्थात् स्थान देने से जो तर जाए, वह शय्यातर कहलाता है।

माण्डवगढ़ में एक लाख महाजन के घर थे। वहाँ का ऐसा नियम था कि कोई भी परिवार बाहर से आता, तो वे लोग उसे प्रत्येक घर से एक रुपया और एक ईंट देते थे, जिससे वह भी उनके समान लखपति हो जाता-यह बात इतिहास प्रसिद्ध है। इन प्राचीन आदर्शों की प्रेरणा आज भी जीवन्त है। हर जगह वृद्धाश्रम, अनाथाश्रम, सेवाश्रम तथा राजस्थान में जगह-जगह धर्मशालाएँ पांथागार आदि बने हुए हैं।

४. शयनपुण्य -

सोने, बैठने, ओढ़ने, बिछाने के साधनों का जिनके पास अभाव हो, इन वस्तुओं के बिना जो दुःखी हो, उनको निःस्वार्थभाव से ये साधन देना शयनपुण्य है। जैसे चिकित्सालय में रोगियों के लिए पलंग आदि तथा ओढ़ने-बिछाने के साधनों का दान करना; अथवा बाढ़, अग्नि प्रकोप, शीतप्रकोप, भूकंप आदि प्राकृतिक विपदाओं से ग्रस्त दीन-हीन, साधनहीन व्यक्तियों को करुणाभाव से, खाट, पलंग, बिस्तर आदि दान करना शयनपुण्य कर श्रेणी में आता है।

आचारांगसूत्र में दूसरे श्रुतस्कन्ध में बताया गया है कि मुनियों के योग्य स्थल उपाश्रय, शय्या सस्तारक पाट-चौकी आदि का प्रदान करना शय्यादान के अंतर्गत आता है। कई करुणा से युक्त ऐसे पुण्यात्मा आज भी हैं, जो फुटपाथ पर सोए सर्दों में ठिठुरते दीन-दुखियों को देखकर चुपचाप रात को कंबल ओढ़ाकर आ जाते हैं।

५. वस्त्रपुण्य -

वस्त्रों का दान देना वस्त्रपुण्य कहलाता है। किसी त्यागी, व्रती साधु को मर्यादा के अनुसार वस्त्र देना, अथवा सामान्य जरूरतमंद विपत्तिग्रस्त व्यक्ति को वस्त्र देना वस्त्रपुण्य है।

महाकवि निरालाजी की करुणा के विषय में कई घटनाएँ प्रसिद्ध हैं। एक बार उन्हें किसी सभा में सम्मानित करके कीमती दुशाला ओढ़ाया गया। दुशाला ओढ़कर जब निरालाजी जा रहे थे, तब मार्ग में उन्हें एक गरीब बुढ़िया सर्दी में ठिठुरते हुए दिखी। वह दुशाला उन्होंने उस बुढ़िया के निर्वस्त्र शरीर पर डाल दिया।

जब व्यक्ति के हृदय में करुणा का स्रोत बहता है, तब वह वस्तु देते समय यह विचार नहीं करता है कि वह वस्तु बहुमूल्य है या नवीन है आदि।

६. मनपुण्य -

जैन आचार्यों ने मन की परिभाषा दी है- 'संकल्प विकल्पात्मक मनः', जो हर क्षण विचारों में संकल्प-विकल्पों में उलझा रहता है, वह मन है। अब प्रश्न यह उठता है कि मन से पुण्य किस प्रकार कर सकते हैं? क्योंकि मन तो किसी को दान में दे नहीं सकते।

मनपुण्य का सबसे बड़ा साधन शुभचिंतन है। इसके लिए अनित्य आदि बारह भावनाएँ तथा मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थभावना का चिंतन करना, सभी जीवों के कल्याण की कामना करना आदि मनपुण्य कहलाता है। मन को अशुभभावों से हटाकर शुभभावों की ओर जोड़ना मनपुण्य है।

७. वचनपुण्य -

जो काम हजारों शिक्षकों से नहीं होता है, वही काम एक समयोपयोगी वचन से हो जाता है। बृहत्कल्पभाष्य में कहा गया है-“गुणवान् व्यक्ति का एक ही वचन घी से प्रज्वलित दीपक की तरह चारों ओर प्रकाश फैला देता है।”^{४२६}

अब प्रश्न यह उठता है कि किस प्रकार का वचनव्यवहार शुभ है और किस प्रकार का वचनव्यवहार अशुभ है?

^{४२६}. “गुण सुट्ठियस्स वयणं धय परिसित्तुत्वं पावओ होई।”

सूत्रकृतांग में कहा गया है- “जो वचन शुद्ध है, भगवान की आज्ञा के अनुसार है, वह वचन पुण्य का साधन है।”^{४३०} हित, मित, पथ्य और सत्य वचन पुण्य का कारण है।

दशवैकालिक में चार प्रकार के वचन प्रयोग बताए गए हैं^{४३१} १. सत्यभाषा २. असत्यभाषा ३. मिश्रभाषा और ४. व्यवहारभाषा। इसमें सत्यवचन पुण्य का कारण है। असत्य और मिश्रवचन पाप का कारण है। व्यवहारवचन का प्रयोग व्यावहारिक जीवन का साधन है, वह प्रसंगानुसार पुण्य का कारण भी हो सकता है और पाप का भी।

चार प्रकार के वचन में दो वचन त्याज्य हैं और दो वचन विवेकपूर्वक बोलने योग्य हैं।

देव, गुरु, धर्म की स्तुति, गुणीजनों के गुणों का वर्णन आदि वचनपुण्य है। मनपुण्य केवल स्वोपकारी है, परन्तु वचनपुण्य और कायपुण्य स्व तथा पर-दोनों का उपकारी है।

८. कायपुण्य -

कायपुण्य दो प्रकार से उपार्जित किया जा सकता है। पहला आत्मकल्याण के लिए शरीर को संयम, तप, अनुष्ठान, ध्यान, त्याग, शील आदि के द्वारा काया पर संयम रखना कायपुण्य है।

परोपकार के लिए, दूसरों की सहायता के लिए, दूसरों के प्राणों की रक्षा के लिए अपने शरीर को कष्ट देना अपनी सुख-सुविधाओं का त्याग करना कायपुण्य का दूसरा रूप है।

ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र^{४३२} में मेघकुमार का दृष्टांत आता है कि मेघकुमार का जीव हाथी के भव में एक खरगोश के प्राणों की रक्षा के लिए करुणा से प्रेरित होकर अपना पाँव तीन दिन-रात तक जमीन पर नहीं रखते हुए अघर में खड़ा रखता है। वह विचार करता है कि मेरा इतना भारी पाँव नीचे टिकते ही यह

^{४३०}. “आणाइ सुद्धं वयणं पउंजे”। -सूत्रकृतांग

^{४३१}. दशवैकालिक -सातवाँ अध्ययन - वक्कसुद्धि गाथा (१-५)

^{४३२}. उक्षिप्त ज्ञात, प्रथम अध्ययन, सूत्र १४०

नन्हा-सा जीव मर नहीं जाए इस करुणाभाव से वह इतना कष्ट सहन करता है। यह भी कायपुण्य का एक प्रकार है।

मन की पवित्रता के साथ तन का संयम, तन से सेवा-परोपकार आदि किया जाता है, तब ही वह सार्थक होता है। कहा गया है- “परोपकारार्थमिदं शरीरम्।”

शरीर को पर-उपकार के कार्यों में लगा देना-यही शरीर पाने की सार्थकता है।

६. नमस्कारपुण्य -

नमस्कारपुण्य का विषय जितना जीवनापयोगी है, उतना ही गहन है। जब मन के अन्दर से अहंकार का भाव निकलता है, तब नमस्कार का भाव जाग्रत होता है। नीतिकार चाणक्य ने कहा है-नमस्कार पाँच कारणों से किया जाता है-

१. भाव से - श्रद्धा और आदरभाव से परमात्मा को, गुरुजनों को माता-पिता को।
२. प्रेम से - मित्रों को, स्वजनों को।
३. प्रभुत्व से - राजा आदि सत्ताधारी लोगों को।
४. व्यवहार से - अपने से छोटों को, मिलने-जुलने वालों को।
५. आशा से - किसी बड़े आदमी से कुछ पाने की आशा से।

इसमें भाव से नमस्कार करना श्रेष्ठ है। इसे हम वन्दना भी कह सकते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में गौतमस्वामी प्रश्न करते हैं- “भन्ते! वन्दना करने से क्या लाभ मिलता है?” भगवान् कहते हैं- “गौतम! वन्दना नमस्कार से जीव नीच गोत्रकर्म का क्षय करता है और उच्च गोत्र का कर्मबंध करता है। साथ ही अखण्ड सुखसौभाग्य भी प्राप्त करता है।”

इस प्रकार यह नौ प्रकार के पुण्य शुभव्यवहार में ही आते हैं। इसके विपरीत हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, रोग, द्वेष, क्लेश, दोषारोपण, चुगली, परनिन्दा, हर्ष, शोक, मायामृषावाद- मिथ्यात्व ये अठारह प्रकार के पापकर्म हैं। यह अशुभव्यवहार कहलाता है। जिस प्रवृत्ति से स्वयं का या अन्य का अहित हो, हानि हो, दुःख हो, पतन हो, वे क्रियाएं अशुभ कहलाती हैं।

यह नैसर्गिक नियम है कि जैसा बीज बोया जाता है, वैसा ही फल प्राप्त होता है। उपर्युक्त सभी कार्य बुरे हैं, अतः इन सबका फल भी अनिष्ट दुःखरूप ही मिलता है।

अशुभव्यवहार से बचने के लिए शुभव्यवहार, अर्थात् पुण्य-प्रवृत्तियों में जुड़ना आवश्यक है। शुद्धदशा की उपलब्धि के लिए शुभ की साधना आवश्यक होती है।

आध्यात्मिक साधना का क्रम यही है कि व्यक्ति अशुभ से शुभ की ओर तथा शुभ से शुद्ध की ओर बढ़े।

ज्ञान होने पर भी क्रिया की आवश्यकता

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि धर्मक्रिया तो शरीर करता है और शरीर की क्रिया से शरीर को लाभ होता है। जैसे व्यायाम से शरीर पुष्ट होता है, परंतु उससे आत्मा को लाभ किस प्रकार होगा? क्योंकि आत्मा की उन्नति अवनति तो आत्मा की परिणति पर आधारित है, तो फिर क्रिया की आवश्यकता किसलिए? किन्तु जैनदर्शन की मान्यता है कि संसारी आत्मा की परिणति बाह्य क्रिया के साथ बहुत जुड़ी हुई रहती है। शुभक्रिया करने से आत्मा की परिणति निर्मल होती है और अशुभक्रिया से आत्मा की परिणति मलिन होती है। जैसे कोई शिष्य अपने गुरु की सेवा, या कोई पुत्र अपने माता-पिता की सेवा करने की कायिकक्रिया नहीं करें, तो उसमें अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

सर्वप्रथम तो 'गुरुजन पूजा' की शुभ परिणति का अभाव हो जाता है तथा स्वार्थ की दुर्वृत्ति पैदा हो जाती है। वह उन पूज्यों के उपकारों के सामने अपने शरीर की सुखशीलता को अधिक महत्त्व देता है, इससे उसमें कृतज्ञता का भाव भी समाप्त हो जाता है। सेवाधर्म के पालन से कृतज्ञता, नम्रता, परार्थवृत्ति आदि अनेक आंतरिक शुभ परिणति उत्पन्न होती हैं और वृत्ति उत्तरोत्तर विशुद्ध होती है। 'बाह्यक्रिया आत्मा पर कुछ असर नहीं कर सकती'- इस बात को उपाध्याय यशोविजयजी स्वीकार नहीं करते हैं। वे कहते हैं कि जो व्यक्ति क्रिया बिना मात्र ज्ञान से मोक्ष प्राप्त करने की बात करते हैं, वे वास्तव में मुख में

कवल डाले बिना ही तृप्ति की आकांक्षा करते हैं। ऐसा तो कभी भी फलित नहीं होता है।^{४३३} चारित्राचार से भ्रष्ट हुआ व्यक्ति धर्म से पराङ्मुख हो जाता है।

जो व्यक्ति यह कहते हैं कि मोक्ष में जाते समय सभी क्रिया छूटने की है, तो फिर मोक्ष जाने के पहले क्रिया करने की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर देते हुए उपाध्याय यशोविजयजी 'अध्यात्मोपनिषद् की टीका में कहते हैं कि जो व्यक्ति इस प्रकार कहकर क्रिया की उपेक्षा करता है, उसे तो भोजन भी ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि ग्रहण किए हुए भोजन का भी अंत में मल के रूप में विसर्जन करना पड़ता है। जिस प्रकार मल रूप में परिणत होने की दशा ज्ञात होने पर भी सभी लोग भोजन ग्रहण करते हैं, क्योंकि भोजन से शक्ति प्राप्त होती है, तृप्ति मिलती है, उसी प्रकार मोक्ष में जाने के पूर्व सभी क्रियाएँ छोड़ने की होने पर भी आध्यात्मिक मार्ग में आगे बढ़ने के लिए, आत्मशुद्धि प्राप्त करने के लिए, धर्मसामग्रीप्रापक पुण्य प्राप्त करने के लिए अपनी-अपनी भूमिका के अनुरूप बाह्यक्रिया तो करना आवश्यक है।

उपाध्याय यशोविजयजी कहते हैं- "गुणवानों के प्रति बहुमान आदि नित्यस्मृति पूर्वक जो सत्क्रिया की जाती है, वह अनुत्पन्न सद्भाव को उत्पन्न करती है और उत्पन्न सद्भाव को गिरने नहीं देती है।"^{४३४} गुणों से अलंकृत जीवों का बहुमान, भक्ति आदि करने से तथा यम, नियम रूप जो भी प्रतिज्ञा ली हैं, उनका स्मरण करने से वंदन पूजन, वैयावच्य, सिद्धांत श्रवण, लेखन, दान आदि सर्वज्ञ द्वारा बताई गई शुभक्रियाएँ आत्मा के परिणाम को निर्मल रखने में प्रबल शक्तिशाली हैं, इससे विपरीत जो शुभक्रियाओं का त्याग कर दिया जाए, तो पूर्व में उत्पन्न हुआ प्रशस्तभाव भी शिथिल हो जाता है और अनुत्पन्न शुभभाव उत्पन्न नहीं हो सकता है।

हरिभद्रसूरि ने पंचाशक ग्रंथ में क्रिया की महत्ता बताते हुए कहा है कि स्वीकृत किए गए व्रतों का सदा स्मरण करने से, गुणवानों का बहुमान करने से, व्रतों के प्रतिपक्षी मिथ्यात्व के प्रति जुगुप्सा भाव रखने से, सम्यक्त्वादि गुणों तथा

^{४३३} बाह्यभाव पुरस्कृत्य, येऽक्रिया व्यवहारतः।

वदने कवलक्षेपं, विना, ते तृप्तिकाक्षिणः।।१५।।- (अ) अध्यात्मोपनिषद -उ. यशोविजयजी (ब) ज्ञानसार -६/४

^{४३४} गुणवद्बहुमानादेर्नित्यस्मृत्या च सत्क्रिया।

जातं न पातयेद्भावमजातं जनयेदपि।।१६।।- अध्यात्मोपनिषद् -उ. यशोविजयजी (ब) ज्ञानसार -६/५

मिथ्यात्व आदि दोषों के परिणाम की समीक्षा करने से, तीर्थकरों की भक्ति करने से, सुसाधु की सेवा करने से और उत्तर गुणों की श्रद्धा करने से प्रशस्त परिणाम उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न हुए प्रशस्त परिणाम कभी भी विनष्ट नहीं होते हैं।^{४३५}

जैन शास्त्राचार्यों का विशेष रूप से यही कहना है कि केवल भावना से या केवल तत्त्वज्ञान के बल से किसी भी जीव को मोक्ष प्राप्त हुआ नहीं, होता नहीं है, और होगा भी नहीं। सद्गति या मोक्ष का मुख्य आधार अकेला ज्ञान ही नहीं, किन्तु ज्ञानयुक्त क्रिया है। सर्वश्रुतज्ञान का सार चारित्र्य है और सर्वचारित्र्य का सार मोक्ष है।

उ. यशोविजयजी कहते हैं- “निश्चय धर्म न तेणे जाण्यो, जे शैलेशी अंत वखाण्यो धर्म अधर्म तणो क्षयकारी, शिवसुख दे जे भवजल तारी तस साधन तु जे जे देखे, निज निज गुणठाना न लेखे तेह धरम व्यवहारे जाणो, कारज कारण एक प्रमाणो”^{४३६} जो व्यक्ति चित्तनिरोध रूप निश्चयधर्म को ही एक कर्मक्षय और मोक्ष का साधन मानता है, एकांतवाद धारण करने वाले को उ. यशोविजयजी उत्तर देते हुए कहते हैं कि मोक्ष का अनंतर साधन जो निश्चय धर्म है, वह तो शैलेशी अवस्था के अंत में कहा गया है कि जो पुण्य और पाप दोनों को क्षय करके मोक्ष प्रदान करता है, किन्तु उसके साधनरूप जो-जो धर्म या क्रियाएँ अपने-अपने गुणस्थानक के अनुसार उचित हैं, वे भी निश्चयधर्म का कारणरूप होने से धर्म हैं। कार्य और कारण-दोनों के बीच कथंचित् एकता होने से दोनों ही प्रमाणरूप है। कार्य की उत्पत्ति कारण से होती है, इसलिए निश्चयधर्म की उत्पत्ति में कारणरूप व्यवहारधर्म है, जो प्रशस्त क्रियारूप में है। जब तक योग क्रिया का संपूर्ण निरोध नहीं होता है, तब तक जीव योगारंभी है। इस दशा में मलिन आरंभ का त्याग कराने वाले, शुभ आरंभ में जोड़ने वाले, तथा आलस्यदोष और मिथ्याक्रम को दूर करने वाले प्रशस्त व्यापार भी ध्यानरूप ही हैं और परमधर्म रूप हैं। ध्यान बिना कर्म का क्षय नहीं है- यह बात जितनी सत्य है, उतनी ही यह बात भी वास्तविक है कि प्रमत्त अवस्था जब तक है, तब तक उपयोग युक्त क्रिया को छोड़कर दूसरा कोई धर्म आचार नहीं है।

^{४३६}. श्रावकधर्मविधि - पंचाशक ग्रंथ (१/३६/३७/३८) -हरिभद्रसूरी

^{४३६}. सवासो गाथा का स्तबन -ढाल १० वीं गाथा २-३ उ. यशोविजयजी

छद्मस्थ को प्रमत्त अवस्था से ऊपर की अवस्था अंतर्मुहूर्त से अधिक नहीं रह सकती है, इसलिए प्रमत्त अवस्था में उचित ऐसी धर्मध्यानपोषक क्रियाएँ धर्म का प्राण हैं।

केवल चित्तनिरोधरूप ध्यान मुक्ति का साधन नहीं बन सकता है, किंतु मिथ्यात्व, अविरति तथा प्रमाद को दूर करने वाला मन-वचन काया का शुभ व्यापार ही क्रम से प्राप्त दोषों को दूर करके अंत में एक अंतर्मुहूर्त में ही केवल ज्ञान हो, ऐसे अप्रमत्तादि गुणस्थान की प्राप्ति कराता है। किसी व्यक्ति ने प्राथमिक कक्षा उत्तीर्ण नहीं की हो और वह मेडिकल कॉलेज के चक्कर लगाता है, डाक्टर बनने की बात करता है, तो वह डॉक्टर बन नहीं जाता है।

आज इस काल में इस क्षेत्र में संघयण बल आदि के अभाव में केवलज्ञान और मुक्ति नहीं है और उसके कारण रूप अप्रमत्तगुणस्थान के ऊपर के गुणस्थान भी नहीं है, अतः वर्तमान में तो स्वयं की भूमिका के अनुरूप क्रिया करना तथा उससे पतित नहीं होना ही वास्तविक मुक्तिमार्ग है। इसलिए ज्ञान होने पर भी क्रिया की नितान्त आवश्यकता है। उ. यशोविजयजी ने अध्यात्मोपनिषद् में क्रिया की महत्ता बताने वाले आसुर ऋषि के वचन को दो श्लोकों द्वारा इस प्रकार प्रस्तुत किया है-

“हे पुत्र! जिस प्रकार क्रिया से ही तण्डुल के छिलके दूर होते हैं, तांबे का कालापन भी क्रिया से दूर होता है, उसी प्रकार आत्मा का मैल भी क्रिया से ही नष्ट होता है। जिस प्रकार तण्डुल के छिलके स्वाभाविक होने पर भी नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार जीव का कर्ममल स्वाभाविक होने पर भी क्रिया द्वारा नष्ट होता है। इसमें कोई संदेह नहीं है।”^{४३७}

महोपनिषद् में भी पुरुषार्थ की महत्ता, उपयोगिता और आवश्यकता पर बल देते हुए कहा गया है- “श्रेष्ठ पराक्रमयुक्त प्रयत्न के द्वारा शास्त्रानुसार समभावपूर्ण आचरण करने वाला कौन सिद्धि को प्राप्त नहीं होता?”^{४३८}

^{४३७} तण्डुलस्य यथा वर्म यथा तास्रस्य कालिका। नश्यति क्रियया पुत्र! पुरुषस्य तथा मलम् ॥२१॥

जीवस्य तण्डुलस्येव मलं सहजमप्यलम्। नश्यत्येव न सन्देहस्तस्मादुद्यमवान् भव ॥२२॥

-अध्यात्मोपनिषद् - उ. यशोविजयजी

^{४३८} महोपनिषद् - ५/८८

भगवद्गीता में भी क्रिया की उपादेयता बताते हुए कहा गया है-
“अपने-अपने अनुष्ठानों में मग्न रहे हुए मनुष्य ही उत्तम सिद्धि को प्राप्त करते हैं।”^{४३६}

महाभारत में भी कहा गया है- “हे राजन! ज्ञानी होकर आचार से भ्रष्ट हो, त्यागी होकर धन का संग्रह करने वाला हो, गुणवान होकर भाग्यहीन हो-इस बात में मैं कभी भी श्रद्धा नहीं करता।”^{४४०} इस प्रकार कहकर यही सूचित किया गया है कि ज्ञानी को अवश्य क्रियायोग होता है।

केवल जानना किसी काम का नहीं। जानने के बाद उसके अनुरूप आचरण भी होना चाहिए। जो ज्ञान आचरण में नहीं उतरता, वह ज्ञान निरर्थक है। थोड़ा भी ज्ञान यदि आचरण में उतर जाए तो वह आध्यात्मिक मार्ग में आगे बढ़ जाता है। तम्बाकू के विषय में, उसके सेवन से होने वाली हानियों के बारे में, मात्र ज्ञान होना पर्याप्त नहीं है। उसे छोड़ने की क्रिया करने पर ही उसकी हानियों से बचा जा सकता है।

आचार्य जयन्तसेनसूरि ने “मैं जानता हूँ” नामक पुस्तक में एक छोटा सा दृष्टान्त दिया है, जो यहाँ देना प्रासंगिक होगा-

एक घर में रात्रि में एक चोर घुस गया। पत्नी की नींद खुल गई। उसने अपने पति से कहा कि- घर में चोर घुस गया है। पति ने जवाब दिया- “मैं जानता हूँ।”

फिर पत्नी ने कहा- “चोर तिजोरी तक पहुँच गया है।” पति ने कहा- “मैं जानता हूँ।”

तब पत्नी बोली- “उसने तिजोरी तोड़कर सारा धन निकाल लिया है।” पति ने कहा- “मैं जानता हूँ।”

पुनः पत्नी ने कहा- “चोर धन लेकर जा रहा है।” पति ने कहा- “मैं जानता हूँ।”

^{४३६} स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः १८/४५ -भगवद्गीता

^{४४०} ज्ञानवान् शीलहीनश्च त्यागवान् धनसङ्ग्रही

गुणवान् भाग्यहीनश्च राजन्! न श्रद्धाम्यहम् ॥ -महाभारत

अन्त में पत्नी बोली- “चोर धन लेकर जा रहा है।” पति ने कहा- “मैं जानता हूँ।”

पत्नी झुंझलाकर बोली -

“तोड़ तिजोरी धन लियो, चोर गयो अति दूर।
जागुँ जागुँ कर रह्यो, जाणपणा मैं धूर।”^{४४१}

इस प्रकार पुरुषार्थ के अभाव में मात्र जानने से वह व्यक्ति धन को नहीं बचा सका। उसी प्रकार आध्यात्मिक मार्ग में भी केवल जानना ही पर्याप्त नहीं है। आत्मनिधि या आत्मस्वरूप के विषय की जानकारी होने पर भी उसे प्राप्त करने के लिए अपनी कक्षा के अनुरूप क्रिया करना आवश्यक है। हिंसा के क्रूर विपाक जानने के बाद भी जो हिंसा की क्रिया का त्याग नहीं करे, तो उस निष्क्रिय व्यक्ति को कोई विशेष लाभ नहीं होता है। उ. यशोविजयजी कहते हैं- “क्रिया बिना का अकेला ज्ञान अनर्थक है। मार्ग का जानकार भी मार्ग में गति किए बिना इच्छित नगर में नहीं पहुँच सकता है।”^{४४२}

समुद्र में गिरा हुआ कुशल तैराक (तैरने के विषय में निपुण ज्ञान वाला) यदि हाथ-पैर नहीं हिलाए, तो वह किनारे पर नहीं पहुँच सकता, उल्टा समुद्र में ही डूब जाएगा। उ. यशोविजयजी का कथन यही है कि ज्ञानयोगी को भी क्रिया आवश्यक है।

ज्ञाननय के अनुसार कोई यह प्रश्न करे कि अज्ञान का नाशक होने के कारण ज्ञान ही उत्कृष्ट है। वास्तव में रस्सी में सर्प की भ्रान्ति भागने की क्रिया से निवृत्त नहीं होती है।^{४४३} इस प्रकार क्रिया से ज्ञान अधिक बलवान् है, अतः ज्ञान ही आचरणीय है, क्रिया नहीं।

उ. यशोविजयजी इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहते हैं कि उपर्युक्त बात सत्य है, किन्तु शास्त्रों में बताई हुई क्रिया, संचित अदृष्ट की नाशक होने से

^{४४१} “मैं जानता हूँ” -आचार्य .यन्तसेनसूरि

^{४४२} क्रियाविरहितं हन्त, ज्ञानमात्रमनर्थकम् ।

गतिं विना पथज्ञोऽपि, नाप्नोति पुरमीप्सितम् ।।१३।।-अध्यात्मोपनिषद् - उ. यशोविजयजी

^{४४३} अज्ञाननाशकत्वेन ननुज्ञानं विशिष्यते । न हि रज्जावह्निराग्निर्गमनेन निवर्तते ।।

-अध्यात्मोपनिषद् - ३/१६ -उ. यशोविजयजी

ज्ञानी को भी क्रिया उपयोगी है, ^{४४४} अर्थात् तत्त्वज्ञानी को भी पूर्वकाल में बाँधे हुए और वर्तमान में सत्ता में रहे हुए, किन्तु उदय में नहीं आए- ऐसे कर्मों का नाश करने के लिए आगम में बताई हुई परिशुद्धक्रिया आवश्यक हो जाती है।

जो ज्ञान से नष्ट हो उन कर्मों के क्षय के लिए जैसे ज्ञान आवश्यक है, उसी प्रकार क्रिया भी आवश्यक है।

इस प्रकार उ. यशोविजयजी कहते हैं- “सम्पूर्ण कर्मों के क्षय के लिए परस्पर अभिन्न ज्ञान और क्रिया का समुच्चय ही उपयोगी है।” ^{४४५} ज्ञान द्वारा नाश्य कर्मों के नाश करने में ज्ञान प्रधान कारण होता है और क्रिया उसमें सहायक होती है, उसी प्रकार क्रिया द्वारा नाश्य कर्मों के नाश करने में क्रिया मुख्य होती है और ज्ञान उसमें सहायक होता है।

विशेषावश्यकभाष्य में भी कहा गया है- “जिस प्रकार वन में लगी हुई आग को देखते हुए पंगु और इधर-उधर भागने की क्रिया करते हुए अंधा-दोनों जल गए, उसी प्रकार क्रिया बिना ज्ञान निष्फल है और ज्ञान बिना क्रिया निष्फल है।” ^{४४६}

अन्यदर्शनों में भी ज्ञान और क्रिया- दोनों के समुच्चय से ही मोक्ष को स्वीकार किया गया है। योगशिखा नामक उपनिषद् में कहा गया है कि क्रियाशून्य ज्ञान और ज्ञानहीन क्रिया मोक्ष प्राप्ति में समर्थ नहीं है, इसलिए साधकों को ज्ञान और क्रिया- दोनों का दृढ़ता से बराबर परिशीलन करना चाहिए। ^{४४७}

कर्मपुराण में कहा गया है कि क्रिया और ज्ञान द्वारा धर्म प्राप्त होता है। उसमें कोई संदेह नहीं है, इसलिए ज्ञानरहित क्रियायोग का सम्यक् रूप से सेवन

^{४४४} . सत्यं क्रियागमप्रोक्ता ज्ञानिनोऽप्युपयुज्यते । संचितादृष्टनाशार्थमासुरोऽपि यदभ्यधात्- वही ३/२०

^{४४५} . सर्वकर्मक्षये ज्ञानकर्मणोस्तत्समुच्चयः अन्योन्य प्रतिबन्धेन तथा चोक्तं परैरपि ॥३४॥
-वही

^{४४६} . हय नाणं क्रियाहीणं, हया अन्नाणओ क्रिया ।

पासंतो पंगुलो ददुडो, धावमाणोय अंधओ ॥११५६॥- विशेषावश्यकभाष्य

^{४४७} . योगहीनं कथंज्ञानं मोक्षदं भवतीह भोः ।

योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि ॥१३॥-योगशिखोपनिषद -अध्ययन -१

करना चाहिए। क्रियासहित ऐसे ज्ञान से सम्यक् योग उत्पन्न होता है और क्रियायुक्त ज्ञान निर्दोष होता है।^{४४८}

इस प्रकार ज्ञान और क्रिया- दोनों मिलकर ही मोक्ष के हेतु हैं, अतः ज्ञान होने पर भी क्रिया की नितान्त आवश्यकता है।

क्रियायोग का प्रयोजन

व्यक्ति कोई भी कार्य बिना प्रयोजन के नहीं करता है, अतः यहाँ भी प्रश्न उठता है कि क्रियायोग का प्रयोजन क्या है? किस उद्देश्य से क्रियाएँ की जाती हैं? वैसे तो क्रियायोग के अनेक प्रयोजन होते हैं, परन्तु उपाध्याय यशोविजयजी ने क्रियायोग के कुछ महत्त्वपूर्ण निम्न लिखित प्रयोजन बताए हैं-

(१) चित्त को अन्य विषयों से निवृत्त करके, चंचलता से मुक्त करके, उसे आत्मस्वरूप की ओर ले जाना- यह क्रियायोग का मुख्य उद्देश्य है। उ. यशोविजयजी कहते हैं- साधकों को अपने मन को विषयों से दूर रखने के लिए शास्त्रों में कही हुई समस्त क्रियाएँ करनी चाहिए।^{४४९}

जैन शास्त्रकारों ने एक बहुत सुंदर बात संसार त्यागियों को बताई कि उन्हें यदि अशुभवृत्तियों से दूर रहना हो, तो वे अपने मन को सतत शुभवृत्ति में जोड़े रखें। क्योंकि यह मन बहुत ही चंचल है, इस पर केवल ज्ञानयोग से काबू नहीं पाया जा सकता है, क्योंकि यह मार्ग बहुत कठिन है। जैसे कोई बालक बहुत अधिक पीपरमेंट खाता है, उल्टी-दस्त होने पर भी नहीं छोड़ता, अगर उसे पीपरमेंट की खराबी बताकर उस पर कड़ा प्रतिबंध लगा दिया जाए तो भी वह नहीं छोड़ेगा, बल्कि उसे उसके प्रति अधिक राग हो जाएगा, वह चोरी-छुपे खाएगा, किंतु उसे पीपरमेंट की खराबी बताने के बजाय उसे ऐसे भक्ष्य बिस्किट अधिक प्रमाण में दे दिए जाएं, तो वह अपने आप पीपरमेंट खाना छोड़ देगा। इस प्रकार दमन का मार्ग अपनाते के बजाय बिस्किट देने का रचनात्मक मार्ग अपनाना

^{४४८} कर्मणा प्राप्यते धर्मो ज्ञानेन च न संशयः।

तस्माज्ज्ञानेन सहितं कर्मयोगं समारयेत् ॥१७/२ -कर्मपूराण -पृ. २८

^{४४९} अत एवादृढस्वान्तः कुर्याच्छास्त्रोदितां क्रियाम्।

सकलां विषयप्रत्याहरणाय महामतिः ॥१७॥ -अध्यात्मसार -योगाधिकार -१५ - उ.

यशोविजयजी

अधिक लाभकारी होगा। यह बात सत्य है कि बिस्किट देने के बजाय पीपरमेंट का वास्तविक स्वरूप समझाने का मार्ग, अर्थात् ज्ञानयोग का मार्ग अधिक उत्कृष्ट है, किंतु यह मार्ग प्राथमिक भूमिका वाले के लिए उपयुक्त नहीं है। यह बाल मन चंचल बनकर बार बार विषयों की ओर दौड़ जाता है। प्राचीन कहावत है 'खाली मन शैतान का घर', जब भी मन खाली होता है, तब उसमें अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प विचार उठा करते हैं। चित्त के आवेगों को रोकना इतना सरल नहीं है, इसलिए चित्त को यदि सतत शास्त्र में कही हुई आवश्यक क्रियाओं में जोड़कर रखा जाए, तो सांसारिक विषयों में से वह धीरे-धीरे दूर हट जाएगा।

उ. यशोविजयजी कहते हैं- "पिशाच के दृष्टान्त और कुलवधू के शीलरक्षण के दृष्टान्त को सुनकर साधकों को अपने मन को नित्य संयमयोगों में जोड़कर रखना चाहिए।"^{५०}

उ. यशोविजयजी ने प्राचीनकाल से प्रचलित ऐसे दो दृष्टान्त देकर समझाया कि विषयों की तरफ से मन को किस प्रकार मोड़ना और क्रियायोग साधना से जोड़ना चाहिए।

पहला दृष्टान्त इस प्रकार है- एक वणिग एक विशाल वृक्ष के नीचे रोज शौचक्रिया के लिए जाता और वहाँ जाकर बोलता कि यह जगह जिसकी हो, मुझे अनुज्ञा प्रदान करो। उस वृक्ष पर एक व्यंतरदेव रहता था। वह देव विचार करता कि यह रोज मेरी अच्छी भूमि को दुर्गंध वाली कर देता है, परंतु पहले यह मेरी अनुज्ञा ले लेता है, इसलिए इसको मैं सता नहीं सकता, अतः कोई दूसरा रास्ता निकालना चाहिए।

एक दिन देव ने प्रत्यक्ष होकर उसको कहा कि- "हे वणिग! तू शिष्टाचार वाला है, सज्जन है। मैं इस वृक्ष पर रहता हूँ और तू रोज मेरी आज्ञा लेकर शौचक्रिया करता है, इसलिए मैं तुझ पर प्रसन्न हूँ। मैं तुझे वरदान देता हूँ कि तू जो भी काम मुझे बताएगा, मैं तुरंत कर दूँगा।" वणिग उसे घर ले गया। तब यक्ष ने कहा- "मैं काम तो सभी कर दूँगा, लेकिन खाली बैठने कि मुझे आदत नहीं है। यदि मुझे कार्य नहीं बताया, तो मैं तुझे खा जाऊँगा।" वणिग जो भी काम बताता पिशाच उसे दैवीशक्ति से क्षण में कर देता। वणिग परेशान हो

^{५०} श्रुत्या पेशाचिको वार्ता कुलवध्वाश्च रक्षणम्।

नित्यं संयमयोगेषु व्यापृतात्मा भवेद्यतिः ।।१८।।-अध्यात्मसार - उ. यशोविजयजी

गया। यह वणिक् को खत्म करने की पिशाच की योजना थी, परंतु वणिक् बहुत बुद्धिमान था। उसने पिशाच से कहा कि वह जंगल से ऊँचें बास लेकर आए और उसकी नसेनी बनाए। पिशाच ने तुरंत वह काम कर दिया। तब वणिक् ने घर के बाहर नसेनी रखाई और पिशाच से कहा- “जब तक मैं तुझे दूसरा काम नहीं बताऊँ, तब तक तू इस नसेनी पर चढ़ और उतर।” पिशाच वचनबद्ध था। बुद्धिमान वणिक् ने पिशाच को जिस तरह वश में कर लिया, उसी प्रकार संयम जीवन में भी साधको को प्रमादरूपी पिशाच को क्रियायोग द्वारा वश में करना चाहिए।

दूसरे कुलवधू के दृष्टान्त में भी श्वसुर द्वारा कुलवधू को घर की सारी जवाबदारी देकर उसे घर के काम में इस तरह जोड़ दिया गया कि पति विरह में उत्पन्न हुई उसकी कामवासना समाप्त हो गई। इन दोनों दृष्टान्तों के द्वारा उ. यशोविजयजी ने क्रियायोग का प्रयोजन समझाया। चित्त सतत विचार करता ही रहता है। उससे भूतकाल की स्मृति और भविष्यकाल की तरंगें उठती रहती हैं। भय, चिंता, उद्वेग, लोभ, लालच, लाचारी, ईर्ष्या, द्वेष, स्पर्धा, असूया, गुणमत्सर, हिंसक तरंगें कामवासना की कल्पनाएँ, अहंकार, गुरुताग्रंथि, हीनभाव-दीनभाव, लघुताग्रंथि- ऐसे अनेक प्रकार के असद्भाव चित्त में जानते अजानते उत्पन्न हो जाते हैं, किंतु साधक अगर जाग्रत हो, तो शास्त्रों में बताई हुई आवश्यक क्रियाओं में चित्त को सतत जोड़कर रखने से चित्त की चंचलता को रोका जा सकता है।

(२) कर्मयोग का दूसरा प्रयोजन ज्ञानयोग की प्राप्ति करना है और उसकी वृद्धि कराना है। उ. यशोविजयजी कहते हैं- “पूर्वभूमिका के रूप में कर्मयोग दोषों का नाश करने वाला और ज्ञानयोग की वृद्धि करने वाला होता है।”^{४५१} ज्ञानयोग में चित्तशुद्धि- यह प्रथम आवश्यकता है। चित्तशुद्धि के विविध उपायों में महत्त्व का उपाय कर्मयोग है। साधक आत्माएँ जैसे-जैसे धर्मक्रिया करती हैं, वैसे-वैसे उनके चित्त विशुद्ध होते जाते हैं।

जैनधर्म में साधना के क्रम में पहले देशविरति आती है, फिर सर्वविरति। देशविरति श्रावक का आचारधर्म है और सर्वविरति साधु का आचारधर्म है। देशविरति, यानी कुछ अंशों में सावध (दोषयुक्त) प्रवृत्तियों का त्याग करना। सर्वविरति, अर्थात् सावध प्रवृत्तियों का सर्वथा त्याग करना। देशविरति में कर्मयोग

^{४५१} एकोद्देशेन संवृतं कर्म यत्पौर्वभूमिकम्
दोषोच्छेदकरं तत्स्याद् ज्ञानयोगप्रवृद्धये ॥२७॥- योगाधिकार -१५- अध्यात्मसार -उ.
यशोविजयजी

की प्रधानता है और सर्वविरति में ज्ञानयोग की प्रधानता है। जब तक देशविरति में निपुणता नहीं आई हो, तब तक सर्वविरति की तरफ किस प्रकार जा सकते हैं। श्रावक के अणुव्रत हैं और साधु के महाव्रत हैं। जो अणुव्रत का बराबर पालन नहीं कर सकते हैं, वे महाव्रत का पालन किस प्रकार करेंगे? इसलिए जिसे ज्ञानयोग सिद्ध करना है, उसे पहले कर्मयोग सिद्ध करना पड़ेगा। उ. यशोविजयजी कहते हैं- “कर्मयोग द्वारा चित्त की शुद्धि प्राप्त करने वाले निरवद्य प्रवृत्ति वाले ज्ञानियों को ज्ञानयोग की योग्यता प्राप्त होती है।”^{४५२} इस प्रकार कर्मयोग में से ज्ञानयोगी बनने के लिए स्वयं की सर्वप्रवृत्तियों की शुद्धि के लिए साधक को बहुत पुरुषार्थ करना पड़ता है।

साधक कर्मयोग में से ज्ञानयोग की तरफ जब गति करता है, तब उसके क्रोधादि कषाय कम होते जाते हैं। दोष घटते जाते हैं और आत्मसाधना की ओर उसकी रुचि बढ़ती जाती है। इस प्रकार देशविरति व्रतरूपी कर्मयोग, दोषों के निवारण के लिए और ज्ञानयोग की वृद्धि के लिए सुंदर भूमिका निभाता है। उपवास, आयंबिल, सामायिक, प्रतिक्रमण, वंदन, कायोत्सर्ग आदि क्रियाएँ भी जो श्रद्धा, मेधा, धृति, धारणा और अनुप्रेक्षापूर्वक की हो, तो वह आवश्यक ज्ञानयोग में रूपांतरित हो जाती हैं। किस क्रिया से प्रमुख रूप से किस गुण की प्राप्ति और किस दोष का निवारण होता है, यह निम्नलिखित तालिका में बताया गया है-

सामायिक	-	समभाव की प्राप्ति	-	रागद्वेष का त्याग
चतुर्विंशतिस्तव	-	गुणानुराग	-	आत्मप्रशंसा का त्याग
वंदन	-	नम्रता	-	अहंकार का त्याग
प्रतिक्रमण	-	स्वदोषदर्शन	-	परनिंदा का त्याग
कायोत्सर्ग	-	परोपकार की भावना	-	शरीर के ममत्व का त्याग
प्रत्याख्यान	-	विरति	-	आसक्ति का त्याग

^{४५२} ज्ञानिनां कर्मयोगेन चित्तशुद्धिमुपेयुषाम्।

निरवद्यप्रवृत्तीनां ज्ञानयोगीचिती ततः॥२५॥-योगाधिकार - १५-अध्यात्मसार - उ.
यशोविजयजी

ज्ञान का परिपाक क्रिया में

जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को मोक्षमार्ग कहा गया है। जैनदर्शन की यह भी विशेषता है कि वह इनमें से किसी एक को मोक्षमार्ग नहीं कह करके तीनों की समन्वित साधना को ही मोक्षमार्ग कहता है। यद्यपि मुक्ति की उपलब्धि के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र-तीनों की ही साधना अपेक्षित है, फिर भी इसमें यह माना गया है कि सम्यग्दर्शन साधना का प्राथमिक चरण है। उसके बाद दूसरा चरण सम्यग्ज्ञान है। जब तक दृष्टि शुद्ध नहीं होती है, तब तक ज्ञान भी शुद्ध नहीं होता है। ज्ञान के सम्यक् होने के लिए दृष्टि का सम्यक् होना आवश्यक है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के बाद साधना का तीसरा चरण सम्यक्चारित्र है। यह भी माना गया है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के अभाव में सम्यक्चारित्र नहीं होता है, किन्तु इसके साथ ही जैनदर्शन की यह भी मान्यता है कि जब तक चारित्र पूर्णतः सम्यक् एवं शुद्ध नहीं होता, तब तक मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती है। इस प्रकार चारित्र को मुक्ति का अन्तिम कारण माना गया है, लेकिन सही अर्थों में देखें, तो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र- तीनों ही समन्वित रूप में साधन है।

यहाँ हम देखते हैं कि जब सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान चारित्र में अभिव्यक्त होते हैं, तो ही मुक्ति की उपलब्धि होती है। इस प्रकार से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का परिपाक सम्यक्चारित्र में होता है। उ. यशोविजयजी की मान्यता है कि वह ज्ञान जो जिया न जाए, निरर्थक है। अंधे व्यक्ति के लिए करोड़ों दीपक व्यर्थ होते हैं, जबकि आँख वाले के लिए एक ही दीपक पर्याप्त होता है। इस प्रकार आंशिक ज्ञान भी क्रियान्वित होने पर सफल होता है और क्रियान्विति के अभाव में विपुल ज्ञान भी निरर्थक होता है।

वस्तुतः जो ज्ञान क्रिया में परिणत नहीं होता है, वह ज्ञान यथार्थज्ञान नहीं है। जैनदर्शन में ज्ञान का अर्थ जानना नहीं जीना है। यही कारण है कि पूर्व जैनाचार्यों ने पंचाचार के अंतर्गत ज्ञानाचार को भी स्थान दिया है। क्रिया से रहित ज्ञान केवल बुद्धिविलास है। ज्ञान का परिपाक क्रिया में होना ही चाहिए। जो ज्ञान आचरण में नहीं ढलता है, वह ज्ञान मात्र ज्ञान के अहंकार को पैदा करता है। उ. यशोविजयजी का उद्घोष है कि “ज्ञानशून्य क्रिया और क्रियाशून्य ज्ञान-दोनों ही

निरर्थक हैं।”^{४५३} जब ज्ञान क्रिया में रूपान्तरित होता है, दूसरे शब्दों में जब ज्ञान को जिया जाता है, तब ज्ञान सार्थक बनता है; इसलिए यह कहा गया है कि “ज्ञान का परिपाक क्रिया में होता है।”

उ. यशोविजयजी ने निम्न चार योगों की चर्चा की है- १. शास्त्रयोग २. ज्ञानयोग ३. क्रियायोग और ४. साम्ययोग।^{४५४} इन चार योगों में साम्ययोग साध्य है। शास्त्रयोग, ज्ञानयोग और क्रियायोग उनके साधन हैं। यहाँ भी हम देखते हैं कि ज्ञान की परिणति क्रियायोग में और क्रियायोग की परिणति साम्ययोग में होना आवश्यक है। साम्ययोग की पूर्णता मोक्ष है, और उसके लिए ज्ञानयुक्त क्रिया अपेक्षित है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जैनदर्शन में ज्ञान का परिपाक क्रिया या आचरण में होना चाहिए। कहा गया है कि वही ज्ञान सार्थक है, जो आचरण में उतरकर समता रूपी साध्य की प्राप्ति कराता है।

क्रिया का परिपाक असंग अनुष्ठान (निष्काम साधना) में है

क्रिया का परिपाक असंग अनुष्ठान में किस तरह होता है? असंग अनुष्ठान किसे कहते हैं? यह जानने से पहले हमें इसके पूर्व के तीन अनुष्ठानों को भी जानना होगा।

उ. यशोविजयजी ने “चार प्रकार के अनुष्ठान बताए हैं- १. प्रीति २. भक्ति ३. वचन और ४. असंग अनुष्ठान।”^{४५५} ये प्रत्येक अनुष्ठान मोक्ष के साधन हैं।

योगविशिका की वृत्ति में उ. यशोविजयजी ने^{४५६} तथा षोडशक में हरिभद्रसूरि ने^{४५७} ‘प्रीति अनुष्ठान की तीन विशेषताएँ बताई हैं-

^{४५३} ज्ञानं क्रियाविहीनं न क्रिया वा ज्ञानवर्जिता।

गुणप्रधानभावेन दशाभेदः किलैनयोः ॥२४॥-योगाधिकार, १५, अध्यात्मसार -उ.

यशोविजयजी

^{४५४} अध्यात्मोपनिषद् - उ. यशोविजयजी

^{४५५} प्रीतिभक्तिवचोऽसंङ्गैः स्थानाद्यपि चतुर्विधम्।

तस्मादयोगयोगात्तेर्मोक्षयोगः क्रमाद् भवेत् ॥११॥-योग, ज्ञानसार, उ. यशोविजयजी

१. इस अनुष्ठान में अतिशय प्रयत्न होता है, अर्थात् अनुष्ठान के प्रति अनुराग, सम्मानयुक्त प्रयत्न होता है।
२. अनुष्ठान के प्रति परम प्रीति उत्पन्न होती है, जिससे अनुष्ठानकर्ता के आत्महित में वृद्धि होती है।
३. दूसरे सभी प्रयोजनों को छोड़कर अनुष्ठान में ही मन एकाग्र होता है और अनुष्ठान करते समय अपूर्व आनंद का अनुभव होता है।

प्रीति-अनुष्ठान के समान ही भक्ति अनुष्ठान होता है, किंतु इसमें आलंबन के प्रति अत्यंत पूज्यता के भाव रहते हैं, इसलिए यह अधिक विशुद्धि वाला होता है। षोडशक में कहा गया है- “पत्नि अत्यंत प्रिय है और माता हित करनेवाली है। जो कार्य पत्नी के प्रति प्रीति से करेगा, वही कार्य माता के प्रति भक्ति से करेगा।”^{४५८}

उसी प्रकार परमात्मा के प्रति प्रीति और भक्ति होती है। जैसे- “प्रभु! मैं आपकी उपासना करता हूँ, पूजा करता हूँ, आप मुझे क्षमा आदि आत्मगुण प्रदान करें।” जब तक आदान-प्रदान का व्यवहार है, तब तक प्रीति-अनुष्ठान है।

जब निगोद से इस भूमिका तक पहुँचाने का परमात्मा का अनन्य उपकार जानने के बाद भक्ति प्रकट होती है, कृतज्ञता का भाव प्रकट होता है, तब मुक्ति की आकांक्षा भी नहीं रहती है। इस प्रकार के शब्द सहज मुख से निकल जाते हैं कि “मुक्ति थी अधिक तुझ भक्ति मुझ मन बसी.....।” जहाँ केवल परमात्मा को भजने के भाव रहते हैं, वह भक्ति-अनुष्ठान कहलाता है।^{४५९}

उ. यशोविजयजी वचनानुष्ठान की व्याख्या करते हुए कहते हैं- “साधु अनुष्ठान के समय शास्त्रार्थ, अर्थात् जिनवचनों के स्मरणपूर्वक सर्वत्र उचित प्रवृत्ति करता है, वह वचनानुष्ठान कहलाता है।” साथक अनुष्ठान करते समय प्रमाद

^{४५६}. यत्रानुष्ठाने प्रयत्नातिशयोऽस्ति परमा च प्रीतिरूपत्पद्यते।

शेष त्यागेन च यत्क्रियते तत्प्रीत्यनुष्ठानम्। -योगविशिकावृत्ति पृ. २४० -उ. यशोविजयजी

^{४५७}. यत्रादरोऽस्ति परमः प्रीतिश्च हितोदया भवति कर्तुः

शेष त्यागेन करोति यद्य तत्प्रीत्यनुष्ठानम्॥ -षोडशक - १०/३-हरिभद्रसूरी

^{४५८}. अव्यन्तवल्लाभा खलु पत्नी तद्विद्धिता च जननीति।

तुल्यमपि कृत्यमनयोर्ज्ञातं स्यात् प्रीति-भक्तिगतम्॥ -षोडशक - १०/५ -हरिभद्रसूरी

^{४५९}. शास्त्रार्थप्रतिसन्धानपूर्वा साधोः सर्वत्रोचितप्रवृत्तिर्वचनानुष्ठानम्। -योगविशिका वृत्ति -२४४, उ. यशोविजयजी

आदि के वश होकर विधि पालन में विकलता नहीं आने देता है। इस प्रकार शास्त्रीय वचनों के अनुसार परिपूर्ण अनुष्ठान वचनानुष्ठान है। यह चारित्रवान् को ही होता है। प्रीति, भक्ति और वचनानुष्ठान की भूमिका का अतिक्रमण करके तत्त्वज्ञानी की प्रवृत्ति असंगअनुष्ठानरूप बनती है। उ. यशोविजयजी ने अध्यात्मोपनिषद् ग्रन्थ में कहा है- “ज्ञान-साधक प्रारंभ में जिन-जिन साधनों को ग्रहण करता है, वे ही साधन योगसिद्ध पुरुष के स्वभाव से लक्षण बन जाते हैं, अर्थात् वे क्रियाएँ स्वभावभूत बन जाती हैं।”^{४६०} उ. यशोविजयजी योगविशिका की वृत्ति में असंग अनुष्ठान की परिभाषा देते हुए कहते हैं- “व्यवहारकाल में शास्त्रवचनों के स्मरण बिना ही दृढ़तर संस्कार के कारण चन्दनगन्धन्यायानुसार आत्मसात् हुआ जिनकल्पित आदि का क्रियासेवन ही असंगअनुष्ठान है।”^{४६१} यह असंगानुष्ठान पूर्वकालीन आगमस्मरण के संस्कार से उत्पन्न होता है।

जो प्रवृत्ति बारंबार स्वरस से करने में आती है, वह प्रवृत्ति पुनः-पुनः अभ्यास के कारण से आत्मसात् हो जाती है, सहज बन जाती है, अर्थात् पूर्व में जिस क्रिया को करने के लिए विशेष प्रयत्न करना पड़ता था, अब नहीं करना पड़ता है। स्थविरकल्प में परमात्मा द्वारा प्रकाशित प्रवचनगर्भित प्रणिधानपूर्वक प्रतिलेख, प्रमार्जन, प्रतिक्रमण, प्रभुभक्ति, प्रवचन आदि करने का जिनाज्ञाविषयक दृढ़ संस्कार उत्पन्न होता है। जैसे चंदन में गंध एकमेक होती है, उसी प्रकार जिनवचन विषयक सुसंस्कार आत्मसात् हो जाते हैं। उसके बाद जिनकल्प को स्वीकार करने से जिनकल्पी की प्रवृत्ति पूर्वकालीन संस्कार के द्वारा ही होती है, शास्त्रवचनों को स्मरण करने की उसे आवश्यकता नहीं होती है। इस प्रकार शास्त्रवचनों के संग बिना सहज-स्वाभाविक रूप से अनुष्ठान उचित रूप से होता रहता है, इसलिए इसे असंगानुष्ठान कहते हैं। जैसे कुम्हार को प्रथम बार चाक घुमाने के लिए दंड के व्यापार की आवश्यकता होती है, इस व्यापार से चाक में संस्कार उत्पन्न होने के बाद दंड के संयोग की आवश्यकता नहीं रहती है, चाक स्वयं घूमता ही रहता है; उसी प्रकार प्रारंभ में साधकों की उचित प्रवृत्ति के लिए जिनवचनों का व्यापार आवश्यक है। इस प्रकार वचनानुष्ठान आगम के संयोग से होता है, किंतु दंड के संयोग के बिना स्वाभाविक होने वाले उत्तरकालीन चक्रभ्रमण

^{४६०} यान्येव साधनान्यादौ, गृह्णीयाजज्ञानसाधकः।

सिद्धयोगस्य तान्येव, लक्षणानि स्वभावतः।।१।। -क्रियायोग, अध्यात्मोपनिषद्

^{४६१} व्यवहारकाले वचनप्रतिसन्धाननिरपेक्षं, दृढ़तरसंस्कारात् चन्दनगन्धन्यायेनात्मसाद्भूतं जिनकल्पिकादीनां क्रियासेवनमसङ्गानुष्ठानम्।-योगविशिकावृत्ति २४६, उ. यशोविजयजी

के समान असंगअनुष्ठान, संस्कार के कारण आगम निरपेक्ष स्वाभाविक रूप से होता है।^{४६२}

आशय यह है कि अनादिकाल से प्रमाद और मोहजन्य प्रवृत्ति लहसुनगन्धन्यायानुसार आत्मसात् रहती है, किंतु संसार के स्वरूप को पहचानने के बाद साधक मोहजन्य अनुचित प्रवृत्ति को हटाने के लिए जिनवचनों का अनुसरण करता है, जिससे उसका भववैराग्य और मोक्षाभिलाषा बढ़ती ही जाती है। मेरे परमात्मा ने क्या कहा? यह विचार करके वह जीवन के प्रत्येक कदम पर उसके अनुसार प्रवृत्ति करता है। प्रारंभ में जिनवचनों का अभ्यास, परावर्तन, विमर्श, अनुप्रेक्षा आदि अनिवार्य है। जिनवचनों का सतत स्मरण करने से तथा उसके अनुसार उचित अनुष्ठानों को बारंबार करने से दो कार्य होते हैं। प्रथम अनादिकाल के मोहजन्य संस्कार क्षीण होने लगते हैं। द्वितीय वचनव्यापारजन्य संस्कार दृढ़ होते हैं। परिणामस्वरूप एक ऐसी अवस्था आती है जो पूर्वावस्था से बिलकुल विपरीत होती है अर्थात् पहले जो मोहजन्य अनुचित प्रवृत्ति सहज बिना प्रयत्न के होती थी और उचित प्रवृत्ति को करने के लिए जिनवचनो का स्मरण करना पड़ता था उसके लिए प्रयत्न करना पड़ता था किंतु अभ्यास से ऐसी अवस्था का निर्माण हो जाता है कि जिनवचनों को याद किए बिना ही सहज स्वाभाविक रूप से भिक्षाचार्या स्वाध्याय आदि की उचित प्रवृत्ति निर्दोष हुआ करती है। औचित्य के पालन के लिए और अनौचित्य के वर्जन के लिए जिनवचनों को याद करने की आवश्यकता नहीं होती है।

भगवद्गीता^{४६३} में जो स्थितप्रज्ञ भावना के जो लक्षण बताए हैं वे असंग अनुष्ठान के लगभग समान हैं। गीता में कहा गया है कि जो मनुष्य मन में रखी हुई सभी कामनाओं का त्याग कर दे और आत्मा द्वारा आत्मा में ही संतोष प्राप्त करता है, दुःखों में उद्वेगरहित मनवाला सुखों में निस्पृह जिसके राग द्वेष भय क्रोध चले गए हों, जो सर्वत्र आसक्ति रहित होता है और अच्छा या बुरा जो भी

^{४६२}. (अ) यथाऽऽद्यं चक्रभ्रमणं दण्डव्यापारात्, तदुत्तरन्व तज्जनित् केवल संस्कारादेव, तथा भिक्षाटनादिविषये वचनानुष्ठानं वचनव्यापाराद् असंगानुष्ठानंच केवलतज्जनित् संस्कारादिति विशेषः

-योगविशिका वृत्ति - २४७, उ. यशोविजयजी

(ब) चक्रभ्रमणं दंडात्तभावे चैव यत्परं भवति।

वचनासंगानुष्ठानयोस्तु तज्ज्ञापकं ज्ञेयम् ॥ - षोडशक १०/८ - हरिभद्रसूरि

^{४६३}. भगवद्गीता - २/५५-५६-५७

प्राप्त हो उसमें हर्ष या खेद नहीं करता है जिसकी बुद्धि स्थिर है, वह स्थितप्रज्ञ होता है।

असंग-अनुष्ठान में भी जिनकल्पी संकल्प-विकल्पों से रहित होते हैं। जैसे चंदन को चाहे काटा जाए, धिसा जाए या जलाया जाए, तो भी वह सुगंध आदि अपने धर्म को विकृत नहीं होने देता है, वैसी ही उसकी सुगंध आती है; उसी प्रकार असंग-अनुष्ठान के शरीर को चाहे काटा जाए, जलाया जाए या अन्य किसी प्रकार का उपसर्ग किया जाए तो भी वह स्वभावगत अपने क्षमाधर्म को विकृत नहीं होने देता है। यह असंग-अनुष्ठान आयुष्यबंध, फलाकांक्षा, आसंगदोष अतिचार आदि विघ्नों से रहित मोक्ष का साधन है।

तीर्थकरों में क्रियायोग असंग-अनुष्ठान निष्काम कर्मयोग के रूप में ही रहता है।

इस प्रकार क्रिया का अभ्यास करते-करते वह स्वभावगत बन जाती है, असंग-अनुष्ठान के रूप में परिवर्तित हो जाती है। यही क्रियायोग की उत्कृष्ट साधना है।

क्रियायोग की साधना-विधि

पूर्व में हमने वर्णन किया था कि ज्ञान और तदनुसारिणी क्रिया के समन्वय से ही मुक्तिमार्ग की साधना सम्पन्न होती है, अर्थात् ज्ञान के साथ क्रिया की भी उतनी ही आवश्यकता है, जितनी भोजन के साथ पानी की। अब जिज्ञासा उठती है कि क्रियायोग की साधना-विधि क्या है ? क्योंकि जब तक विधि का ज्ञान नहीं हो, तब तक क्रिया का सम्यक् रूप से आचरण नहीं कर सकते हैं। जिस प्रकार रोग के लक्षण, निदान और प्रतिकार के उपाय को जाने बिना अविधि से अनुचित औषधि को उदरस्थ कर जाने वाला व्यक्ति निरोगता को प्राप्त नहीं कर सकता है, उसी प्रकार अविधि से की गई क्रिया लाभकारी नहीं होती है।

अतः अब क्रियायोग की साधनाविधि का वर्णन किया जा रहा है।

शास्त्रों में आध्यात्मिक विकास की चौदह भूमिकाएँ वर्णित हैं। उसमें से प्राथमिक चार भूमिकाएँ सम्यग्दर्शन के आश्रित हैं और उसके आगे की समस्त भूमिकाएँ चारित्र पर ही निर्भर हैं।

गृहस्थ हो या साधु-दोनों की श्रद्धा एक जैसी हो सकती है, किन्तु चारित्र (क्रिया विधि) के सम्बन्ध में यह बात नहीं कह सकते हैं, क्योंकि गृहस्थ और गृहत्यागियों की परिस्थितियों इतनी भिन्न होती हैं कि दोनों समान रूप से चारित्र का पालन नहीं कर सकते हैं; इसलिए जैनशास्त्रों में चारित्र के दो विभाग कर दिए गए हैं।

स्थानांगसूत्र में सर्वविरति और देशविरति^{४६४} - दो प्रकार के चारित्र बताए गए हैं।

सर्वविरति और देशविरति के मूल आधार में कोई अन्तर नहीं है, अन्तर है सिर्फ उनके आचरण की मर्यादा में। साधक अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानीकषाय के उदय को नष्ट करता है, परंतु प्रत्याख्यानकषाय का उदय रहता है, तब देशविरतिचारित्र का प्रादुर्भाव होता है। देशविरतिचारित्र की सीमा बहुत विस्तृत है। साधक अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार न्यूनाधिक रूप में व्रतों एवं नियमों को ग्रहण करते हैं।

श्रावक के बारह व्रत होते हैं। उनमें पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत हैं।

पाँच अणुव्रत :

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह- इन पाँचों को जैनधर्म में साधुओं के लिए महाव्रत के रूप में तथा श्रावकों के लिए अणुव्रत के रूप में स्वीकार किया गया है। उ. यशोविजयजी कहते हैं- अहिंसा आदि इन पाँचों अणुव्रतों के लिए अन्य दर्शनों में किसी में 'व्रतधर्म', किसी में 'यम-नियम', तो किसी में 'कुशलधर्म' आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है।^{४६५}

१. अहिंसाणुव्रत -

इस व्रत का तात्पर्य है-निरपराध त्रस जीवों का संकल्पपूर्वक वध नहीं करना। अहिंसक आचार एवं विचार से ही आध्यात्मिक उत्थान होता है। वनस्पति

^{४६४} चरित्तधम्मे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा- अगारचरित्तधम्मे चेव, अणगारचरित्त धम्मे चेव - स्थानांगसूत्र, द्वितीय स्थान, प्रथम उ. सूत्र १०६

^{४६५} यथाऽहिंसादयः पंच व्रतधर्मयमादिभिः।

पदैः कुशलधर्माद्यैः कथ्यन्ते स्वस्वदर्शने ॥१२॥- सम्यक्त्व अधिकार, अध्यात्मसार, उ. यशोविजयजी

आदि एकेन्द्रिय जीवों से लेकर मानव तक के प्रीति अहिंसक आचरण की भावना जैन-परम्परा की प्रमुख विशेषता है। उ. यशोविजयजी कहते हैं- “किसी भी जीव की हिंसा नहीं करना।” इसे आचार के मूल तत्त्वरूप में सूत्रों में प्रतिपादित किया गया है। तत्त्वों पर श्रद्धा ही सम्यक्त्व है।^{४६६}

अतः जीव को तत्त्व की ओर मोड़ने के लिए अहिंसा प्रथम सीढ़ी है। श्रावक के अहिंसाव्रत में दो आगार (अपवाद) हैं- प्रथम अपराधी को दण्ड देने की और दूसरा जीवन-निर्वाह के लिए सूक्ष्म हिंसा की।

प्राचीन जैनआचार्यों ने हिंसा-अहिंसा का रहस्य समझाने के लिए हिंसा के चार भेद किए हैं-

१. संकल्पजा २. आरम्भजा ३. उद्योगिनी ४. विरोधिनी।

इन चार हिंसाओं में से संकल्पजा हिंसा का जीव पूर्ण रूप से त्याग करता है। शेष तीन हिंसाओं का वह चाहते हुए भी सर्वथा त्याग नहीं कर पाता है, सिर्फ मर्यादा कर सकता है।

आचार्य हेमचंद्र ने कहा है कि लंगड़ा, लूला, कुष्ठरोगी आदि शरीरों की प्राप्ति- ये सब हिंसा के फल हैं। इस प्रकार जानकर बुद्धिमान जीवों को निरपराधी त्रस जीवों की संकल्पपूर्वक हिंसा करने का त्याग करना चाहिए।^{४६७}

इसे स्थूलप्राणातिपात विरमण-व्रत भी कहते हैं, जिसे श्रावक मन-वचन काया से करना नहीं और कराना नहीं- इस प्रकार छः प्रकार से ले सकता है।

इस व्रत के पाँच अतिचार है १. बंध २. वध ३. छविच्छेद ४. अतिभार और ५. भक्तपानविच्छेद।^{४६८}

अहिंसा के उपासक श्रावक को इन अतिचारों से बचना चाहिए।

^{४६६}. तत्त्वश्रद्धानमेतच्च गदितं जिनशासने।
सर्वेनीवा न हन्तव्याः सूत्रे तत्त्वभिष्यते ॥६॥-सम्यक्त्व अधिकार, अध्यात्मसार, उ.
यशोविजयजी

^{४६७}. पंगुकुष्टिकुणित्वादि दृष्ट्वा हिंसाफलं सुधीः।
निरागस्त्रसजेतूनां हिंसा संकल्पतस्त्यजेत् ॥१९॥-योगशास्त्र, २, आ. हेमचन्द्र

^{४६८}. (अ) उपासकदशांग, सूत्र ४१
(ब) बन्ध-वधच्छेदातिभारारोपणान्नपान निरोधाः- तत्त्वार्थसूत्र ७/२५

२. सत्याणुव्रत -

जिस असत्य से किसी को हानि पहुँचती हो, किसी की प्रतिष्ठा को धक्का लगता हो और जो लोकनिन्दित है- ऐसे असत्य वचन का प्रयोग मन-वचन तथा काया से नहीं करना तथा न करवाना- यह स्थूलमृषावाद विरमणव्रत या सत्याणुव्रत कहलाता है।

उपासकदशांग में स्थूल असत्य के पाँच प्रकार बताए गए हैं।

१. कन्या के संबंध में - उपलक्षण से सम्पूर्ण मानवजाति के लिए क्रोध, अभिमान, लोभ, स्वार्थ और कपट आदि से असत्य भाषण करना, चिन्तन करना और शरीर से चेष्टा करना कन्यालीक है।
२. गाय के संबंध में - उपलक्षण से सम्पूर्ण पशुजाति के सम्बन्ध में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से असत्य बोलना गवालीक है।
३. भूमि के सम्बन्ध में - स्वार्थ-लोभ आदि के वश में होकर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि से भूमि के सम्बन्ध में असत्य बोलना भूमि-अलीक है।
४. धरोहर के सम्बन्ध में असत्य बोलना।
५. झूठी साक्षी देना।

श्रावक इन स्थूल मृषावाद का पूर्णरूप से त्याग करता है।
उपासकदशांगसूत्र^{४६६} में प्रस्तुत व्रत के पाँच अतिचार बताए हैं-

१. सहसाऽभ्याख्यान - सत्यासत्य का निर्णय किए बिना कषाय से उत्प्रेरित होकर किसी पर दोषारोपण करना।
२. रहस्याभ्याख्यान - किसी की गुप्त बात प्रकट करना।
३. स्वदारमन्त्रभेद - पति-पत्नी का एक-दूसरे की गुप्त बातों का किसी अन्य के सामने प्रकट करना।
४. मिथ्योपदेश - असत्य मार्ग का उपदेश देना।
५. कूटलेखप्रक्रिया- झूठे दस्तावेज, जाली लेख आदि तैयार करना।

क्रियायोग में क्रमशः प्रगति करने वाले श्रावक को इन सभी अतिचारों से बचकर सम्यक् प्रकार से सत्याणुव्रत का पालन करना चाहिए।

३. अस्तेयाणुव्रत -

इसे स्थूल अदत्तादान विरमणव्रत भी कहते हैं। राजदण्डनीय चोरी नहीं करना, अर्थात् जिसके करने से समाज में चोर, बेईमान, तस्कर कहलाते हैं, वह स्थूल अदत्तादान है। इस व्रत का पालन करते हुए भी प्रमाद या असावधानी से लगने वाले दोष या अतिचार निम्न पाँच प्रकार के होते हैं^{४७०} -

१. स्तेनाहत - चोरी की वस्तु खरीदना।
२. तस्कर प्रयोग - चोरी के कार्य में सहयोग देना।
३. विरुद्धराज्यातिक्रम - असंवैधानिक व्यापार आदि करना।
४. कूटतुला-कूटमाप - कम अधिक तौल माप करना।
५. तत्प्रतिरूपक व्यवहार - मिलावट करके वस्तु बेचना।

४. स्वदारसन्तोषव्रत :

परस्त्रीगमन नहीं करना और स्वस्त्रीगमन में भी मर्यादायुक्त मैथुन सेवन करना स्वदारसन्तोषव्रत है। इस व्रत के मुख्यरूप से पाँच अतिचार हैं-

१. इत्वरिक परिगृहितागमन - अर्थात् अल्पकाल के लिए किसी स्त्री का ग्रहण उसके साथ मैथुनसेवन या वैश्यावृत्ति।
२. अपरिगृहीतागमन - अविवाहित स्त्री के साथ मैथुनसेवन।
३. अनंग क्रीड़ा - प्रकृति-विरुद्ध मैथुनसेवन।
४. परविवाहकरण।
५. कामभोगतीव्राभिलाषा।^{४७१}

^{४७०} . उपासकदशांगसूत्र १/४३

^{४७१} . उपासकदशांग १/६, अभयदेववृत्ति, पृ. १३

५. स्थूल परिग्रहपरिमाणव्रत :

तृष्णा और लालसा को सीमित करने और व्याकुलता से बचने के लिए सचित्त, अचित्त एवं मिश्र परिग्रह की सीमा निर्धारित कर लेना स्थूल परिग्रह परिमाणव्रत कहलाता है।

उ. यशोविजयजी कहते हैं- “यह परिग्रहरूपी ग्रह सभी ग्रहों से बलवान् है, जो राशि से पीछे नहीं हटता, अपनी वक्रता कभी नहीं छोड़ता और जिसने तीनों जगत् को विडम्बित कर रखा है, परेशान कर रखा है।” आगे उ. यशोविजयजी परिग्रह त्याग की महिमा बताते हुए कहते हैं कि जो बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह को तृण के समान छोड़कर उदासीन रहता है, उसके चरण कमल को तीनों जगत् पूजते हैं।^{४७२}

स्थानांग सूत्र में परिग्रह के तीन प्रकार माने गए हैं-

१. कर्मपरिग्रह २. शरीरपरिग्रह ३. वस्तुपरिग्रह^{४७३}

उपासकदशांगसूत्र में अपरिग्रह को इच्छापरिमाणव्रत कहा है और इसके सात भेद किए हैं- सोना, चाँदी, चतुष्पद, खेत, वस्तु, गाड़ी, वाहन।

तत्त्वार्थसूत्र^{४७४} में नौ प्रकार के परिग्रह बताए गए हैं- क्षेत्र, वास्तु, सोना, चाँदी, धन, धान्य, दासी, दास, (द्विपद, चतुष्पद) कुप्य आदि- इन नौ प्रकार के परिग्रहों में से अपने लिए आवश्यक वस्तु की मार्यादा करके शेष समस्त वस्तुओं के संग्रह का त्याग करना ही परिग्रहपरिमाणव्रत है।

उ. यशोविजयजी ने कहा है- “मूर्च्छायुक्त व्यक्ति के लिए सारा संसार परिग्रह है और मूर्च्छा से रहित व्यक्तियों के लिए संसार अपरिग्रहरूप है।”

इस व्रत को ग्रहण करने से जीवन में सादगी, मितव्ययता और शान्ति अनुभव होती है।

^{४७२}. न परावर्तते राशेर्वक्रतां जातुनोज्झति। परिग्रहग्रहः कोऽयं विडम्बितजगत्त्रयः॥
यस्त्यक्त्वा तृणवद्भाद्रयमाभ्यन्तरं च परिग्रहम्।
उदास्ते तत्पदाम्भोजं, पर्युपास्ते जगत्त्रयी॥३॥ -परिग्रहत्या-२५, ज्ञानसार, उ.
यशोविजयजी

^{४७३}. स्थानांगसूत्र ३/१/११३, उपासकदशांग १/२१ से २७

^{४७४}. तत्त्वार्थसूत्र

इन पाँचों अणुव्रत के अलावा रात्रिभोजनत्याग को छठवां अणुव्रत मानकर इसे कई आचार्यों ने वर्णित किया है। इन अणुव्रतों के पालन से एक ओर क्रियाभाग पुष्ट होता है, वहीं दूसरी ओर सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था को श्रेष्ठ बनाए रखने में महत्त्वपूर्ण योगदान मिलता है।

इन अणुव्रतों को उन्नत बनाने के लिए गुणव्रतों एवं शिक्षाव्रतों का भी विधान किया गया है।

गुणव्रत :

आचार्य अमृतचन्द्र का कहना है कि जैसे परकोटे नगर की रक्षा करते हैं, उसी प्रकार शीलव्रत (गुणव्रत और शिक्षाव्रत) अणुव्रतों की रक्षा करते हैं।^{४७५} संख्या की दृष्टि से गुणव्रत तीन और शिक्षाव्रत चार माने गए हैं।

उपासकदशांगसूत्र में गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों को संयुक्त रूप से सात शिक्षाव्रत कहा गया है।^{४७६}

गुणव्रत के तीन प्रकार -

१. दिशापरिमाणव्रत - इस व्रत में छहों दिशाओं में गमनागमन की मर्यादा कर ली जाती है। निश्चित की गई सीमा से बाहर कुछ भी अर्थमूलक या भोगमूलक प्रवृत्ति नहीं की जा सकती है।
२. भोगोपभोगपरिमाणव्रत (उपभोग-परिभोग व्रत) - इस व्रत में एक ही बार काम में आने योग्य भोज्यपदार्थ आदि की तथा पुनः-पुनः भोजन योग्य वस्त्रादि पदार्थों की मर्यादा की जाती है। यह भोगोपभोगपरिमाणव्रत मूलव्रत परिग्रह परिमाण की पुष्टि के लिए आवश्यक है। दोनों का उद्देश्य जीवन की अमर्यादित आवश्यकताओं को नियंत्रित करना है।
३. अनर्थदण्डविरमणव्रत - स्वयं के लिए या अपने परिवार के व्यक्तियों के जीवन-निर्वाह के लिए अनिवार्य सावद्यप्रवृत्तियों के

^{४७५} मुच्छाच्छन्निधियां सर्वं, जगदेव परिग्रहः।

मूर्च्छया रहितानां तु, जगदेवाऽपरिग्रहः॥८॥ -परिग्रहत्या-२५, ज्ञानसार, उ.
यशोविजयजी

^{४७६} उपासकदशांग, १/१२

अतिरिक्त शेष समस्त पापपूर्ण प्रवृत्तियों का त्याग करना अनर्थदण्डविरमणव्रत है। जिन प्रवृत्तियों से किसी प्रकार का लाभ नहीं हो, वे सारे अनर्थदण्ड हैं।

शिक्षाव्रत :

अणुव्रत और गुणव्रत जीवन में एक ही बार ग्रहण किए जाते हैं, किन्तु शिक्षाव्रत बार-बार ग्रहण किए जाते हैं। ये व्रत कुछ समय के लिए ही होते हैं।

शिक्षाव्रत चार प्रकार के हैं-

१. सामायिकव्रत - आर्त्त-रौद्र ध्यान का तथा पापमय कार्यों का त्याग करके एक मुहुर्त्त पर्यन्त समभाव में रहना सामायिक है। इस व्रत से समग्र जीवन को समभाव से युक्त बनाने का अभ्यास किया जाता है।

उ. यशोविजयजी समत्वभाव को ही सामायिक बताते हुए कहते हैं कि समत्वभाव के बिना की जाने वाली तथा ममत्व को फैलाने वाली सामायिक को मैं मायावी मानता हूँ। शुद्धनय के अनुसार सद्गुणों का लाभ हो, तो ही सामायिक शुद्ध होती है।^{४७७}

समभाव के निरन्तर अभ्यास से समता के संस्कार अंतःकरण में दृढ़ हो जाते हैं, जिससे गृहस्थजीवन में किसी भी प्रकार की समस्या, जो व्यक्ति की मानसिक शान्ति को भंग करे, उत्पन्न नहीं होती है।

२. देशावकासिकव्रत - आवश्यकसूत्र की वृत्ति में यह स्पष्ट है कि देशावकासिक व्रत में दिग्व्रत में किए हुए परिमाण को दिन, रात्रि, घड़ी, मुहूर्त्त, प्रहर आदि काल तक के लिए अधिक संक्षिप्त कर लिया जाता है। उपलक्षण से अन्य अणुव्रतों को भी संक्षेप में किया जाता है। प्राचीन आचार्यों ने इस संदर्भ में

चौदह नियमों का उल्लेख किया है ^{४७८}, जिसमें सचित्त, द्रव्य, विगय, उपानह (जूते), वस्त्र, कुसुम, तांबूल, वाहन, शयन, विलेपन, ब्रह्मचर्य, दिशा, स्नान, भक्त- इनकी प्रतिदिन मर्यादा निश्चित की जाती है।

३. पौषधोपवासव्रत - पर्व तिथियों में तपस्या करके, समस्त आरंभ से मुक्त होकर शरीर का ममत्व त्याग करके आठ प्रहर तक जो पौषध किया जाता है, वह परिपूर्ण पौषध है। श्रावक धर्मध्यान से ही पौषधकाल को पूर्ण करता है। इसमें मुनिजीवन का पूर्वाभ्यास किया जाता है।
४. अतिथिसंविभागव्रत - उपासकदशांगसूत्र की टीका में उचित रूप से मुनि आदि चारित्रसम्पन्न योग्य पात्रों को अन्नवस्त्र आदि का यथाशक्ति दान देने को अतिथिसंविभागव्रत कहा है। ^{४७९}

अतिथिसंविभागव्रत के माध्यम से दान प्रदान करते समय चार बातों को ध्यान रखना आवश्यक है- विधि, द्रव्य, दाता और पात्र। ^{४८०} जो दान चार विशेषताओं से युक्त है, वही श्रेष्ठ सुपात्रदान है।

हमने यहाँ बहुत संक्षेप में व्रतों का स्वरूप बताया है। इक्कीसवीं शताब्दी में जब इन्सान का जीवन अमर्यादित हो रहा है, इस समय श्रावक-आचारसंहिता की कितनी आवश्यकता है यह स्वयं ही स्पष्ट है।

साधक की योग्यता को लक्ष्य में रखकर आध्यात्मिक साधना-पद्धति के विविध रूप उजागर हुए हैं, विविध सोपान निर्मित हुए हैं। श्रावक की साधना के भी तीन रूप बताए हैं- दर्शन श्रावक, व्रतीश्रावक और प्रतिमाधारीश्रावक। यह क्रम क्रियायोग के उत्तरोत्तर विकास का क्रम है। गृहस्थ अपने आत्मिक विकास के लिए सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के बाद बारह व्रतों को धारण करता है, उसके बाद व अपने जीवन को और अधिक उन्नत और पवित्र बनाने के लिए ग्यारह प्रतिमाओं को ग्रहण करता है।

^{४७८} सचित्त-द्रव्य-विगई, पन्नी -तांबूल-वल्थ कुसुमेसु।

वाहन-सयण-विलेवण-बम्भ-दिशि-नाहन भतेसु।।

^{४७९} उपासकदशांगसूत्रटीका - मुनिधासीलाल -पृष्ठ २६।

^{४८०} विधि-द्रव्य-दातृ-पात्र विशेषात् तद्विशेषः । -तत्त्वार्थसूत्र ७/३४

सामान्यतः प्रतिमा का अर्थ प्रतिज्ञा विशेष होता है।^{४८१} प्रतिमा मे स्थित श्रावक श्रमण के समान व्रतों का पालन करता है। जैन अर्थमागधी आगम-साहित्य में समवायांगसूत्र और श्रुतस्कन्ध में तथा दिगम्बर ग्रन्थ कषायपाहुड की जयधवलटीका में एवं अनेक श्रावकाचारों में भी ग्याहर प्रतिमाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है। उपासकदशांगसूत्र में भी एक से ग्यारह तक प्रतिमाओं के ग्रहण करने का संकेत है।

इन ग्यारह प्रतिमाओं के नाम इस प्रकार हैं-

१. दर्शन
२. व्रत
३. सामायिक
४. पौषध
५. नियम
६. ब्रह्मचर्य
७. सचित्तत्याग
८. आरम्भत्याग
९. परिग्रहत्याग
१०. उद्दिष्टभक्तत्याग
११. श्रमणभूतप्रतिमा।

व्रतधारी श्रावक में व्रतों में दोष व अतिचार लगने की संभावना होती है, किंतु प्रतिमाधारी श्रावक में दोष व अतिचार की संभावना नहीं होती है। उ. यशोविजयजी के ग्रन्थों में श्रावकाचार का विस्तृत उल्लेख नहीं मिलता है। मात्र यत्र-तत्र कुछ संकेत उपलब्ध होते हैं। उनकी दृष्टि में क्रियायोग का पूर्णतः विकास श्रमणाचार में दृष्टिगोचर होता है। अतः अब हम श्रमणाचार का संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

श्रमणाचार :

श्रमण संस्कृति आचार प्रधान है। आचार ही मुनि-जीवन की मूलभूत आत्मा है। उ. यशोविजयजी कहते हैं- “जिस प्रकार तेल के पात्र को धारण करने वाला या राधावेध साधने के लिए तत्पर बना व्यक्ति अपनी क्रिया में जिस प्रकार एकाग्रचित्त हो जाता है, उसी प्रकार संसार से भय प्राप्त साधु चारित्रिक्रिया में पूर्ण

^{४८१}. १/७१ युवाचार्य श्री मधुकर मुनि, ब्यावर।

एकाग्रचित्त हो जाते हैं।”^{४८२} उ. यशोविजयजी ने मुनि की संयम में एकाग्रता को दो दृष्टांत देकर समझाया है। प्रथम दृष्टांत में बताया है कि जिस प्रकार राजा की आज्ञा के अनुसार मृत्यु से डरता हुआ, व्यक्ति तेल से सम्पूर्ण भरे हुए पात्र को हाथ में लेकर पूरे नगर में घूमता है, किन्तु एक बूंद भी भूमि पर नहीं गिरने देता है; उसी प्रकार मुनि आत्मगुणों के घात होने के भय से डरते हुए संसार में अप्रमत्तभाव से संयम में एकाग्रचित्त होकर रहते हैं। मुनिजीवन के आचार अत्यधिक कठोर होते हैं। यहाँ हम उ. यशोविजयजी के ग्रन्थों के आधार पर तथा आगमों के आधार पर मुनिजीवन के क्रियायोग की साधनाविधि प्रस्तुत कर रहे हैं।

यहाँ हम श्रमणाचार के निम्नांकित पहलुओं पर प्रकाश डालेंगे-

१. पंचमहाव्रत एवं उनकी पच्चीस भावनाएँ
 २. पाँच समितियाँ तथा तीन गुप्तियाँ (अष्टप्रवचन माता)
 ३. बारह भावनाएँ
 ४. दस समाचारी
 ५. दस श्रमणधर्म
 ६. बारह प्रकार के तप
 ७. बाईस परिषद
१. पंचमहाव्रत एवं उनकी भावनाएँ -

पंचमहाव्रत का पालन साधु-जीवन की प्रथम शर्त है। उ. यशोविजयजी कहते हैं कि अहिंसा मोक्षरूपी वृक्ष का बीज है। वह मुख्य है तथा सत्य आदि व्रत मोक्षरूपी वृक्ष के पत्ते हैं।^{४८३} इन पाँच महाव्रतों के क्रम को एवं महत्त्व को समझने के लिए वृक्ष का दृष्टांत बहुत उपयोगी है। पत्ते और शाखाओं आदि के बिना वृक्ष परिपूर्ण नहीं बनता है। दूसरी ओर बीज के बिना पत्ते आदि उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। जैनधर्म में अहिंसा और सत्य की जितनी सूक्ष्म विचारणा प्रस्तुत की गई है, उतनी शायद ही अन्य किसी धर्म में की गई हो।

^{४८२}. तैलपात्रधरो यद्वद्राधावेधोद्यतो यथा ।

क्रियास्वनन्यचित्तः स्याद् भवभीतस्तथा मुनिः ॥६॥ -भवोद्वेग -२२, ज्ञानसार, उ.

यशोविजयजी

^{४८३}. अपवर्णात्तरोबीजं, मुख्याऽहिंसेयमुच्यते । सत्यादीनि व्रतान्यत्र जायन्ते पल्लवा नवाः ॥४५॥

-सम्यक्त्व अधिकार, अध्यात्मसार-उ. यशोविजयजी

पंचमहाव्रतों में प्रथम महाव्रत है- जीवनपर्यन्त के लिए सर्वप्राणातिपात विरमण (अहिंसा महाव्रत)-पंचमहाव्रतधारी श्रमणों को अहिंसा महाव्रत नवकोटि से धारण किया हुआ होता है। अहिंसा महाव्रत के लिए 'सव्वाओं, पाणाइवायाओ विरमणं' शब्द का प्रयोग हुआ है। दशवैकालिक में अहिंसा महाव्रत का विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि श्रमण सचित्त-पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति किसी का भी स्पर्श न करे तथा पृथ्वीकाय आदि पाँच स्थावरों तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय- ये नौ प्रकार के संसारी जीव हैं, उनकी मन से, वचन से और काया से हिंसा नहीं करना, नहीं करवाना और न अनुमोदन करना।^{४८४} इस प्रकार मन के २७, वचन के २७ और काया के २७ कुल मिलाकर ८१ विकल्प होते हैं।

मुनि के हृदय में संसार के सभी जीवों के प्रति निरंतर अनुकंपा का भाव रहता है। उनके उठने, बैठने, चलने, सोने, बोलने आदि से कोई स्थूल या सूक्ष्म जीवों की विराधना हो जाती है, तो उसके लिए ईरियावही करके पश्चातापपूर्वक क्षमायाचना कर लेता है। ऐसे अप्रमत्त साधु को कोई अपवाद के प्रसंग पर नदी उतरना या कीचड़ में चलना आदि अनिवार्य हो जाता है, तो भी उसे अप्रमत्तता के कारण हिंसा का दोष नहीं लगता है। उ. यशोविजयजी कहते हैं- "अप्रमत्त साधुओं को हिंसा भी अहिंसा के अनुबंध वाली होती है, क्योंकि हिंसा के अनुबंध का विच्छेद होने से उनके गुणों का उत्कर्ष होता है।"^{४८५} आचारांग, समवायांग^{४८६}, प्रश्नव्याकरण^{४८७} आदि ग्रन्थों में पंचमहाव्रत की पच्चीस भावनाओं का वर्णन आता है।

अहिंसा महाव्रत की पाँच भावनाएँ इस प्रकार है।

१. गमनागमन सम्बन्धी सावधानी या इर्यासमिति
२. मनसमिति
३. वचनसमिति
४. एषणासमिति
५. आदाननिक्षेपणसमिति

^{४८४} दशवैकालिक

^{४८५} साधूनामप्रमत्तानां सा चाहिसानुबंधिनी। हिंसानुबंधविच्छेदाद्- गुणोत्कर्षो यतस्ततः ॥५१॥
- अध्यात्मसार, सम्यक्त्व अधिकार, उ. यशोविजयजी

^{४८६} आचारांग, द्वितीयश्रुतस्कंध, तृतीय चूला

^{४८७} समवायांग, २५

तत्त्वार्थराजवार्तिक^{४८८} और तत्त्वार्थसर्वार्थसिद्धि^{४८९} में एषणासमिति के स्थान पर वाक्गुप्ति का उल्लेख हुआ है। ये भावनाएँ अहिंसा को अधिक परिपुष्ट और सुरक्षित बनाने के लिए हैं।

द्वितीय महाव्रत जीवनपर्यन्त के लिए सर्वमृषावाद-विरमण सत्यमहाव्रत सत्य की महत्ता बताते हुए भगवान महावीर ने कहा है कि सत्य महासागर से भी अधिक गंभीर है, चन्द्र से भी अधिक सौम्य है और सूर्यमण्डल से भी अधिक तेजस्वी है।^{४९०} क्रोध, लोभ, भय, हास्य, आदि मोहनीयकर्म की प्रकृतियों के वशीभूत होकर मन, वचन और काया से असत्य बोलना नहीं, बुलवाना नहीं, असत्य का अनुमोदन करना नहीं- यह सत्य महाव्रत है। साथ ही हर क्षण सावधानीपूर्वक हित, मित, पथ्य, प्रिय, सत्यवचन बोलना भी सत्य महाव्रत है। निरर्थक, अहितकारी बोला गया सत्यवचन भी असत्य है। यह महाव्रत नौ कोटियों से धारण किया हुआ होता है। इस प्रकार मन के बारह, वचन के बारह और काया के बारह कुल छत्तीस विकल्प होते हैं।

इस महाव्रत की भी पाँच भावनाएँ हैं-

१. वाणी का विवेक २. क्रोधत्याग ३. लोभत्याग ४. भयत्याग ५. हास्यत्याग आचारांग^{४९१}, समवायांग^{४९२} और प्रश्नव्याकरण^{४९३} में भावनाओं का निरूपण है।

तृतीय महाव्रत जीवन पर्यन्त के लिए सर्वथा अदत्तादान विरमण अस्तेय महाव्रत है। उ. यशोविजयजी कहते हैं- “स्पृहारहित साधु के लिए पृथ्वी रूप शय्या है, भिक्षा में जो मिला वह भोजन है, फटे पुराने वस्त्र और वन रूप घर है, फिर भी आश्चर्य है कि साधु चक्रवर्ती से भी ज्यादा सुखी है। अस्तेय में तृष्णा की मुख्यता होती है। साधु को किसी प्रकार की कोई तृष्णा नहीं होती है। वे एक तृण भी मालिक की बिना आज्ञा के नहीं लेते हैं। दशवैकालिक में अस्तेय महाव्रत के सम्बन्ध में कहा गया है- “मुनि गाँव में, नगर में या अरण्य में, थोड़ी या बहुत,

^{४८८}. तत्त्वार्थराजवार्तिक ७, ४-५, ५३७

^{४८९}. तत्त्वार्थसर्वार्थसिद्धि, पृ. ३४५

^{४९०}. प्रश्नव्याकरण २, २

^{४९१}. आचारांग, द्वितीय श्रुतस्कंध, १५ वाँ भावना अध्ययन

^{४९२}. समवायांग २५ वाँ समवाय

^{४९३}. प्रश्नव्याकरण सूत्र, संवरद्वार, सातवाँ अध्ययन

छोटी या बड़ी, सजीव या निर्जीव, किसी भी वस्तु को स्वामी की आज्ञा के बिना न ले, न दूसरों को प्रेरणा करे और न अदत्त ग्रहण का अनुमोदन करे।^{४६४}

अचौर्य महाव्रत के चौवन विकल्प बताए गए हैं-

१. वस्तु अल्पमात्रा में २. अधिकमात्रा में ३. छोटी वस्तु ४. बड़ी वस्तु ५. सचित्त (शिष्यादि) ६. अचित्त (वस्त्र, पात्र आदि)- इन छः प्रकार की वस्तुओं की मन, वचन तथा काया से चोरी न करे, न करवाएँ, न चोरी करने वाले का अनुमोदन करे। इस प्रकार मन के अठारह वचन के अठारह और काया के अठारह, कुल चौवन विकल्प होते हैं।

प्रश्नव्याकरण^{४६५} के अनुसार अचौर्य महाव्रत की पाँच भावनाएँ हैं-

१. विविक्तवास - निर्दोष स्थान की याचना करना
२. अनुज्ञातसंस्तारक ग्रहणरूप अवग्रहयाचना - मर्यादा के अनुकूल शय्या आदि को आज्ञा लेकर ग्रहण करना
३. शय्यासंस्तारक परिकर्म वर्जनारूप शय्यासमिति - इस भावना में शय्या संस्तारक की सजावट का निषेध किया गया है।
४. अनुज्ञापित पान-भोजन ग्रहण करना - इस भावना में वस्त्र, पात्र, आहार आदि जो भी प्राप्त हुए, उसे गुरुजनों को समर्पित कर दे और कह दें कि आप जिसे आवश्यकता हो, उसे प्रदान करें। दशवैकालिक^{४६६} में स्पष्ट कहा गया है कि जो संविभाग नहीं करता है, उसकी मुक्ति नहीं होती। श्रेष्ठ वस्तु का अकेले उपयोग करना चोरी है।
५. साधर्मिक का दिनयकरना।

^{४६४} दशवैकालिक ४, १३

^{४६५} प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार, अध्ययन ८

^{४६६} अस्विभागी न हु तस्स मोक्खो, दशवैकालिक ६, २, २३

चतुर्थ महाव्रत जीवनपर्यन्त के लिए सर्वमैथुन विरमण (ब्रह्मचर्य महाव्रत)-समस्त व्रत, नियम, तप, शील, विनय, सत्य, संयम आदि का मूल आधार ब्रह्मचर्य है। यह सभी व्रतों में सर्वश्रेष्ठ है।

उ. यशोविजयजी कहते हैं- “नौ प्रकार के ब्रह्मचर्य रूप अमृतकुंड की निष्ठा के सामर्थ्य से तथा प्रयत्नपूर्वक क्षमा की साधना करते हुए महामुनि नागलोक के स्वामी की तरह सुशोभित होते हैं।”^{४९७}

‘ब्रह्म’ शब्द के मुख्यरूप से तीन अर्थ हैं- वीर्य, आत्मा और विद्या। ‘चर्य’ शब्द के भी तीन अर्थ हैं- रक्षण, रमण तथा अध्ययन इस तरह ब्रह्मचर्य के तीन अर्थ वीर्य-रक्षण, आत्म-रमण और विद्याध्ययन।

जैनागमों में ब्रह्मचर्य की गम्भीर एवं अतिसूक्ष्म विवेचना उपलब्ध है। मन-वचन-काया से देव, मनुष्य और तिर्यन्व शरीर सम्बन्धी सभी प्रकार के मैथुन कृत, कारित और अनुमोदित का जीवन भर का त्यागी होता है। इस प्रकार मन के नौ, वचन के नौ, और काया के नौ- ऐसे कुल सत्ताईस विकल्प होते हैं।

ब्रह्मचर्य वह खाद है, जिससे सद्गुणों की खेती लहलहाने लगती है। ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए सतत जागरूकता अपेक्षित है। भावनाओं के चिन्तन का आत्मा पर गहरा असर होता है। आचारांग^{४९८}, समावायांग^{४९९}, आवश्यक चूर्णि^{५००}, आचारांग चूर्णि^{५०१}, तत्त्वार्थसूत्र^{५०२} की राजवार्तिकटीका में पाँच भावनाओं का उल्लेख है-

१. स्त्रीकथा का वर्जन
२. स्त्रियों के अंग-प्रत्यंगों के अवलोकन का वर्जन
३. पूर्वानुभूत कामक्रीड़ा की स्मृति का निषेध

^{४९७} नवब्रह्मसुधोकुण्डनिष्ठाऽधिष्ठायको मुनिः
नागलोकेशवद्भाति, क्षमां रक्षन् प्रयत्नतः ॥४॥ -सर्वसमृद्धि-२०, ज्ञानसार, उ.
यशोविजयजी

^{४९८} आचारांग -२, ७८६-७८७

^{४९९} समावायांग, २५

^{५००} आवश्यकचूर्णि -प्रतिक्रमण अध्ययन पृ. १४३-४७

^{५०१} आचारांगचूर्णि, पृ. २८०

^{५०२} तत्त्वार्थराजवार्तिक ७-७, पृ. ५३६

४. अतिमात्रा में भोजन तथा गरिष्ठ भोजन का वर्जन
५. स्त्री, पशु आदि से संसक्त शय्यासन का वर्जन

इन पाँच प्रकार की भावनाओं से ब्रह्मचर्य विशुद्ध होता है। उ. यशोविजयजी कहते हैं- “बाह्यदृष्टि वाले को स्त्री अमृतमय लगती है, किन्तु आत्मरमण करने वाले तत्त्वज्ञ को स्त्री प्रत्यक्ष मल-मूत्र की खान दिखाई देती है।”

ब्रह्मचर्य साधना का मेरुदण्ड है। श्रमण और श्रावक-दोनों के लिए ब्रह्मचर्य की साधना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

पंचम व्रत जीवनपर्यंत के लिए सर्वपरिग्रह विरमण (अपरिग्रह महाव्रत) - परिग्रह वृत्ति एक ऐसा जहरीला कीटाणु है, जो धर्मरूपी तथा सद्गुणरूपी कल्पवृक्ष को नष्ट कर देता है। परिग्रहवृत्ति सभी पापों की जननी है। उ. यशोविजयजी कहते हैं- “परिग्रह का त्याग करने से साधु का पापरूपी मैल क्षण में ही नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार पाल टूटने से तालाब का पानी चला जाता है।”

प्रश्नव्याकरणसूत्र के टीकाकार ने परिग्रह की व्याख्या करते हुए लिखा है-जो सम्पूर्ण रूप से ग्रहण करता है, वह परिग्रह, अर्थात् जो मूर्च्छाबुद्धि से ग्रहण करता है, वह परिग्रह है। मुनि संयमसाधना हेतु कुछ धार्मिक उपकरण (चौदह उपकरण) रखता है, किन्तु उन पर उनकी ममत्वबुद्धि नहीं होती है, इसलिए वह परिग्रह नहीं है।

उ. यशोविजयजी कहते हैं- “अप्रमत्त साधु ज्ञानरूपी दीपक से युक्त होता है। जिस प्रकार पवनरहित स्थान से दीपक को स्थिरता प्राप्त होती है, उसी प्रकार धर्म के उपकारक उपकरणों द्वारा निष्परिग्रहता को स्थिरता प्राप्त होती है।” जैसे दीपक के लिए तेल रूपी आहार आवश्यक है, वैसे ही निर्वातस्थानरूपी धर्मउपकरण भी साधुता का आधार हैं।

जैन साधु का एक नाम निर्ग्रन्थ है। आचार्य हरिभद्र ने निर्ग्रन्थ का अर्थ किया है- गाँठ से रहित। “निर्गतो ग्रन्थान् निर्ग्रन्थः”, जिसके परिग्रहरूपी गाँठ नहीं है, वही निर्ग्रन्थ है।

अपरिग्रह महाव्रत के चौवन भंग होते हैं। अल्प-बहु, अणु-स्थूल, सचित और अचित्त-इन छः प्रकार के परिग्रह को मुनि मन से, वचन से, काया से न ग्रहण करे, न कराए, न अनुमोदन करे। इस प्रकार मन के अठारह भंग, वचन के अठारह और काया के अठारह- कुल चौवन विकल्प (भंग) होते हैं।

जैनमुनि वस्त्र-पात्रादि बहुत ही सीमित और संयमोपयोगी रखता है। उ. यशोविजयजी कहते हैं बाह्य परिग्रह के साथ-साथ अन्तरंग परिग्रह का त्याग करना भी जरूरी है “यदि अन्तरंग परिग्रह से मन व्याकुल है, तो फिर बाह्य निर्ग्रन्थत्व व्यर्थ है। मात्र कांचली छोड़ देने से सर्प विषरहित नहीं हो जाता है।” मिथ्यात्व, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, और वेद- ये अन्तरंग परिग्रह के चौदह भेद हैं।

अतः इनका भी त्याग करना आवश्यक है।

अपरिग्रह महाव्रत की भी पाँच भावनाएँ बताई गई हैं-

१. मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्दों में राग-द्वेष नहीं करना।
२. मनोज्ञ-अमनोज्ञ रूप में राग-द्वेष नहीं करना।
३. मनोज्ञ-अमनोज्ञ गन्ध में राग-द्वेष नहीं करना।
४. मनोज्ञ-अमनोज्ञ रस में राग-द्वेष नहीं करना।
५. मनोज्ञ-अमनोज्ञ स्पर्श में राग-द्वेष नहीं करना।

पंचमहाव्रत की पच्चीस भावनाएँ हैं। महाव्रतरूपी रत्नों की रक्षा के लिए भावनारूपी ये पाँच-पाँच पहरेदार खड़े कर दिए गए हैं। अगर ये पहरेदार सावधान हैं, तो महाव्रतरूपी रत्नों को कोई चुरा नहीं सकता है।

२. अष्टप्रवचनमाता :- पाँच समितियों और तीन गुप्तियों को उत्तराध्ययन में अष्टप्रवचनमाता कहा है। आत्मा के अनन्त आध्यात्मिक सद्गुणों को विकसित करने वाली ये प्रवचनमाताएँ हैं। इन आठों में सारा प्रवचन समा जाता है। समितियों और गुप्तियों के अभाव में महाव्रत सुरक्षित नहीं रह सकते हैं।

समिति पाँच प्रकार की होती है-

१. ईर्यासमिति - ईर्या का अर्थ है- गमना। गमन विषयक सम्यक् प्रवृत्ति ईर्यासमिति है। युगपरिमाण, अर्थात् चार हाथ परिमाण भूमि को एकाग्रचित्त से देखते हुए यतनापूर्वक गमनागमन करना ईर्यासमिति है।
२. भाषासमिति - क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, वाचालता और विकथा- इन आठ दोषों से रहित आवश्यकता होने पर

निरवद्य और परिमित भाषा का सावधानीपूर्वक प्रयोग करना भाषासमिति है।

३. एषणासमिति - एषना, अर्थात् उपयोगपूर्वक अन्वेषण करना। आहार, उपकरण शय्या आदि की गवेषणा में उद्गम, उत्पादन सम्बन्धी दोषों का परिशोधन तथा ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा में आहार आदि करते समय उसकी निंदा स्तुति नहीं करना इनकी शुद्धि और नियम की सुरक्षा का ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि पदार्थों को देखने, ग्रहण करने एवं उपभोग करने में शास्त्रीय विधि के अनुसार निर्दोषता का विचार करके सम्यक् प्रवृत्ति करना ही एषणासमिति है।
४. आदानभाण्डमात्र निक्षेपणा समिति - वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि जितने उपकरण हैं, उन्हें विवेकपूर्वक ग्रहण करना और जीवरहित प्रमार्जित भूमि पर रखना आदान भाण्डमात्र निक्षेपणा समिति है।
५. उच्चार-प्रस्रवण-श्लेष-सिंघाण-जल्ल परिष्ठापनिका समिति - मलमूत्र आदि पदार्थ, जो परिष्ठापन-प्रतिस्थापन के योग्य हों उन्हें, अथवा भग्नपात्र आदि को जीव रहित एकांत भूमि में परठना चाहिए।

गुप्ति - गुप्ति का शाब्दिक अर्थ है- रक्षा। मन, वचन और काया की अशुभप्रवृत्तियों से रक्षा करके शुभ प्रवृत्ति में जोड़ना गुप्ति है। गुप्ति तीन प्रकार की कही गई है-

१. मनोगुप्ति :- उत्तराध्ययन में कहा गया है कि संरम्भ, समारंभ और आरंभ में प्रवृत्त होते हुए मन को प्रयत्नपूर्वक रोकना ही मनोगुप्ति है।^{५०३}

मनोगुप्ति चार प्रकार की कही गई है- १. सत्य मनोगुप्ति २. असत्य मनोगुप्ति ३. सत्यमृषा मनोगुप्ति ४. असत्यामृषा मनोगुप्ति।^{५०४}

५०३. उत्तराध्ययन - २४/२१

५०४. उत्तराध्ययन - अ. २४/२१

२. वचनगुप्ति - संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवृत्त होते हुए वचन को यतनापूर्वक निवृत्त करना वचनगुप्ति है, अथवा जिस भाषण में प्रवृत्ति करने वाला आत्मा अशुभकार्य का विस्तार करती है, ऐसे वचनों का प्रयोग नहीं करना वाक्गुप्ति है, अथवा सम्पूर्ण प्रकार के वचनों का त्याग करना वचनगुप्ति है।^{५०५} वचनगुप्ति भी मनोगुप्ति की तरह ही चार प्रकार की होती है।^{५०६}
३. कायगुप्ति - शारीरिक क्रिया सम्बन्धी संरम्भ, समारम्भ और आरंभ में प्रवृत्ति नहीं करना, उठने-बैठने, चलने-सोने आदि में संयम रखना, अशुभ व्यापारों का परित्याग करना, यतना पूर्वक सत्प्रवृत्ति करना कायगुप्ति है।^{५०७}

समिति का प्रयोजन चरित्र में प्रवृत्ति करना और गुप्ति का प्रयोजन अशुभ प्रवृत्तियों में योगो का निरोध करना है।

उ. यशोविजयजी कहते हैं- “यदि अस्थिरतारूपी अंदर के महाशल्य को दूर न किया जाए तो क्रियारूप औषधि लाभ नहीं करती है, तो इसमें क्रिया का कोई दोष नहीं है।”^{५०८}

अतः पहले गुप्तियों द्वारा मन-वचन काया पर नियंत्रण करना आवश्यक है। अब संक्षिप्त में दस सामाचारी को प्रस्तुत किया जा रहा है-

सामाचारी :

सामाचारी साधु-जीवन में छोटे-बड़े नवदीक्षित, स्थविर, गुरु-शिष्य आदि के पारस्परिक व्यवहारों और कर्तव्यों की आचारसंहिता है। साथ ही साधु को आत्मलक्ष्यी बनाने हेतु भी यह सामाचारी है, अर्थात् दिन या रात में किस समय कौन-सी सत्क्रिया की जाए। सामाचारी का वर्णन भगवती^{५०९}, स्थानांग^{५१०},

^{५०५} उत्तराध्ययन - अ. २४/२०

^{५०६} उत्तराध्ययन - अ. २४/२२

^{५०७} उत्तराध्ययन - अ. २४/२४-२५

^{५०८} अन्तर्गत महाशल्य -मर्थैर्यं यदि नोद्घृतम॥

क्रियौषधस्य को दोष स्तक्ष गुणमयच्छतः॥४॥ -स्थिरता -३, ज्ञानसार, उ. यशोविजयजी

^{५०९} भगवती २५, ७

^{५१०} स्थानांग १०, सूत्र ७४६

उत्तराध्ययन^{१११} आदि आगमों में मिलता है। उत्तराध्ययनसूत्र में दसविध सामाचारी का वर्णन है^{११२} -

१. आवश्यकी या आवश्यक सामाचारी - आवश्यक कार्य के लिए बाहर जाने की सूचना देने सम्बन्धी आवश्यक सामाचारी है। बाहर जाते समय 'आवश्यक', अर्थात् 'आवश्यक कार्य से बाहर जा रहा हूँ'- का उच्चारण करें।
२. नैषेधिकी - बाहर के कार्य से निवृत्त होकर धर्मस्थान में प्रवेश करने की सूचिका रूप यह सामाचारी है। प्रवेश करते समय "नैषेधिकी" का उच्चारण करना चाहिए, अर्थात् अब मुझे बाहर जाने का निषेध है।
३. आपृच्छना - किसी भी कार्य को करने के पहले गुरुजनों से पूछना।
४. प्रतिपृच्छना - किसी विशिष्ट कार्य के लिए गुरुजनों से बार-बार पूछना।
५. छन्दना - लाए हुए आहार आदि के लिए अन्य साधुओं को निमंत्रित करना।
६. इच्छाकार सामाचारी - दूसरे साधुओं की इच्छा जानना और तदनु रूप परिचर्या करना।
७. मिच्छाकार - स्खलना होने पर साधु को तुरंत उस भूल के लिए 'मिच्छामि दुक्कड़' कहना मिच्छाकार सामाचारी है।
८. तथाकार - गुरु-आज्ञा का समर्थन और स्वीकार करना तथाकार सामाचारी है।
९. अभ्युत्थान - गुरुजनों को आते देखकर उठकर सामने जाना अभ्युत्थान सामाचारी है।

^{१११}. उत्तराध्ययन - १६ वाँ

^{११२}. उत्तराध्ययन - अ. २६/ २, ३, ४

१०. उपसंपदा - गुरुजनों की आज्ञा से ज्ञानादि की प्राप्ति के लिए अन्य गच्छ के आचार्य के पास जाना दसवीं उपसंपदा सामाचारी है।

सामाचारी का पालन साधक के लिए आवश्यक है। इससे साधक के जीवन में दुर्गुण नष्ट होते हैं और सद्गुण प्रकट होते हैं।

उ. यशोविजयजी कहते हैं- “जब तक शिक्षा के सम्यक् परिणाम से आत्मस्वरूप के बोध द्वारा स्वयं का गुरुत्व प्रकट नहीं होता तब तक उत्तम गुरु का सेवन करना चाहिए।”^{५१३}

बारह भावनाएँ

बारह भावनाओं के अनुप्रेक्षा भी कहते हैं। ये भावनाएँ ध्यान की पूर्वगामिनी और ध्यान में स्थिरता प्रदान करने वाली हैं। यह मन बहुत चंचल है। हमेशा एक ही प्रकार के ध्यान में स्थिर नहीं रह सकता है। उ. यशोविजयजी ने अध्यात्मसार के ध्यानाधिकार में कहा है- “ध्यान से जब निवृत्त हो, तब भी अभ्रान्त आत्मा को हमेशा अनित्य आदि अनुप्रेक्षाओं का चिंतन करना चाहिए, क्योंकि ये भावनाएँ ध्यान की प्राणरूप हैं।”^{५१४}

बारह भावनाएँ निम्नांकित हैं-

१. अनित्यभावना - सांसारिक सभी संबंध अनित्य हैं। इन्द्रियजन्य विषयसुख क्षणविनाशी हैं और आयुष्य अति चंचल है। जितने भी संयोग हैं, उनका वियोग निश्चित है। उपाध्याय यशोविजयजी कहते हैं- “माता-पिता आदि का सम्बन्ध अनित्य है, फिर भी ममत्व में अंधा भ्रमित व्यक्ति उन्हें नित्य मानता है। मनुष्य जिस धरती पर खड़ा है, वह धरती स्थिर और दृढ़ है, किंतु जब उसे

^{५१३}. गुरुत्वं स्वस्य नोदेति शिक्षासात्म्येन यावता ।
आत्मतत्त्वप्रकाशेन, तावत् सेव्यो गुरुत्तमः ॥५॥ -त्यागाष्टक -८, ज्ञानसार, उ.
यशोविजयजी

^{५१४}. अनित्यत्वाद्यनुप्रेक्षा ध्यानस्योपरमेऽपि हि । भावयेन्नित्यमभ्रान्तः प्राणा ध्यानस्य ताःखलु
११०॥

-ध्यानाधिकार -अ. सार- उ. यशोविजयजी

चक्कर आए, तो धरती घूमती हुई लगती है; उसी प्रकार अनित्य संबंध में मनुष्य को नित्यता का आभास होता है।”^{५१८} भरत चक्रवर्ती ने इस भावना को भाते-भाते केवलज्ञान पाया।

२. अशरणभावना - पुद्गल के संबंध संकट हरने वाले या शरण देने वाले नहीं हैं। उ. यशोविजयजी शांतसुधारस में अशरणभावना का वर्णन करते हुए कहते हैं- “अपने अतुल बल से पूरी पृथ्वी पर विजय पाने वाले सम्राट चक्रवर्ती, और सदा सुख में लीन रहने वाले देव देवेन्द्रों के ऊपर जब यमराज आक्रमण करता है तब वे ही सम्राट चक्रवर्ती देव-देवेन्द्र दीन-हीन बनकर अशरण हो जाते हैं।”^{५१६} प्यार भरी माता पास में खड़ी हो, वात्यल्य भरे पिता पास में खड़े हो प्रेमपूर्ण पत्नी पास में हों, अनेक स्वजन-मित्र खड़े हों, धन-दौलत, करोड़ों की सम्पत्ति, महल आदि सब पड़े रह जाते हैं, सब देखते रह जाते हैं और यमराज जीव को उठाकर ले जाता है। यही सबसे बड़ी अशरणता है। अनाथी मुनि को यही भावना भाते-भाते वैराग्य उत्पन्न होता है।

३. संसारभावना - इस भावना में चार गति रूप संसार और भवभ्रमण का विचार किया जाता है उ. यशोविजयजी कहते हैं कि “यह संसार कारागृह है। इसमें प्रिया का स्नेह बेड़ी के समान है। पुत्रादि स्वजन परिवार सिपाहि जैसे है। धन नये बंधन की तरह है। अभिमान रूपी अशुचि से भरा हुआ यह स्थल है। अनेक प्रकार के दुःखों से यह भयंकर है। सभी लोग अपने-अपने स्वार्थ को साधने में हमेशा तत्पर रहते हैं। विद्वान पुरुष को संसार पर प्रीति हो ऐसा कोई भी स्थान नहीं है।”^{५१७}

^{५१८}. मातापित्रादिसंबंधोऽनियतोऽपि ममत्वतः। दृढभूमिभ्रमवतां नैयत्येनावभासते।।२०।।

-ममत्वत्यागाधिकार -अध्यात्मसार -उ. यशोविजयजी

^{५१६}. ये षट्खण्डमहीनतरसा निर्जित्य ब्रह्माजिरे, ये च स्वर्गभुजो भुजोर्जितमदा मेदुर्मुदा मेदुशः।

तेऽपि क्रूरकृतान्तवक्त्ररदनैर्निर्दल्यमाना हठा - दत्राणाः शरणाय हा दशदिशः

प्रेक्षन्त-दीनाननाः।।११।।

- अशरणभावना -शांतसुधारस -उ. विनयविजयजी

^{५१७}. प्रियास्नेहो यस्मिन्निगडसदृशो यमिकभटो -पमः स्वीयो वर्गो धनमभिनवं बंधनमिव।।

भदामेध्यापूर्ण व्यसनबिलससर्गविषमम्। भवकारगेहं तदिह न रातिः क्वापि विदुषाम्।।८।।

जनाः स्वार्थस्फालावनिशमवदाताशयभृतः।।१४।।

-भवस्वरूपचिंताधिकार -अध्यात्मसार - उ. यशोविजयजी

४. एकत्वभावना - अध्यात्मसार में उ. यशोविजयजी ने इस भावना का वर्णन करते हुए लिखा है- “जीव अकेला ही परभव में जाता है और अकेला ही उत्पन्न होता है, तो भी जीव ममता के आवेग में सभी के प्रति ममत्व की कल्पना करता है।”^{६१८} जीव कर्म भी अकेला ही बाँधता है और भोगता भी अकेला ही है। कोई सहभागी नहीं होता है। नमिराजा ने एकत्व भावना को भाते-भाते वैराग्य प्राप्त किया था।

५. अन्यत्वभावना - शरीर आदि सभी आत्मा से भिन्न हैं। उ. यशोविजयजी कहते हैं- तत्त्वदृष्टि से समग्र संसार का सूक्ष्म अवलोकन किया जाए तो पता चलेगा कि प्रत्येक आत्मा भिन्न-भिन्न है, पुद्गल भी भिन्न-भिन्न हैं और सभी संबंध शून्य हैं।^{६१९} मरुदेवा माता ने अन्यत्व भावना को भाते-भाते केवलज्ञान प्राप्त कर लिया था।

६. अशुचिभावना - शरीर अपवित्र पदार्थों से भरा हुआ है। इसके संपर्क से पवित्र वस्तु भी अपवित्र हो जाती है। लहसुन, कर्पूर, बरास आदि सुगंधित पदार्थों से वासित करने पर भी वह अपनी दुर्गंध नहीं छोड़ती है; उसी प्रकार शरीर भी अपनी स्वाभाविक दुर्गन्ध नहीं छोड़ता है। इस प्रकार शरीर की अपवित्रता का चिंतन अशुचिभावना में किया जाता है।

७. आश्रवभावना - कर्मबंधन के स्थान, मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग आदि का तथा उनकी प्रणालिका के संबंध में विचार करना आश्रव भावना है।

८. संवरभावना - आते हुए कर्मों पर रोक लगाने वाले मार्गों की विचारणा संवर भावना में की जाती है।

९. निर्जराभावना - बाँधे हुए कर्मों को भोगे बिना ही नष्ट करने के तप आदि मार्गों का चिंतन निर्जरा भावना में किया जाता है।

१०. धर्मभावना - धर्म के स्वरूप का विशिष्ट चिंतन इस भावना में किया जाता है।

^{६१८}. एकः परभवेयाति जायते चैक एव हि। ममतोद्रेकतः सर्व संबंधं कल्पयत्यथ॥१५॥

-ममत्वत्यागाधिकार -अध्यात्मसार -उ. यशोविजयजी

^{६१९}. भिन्नाः प्रत्येकमात्मानो विभिन्नाः पुद्गला अपि।

शून्यः संसर्ग इत्येवं यः पश्चति स पश्चति॥२१॥

- ममत्वत्यागाधिकार

-अध्यात्मसार -उ. यशोविजयजी

११. लोस्वरूपभावना - चौदहराज लोक के स्वरूप का चिंतन इस भावना में किया जाता है।

१२. बोधिदुर्लभभावना :- धर्म की सामग्री, समकित की प्राप्ति आदि का प्राप्त होना बहुत कठिन है इस सम्बन्ध में चिंतन बोधिदुर्लभ भावना में किया जाता है। मैत्री प्रमोद कारुण्य और माध्यस्थ धर्मध्यान को पुष्ट करने वाली इन चारों भावनाओं का भी चिंतन करना चाहिए।

दसश्रमणधर्म :

जीवन के जितने भी निर्मल, दिव्य और भव्य बनाने के विधि-विधान हैं वे सब धर्म कहलाते हैं। श्रमणों के दसधर्मों का वर्णन आगमों में मिलता है। उ. यशोविजयजी के ग्रन्थों में भी दस धर्मों का स्वरूप अलग-अलग स्थानों पर मिलता है। समवायांग^{५२०}, स्थानांग^{५२१}, तत्त्वार्थसूत्र^{५२२}, आवश्यकचूर्णि आदि ग्रन्थों में दसविधयतिधर्म का वर्णन मिलता है। ये दस धर्म निम्न प्रकार से हैं-

१. क्षमाधर्म - क्रोध का निग्रह करना, क्रोध के निमित्त मिलने पर भी शांति रखना क्षमा है। क्षमा हृदय से उत्पन्न होती है, वह आत्मा का स्वभाव है। क्रोध बाहर से आता है, वह कर्म का स्वभाव है। उ. यशोविजयजी कहते हैं कि क्षमा के बिना किए गए तप जप आदि की समाप्ति केवल यश के उपार्जन में हो जाती है। क्षमा के अभाव में जीव कामधेनु चिंतामणिरत्न और कामकुंभ के समान अमूल्य क्रियाओं को काणी-कौड़ी के मूल्य वाला बना देता है।^{५२३} अतः क्षमास्वपी कवच को साधु को हमेशा धारण करके रखना चाहिए।
२. मार्दव - मान का निग्रह, मुनि जातिमद, कुलमद, ऐश्वर्यमद, तपमद, बलमद, बुद्धिमद, लाभमद, श्रुतमद, आदि आठ प्रकार के

५२०. समवायांग सम. १०

५२१. तत्त्वार्थसूत्र ६/६

५२२. उत्तमा खमा मद्दवं, अज्जवं मुत्ती, सोयं, सत्त्वो, संजमो, तवो अकिंचणत्तणं बंधचेरेमिति ।
-आवश्यकचूर्णि

५२३. साम्यं विना यस्य तपः क्रियादेर्निष्ठा प्रतिष्ठार्जनमात्र एव ।

स्वर्धेनुचिन्तामणिकामकुम्भान् करोत्यसौ काणकपर्दमूल्यान् ॥११३॥ -अध्यात्मोपनिषद - उ.
यशोविजयजी

मर्दों का त्याग करता है। उ. यशोविजयजी कहते हैं- ज्ञानगर्भित वैराग्य वाला जीव आठ प्रकार के मर्दों का मर्दन कर देता है।^{६२४} बाहुबलि को केवलज्ञान में मद ही बाधक बना था।

३. आर्जव - आर्जव, अर्थात् मन वचन-काया की सरलता। उ. यशोविजयजी ने सरलता की महत्ता प्रतिपादित करने के लिए 'दंभत्याग' नामक एक पूरा अधिकार अध्यात्मसार में दिया है। उ. यशोविजयजी कहते हैं- "कोई भी क्रिया 'दंभरहित होकर करना' क्योंकि यह भगवान् की आज्ञा है, इसलिए अध्यात्मरसिक साधु को अल्प दंभ करना भी उचित नहीं है। वाहण (नाव) में छोटा भी छिद्र हो, तो वह समुद्र को पार नहीं कर सकता है।"^{६२५} दंभ का थोड़ा सा अंश मल्लिनाथ आदि के स्त्रीवेद के बंध का कारण हुआ। इसलिए साधुओं को दंभ का त्याग करके सरल बनने का प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि धर्म शुद्ध और सरल हृदय में ही टीक सकता है।
४. मुक्ति - लोभ का निग्रह करना मुक्ति है। इसमें जीवन लोभ आरोग्य लोभ, इन्द्रिय लोभ और उपभोग लोभ ये चार प्रकार के हैं।^{६२६} मुक्ति के लिए निर्लोभता और शौच शब्द का भी प्रयोग हुआ है, आचार्य जिनदास^{६२७} ने शौच का अर्थ धर्मोपकरण में भी अनासक्त भाव किया है।
५. सत्य - जिस पदार्थ की जिस रूप में सत्ता है, उस पदार्थ को उसी रूप में जानना सम्यग्ज्ञान है और उसी रूप में बोलना सत्यवचन है।

^{६२४} मदसंमर्दमर्दनम्

^{६२५} कार्ये भाव्यमदंभेनेत्येषाज्ञा पारमेश्वरी ॥२०॥ -अध्यात्मरतचित्तानां दंभः स्वल्पोऽपि नोचितः। छिद्रलेशोऽपि पोतस्य सिंधु लंघयतामिव ॥२१॥ -अ. सार. उ. यशोविजयजी

^{६२६} परिभोगोपभोगत्वं जीवितेन्द्रियभेदतः

चतुर्विधस्य लोभस्य निवृत्तिः शौचमुच्यते ॥- तत्त्वार्थसार-आचार्य अमृतचन्द्र

^{६२७} सोयं अलुद्धा धम्मोवगरणेसु वि ॥-आवश्यकचूर्णि -अ. जिनदास

६. **संयम** - संयम जीवन की अद्भुत कला है। देवता भी संयम के लिए तरसते हैं। आगमसाहित्य में सत्रह प्रकार के संयम का उल्लेख है। स्थानांग में मन संयम, वचनसंयम, कायसंयम, और उपकरणसंयम ये चार प्रकार के संयम हैं। कहीं पर संयम दो प्रकार के होते हैं- प्राणीसंयम और इन्द्रियसंयम। उ. यशोविजयजी कहते हैं- “यदि तू संसार से डरता है और मोक्षप्राप्ति की आकांक्षा रखता है, तो इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिए उग्र पराक्रम प्रकट करा।”^{५२८} अर्थात् इन्द्रियों पर संयम रख संयम मोक्ष का साधन है।
७. **तप** - बाह्य तथा आभ्यन्तर रूप से तप बारह प्रकार का होता है। तप निर्जरा का प्रमुख साधन है। इसका विस्तार से विश्लेषण आगे किया गया है।
८. **त्याग** - राग में दुःख है और त्याग में सुख है। उ. यशोविजयजी कहते हैं- “जिस प्रकार बादलरहित चन्द्रमा अपने तेज से स्वयं प्रकाशित होता है, उसी प्रकार अनंत गुणों से परिपूर्ण त्यागवंत साधु का स्वरूप स्वयं प्रकाशित होता है।”^{५२९} जितने भी मोक्ष के साधन हैं, उनमें त्याग को सर्वोत्तम साधन माना गया है। आचार्य अकलंक ने सचेतन और अचेतन परिग्रह की निवृत्ति को त्याग माना है।^{५३०}
९. **आकिंचन्य** - आभ्यन्तर और बाह्य परिग्रह का त्याग करके आत्मभाव में रमण करना आकिंचन्य है। आवश्यकचूर्णि में आकिंचनत्व का अर्थ अपने देह आदि में भी निर्ममत्व रखना किया गया है।
१०. **ब्रह्मचर्य** - पाँचों इन्द्रियों के विषयों का त्याग ब्रह्मचर्य है। उ. यशोविजयजी कहते हैं- “विवेकरूप हाथी को नष्ट करने में सिंह के समान और समाधिरूप धन को लूटने वाली दुष्ट इन्द्रियों से जो

^{५२८}. विभेषि यदि संसारान्मोक्षप्राप्तिं च काङ्क्षसि ।

तदेन्द्रियजयं कर्तुं स्फोरय स्फारपौरुषम ॥१॥ -इन्द्रियजयाष्टक-ज्ञानसार -उ. यशोविजयजी

^{५२९}. वस्तुवस्तु गुणैः पूर्णमनन्तेर्भासते स्वतः । रूपं त्यक्त्वात्मनः साधोर्निरभ्रस्य विधोरिव ॥८॥

^{५३०}. तत्त्वार्थराजवार्तिक अ. ६ सू. ६

पराजित नहीं होता है और जिसने इन इन्द्रियों पर विजय पा ली है, वही पुरुषों में उत्तम माना जाता है।”^{६३१}

इस प्रकार श्रमण के दस धर्म के उल्लेख के बाद अब बारह प्रकार के तप तथा बावीस परिग्रहों का उल्लेख किया जा रहा है।

बारह प्रकार के तप - तप आत्मशोधन की प्रक्रिया है। राग द्वेष से उपार्जित पापकर्मों को क्षय करने के लिए तप अमोघ साधन है। “तप कर्मों को नष्ट करता है। तप के दो भेद में से अन्तरंग तप ही इष्ट है बाह्य तप उसके सहायक अर्थात् उसकी वृद्धि करने वाले हैं।”^{६३२} यदि हम सभी तीर्थकरों के पूर्वभवों का अध्ययन करें, तो ज्ञात होगा कि सभी तीर्थकरों ने पूर्वभवों में तप की महान साधनाएँ की थी। उ. यशोविजयजी तपाष्टक में शुद्धतप की परिभाषा बताते हुए कहते हैं कि “जिसमें ब्रह्मचर्य है जिनपूजा है, कषायों का क्षय है तथा अनुबंधसहित जिनाज्ञा प्रवर्तमान है, वह तप शुद्ध कहलाता है।”^{६३३} तप के भेद बताते हुए अध्यात्मसार में वे कहते हैं कि “आत्मशक्ति का उत्थान करने वाला चित्तवृत्तियों को निरोध करने वाला शुद्ध ज्ञान युक्त ऐसा उत्तम तप बारह प्रकार का है।”^{६३४}

छ: बाह्यतप -

१. अनशन - चारों प्रकार के आहारों का थोड़े समय के लिए या कायम त्याग करना।
२. ऊनौदरिका (उणोदरी) - भूख से कुछ कम खाना।

^{६३१} विवेकद्विपहर्यक्षैः समाधिधनतस्करैः

इन्द्रियैर्न जितोऽसौ, धीराणां धुरि गण्यते ॥८॥-इन्द्रियजयाष्टक-७, ज्ञानसार, उ. यशोविजयजी

^{६३२} ज्ञानमेव बुधाः प्राहुः, कर्मणां तापनात्तपः। तदाभ्यन्तरमेवेष्टं, बाह्य तदुपबृंहकम् ॥१॥
-तपाष्टक - ज्ञानसार- उ. यशोविजयजी

^{६३३} यत्र ब्रह्मजिनार्चा च, कषायाणां तथा हतिः। सानुबन्धा जिनाज्ञा च तत्तपः
शुद्धिमिष्यते ॥६॥

- तपाष्टक -ज्ञानसार - उ. यशोविजयजी

^{६३४} सत्तपो द्वादशविधं शुद्धज्ञानसमन्वितम्। आत्मशक्तिसमुत्थानं चित्तवृत्तिनिरोधकृत् ॥१५६॥
- आत्मनिश्चय अधिकार १८, अध्यात्मसार, उ. यशोविजयजी

३. वृत्ति संक्षेप - खाने पीने की वस्तुओं की मात्रा को संक्षिप्त करना।
४. रसत्याग - घी, दूध आदि विकृतियों का त्याग करना।
५. कायक्लेश - सर्दी, गर्मी लोचादि शारीरिक कष्टों को सहन करना।
६. संलीनता (विविक्त शय्यासन) - अंगोपांग संकोचना, उन पर संयम रखना।

छः आभ्यन्तर तप -

१. प्रायश्चित्त - दोषों की गुरु के पास से आलोचना लेना।
२. विनय - ज्ञान-दर्शन चारित्र तथा गुणवान् आदि के प्रति भक्ति रखना।
३. वैयावृत्य - आचार्य, उपाध्याय वृद्ध ग्लान आदि की सेवा करना।
४. स्वाध्याय - ज्ञान प्राप्त करने के लिए पाँच प्रकार का स्वाध्याय करना।
५. ध्यान - आर्त तथा रोद्र ध्यान का त्याग करके धर्म तथा शुक्ल ध्यान ध्याना।
६. कायोत्सर्ग - शरीर आदि के प्रति ममत्व का त्याग।

परिषह :

मुनि को अपनी संयम साधना के पथ पर कदम बढ़ाते हुए विविध कष्ट सहन करने पड़ते हैं। स्वीकृत मार्ग से च्युत न होने के लिए और निर्जरा (कर्मक्षय) के लिए जो कुछ सहा जाता है, वह परिषह है। उ. यशोविजयजी कहते हैं- “जिस प्रकार धन के अभिलाषी के लिए सर्दी गर्मी आदि के कष्ट दुस्सह नहीं होते हैं, उसी प्रकार संसार से विरक्त तत्त्वज्ञान के अभिलाषी साधकों के लिए भी कोई कष्ट दुस्सह नहीं होता है।”^{६३५} परिषह सहन करने से अहिंसा आदि जो महाव्रत स्वीकार किए गए हैं, उन महाव्रतों की सुरक्षा होती है।

^{६३५} धनार्थिनां यथा नास्ति शीततापादि दुस्सहम्

तथा भवविरक्तां, तत्त्वज्ञानार्थिनामपि ॥३॥ -तपाष्टक -ज्ञानसार - उ. यशोविजयजी

उ. यशोविजयजी परिषहों के बीच भी साधु की निर्भयता और अडिगता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि “विष ही विष का तथा अग्नि ही अग्नि का औषध बनता है यह सत्य है। उसी प्रकार संसार से भयभीत बनी आत्मा को उपसर्ग प्राप्त होने पर भी कोई भय नहीं होता है।”^{५३६} वे हँसते हुए परिषहों को सहन करते हैं।

उत्तराध्ययन^{५३७}, समवायांग^{५३८} और तत्त्वार्थसूत्र^{५३९} में परिषह की संख्या बाईस मानी गई है।

१. क्षुधापरिषह २. पिपासा ३. शीत ४. ऊष्ण ५. दंशमशक ६. अचेल ७. अरति ८. स्त्री ९. चर्या १०. निषद्या ११. शय्या १२. आक्रोश १३. वध १४. याचना १५. अलाभ १६. रोग १७. तृणस्पर्श १८. मल १९. सत्कार-पुरस्कार २०. अज्ञान २१. अदर्शन (दर्शन) २२. प्रज्ञा परिषह

मुनि आत्मसाधना में जितनी भी बाधाएं उपस्थित हों, उन्हें मन में आर्तध्यान अथवा संक्लेशरूप परिणाम किये बिना समभावपूर्वक सहन करते हुए इन परिषहों पर विजय प्राप्त करता है।

क्रियायोग की उत्कृष्ट भूमि का पहुंचा हुआ साधक जीवन के अंतिम समय में संलेखना करता है। जीवन की अंतिम वेला में शरीर के प्रति अनासक्ति की यह साधना एक उत्कृष्ट साधना है। संलेखना मन की उच्चतम आध्यात्मिक दशा का सूचक है। संलेखना जीवनशुद्धि और मरणशुद्धि की एक प्रक्रिया है। इसे समाधिमरण भी कहते हैं।

इस प्रकार क्रियायोग की साधना सम्यक्त्व से प्रारम्भ होकर श्रावक की भूमिका तथा उसके बाद साधु की भूमिका निभाते हुए अन्त में समाधिमरण पर समाप्त होती है।

५३६. विषं विषस्य वन्हेहश्च वन्हिरेव यदौषधम्।

तत्सत्यं भवभीतानामुपसर्गेऽपि यन्न भीः।।१७।। -भवोद्वेग-२२, ज्ञानसार, उ. यशोविजयजी

५३७. उत्तराध्ययनसूत्र -दूसरा अध्ययन

५३८. समवायांग, समवाय -२२

५३९. तत्त्वार्थसूत्र, ६-६, उमास्वाति

सप्तम अध्याय साम्ययोग की साधना

१. साम्ययोग का स्वरूप -

साम्ययोग, अर्थात् समता की अनुभूति वह उत्कृष्ट भूमिका है, जो साधक का मोक्ष से योग करती है। चाहे शत्रु हो या मित्र, राजा हो या रंक, फूल हो या कांटे, सुगंध हो या दुर्गंध, सुन्दर हो या कुरूप; किसी भी पदार्थयुगल या व्यक्तियुगल द्वारा हमारे चित्त में आकर्षण, अर्थात् रागभाव तथा अनाकर्षण अर्थात् द्वेषभाव उत्पन्न न हो, यही समता की साधना है। उ. यशोविजयजी कहते हैं- “पदार्थों में प्रिय और अप्रिय की कल्पना नहीं करना व्यवहार से समता है। निश्चयदृष्टि से उनमें ममत्व का विसर्जन करने से चित्तवृत्ति में जो स्थिरता प्रकट होती है, उसे समता कहते हैं।”^{५४०} दुःख का मूल ममता है और सुख का मूल समता है।

आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में समता की महिमा दर्शाते हुए कहा है- “जिन कर्मों को करोड़ों जन्म तक तीव्र तपस्या करते हुए भी तोड़ नहीं सकते हैं, उन कर्मों को समता का अवलम्बन लेकर क्षणमात्र में नष्ट कर सकते हैं। समता से जो सुख मिलता है, वह अवर्णनीय है।”^{५४१} उ. यशोविजयजी ने भी साम्ययोग को मोक्ष का साक्षात् कारण बताते हुए कहा है- “यदि एक तरफ दान, तप, यम, नियम आदि को रखा जाए और दूसरी तरफ समता को रखा जाए, तो दोनों में समता का ही महत्त्व अधिक है। संसाररूपी सागर से पार पहुँचने के लिए मात्र

^{५४०}. प्रियाप्रियत्वयोर्यार्थे व्यवहारस्य कल्पना।

निश्चयात्तद्व्युदासेन स्तैमित्यं समतोच्यते ॥२॥ - समताधिकार, ६, अध्यात्मसार, उ. यशोविजयजी

^{५४१}. प्रणिहंति क्षणार्थेन साम्यमालम्ब्य कर्म तत्।

यन्न हन्यान्नरस्तीव्र -तपसा जन्मकोटिभिः ॥५१॥ -योगशास्त्र-चतुर्थप्रकाश-आचार्य हेमचन्द्र

समतारूपी नाव ही सहायक हो सकती है।”^{५४२} उ. यशोविजयजी ने यह बताया है कि मोक्षमार्ग की आराधना के लिए स्वरूपानुभवयुक्त समता की, अर्थात् साम्ययोग की अनिवार्यता सर्वाधिक है। समता के बिना भौतिक अभिलाषा से किए गए तप आदि कर्म की निर्जरा में सहायभूत नहीं होते हैं।

आ. उमास्वाति ने प्रशमरति^{५४३} में समतारूप सुख की चार महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ बताई हैं- १. समतारूपी सुख स्वाधीन है २. यह सुख प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है ३. इसे पैसे देकर खरीदना नहीं पड़ता है ४. यह सुख दुःख से रहित है और इससे अनंतसुख की प्राप्ति होती है। सांसारिक विषयसुख पराधीन होते हैं। उनसे वास्तविक सुख की प्राप्ति नहीं होती है, जबकि समतारूपी सुख तो स्वयं के अन्दर ही है, स्वाधीन है। यह सुख देवलोक के सुख की तरह या मोक्षसुख की तरह परोक्ष नहीं है। समतारूपी सुख का अनुभव अभी इस जन्म में प्रत्यक्ष कर सकते हैं। यह सुख दुःखमिश्रित नहीं है।

उ. यशोविजयजी पुनः कहते हैं- “मुक्ति का उपाय मात्र समता ही है। अन्य जो-जो क्रियाएँ बताई गई हैं, वे पुरुष के योग्यता- भेद के आधार पर समता की विशेष सिद्धि के लिए बताई गई हैं।”^{५४४} साम्ययोग के उत्कृष्ट साधक कुरगडू मुनि ने समता का अवलंबन लेकर संवत्सर के दिन भात खाते-खाते भी केवलज्ञान प्राप्त कर लिया, जबकि समता को साथे बिना उत्कृष्टतप आदि करते हुए अनेक साधक केवल्य को प्राप्त नहीं कर सके, यह समता की ही महिमा है।

उ. यशोविजयजी ने अध्यात्मोपनिषद् में साम्ययोग को सिद्ध करने वाले साधक की विशेषता बताते हुए कहा है- “साम्यभाव से युक्त ऐसे योगी कभी भी परिषहों से या उपसर्ग के योग से चलायमान नहीं होते हैं। पृथ्वी कभी भी पर्वतों

^{५४२} किं दानेन तपोर्धिवा यमैश्च नियमैश्च किम्
एकैव समता सेव्या तरिः संसारवारिधौ ॥१२॥ - समताधिकार, ६, अध्यात्मसार, उ.
यशोविजयजी

^{५४३} स्वर्गसुखानि परोक्षाप्यत्यन्तपरोक्षमेव मोक्षसुखम् ।
प्रत्यक्षं प्रशमसुखं न परवशं न व्ययप्राप्तम् ॥२३७॥ - प्रश्न ११, प्रशमरति, उमास्वाति ।

^{५४४} उपायः समतैवैका मुक्तेरन्यः क्रियाभरः ।
तत्तत्पुरुषभेदेन तस्या एव प्रसिद्धये ॥२७॥ -समताधिकार, ६, अध्यात्मसार, उ.
यशोविजयजी

द्वारा, अथवा समुद्र द्वारा अस्थिरता को प्राप्त नहीं करती है, क्योंकि वह अत्यन्त स्थिर है।”^{५४५}

धर्मदासगणि ने उपदेशमाला में साम्ययोगी मुनियों के लक्षण बताते हुए कहा है- “कोई मनुष्य मुनि के हाथ पर चंदन का विलेपन करे या कोई उनके हाथ की चमड़ी उतारे, कोई उसकी स्तुति करे या कोई निन्दा करे, किन्तु उत्तममुनि दोनों के प्रति समभाव वाले होते हैं। हर्ष और विषाद से अतीत- ऐसे निस्पृह योगी को ही साम्ययोगी कहते हैं।”^{५४६}

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ भगवान् की स्तुति करते हुए हेमचन्द्राचार्य ने सकलार्हत्स्रोत^{५४७} में कहा है कि एक तरफ कमठ भयंकर उपसर्ग कर रहा था, तो दूसरी तरफ धरणेन्द्र भगवान की सेवा कर रहा था, उनके उपसर्ग को दूर कर रहा था, किन्तु पार्श्वनाथ भगवान को न तो कमठ के प्रति द्वेष था और न धरणेन्द्र के प्रति राग था। उनके मन में दोनों के प्रति एक जैसा भाव था। दोनों के प्रति तुल्य मनोवृत्ति थी। यही साम्ययोग की पराकाष्ठा है। अध्यात्मतत्त्वालोक में भी कहा गया है- “समतारूपी सरोवर में निमग्न हुए साधकों के रागादि मल क्षीण हो जाते हैं। उन्हें अद्वितीय आनंद का अनुभव होता है।”^{५४८} उ. यशोविजयजी ने ज्ञानसार में साम्ययोग के अनूठे आनंद के विषय में कहा है- “शान्त रस रूप साम्ययोग के अद्वितीय रस के अनुभव से जो अतीन्द्रिय तृप्ति होती है, वह जिह्वेन्द्रिय द्वारा षट्स के भोजन से भी नहीं होती है।”^{५४९}

^{५४५} परीषहैश्च प्रबलोपसर्गयोगाच्चलत्येव न साम्ययुक्तः।

स्थैर्याद्विपर्यासमुपैति जातु क्षमा न शैलैर्न च सिन्धुनाथैः॥३१॥-अध्यात्मोपनिषद्, ४, उ. यशोविजयजी

^{५४६} जो चंदणेण बाहुं, आलिंपइ वासिणा वि तच्छेई

संथुणाइ जो अ निंदइ महरिसिणो तत्थ समभावा॥६२॥-उपदेशमाला-धर्मदासगणि

^{५४७} कमठे धरणेन्द्र च स्वोचितं कर्म कुर्वति।

प्रभुस्तुल्य मनोवृत्ति पार्श्वनाथ श्रीयेऽस्तु वः॥ -सकलार्हत्स्रोत्र -हेमचन्द्राचार्य

^{५४८} मनोविशुद्ध्यै समताऽजलम्ब्या निमज्जतां साम्यसरोवरै यत्।

रागादिकम्लानिपरिक्षयः स्याद् अमन्द आनन्द उपेयते च॥१३॥ -समता प्रकरण, ५, अध्यात्मतत्त्वालोक-न्यायविजयजी

^{५४९} या शान्तैकरसास्वादाद्भवेत् तृप्तिरतीन्द्रिया।

सा न जिह्वेन्द्रियद्वारा, षट्ससास्वादानादपि॥३॥- तृप्ति अष्टक १०, ज्ञानसार, उ. यशोविजयजी

इस प्रकार के साम्ययोग को प्राप्त करने वाले योगी के जीवन की विशेषता क्या होती है, अर्थात् साम्ययोग का अधिकारी कौन होता है? इसका उत्तर देते हुए उ. यशोविजयजी ने अध्यात्मोपनिषद् में लोकोत्तर साम्य को प्राप्त करने वाले अधिकारी की तीन विशेषताएँ बताई हैं-

१. “स्वगुणाभ्यासरतमति”- सर्वप्रथम वे आत्मिक गुणों के अभ्यास में अत्यंत जाग्रत रहते हैं।

२. परप्रवृत्ति में वे अंधे, गूंगे और बहरे के समान होते हैं, अर्थात् उनके पास पर की पंचायत करने का समय नहीं रहता है। वे पौद्गलिक प्रवृत्तियों में अंधे, गूंगे और बहरे होते हैं। नारदपरिव्राजक उपनिषद् में भी कहा गया है कि स्वयं की तरह सभी जीवों को देखते हुए अंधे की तरह, (राग-द्वेष से मुक्त रहते हुए) सभी कुछ सुनते हुए भी बहरे के समान, और शब्द-सामर्थ्य से युक्त होकर गूंगे के समान नहीं बोलने वाले योगी पृथ्वी पर विचरण करते हैं, उनको देखकर देवता भी नमन करते हैं।

३. “आत्मा के आनंद में रमने वाले”^{५५०} - इन तीन विशेषताओं से युक्त योगी लोकोत्तर साम्य को प्राप्त करते हैं।

उ. यशोविजयजी साम्ययोग की महत्ता प्रतिपादित करने के लिए भरत महाराजा का दृष्टान्त देते हुए कहते हैं- “समता का ही आश्रय लेकर भरत आदि ने मोक्ष को प्राप्त किया था। उन्होंने कोई भी कष्टरूप अनुष्ठान नहीं किया था।”^{५५१} मरुदेवी माता को भी समता की आराधना के प्रभाव से ही केवलज्ञान प्राप्त हुआ। उन्होंने कोई व्रत, संयम धारण नहीं किया था और न ही लोच, परिषह, विहार, तप आदि कष्ट सहन किए थे। साम्ययोग का आलंबन लेकर ही उन्होंने मंजिल प्राप्त की। तात्पर्य है कि मोक्षमार्ग में केवल ज्ञान की प्राप्ति के लिए साधने योग्य सर्वश्रेष्ठ वस्तु समता है। समतारूपी नींव मजबूत नहीं हो, तो बाकी की इमारत कच्ची रहती है, कभी भी गिर सकती है।

^{५५०}. आत्मप्रवृत्तावति जागरूकः परप्रवृत्तौ बधिरान्मूकः।

सदाचिदानन्दोपयोगी, लोकोत्तरं साम्यमुपैति योगी॥२॥ -अध्यात्मोपनिषद्, ४, उ.

यशोविजयजी

^{५५१}. आश्रितय समतामेकां निर्वृता भरतादयः।

न हि कष्टमनुष्ठानभ्रूतेषां तु किंचन॥१९६॥ - समताधिकार, ६, अध्यात्मसार, उ.

यशोविजयजी

प्रशमरस का वास्तविक दर्शन करने के लिए धनपाल के कथानक का श्लोक ही पर्याप्त है।

भोजराजा ने धनपाल पंडित को पूजा की सामग्री देकर परमात्मा की पूजा करने के लिए भेजा। धनपाल पूजा हेतु अनेक मन्दिरों में गए लेकिन बिना पूजा कर वापस बाहर आ गए। अन्त में वे वीतराग जिनेश्वर के मन्दिर में गए। वहाँ जिनेश्वर का प्रशमरस से युक्त स्वरूप देखकर भावविभोर हो गए और उनके मुख से सहज ही निम्न श्लोक निकला-

“प्रशमरसनिमग्नं दृष्टियुग्मप्रसन्नं,
वदनकमलमकूडः कामिनीसंगशून्यः।
करयुगमपि यत् ते शस्त्रसंबन्धवन्ध्यं,
तदसि जगति देवो वीतरागस्त्वमेव।।”

यह श्लोक साम्यरस में डूबे योगी के स्वरूप का कथन कर रहा है। हे वीतराग! आपकी मूर्ति साम्यरस में निमग्न है। आपकी दोनों आँखें प्रसन्न हैं। आपका अंक स्त्रीसंग के बिना का है। हाथ में कोई शस्त्र नहीं है। इसलिए तुम ही वास्तविक रूप में वीतराग हो।

इसमें खास ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस पौद्गलिक जगत् में कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसकी प्रशमसुख के साथ तुलना की जा सके।

परिशुद्ध साम्ययोग केवल अनुभवगम्य है। सैंकड़ों शास्त्र भी साम्ययोग को स्पष्टरूप से बताने में समर्थ नहीं हैं। सामर्थ्ययोग नाम का स्व-अनुभव ही समता के वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करा सकता है।

२. समत्व आत्मस्वभाव -

समत्व वास्तव में आत्मा का स्वभाव है। समत्व कहीं बाहर से नहीं आता है, आत्मा से ही प्रकट होता है। उ. यशोविजयजी ने अध्यात्मसार में समत्व को एक सुंदर उपमा देकर बताया है कि जैसे- “मल के दूर हो जाने पर स्फटिक में रहा हुआ निर्मलता का गुण स्वयं ही अपने-आप प्रकट हो जाता है, ठीक उसी तरह ममता का त्याग करते ही समत्व अपने आप आत्मा में से प्रकट हो जाता

है।”^{११२} उपाधि, अर्थात् मिट्टी आदि से युक्त खदान में से निकला गंदा पत्थर भी प्रयत्न से चमकदार हो जाता है, अथवा स्फटिक के पीछे लाल-काली कोई भी रंग की वस्तु रखी हो, तो स्फटिक उस रंग का लगता है, लेकिन वस्तु को हटा लेने पर स्फटिक निर्मल दिखाई देता है। उसकी यह निर्मलता कहीं बाहर से नहीं आई, उज्ज्वलता स्फटिक का स्वभाव ही है, उसी तरह जैसे ही आत्मा के राग-द्वेषरूपी मल दूर हो जाते हैं, वैसे ही उसमें समत्व प्रकट हो जाता है, क्योंकि ‘समत्व’ ‘रागद्वेष’ से अतीत अवस्था है। यह आत्मा का स्व-स्वभाव है। इसे हम एक उदाहरण द्वारा और अधिक स्पष्ट करने का प्रयास कर रहे हैं। जैसे- एक कमरे में सब लोग बैठे हुए हैं। लोगों के द्वारा जो कमरे में रिक्त स्थान है, वह भर गया है। वह रिक्त स्थान कहीं बाहर नहीं निकल गया है। अगर उस रिक्त स्थान को वापस उपलब्ध करना हो, तो उसे कहीं बाहर से लाना नहीं पड़ेगा। कमरे में बैठे व्यक्ति यदि बाहर हो जाएं, तो कमरा वापस रिक्त हो जाएगा। इसका आशय यह है कि रिक्त स्थान तो मौजूद है, लेकिन वह तो लोगों से दब गया है। उसी प्रकार समत्व आत्मा का स्वभाव है, वह हमेशा उपस्थित ही रहता है। कहीं बाहर से समत्व नहीं आता है। वह ममत्व के कारण दब गया है, प्रकट नहीं हो पा रहा है। ममत्व-भाव का विसर्जन होते ही समता उपलब्ध हो जाएगी।

भगवतीसूत्र में स्पष्ट रूप से बताया गया है कि आत्मा का स्वभाव समत्व है और उस समत्व को प्राप्त कर लेना ही जीवन का परम पुरुषार्थ है। नयचक्र में समता को शुद्धभाव, वीतरागता, चारित्रधर्म और स्वभाव की आराधना कहा गया है।^{११३} अतः चेतना या आत्मा समत्वरूप हैं, किंतु उसका यह समत्व राग-द्वेष की उपस्थिति से भंग हो जाता है। समत्व के बिना वीतराग नहीं है और वीतरागता के बिना समत्व नहीं है। आत्मा स्वभावतः वीतरागी ही है।

उ. यशोविजयजी ने गले में रहे हुए स्वर्ण-अलंकार का दृष्टान्त देकर यह बताया कि आत्मभ्रान्ति किस तरह दूर होती है। वे कहते हैं- “कोई मनुष्य अपने स्वर्ण के कीमती हार के खो जाने की चिंता से ग्रसित है और उसी समय उसे ध्यान में आया कि हार तो मेरे कंठ में ही है, वह स्वयं ही उसे हाथ लगाकर

^{११२} व्यक्तायां ममतायां च समता प्रथते स्वतः

स्फटिके गलितोषाधौ यथा निर्मलता गुणः ॥११॥ - समता अधिकार, ६, अध्यात्मसार, उ. यशोविजयजी

^{११३} नयचक्र वृहद् श्लो. ६४

अनुभव कर सकता है। उसके लिए दूसरे का सहयोग अपेक्षित नहीं है। हार स्वयं का ही है और स्वयं के पास ही है। उसी तरह समतारूपी आभूषण आत्मा का ही है, आत्मा के पास ही है। जीव राग-द्वेष के भ्रम में पड़ा हुआ उसे देख नहीं पाता है। जैसे ही राग-द्वेष कम होते हैं, वैसे ही समता प्रकट हो जाती है।”^{५५४}

इसके लिए किसी का सहारा नहीं लेना पड़ता है, क्योंकि यह आत्मा का स्वभाव है। समत्व ही आत्मस्वभाव है। एक प्राचीन लोकोक्ति है- ‘काँख में छोरो, गाम में ढिंढोरो’, अर्थात् स्वयं की वस्तु स्वयं के पास ही है, लेकिन उसकी खोज बाहर कर रहे हैं। कहीं से शांति मिल जाए, कहीं से सुख मिल जाए, समत्व की प्राप्ति हो जाए, परंतु यह असंभव है। जो वस्तु जहाँ है, वहीं से मिलेगी।

एक वृद्धा झोपड़ी के बाहर कुछ दूँड रही थी। एक युवती ने पूछा- “माँजी क्या दूँड रही हो?” वृद्धा ने कहा- “बेटी सुई दूँड रही हूँ।” युवती ने पूछा- “माँजी वह सुई गिर कहाँ गई थी?” तब वृद्धा ने कहा- “सूई तो झोपड़ी के अंदर गिरी थी।” युवती बोली- “सूई अंदर गिरी, तो उसे बाहर क्यों दूँड रही हो?” वृद्धा बोली- “बाहर प्रकाश है।” चाहे कितना भी प्रकाश हो, लेकिन जो वस्तु जहाँ नहीं है, वहाँ से कैसे मिलेगी?

चाहे भौतिक जगत् में कितनी ही चकाचौंध हो, पौद्गलिक सुख की सामग्री हो, लेकिन समत्व, शांति या अत्मिक-सुख को कितना भी बाहर खोजें, नहीं मिलेगा।

उ. यशोविजयजी कहते हैं- “जब जीव को यह आभास हो जाता है कि ‘स्वयं के प्रयोजन की सिद्धि स्वयं के अधीन है’, तब बाह्य पदार्थों के विषय में उठने वाले संकल्प-विकल्प समाप्त हो जाते हैं।”^{५५५} जब जीव को यह प्रतीति हो जाती है कि स्वयं का सुख स्वयं के स्वरूपानुभव में ही है, तब समत्वरूपी परम सुख की प्राप्ति के लिए बाह्य पदार्थों का आश्रय लेने की क्या आवश्यकता?

विभिन्न आचार्यों ने समत्व की परिभाषाएँ दी हैं, उन सबसे भी यही सिद्ध होता है कि समत्व आत्मस्वभाव है।

^{५५४}. लब्धे स्वभावे कंठस्थ स्वर्णन्यायाद् भ्रमक्षये।

रागद्वेषानुपस्थानात् समता स्यादनाहता।।७।।-समताधिकार, ६, अध्यात्मसार, उ.

यशोविजयजी

^{५५५}. स्वप्रयोजनसंसिद्धिः स्वायत्ता भासते यदा।

बहिर्षेषु संकल्पसमुत्थानं तदा हतम्।।६।।-समाधिकार, ६, अ. सार, उ. यशोविजयजी

सर्वप्रथम उ. यशोविजयजी द्वारा ज्ञानसार में दी गई समत्व की व्याख्या इस प्रकार है- “विकल्परूप विषयों से निवृत्त बनी निरन्तर आत्मा के शुद्ध स्वभाव का आलंबन जिसे है, ऐसा ज्ञान का परिणाम समभाव कहलाता है।”^{५५६} हेमचन्द्राचार्य ने योगशास्त्र में समत्व की परिभाषा देते हुए कहा- “सम, अर्थात् राग और द्वेष की वृत्तियों से रहित मनःस्थिति को प्राप्त करना ही समत्व है। यही समत्वयोग है। दूसरे शब्दों में क्रोधादि कषायों को शांत करना ही समत्वयोग है।”^{५५७} यह भी कहा गया है कि सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि रखना ही समत्वयोग है^{५५८} “सम का अर्थ है एकीभाव और अय का अर्थ है गमन है अर्थात् एकीभाव के द्वारा बहिर्मुखता का त्याग करके अन्तर्मुख होना। दूसरे शब्दों में आत्मा का स्व-स्वरूप में रमण करना या स्वभावदशा में स्थित होना ही समत्वयोग है।”^{५५९}

इस प्रकार जब हम इन विभिन्न परिभाषाओं का आकलन करते हैं, तो यही निष्कर्ष निकलता है कि समत्व आत्मा का स्वभाव है। उ. यशोविजयजी कहते हैं- “समता आत्मा का परम से परम निगूढ़ तत्त्व है। जो अध्यात्म मार्ग की ओर मुड़े है वे जीव प्रबल पुरुषार्थ के द्वारा समता को प्रकट कर सकते हैं।”^{५६०} संत आनंदधनजी ने एक पद में कहा है-

खग पद गगन मीन पद जल में, जो खोजे सो बौरा
चित्त पंकज खोजे सो चिह्ने रमता अंतर भमरा ॥४॥^{५६१}

- ^{५५६}. विकल्परूपविषयोत्तीर्णः स्वभावऽऽलम्बनः सदा।
ज्ञानस्य परिपाको यः स शमः परिकीर्तितः॥ -शमाष्टक ६, ज्ञानसार, उ. यशोविजयजी
- ^{५५७}. योगशास्त्र -४/४६- आचार्य हेमचन्द्र
- ^{५५८}. (अ) सामायिकसूत्र (अमरमुनि) पृ. २७-२८
(ब) विशेषावश्यकभाष्य -३४७७
- ^{५५९}. जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग २, पृ. ६-डॉ. सागरमल जैन
- ^{५६०}. परस्मात्परमेषा यन्निगूढं तत्त्वमात्मनः।
तदध्यात्मप्रसादेन कार्योऽस्यामेव निर्भरः॥२६॥ -समाधिकार, ६, अध्यात्मसार, उ. यशोविजयजी
- ^{५६१}. सत्ताईसवाँ पद -संत आनंदधनजी

मनुष्य और तिर्यन्ध जब भूमि पर चलते हैं, तो धूल में उनके पैरों के निशान बन जाते हैं। यह देखकर कोई व्यक्ति पक्षियों के पैरों के चिन्ह को आकाश में और मछली के पैरों के चिन्ह को पानी में खोजे, तो उसे मूर्ख कहते हैं। उसी तरह समत्व आत्मस्वभाव में रमण करने वाले साधक के आनंद को देखकर कोई व्यक्ति राग-द्वेष, मोह-माया के बीच में इस बाहरी जगत् में उस आनंद को प्राप्त करना चाहे, तो वह व्यक्ति मूर्ख ही सिद्ध होता है। समत्व, वीतरागता, आत्मस्वभाव, परमसुख-ये सभी लगभग एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं। इस समतारूप रस का अनुभव अन्तरात्मदशा में रमण करता हुआ योगी ही कर सकता है।

समत्व स्वभावदशा है। विभाव में दुःख है। स्वभाव में सुख है, अतः विभावदशा को त्यजकर स्वभाव में रमन करें- यही उ. यशोविजयजी की मूलदृष्टि है।

३. विषमता के कारण -

राग, द्वेष और कषाय

समत्व आत्मा का स्वभाव है, इसका वर्णन पूर्व में किया गया है। अब प्रश्न यह उठता है कि आत्मा का समत्व भंग कैसे होता है या आत्मा की विषमता का कारण क्या है? जब तक आत्मा की विषमता के कारणों को नहीं जानेंगे, तब तक उनका निराकरण भी सम्भव नहीं होगा और जब तक हम आत्मा के समत्व को विचलित करने वाले कारणों को दूर नहीं करेंगे, तब तक समत्व की साधना भी सम्भव नहीं होगी।

जैसे पानी का स्वभाव शीतल है, लेकिन वह अग्नि के संयोग से ऊष्ण हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव भी समत्व है, किंतु अनादिकाल से भाव कर्मरूप रागद्वेषादि से युक्त हैं, अतः बाह्य पदार्थों को निमित्त मिलने पर अपने समत्वरूपी स्वभाव से वह विचलित हो जाती है। मनुष्य अपनी इन्द्रियों के माध्यम से बाह्यपदार्थों के सम्पर्क में आता है। उसे कुछ पदार्थ अनुकूल और कुछ पदार्थ प्रतिकूल प्रतीत होते हैं। प्रायः साधारण व्यक्ति को अनुकूलता से राग और प्रतिकूलता से द्वेष उत्पन्न होता है और इन्हीं राग और द्वेष के कारण आत्मा का समत्व भंग होता है।

“मनोवैज्ञानिक दृष्टि से राग और द्वेष को मानसिक विकार माना गया है। जब तक शरीर और इन्द्रियाँ हैं, तब तक व्यक्ति बाह्यपदार्थों के सम्पर्क से

नहीं बच सकता है। बाह्यपदार्थों का सम्पर्क होने पर यह स्वाभाविक है कि उनमें से कुछ हमें अनुकूल और कुछ प्रतिकूल लगें, किन्तु अनुकूलता के प्रति राग और प्रतिकूलता के प्रति द्वेष के कारण ही व्यक्ति समत्व से विचलित होता है राग और द्वेष में भी मूल कारण राग ही है। जो हमारे राग का विषय है, उसकी प्राप्ति में बाधक तत्त्व द्वेष का कारण बनता है।”

जैसे किसी गुलाब के खिले हुए सुन्दर पुष्प को देखकर उस पर राग उत्पन्न हुआ। राग के उत्पन्न होने पर उसे तोड़ने की इच्छा हुई। पुष्प को तोड़ते हुए यदि कोई काँटा लग जाए, तो उससे द्वेष उत्पन्न हो जाता है, अतः जब तक राग की समाप्ति न हो, तब तक समत्व की प्राप्ति नहीं होती है। उ. यशोविजयजी कहते हैं- “यदि ममता जाग्रत हो, अन्दर विषयों के प्रति राग विद्यमान हो, तो विषयों का त्याग करने से क्या होगा ? मात्र केंचुली का त्याग करने से सर्प विषरहित नहीं होता है।”^{५६२} व्यक्ति के रोम-रोम में राग का विष व्याप्त है, ममता का जहर फैला हुआ है। राग निर्मूल हो जाए, तो विषय-भोग का त्याग सहज हो जाता है। उ. यशोविजयजी ने ज्ञानसार के शमाष्टक में राग को सर्प की उपमा देते हुए कहा है कि “सम के सुभाषितरूपी अमृत से जिसका मन रात-दिन सिंचित है, उसके चित्त में रागरूपी नाग का जहर नहीं फैल सकता।”^{५६३} जिस तरह एक म्यान में दो तलवार नहीं रह सकती, उस तरह जहाँ समत्व है, वहाँ ममत्व नहीं रह सकता है, अतः विषमता के प्रमुख कारण राग-द्वेष और कषाय हैं। जब व्यक्ति राग को अपने हृदय में स्थान देता है, तो वहाँ द्वेष भी आकर खड़ा हो जाता है, यह निश्चित है और इन दोनों के आश्रय से मन अतिशय पराक्रम दिखाता है। वह इष्टसंयोग और अनिष्टवियोग आदि के दुर्ध्यान में प्रवृत्त हो जाता है। इस तरह उसके मन का समत्व भंग हो जाता है।

ज्ञानार्णव में कहा गया है- “जिस पक्षी के पंख कट गए हैं, वह जिस प्रकार उपद्रव करने में असमर्थ हो जाता है, उसी प्रकार राग-द्वेषरूपी पंखों के कट जाने पर, उनके नष्ट हो जाने पर मनरूपी पक्षी भी उपद्रव करने के साथ ही

^{५६२} विषयैः किं परित्यक्तैर्जागर्ति ममता यदि ।

त्यागात्कंचुकमात्रस्य भुजंगो न हि निर्विषः ॥२॥ -ममत्व त्यागाधिकार-अध्यात्मसार, उ. यशोविजयजी

^{५६३} शमसूक्तसुधासिक्तं, येषां नक्तं, दिनं मनः ।

कदाऽपि ते न दहन्ते, रागोरगविषोर्भिभिः ॥७॥ -शमाष्टक, ६, ज्ञानसार, उ. यशोविजयजी

बाह्य पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि करके उनकी प्राप्ति व परिहार के लिए पापाचरण करने में असमर्थ हो जाता है।”^{५६४}

राग-द्वेष के नष्ट हो जाने पर साधक चाहे जंगल में हो या महल में विषयों के बीच हो या विषयों से दूर, निंदकों के बीच हो या प्रशंसकों के बीच-वह सदैव समतामृत का पान करता रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि कैसी भी परिस्थिति उसके समत्व को भंग नहीं कर सकती है, जबकि राग और द्वेष के होने पर व्यक्ति निमित्त पाते ही समत्व से विचलित हो जाता है, फिर चाहे, वह तपस्वी हो, ज्ञानी हो, या ध्यानी हो। जैसे स्कंधकसूरि के पाँच सौ शिष्यों ने राग-द्वेष के समाप्त होने पर तेल की घाणी में पिले जाने पर भी अपना समत्व भंग नहीं होने दिया और अन्त में मोक्ष को प्राप्त कर लिया, जबकि स्कंधकसूरि को सबसे छोटे शिष्य के प्रति राग जाग्रत हो गया और राग के आने पर द्वेष भी आकर खड़ा हो जाता है, अतः शिष्य के प्रति राग और पालक मंत्री के प्रति द्वेष होने से उनका समत्व भंग हो गया तथा वे आर्तध्यान में चले गए और अपना भवभ्रमण बढ़ा लिया।

ज्ञानार्णव में कहा गया है- “समत्व के बिना मूर्ख लोग तप करके अपना शरीर कृश बनाते हैं, लेकिन विद्वान लोग शरीर में विकार बनाने वाले मन की ही शक्ति को क्षीण करते हैं, मन को जीतते हैं, अर्थात् मन को राग-द्वेष से रहित बनाते हैं; जैसे-कुत्ता आदमी के फेंके हुए लकड़ी-पत्थर आदि हथियार को क्रोध से दंश देता है, लेकिन सिंह हथियार फेंकने वाले को ही मार डालता है, वह हथियार पर नहीं परंतु हथियार फेंकने वाले पर झपटता है।”

मन पर विजय पाने वाले स्थूलिभद्र षट्स भोजन करते हुए वेश्यालय में रहकर भी निष्कामी बने रहे। कोशा वेश्या ने उनके समत्व को भंग करने के लिए कई उपाय किए, लेकिन वह सफल नहीं हो सकी, जबकि सिंहगुफावासी साधु तपस्वी होते हुए भी कोशा वेश्या को देखते ही उस पर आसक्त हो गया। इससे स्पष्ट होता है कि राग और द्वेष ही व्यक्ति में विषमता को उत्पन्न करते हैं।

क्रोध, मान, माया और लोभ-ये चारों कषाय राग और द्वेष के ही पर्याय है। आ. उमास्वातिजी ने प्रशमरति में बताया है कि कषायों का मूल

^{५६४} मुखार्स्तपोभिः क्रशयन्ति देहं बुधा मनो देहविकारहेतुम्
श्वा क्षिप्तमस्त्रं ग्रसते उतिकोपात् क्षेत्रारमस्त्रस्य निहन्ति सिंहः॥१०॥

-रागादिनिवारणम् २१, ज्ञानार्णव, आ. शुभचन्द्र

ममकार और अहंकार- इन दो शब्दों में समावेश हो जाता है। राग-द्वेष उसी के पर्यायवाची नाम हैं। उ. यशोविजयजी ने ज्ञानसार में कहा है- “अहं ममेति मत्रोऽयं, मोहस्य जगदान्धकृत्”,^{५६५} में और मेरा- यह पूरे जगत् को अंधा बनाने वाला मंत्र है। अहंकार और ममकार- ये दोनों कषायों के उत्तेजक पदार्थ हैं। आ. उमास्वाति ने प्रशमरति में माया और लोभ नाम के कषाय को राग की संज्ञा दी तथा क्रोध और मान नामक कषाय को द्वेष की संज्ञा दी।^{५६६}

राग और द्वेष अनेक रूपों में हमारे सामने आते हैं और व्यक्ति को समत्व से विचलित कर देते हैं। प्रशमरति^{५६७} में राग के आठ पर्याय वर्णित हैं-

१. इच्छा - यह 'इष्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है- चाहना। जब तक इच्छाएं जाग्रत हैं, तब तक मन की चंचलता भी बनी रहती है। जहाँ इच्छानिरोध की बात आती है, वहाँ राग के क्षय होने की बात भी समझना चाहिए।
२. मूर्च्छा - बाह्य पदार्थों पर तीव्र आसक्ति, यह भी राग का ही पर्यायवाची शब्द है।
३. काम - प्रीति, अभिलाष, प्रियसंयोग की विशेष भावना।
४. स्नेह - व्यक्ति विशेष के प्रति अनुराग।
५. गृद्धता - अमर्यादित आकांक्षाएँ, विषयों में सघन लिप्सा।
६. ममत्व - वस्तु या व्यक्ति के प्रति मालिकी।
७. अभिनन्द - इष्टवस्तु के मिलने पर अति हर्ष।

^{५६५} ममकाराहवङ्गारावेषां मूलं पदद्वयं भवति ।

रागद्वेषावित्यापि तस्यैवान्यस्तु पर्यायः ॥३१॥-कषाय और विषय प्र. ३, प्रशमरति, उमास्वाति

^{५६६} माया लोभकषायश्चेत्येतद्रागसंज्ञितं द्वन्द्वम् ।

क्रोधो मानश्च पुनर्द्वेष इति समास निर्दिष्टः ॥३२॥-प्र. ३, प्रशमरति, उमास्वाति

^{५६७} इच्छा मूर्च्छा कामः स्नेहो गार्ध्यं ममत्वमभिनन्दः ।

अभिलाष इत्येनेकानि रागपर्यायवचनानि ॥१८॥- वैराग्य, प्र. २, प्रशमरति, उमास्वाति

८. अभिलाष - इष्टवस्तु की प्राप्ति के लिए मनोरथ करना।

ये सभी राग के ही पर्यायवाची नाम हैं, जिनकी उपस्थिति में समत्व नहीं टिक सकता है। प्रशमरति में राग की तरह द्वेष के भी आठ पर्याय शब्द बताए हैं। वे इस प्रकार हैं।^{५६८-}

१. ईर्ष्या - किसी भी व्यक्ति की प्रतिष्ठा, सम्पत्ति, सुख आदि देखकर ईर्ष्या करना तथा उनके नाश हेतु दुर्भावना रखना।
२. रोष - जब व्यक्ति के अभिमान को चोट लगती है, तब रोष का जन्म होता है। रोष या क्रोध उस माचिस की तीली के समान है, जो पहले स्वयं जलती है और फिर दूसरों को जलाती है उसी तरह क्रोधी व्यक्ति भी पहले स्वयं क्रोध की आग में जलता है, फिर दूसरों को नुकसान पहुँचाता है।
३. दोष - चित्तवृत्ति का दूषित होना
४. द्वेष - अनिष्ट संयोग के प्रति अन्तरंग में जो आक्रोश होता है, उसे द्वेष कहते हैं।
५. परिवाद - पर की निंदा करना, अन्य के दोषों को देखना।
६. मत्सर - अन्य की योग्यता को यथोचित सम्मान नहीं देना।
७. असूया - अन्य के गुणों को सहन नहीं करना।
८. बैर - क्रोध का अन्तरंग में अपना अट्टा जमाना, अर्थात् क्रोध का स्थायित्व बैर कहलाता है।

उपर्युक्त आठों द्वेष के पर्याय हैं।

इस तरह राग और द्वेष विविध रूपों में सामने आते हैं और साधक को विषमता की ओर ले जाते हैं। अतः ज्ञानरूपी शस्त्र के प्रहार से रागरूपी योद्धा का घात कर देना चाहिए तभी मोह का साम्राज्य समाप्त होगा और समत्व का साम्राज्य प्राप्त होगा। ज्ञानरूपी सूर्य के बिना रागरूपी नदी सूखने वाली नहीं है।

प्रवचनसार में राग दो प्रकार का बताया गया है-

^{५६८} ईर्ष्या रोषो दोषो द्वेषः परिवादमत्सरासूयाः।

वैरप्रचण्डनाद्या नैके द्वेषस्य पर्यायाः।।१९६।।- वैराग्य प्र. २, प्रशमरति, उमास्वाति

१. प्रशस्तराग और २. अप्रशस्तराग

मोक्ष की प्राप्ति हेतु शुद्धात्मस्वरूप की प्राप्ति हेतु तप, त्याग, ध्यान, प्रभुपूजा, व्रतपालन आदि शुभ क्रियाओं के प्रति जो रुचि होती है, वह शुभराग या प्रशस्तराग कहलाता है। तीर्थकरो की लोक मंगल की भावना परम करुणारूप है, रागरूप नहीं है। राग किसी पर होता है, यह व्यक्ति के सापेक्ष है, जबकि करुणा व्यक्तिनिरपेक्ष होती है, वह सभी पर होती है। जब करुणा का भाव व्यक्तिकेन्द्रित होता है, तो वह राग बन जाता है और जब वह व्यक्ति निरपेक्ष होता है, वह परम करुणा या सार्वजनिक प्रेम (Universal Love) बन जाता है, परंतु विश्वप्रेम, प्राणीमात्र पर प्रेम, कृपा, करुणा और उनको जन्ममरण से मुक्त करने की पवित्र भावना, उदात्त भावना समत्व को भंग नहीं करती है, क्योंकि इस भावना में शत्रु और मित्र की भेदरेखा नहीं है, सभी प्राणियों पर समभावना है, अतः यह परमकरुणा विषमता की ओर ले जाने वाली नहीं होती है।

पत्नी, पुत्र, परिवार, शरीर, सत्ता, सम्पत्ति, सौन्दर्य, इन्द्रिय-विषय, कषाय आदि में रमणता, तीव्र आसक्ति अप्रशस्तराग है और इसी अप्रशस्तराग के कारण व्यक्ति का समत्व भंग होता है।

विषमता को जन्म देने वाला राग ही द्वेष का भी मूल है तथा राग-द्वेष कषायों के मूल हैं। समवायांगसूत्र, विशेषावश्यकभाष्य आदि में कषाय के चार प्रकार बताए गए हैं-

१. क्रोध २. मान ३. माया ४. लोभ

“क्रोध एक ऐसा मनोविकार है, जिसके उत्पन्न होने पर शारीरिक, मानसिक सन्तुलन बिगड़ जाता है”, अर्थात् क्रोध शरीर और मन दोनों को विषमता की ओर ले जाता है। जैसे आँखें चौड़ी हो जाना, भृकुटी चढ़ाना, होंठ फड़फड़ाना, जिह्वा लड़खड़ाना आदि। मन की विषमता जब बाहर प्रकट होती है, तब शरीर भी विषम हो जाता है। आ. शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव में कहा है कि क्रोधरूपी अग्नि रत्नों के समूह से संचित भंडार को निश्चय से ही जला डालती है। चारित्र्य एवं ज्ञान से प्राप्त हुए समत्व को क्रोध भस्म कर डालता है, क्योंकि क्रोध में व्यक्ति विवेकहीन हो जाता है, फिर उसका समत्वभाव नहीं टिकता है। क्रोध के वशीभूत होकर द्वेपायनमुनि ने स्वर्गपुरी के समान द्वारिका नगरी को जला दिया। चंडकौशिकमुनि समत्व खोकर शिष्य पर क्रोधित हुए, उसे मारने के लिए दौड़े और स्वयं का ही घात हो गया। संत से सर्प के भव तक पहुँच गए।

गीता में श्रीकृष्ण ने काम, क्रोध तथा लोभ को आत्मा के मूल स्वभाव का नाश करने वाला नरक का द्वार बताया है। आत्मा को स्वभाव से विभाव की ओर ले जाने में, समत्व से विचलित करने में क्रोध प्रमुख भूमिका निभाता है। काल-मर्यादा की अपेक्षा से क्रोध चार प्रकार का होता है-

१. अनन्तानुबन्धीक्रोध - मिथ्यात्त्व अवस्था में शरीर में अहंबुद्धि होती है। पर पदार्थों पर ममत्व होता है। स्वजन, सम्पत्ति, पद, प्रतिष्ठा आदि में तीव्र आसक्ति होती है। आत्मतत्त्व की चर्चा अरुचिकर लगती है। अनन्तानुबन्धी क्रोध वर्षों नहीं मिटने वाली पर्वत की दरार के समान है। प्रथम कर्मग्रन्थ में इसका काल आजीवन बताया गया है। अनन्तानुबन्धी के क्षय, क्षयोपशम या उपशम होने पर रागद्वेष की निविड़ ग्रंथि का भेद हो जाता है।

२. अप्रत्याख्यानीक्रोध - यह क्रोध गीली मिट्टी के सूखने पर जो दरार हो जाती है, उसके समान है। यह लम्बे समय तक रहता है। प्रथम कर्मग्रन्थ में इसकी अवधि वर्ष भर की बताई है। सम्यग्दर्शन का सूर्य उदित होने पर आत्मतत्त्व का अज्ञान-अंधकार नष्ट हो जाता है। शरीर के प्रति ममत्व की बुद्धि समाप्त हो जाती है। आत्मतत्त्व का बोध होता है। ऐसी स्थिति में अन्याय के होने पर क्रोध का जन्म होता है। सम्यग्दृष्टि को भी देव-गुरु और धर्म के प्रति राग होता है, अतः देव, गुरु, धर्म का अपमान करने वाले के प्रति आवेश आता है। वस्तुपाल महामंत्री ने राजा के मामा द्वारा एक बालमुनि को धप्पड़ मारने पर उसका हाथ कटवा दिया था। धर्म की हानि होते देख व्यक्ति को जो समत्व भंग हो जाता है और क्रोध उत्पन्न होता है, वह उसके बंध का हेतु होता है।

३. प्रत्याख्यानीक्रोध - अप्रत्याख्यानकषाय के नष्ट होने पर व्यक्ति श्रावक-जीवन के बारह व्रत स्वीकार करता है। उसके व्रतपालन में जब कोई बाधक बनता है, तब उसका समत्व भंग होता है। भगवान् महावीर के श्रावक महाशतक जब पौषधशाला में ध्यानस्थ थे, उस समय उनकी पत्नी रेवती ने उनको विचलित करने का बहुत प्रयास किया। तब वे समत्व से विचलित हो गए और क्रोध पूर्वक बोल उठे- "रेवती ! तुम्हारा रूप का अभिमान अधिक दिन तक रहने वाला नहीं है। तुम केवल सात दिनों में ही इस देह का त्याग करके नरक में जाओगी।" यह प्रत्याख्यानी क्रोध बालूरेत में बनी रेखा के समान है। प्रथम कर्मग्रन्थ में इसका समय चार माह तक बताया गया है।

४. संज्वलनक्रोध - आत्मा में रमण करने वाले मुनि को अपने दोष कण्टक की तरह चुभते हैं। उन्हें अपने दोषों के प्रति ही रोष उत्पन्न होता है। श्रीमद्

राजचन्द्र ने अपूर्व अवसर में कहा है कि क्रोध के प्रति क्रोध हो, वह संज्वलनक्रोध है। जैसे-चंडकूद्राचार्य को अपने क्रोध के प्रति रोष उत्पन्न हुआ, वे अपनी भूल का प्रायश्चित्त करने लगे और उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। यह क्रोध पानी में खिंची हुई लंकीर के समान है। प्रथम कर्मग्रन्थ में संज्वलन कषाय की किसी एक प्रकृति के उदय का समय अधिक से अधिक पन्द्रह दिन का बताया है, किन्तु दिगम्बर-परम्परा में उसका उदयकाल अन्तर्मुहूर्त बताया है, लेकिन यह जघन्यकाल की अपेक्षा से भी हो सकता है।

मान -

मान, अर्थात् गर्व या अभिमान। यह भी अज्ञानता या अविवेक से उत्पन्न होता है। प्रशमरति में मान को द्वेष की पर्याय बताया है, किन्तु जब स्वयं के गुणों पर, या स्वयं की सत्ता या सम्पत्ति पर जो गर्व उत्पन्न होता है, उसे राग की पर्याय भी कह सकते हैं। क्रोध की तरह मान भी चार प्रकार का होता है-

१. अनंतानुबंधीमान - सम्यग्ज्ञान के अभाव में व्यक्ति परवस्तुओं को अपना मानकर उस पर गर्व करता रहता है। आ. शुभचंद्र ने ज्ञानार्णव में कहा है- “जिनकी बुद्धि कुल, जाति, प्रभुताबल आदि के गर्व से नष्ट हो गई है, वे अनुचित गर्व करके नीच गति में जाने योग्य कर्म का संचय करते हैं।” जैसे-नेपोलियन ने सत्ता, बुद्धिबल आदि के मद में ही यह वाक्य कहा था कि मेरे शब्दकोश में ‘असंभव’ शब्द नहीं है। इस प्रकार के मान में प्रायः विषमता की स्थिति ही बनी रहती है। प्रथम कर्मग्रन्थ में अनंतानुबंध मान को पत्थर के स्तम्भ की उपमा दी है।

२. अप्रत्याख्यानीमान - अत्रती सम्यग्दृष्टि जीव को अप्रत्याख्यानीमान का उदय रहता है। सम्यग्दृष्टि जीव को स्व-पर का भेदज्ञान होने के कारण परपदार्थों के स्वामित्व का गर्व समाप्त हो जाता है, किंतु उसमें स्वाभिमान विद्यमान रहता है। उनके स्वाभिमान पर चोट पहुँचती है, तो अप्रत्याख्यानी मान जाग्रत हो जाता है या देव-गुरु-धर्म के प्रति राग होने के कारण उनका गौरव होता है और उनका अपमान सहन नहीं होता है। जैन-धर्म के विद्वेषी राजा अजयपाल ने अपने कपर्द्धिमन्त्री को आदेश दिया- “अपने कपाल पर यह चन्दन का तिलक लगाना बंद करो”, किंतु परमात्मा की आज्ञा का पालन करने के प्रतीकरूप या जैनधर्म के गौरव के प्रतीकरूप तिलक को लगाना उसने बंद नहीं किया। तब राजा ने आदेश दिया- “या तो तिलक रहेगा या तुमा” पूरे राज्य में तिलक को नहीं लगाने की

राजा ने घोषणा करवा दी, तब इस जैनधर्म के गौरव-तिलक की रक्षा के लिए कितने ही युवक-युवतियों ने 'तिलक अमर रहे'- यह उद्घोष करते हुए स्वयं ही उबलते हुए तेल में कूदकर अपने प्राण न्यौछावर कर दिए।

३. **प्रत्याख्यानीमान** - प्रत्याख्यानीमान का उदय साधनापद्धति में विशिष्ट राग के कारण होता है। प्रथम कर्मग्रन्थ में इसे लकड़ी के स्तम्भ की उपमा दी गई है। मांडवगढ़ के महामंत्री पेथड़शाह को प्रभुपूजा के समय राजा भी जिनालय से बाहर नहीं बुला सकते थे। उन्होंने मन्त्रीपद ही इस शर्त के साथ स्वीकार किया था।

४. **संचलनमान** - संचलनमान तृण के समान अल्पकालीन होता है। अल्प कषाय भी विषमता की ओर ले जाती है। जब तक मान मौजूद रहा, तब तक बाहुबली साम्ययोग की पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सके।

माया -

माया, अर्थात् छल, कपट, दोहरा व्यक्तित्व, अन्दर कुछ और बाहर कुछ। माया कषाय कुटिलता का बोधक है। आ. हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में कहा है कि माया के द्वारा बगुले की तरह आचरण करने वाला और कुटिलता में निपुण पापी मनुष्य जगत् को ठगते हुए स्वयं ही ठगाता है।^{५६६} कहा भी गया है- "माया ठगनी ने ठगा, यह सारा संसार। जिसने माया को ठगा उसकी जयजयकार।"

अल्प माया भी विचारों में विकल्प उत्पन्न कर देती है और व्यक्ति को विषमता की खाई में गिरा देती है। ज्ञानार्णव माया को कल्याण का नाश करने वाली तथा सत्यरूपी सूर्य को अस्त करने में संध्या के समान बताया है। आचारांगसूत्र में कहा गया है- "कितनी भी साधना हो, किंतु माया को कृश नहीं किया हो, तो सम्पूर्ण साधना निरर्थक है, क्योंकि माया की उपस्थिति में समत्वभाव नहीं टिक सकता है।" लक्ष्मणा साध्वी ने माया करके प्रायश्चित्त लिया। प्रायश्चित्त पूर्ण करने के बाद भी वह अपने पाप के दाग को नहीं धो पाई और उसका अनंत संसार बढ़ गया। माया भी चार प्रकार की होती है-

अनन्तानुबंधीमाया - मिथ्यात्व के कारण कंचन, कामिनी और काया के प्रति तीव्र आसक्ति रहती है। इन्हें प्राप्त करने के लिए व्यक्ति कई प्रकार के छल-प्रपंच करता है। जैसे- धवलसेठ ने कंचन-कामिनी की प्राप्ति के लिए श्रीपाल

^{५६६}. कौटिल्यपटवः पापा मायया बकवृत्तयः।

भुवनं वंचयमाना वंचयते स्वमेव हि।।१६।। - योगशास्त्र, ४, -हेमचन्द्राचार्य

से मित्रता का व्यवहार करते हुए उसे विचित्र जलचरप्राणी को देखने के बहाने ले गया और श्रीपाल जैसे ही देखने के लिए झुका, तो उसे समुद्र में गिरा दिया। धवलसेठ की पूरी जिन्दगी विषमता में ही व्यतीत हुई और अंत में अपने ही हथियार से मरकर नरक में उत्पन्न हुआ। प्रथम कर्मग्रन्थ में इसे बांस की जड़ के समान बताया गया है।

अप्रत्याख्यानीमाया - सम्यक्त्व के प्राप्त होने पर भी अप्रत्याख्यानमाया रहती है। कभी-कभी अन्याय को समाप्त करने के लिए और न्याय की स्थापना करने के लिए माया का आश्रय लिया जाता है। जैसे गदायुद्ध में नाभि से नीचे प्रहार नहीं किया जाता है, लेकिन श्रीकृष्ण के इशारे से भीम ने दुर्योधन की जंघा पर कपट से प्रहार कर उसे मृत्यु की गोद में सुला दिया था।

प्रत्याख्यानीमाया - प्रत्याख्यानीमाया को प्रथम कर्मग्रन्थ में गोमूत्र की तरह वक्ररेखात्मक कहा गया है। यह अल्पकालिक होती है। व्यक्ति स्वयं धर्मार्राधना करते हुए अन्य को सन्मार्ग से जोड़ने के लिए या उन्मार्ग से हटाने के लिए भी कई बार माया का सहारा लेता है, जैसे- नास्तिक राजा परदेशी को सन्मार्ग पर लाने के लिए उसका मंत्री चित्त उन्हें नए खरीदे गए अश्व दिखाने के बहाने मृगवन की तरफ ले गया। वहाँ वह आचार्य केशी की तरफ आकर्षित हो गया। उसने आचार्य से सारी शंकाओं का समाधान करके बारह व्रत स्वीकार कर लिए।

सञ्चलनमाया - इस माया का स्वरूप छिलते हुए बांस की छाल जैसा सामान्य मुड़ा हुआ होता है। कभी-कभी धर्म की हानि, शासन-निंदा के भय से और साधना हेतु भी माया होती है। जैसे-शून्यगृह में ध्यानस्थ खड़े जैनसाधु को बदनाम करने के लिए राजा श्रेणिक ने एक वेश्या को उसमें प्रवेश करवाकर बाहर से ताला लगा दिया। जब मुनि को सारी स्थिति का पता चला, तब उन्होंने जिनशासन की निंदा न हो, इसलिए सारे जैनसाधु के चिन्हों को जलाकर नष्ट कर दिया और राख को शरीर पर लगा ली। जब राजा ने तमाशा देखने के लिए चेलणा सहित सारी नगरी को इकट्ठा करके वहाँ का ताला खुलवाया तब अन्दर से अलख निरंजन कहते हुए वैष्णव साधु और पीछे पीछे वेश्या बाहर आईं। इस प्रकार उन्होंने जिनशासन को निंदा से बचाया। यह घटना श्रेणिक को सम्यक्त्व प्राप्त होने के पहले की है।

लोभ -

लोभ को पाप का बाप कहा गया है। ज्ञानार्णव में कहा गया है- “आगम में नरक के कारणभूत जितने दोष कहे गए हैं, वे सब प्रायः विवेक से रहित होने के कारण प्राणियों के लोभ के निमित्त से ही उत्पन्न होते हैं। कितने ही दीन-हीन प्राणी निरन्तर लोभ कषाय के वशीभूत होकर अभीष्ट पदार्थों को प्राप्त करने की लालसा से परिश्रम करते हुए मृत्यु के मुख में चले जाते हैं और अपने जन्म को निष्फल करते हैं।”^{५७०} क्रोध मान और माया की तरह लोभ भी चार प्रकार का बताया गया है-

१. **अनन्तानुबन्धीलोभ** - अनन्तानुबन्धीलोभ आजीवन रहता है। प्रथम कर्म ग्रन्थ में इसे कीड़े के रक्त से बने रंग की उपमा दी है। व्यक्ति की शरीर, धन, परिवार, सत्ता आदि के प्रति गहरी आसक्ति होती है, तब वह जीने की आकांक्षा से, आरोग्य की वांछा से धन सत्ता आदि की प्राप्ति के लिए कितने ही पाप करता है। उत्तराध्ययन में कहा गया है कि “जहाँ लाहो तहाँ लोहो, लाहा लोहो पवड्ढइ।”^{५७१}

जितना लाभ होता है, उतना लोभ भी बढ़ता जाता है, जैसे- सुभूम चक्रवर्ती छः खण्ड जीतने के बाद भी उसकी लालसा समाप्त नहीं हुई। अन्य छः खण्ड जीतने के लिए लवणसमुद्र को पार करते हुए ही उसकी मृत्यु हो गई और मरकर वह सातवीं नरक में गया।

दशवैकालिकसूत्र^{५७२} में लोभ को सर्वविनाशक कहा गया है।

२. **अप्रत्याख्यानीलोभ** - अप्रत्याख्यानीलोभ गाढ़ी के पहिए में लगी हुई कीट की तरह दीर्घकालिक होता है। सम्यग्दृष्टि जीव की कामना रहती है कि सभी जीवों का कल्याण हो, वे धर्म से संलग्न हों। जैसे- “क्षायिक सम्यक्त्वी श्रीकृष्ण ने अपने राज्य में घोषणा की थी कि जो भी नगरवासी संयम ग्रहण करें, तो उसके

^{५७०}. ये कैचित्सिद्धान्ते दोषाः श्वघ्नस्य साधकाः प्रोक्ताः।

प्रभवन्ति निर्विचारं ते लोभादेव जन्तूनाम् ।।१०८।।

नयन्ति विफलं जन्म प्रयासैर्मुत्सुगोचरैः।

वराकाः प्राणिनो ऽजस्त्रं लोभादप्राप्तवान्छिताः।।१०५।। -अक्षविषयनिरोधः, १८, ज्ञानार्णव

^{५७१}. उत्तराध्ययनसूत्र ८/१७

^{५७२}. लोहो सब्बविणासणो ।।-दशवैकालिकसूत्र ८/३८

कुटुम्ब-पालन का उत्तरदायित्व मेरा है।^{५७३} वे स्वयं व्रतधारण नहीं कर सकते थे, किन्तु अन्य को इस हेतु प्रेरणा देते थे।

३. प्रत्याख्यानीलोभ - यह लोभ काजल जैसा अल्पकालिक होता है। साधनाक्षेत्र में तीव्रगति से आगे बढ़ने की भावना इस लोभ में होती है।

४. संज्वलनलोभ - इस लोभ को हल्दी की रंग क उपमा दी है, जो अल्पकाल ही रहता है। शीघ्रातिशीघ्र मुक्ति का आनंद मिले, यह संज्वलनलोभ है। जैसे-गजसुकुमाल ने दीक्षा अंगीकर करते ही प्रभु नेमीनाथ से सर्वप्रथम यह प्रश्न किया कि जल्दी से जल्दी मुक्ति कैसे प्राप्त हो?^{५७४}

अनंतानुबंधीकषाय सम्यग्दर्शन का विघातक है और अनंतसंसार का कारण रूप है। भावदीपिका में व्यावहारिक स्तर पर अनंतानुबंधकषाय का स्वरूप बताते हुए कहा है- क्रूर, हिंसक निम्नतम लोकाचार का उल्लंघन करने वाला, सत्यासत्य के विवेक से शून्य देव, गुरु, धर्म पर अश्रद्धा रखने वाला व्यक्ति अनंतानुबंधकषाययुक्त माना गया है। अनंतानुबंधीकषाय के उदय की अवस्था में मृत्यु होने पर नरकगति प्राप्त होती है। यह कषाय एक भव की अपेक्षा से आजीवन रहता है।

अप्रत्याख्यानीकषाय, अर्थात् “जो प्रत्याख्यान या व्रतग्रहण में बाधक बने।” इस कषाय के उदय होने पर व्यक्ति व्रत-नियम की उपयोगिता को समझते हुए भी आंशिक रूप से भी व्रत धारण नहीं कर सकता है। तत्त्व के सम्यक् स्वरूप को जानते हुए भी वह सत्य को आचरण में स्वीकार नहीं कर पाता है। अप्रत्याख्यानी स्तर के कषाय के उदय की अवस्था में मृत्यु होने पर व्यक्ति को तिर्यन्वगति की प्राप्ति होती है। यह कषाय अधिकतम वर्षभर रहता है। जैसे- श्रेणिक, श्रीकृष्ण आदि के व्रतग्रहण में प्रत्याख्यानीकषाय का उदय बाधक बना रहा है।

प्रत्याख्यानीकषाय के उदय में व्यक्ति अणुव्रत तो धारण कर सकता है, किन्तु सर्वविरति धारण करने में यह कषाय बाधक बनता है। यह कषाय विषय, कषाय, भोगोपभोग से पूर्णतः विरत नहीं होने देता है। इस कषाय की अधिकतम कालमर्यादा श्वेताम्बर-परम्परानुसार चार माह बताई गई है और दिगम्बर-

^{५७३}. कषाय - पृ. ४८

^{५७४}. कषाय - पृ. ४८

परम्परानुसार पन्द्रह दिन बताई गई है। प्रत्याख्याना स्तर के कषाय के उदय होने की अवस्था में मृत्यु होने पर व्यक्ति को मनुष्यगति प्राप्त होती है।

प्रत्याख्यानीकषाय का बल समाप्त होते ही सर्वविरति प्राप्त हो जाती है। व्यक्ति पापों से पूर्णतः विरत हो जाता है, किन्तु संज्वलनकषाय के उदय में रहने से वीतरागता की उपलब्धि नहीं होती है। यह कषाय वीतरागता में बाधक है।

भगवान् महावीर के प्रथम शिष्य गौतम गणधर को परमात्मा के प्रति राग होने के कारण चौदहपूर्वों के ज्ञाता, चारज्ञान के धारी होने पर भी वीतरागता प्रकट नहीं हुई। संज्वलन कषाय गौतमस्वामी जैसे ज्ञानी के लिए भी वीतरागता की प्राप्ति हेतु बाधक बन गया।

संज्वलन स्तर का कषाय होने पर व्यक्ति को देवगति प्राप्त होती है। इस कषाय का अधिकतम काल श्वेताम्बर-परम्परानुसार पन्द्रह दिन और दिगम्बर-परम्परानुसार अन्तर्मुहूर्त बताया गया है। इस प्रकार राग और द्वेष की अपेक्षा से कषाय दो प्रकार के होते हैं- रागरूप और द्वेषरूप। क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से कषाय के चार प्रकार भी होते हैं।

अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन के भेद से कषाय सोलह प्रकार के होते हैं। इन्हें परस्पर गुणा करने पर कषाय के चौंसठ भेद भी होते हैं। अध्यवसाय के आधार पर कषाय के असंख्य भेद भी संभव हैं।

इस प्रकार आत्मा को समत्व से विचलित करने में प्रमुख भूमिका राग, द्वेष और कषाय की होती है। मिथ्यात्व, अविरति भी इनके सहयोगी हैं। इन्हें भी विषमता का कारण माना जा सकता है।

ममता के विभिन्न रूप

ममता अनेक अनर्थों को उत्पन्न करती है। ममता ने अपना विस्तार सारे संसार में फैलाया है। छोटे बालक से लेकर वृद्ध व्यक्ति तक में 'मेरेपन' का भाव सतत चलता रहता है। यह मेरा शरीर, यह मेरा घर, यह मेरा धन, ये मेरे माता-पिता, यह मेरा परिवार, यह मेरी पत्नी, आदि कई रूपों में हम अपने ममत्व का आरोपण परपदार्थों पर करते हैं। यह ममत्वबुद्धि जैसे-जैसे कम होती जाती है, वैसे-वैसे वैराग्य का भाव दृढ़ होता जाता है। उ. यशोविजयजी ने अध्यात्मसार में

कहा है कि निर्मम पुरुषों का वैराग्य ही स्थिरता प्राप्त कर सकता है, इसलिए प्राज्ञ पुरुषों को अनेक अनर्थों को जन्म देने वाली ममता का त्याग कर देना चाहिए।^{५७५}

उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है-

ममत्तं छिन्दए ताए
महानागोव्व कंचुयं।।^{५७६}

जैसे सर्प प्रतिवर्ष शरीर पर स्थित केंचुली का त्याग करके अन्यत्र चला जाता है, केंचुली के प्रति उसके मन में थोड़ा भी ममत्व नहीं होता है, उसी प्रकार आत्मकल्याण की साधना करते हुए साधक भी घर, कुटुम्ब, कुल, वस्त्रालंकार आदि के प्रति ममत्व को त्याग कर संयम अंगीकार कर लेता है। संयम लेने के बाद भी अपने संयम के उपकरणों के प्रति या अपने व्रत, तप आदि के प्रति भी ममता जाग्रत हो सकती है, अतः सजगता आवश्यक है।

उ. यशोविजयजी कहते हैं- “मुनि कष्टों को सहन कर अनेक आत्मिक गुणों को प्रकट करता है, किन्तु ममत्त्वरूपी राक्षसी उन सब गुणों को एक झपाटे में भक्षण कर जाती है।”^{५७७} ममता का स्वरूप मायावी और कुटिल है। ममत्त्वरूपी बीज में से ही इस सब सांसारिक प्रपंच की कल्पना खड़ी होती है, फिर चाहे, वह प्रपंच वस्तुरूप हो या स्त्री, पुत्र आदि स्वजनरूप हो।

स्त्रीममत्व - ममत्व के विविध रूपों में भी स्त्री के प्रति मोह विशेष बलवान् होता है। स्त्री की देहरचना और स्त्री की प्रकृति में पुरुष को मोहांध बनाने की शक्ति रही हुई है। उ. यशोविजयजी कहते हैं कि ममता के वश हुआ पुरुष पत्नी को स्वयं से अभिन्न मानता है और अतिशय प्रेम के कारण स्वयं के प्राणों से भी बढ़कर उसे मानता है तथा आनंदित होता है।^{५७८} स्त्रियों के लिए संसार में कितने ही युद्ध लड़े गए। मल्लिकुंवरी से विवाह के लिए छः राजा एक

^{५७५} निर्ममस्यैव वैराग्यं स्थिरत्वमवगाहते।

परित्यजेत्ततः प्राज्ञो ममतामत्यनर्थदाम् ॥११॥ -ममत्वत्यागाधिकार, ८, अध्यात्मसार

^{५७६} उत्तराध्ययनसूत्र १६/८७

^{५७७} कष्टेन हि गुणग्रामं प्रगुणी कुरुते मुनिः

ममत्तराक्षसी सर्वं भक्षयत्येकहेलया ॥३॥ -ममत्वत्यागाधिकार, ८, अध्यात्मसार

^{५७८} प्राणानभिन्नाध्यानात् प्रेमभूम्ना ततोऽधिकाम्।

प्राणापहां प्रियां मत्वा मोदते ममतावशः ॥१३॥ -ममत्वत्यागाधिकार

साथ आए। मल्लिकुंदरी ने उन्हें प्रतिबोध देने के लिए स्वशरीर-प्रमाण एक पुतली बनवाई थी और उसमें उत्तम खाने के पदार्थ रोज डालती थी। उसके रूप पर मुग्ध हुए राजाओं के समक्ष जैसे ही पुतली के ढक्कन को खोला गया, चारों ओर दुर्गंध फैल गई। तब सभी को ख्याल आया कि शरीर मांस, रुधिर, मल, मूत्र आदि से भरा है, केवल इन अपवित्र पदार्थों के ऊपर चमड़ी चढ़ी हुई है, जिसे मोह में अंधा बना हुआ जीव देखता नहीं है। उ. यशोविजयजी ने ज्ञानसार में कहा है कि बाह्यदृष्टि से देखने पर स्त्री अमृतधार से युक्त सौन्दर्यवाली दिखाई देती है, किन्तु तत्त्वदृष्टि वाले को वही स्त्री प्रत्यक्षतः विष्टा और मूत्र के भण्डार के रूप में प्रतीत होती है।^{५९६} उपमितिभवप्रपंच कथा में सिद्धार्थि गणि ने अन्य सभी कर्मों में मोहनीयकर्म को राजा की उपमा दी है। ममत्व को जीतना बहुत कठिन है। सारी दुनिया को कंपाने वाला रावण सीता को प्राप्त करने के लिए उसका दास बनने के लिए तैयार हो गया और उसके लिए अपने प्राण तक दे दिए। इस प्रकार पुरुष पतंगे की तरह स्त्री के रूप पर मोहित होकर अपनी दुर्गति को आमंत्रित करता है। अध्यात्मकल्पद्रुम^{५९०} में स्त्री को भवसमुद्र में डूबते प्राणी के लिए गले में बंधे पत्थर की उपमा दी है। स्त्री के ममत्व में बंधने से अनंत संसार की वृद्धि हो जाती है। जिस प्रकार पुरुष भी बंधनरूप है, अतः एक-दूसरे के प्रति ममत्व का त्याग करके ही व्यक्ति समत्व के मार्ग में आगे बढ़ सकता है।

पुत्रममत्व - अध्यात्ममार्ग में आगे बढ़ते हुए जीव के लिए समता की आवश्यकता है और समता को प्राप्त करने के लिए ममत्व का त्याग प्रथम आवश्यकता है। स्त्री के बाद प्राणी के लिए पुत्र का ममत्व छोड़ना बहुत कठिन होता है। उ. यशोविजयजी ने अध्यात्मसार में कहा है कि माता-पिता पुत्र के ममत्व में इतने अंधे हो जाते हैं कि पुत्र को खिलाते समय स्वयं बालक बन जाते हैं। व्यक्ति बालक के श्लेष्म से भरी हुई अंगुली को भी अमृत के समान समझता

^{५९६}. बाह्यदृष्टेः सुधासारघटिता भाति सुन्दरी।

तत्त्वदृष्टेस्तु सा साक्षाद्विष्णुमूत्रपिठरोदरी ॥४॥ -तत्त्वदृष्टि, १६, ज्ञानसार, उ.

यशोविजयजी

^{५९०}. किं न वेत्सि पतता भववाद्धीं, तां नृणां खलु शिलां गलबद्धाः ॥११॥

-स्त्रीममत्त्वमौघनाधिकार, २, अध्यात्मकल्पद्रुम

है। माता धूल से भरे हुए एवं विष्ठा से युक्त पुत्र को भी गोदी में ले लेती है।^{५८१} अध्यात्मकल्पद्रुम में कहा गया है- “पुत्र-पुत्रियों को देखकर हर्ष से पागल मत बन, क्योंकि मोहराजा नाम के तेरे शत्रु ने नरकरूप जेल में डालने की इच्छा से पुत्र-पुत्री रूप लोहे की बेड़ी द्वारा मजबूत बांध दिया है।”^{५८२} यही बात वैराग्यशतक में भी कहीं गई है- “जीव! तू पुत्र-स्त्री आदि मेरे सुख के कारण है, ऐसा तू मत मान, क्योंकि संसार में भ्रमण करते हुए जीव को पुत्र और स्त्री उल्टे दृढ़बंधनरूप हैं।”^{५८३} पुत्रबंधन से सारी स्वतंत्रता नष्ट हो जाती है। आर्द्रकुमार वापस दीक्षा लेने के लिए तैयार हुए, किन्तु उनके छोटे से पुत्र ने सूत के धागे पैरों पर लपेट दिए। दर्शनमात्र से हाथी की सांकल तोड़ने वाले आर्द्रकुमार पुत्र के मोहवश कच्चे धागों का बंधन नहीं तोड़ सके और पुनः बारह वर्ष तक गृहस्थजीवन में रहे। संसार त्याग करने वाले के लिए स्त्री-पुत्र कितने बंधनरूप होते हैं, यह सब जानते हैं। इसके अलावा पुत्रादि भी व्यक्ति का दुःखों से रक्षण करने में समर्थ नहीं हैं। उसके उपकार का बदला वे चुकाएंगे, इसमें भी संदेह रहता है, क्योंकि कई पुत्र पिता के पहले ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं, कई पुत्र कुपुत्र निकलते हैं, जो माता-पिता की समाधि (चित्तशांति) को पूरी तरह भंग कर देते हैं। पुत्र कौणिक ने श्रेणिक की कैसी दुर्दशा की, यह बात इतिहास प्रसिद्ध है। बुढ़ापे में पुत्र घर में माता-पिता को रखना नहीं चाहते, इसलिए आज कई जगह वृद्धाश्रम खुल गए हैं। इस जीव ने स्त्री, पति, पुत्र, माता, पिता आदि के संबंध कई जीवों के साथ अनंत बार किए हैं। इस प्रकार विचार करके परपदार्थों के प्रति ममत्व का त्याग करके आत्मसाधना करते हुए समत्वयोग को प्राप्त कर सकते हैं।

धनममत्व - स्त्री और पुत्र के समान ही धन का ममत्व भी समाधि को भंग करता है, सद्गति का नाश करता है, दुर्गति के द्वार खोलता है। ममता का यह रूप कितना मोहक है। उ. यशोविजयजी ने अध्यात्मसार में कहा है कि धन के लालच में मनुष्य दिन-रात दौड़ा-दौड़ करता है। ममता में अंध बना हुआ

^{५८१}. लालयन् बालकं तातेत्येवं ब्रुते ममत्ववान् ।
वेत्ति च श्लेष्मणा पूर्णामंगुलीममृताचिताम् ॥१९८॥
पंकार्द्रमपि निःशंका सुतमंकान्न मुंचति ।

तदमेध्येऽपि मेध्यत्वं जानात्यंबा ममत्वतः ॥१९९॥-ममत्वत्यागाधिकार, अध्यात्मसार

^{५८२}. अपव्यममत्वभोचनाधिकारः, तृतीय, ३/१, अध्यात्मकल्पद्रुम

^{५८३}. मा जाणसिजीव तुमं पुत्तकलत्ताई मन्झ सुहहेऊ ।

निउणं बंधणमेयं, संसारे संसरताणं ॥२१॥-वैराग्यशतक

कितने ही आरंभ-समारंभ करता है और भयंकर कर्म का उपार्जन करता है।^{१८४} कई लोग तो लक्ष्मी के दास होते हैं, न स्वयं खाते हैं, न खिलाते हैं, न दान देते हैं, मात्र लक्ष्मी की तिजोरी पर पहरा देते हैं। मम्मण सेठ के पास सम्पत्ति के भण्डार थे, फिर भी वह तेल और चावल खाता था और धन प्राप्ति के लिए बहुत कष्टों को सहन करता था। रत्नों से जड़ित दो बैलों की जोड़ी बनाने में ही उसने सारा जीवन व्यतीत कर दिया। उसकी जीवनभर धन के प्रति गहरी आसक्ति बनी रही।

अध्यात्मकल्पद्रुम में कहा गया है कि यह पैसे मेरे-है- इस प्रकार के विचार से मन को थोड़े समय आनंद प्राप्त होता है, किन्तु आरंभ के पाप से लंबे समय तक दुर्गति में भयंकर दुःख प्राप्त होता है।^{१८५} धर्मदासगणी द्वारा कहा गया है कि जिस सुख के पीछे दुःख हो उसे सुख नहीं कह सकते हैं। अनुभवियों का कहना है कि सम्पत्ति उपाधिरूप ही होती है। सुख तो संतोष में ही है। हर स्थिति में मन को प्रसन्न रखना- यही सुख-प्राप्ति का उपाय है। राजा, चक्रवर्ती, बड़े-बड़े धनवानों को भी पैसा मृत्यु के मुख से बचा न पाया। धनवान् व्यक्ति भी जब असाध्य व्याधि से ग्रस्त हो जाता है, वह तड़पता है, परंतु पैसा उसे बचा नहीं सकता है; फिर भी धन के ममत्व में फसा हुआ व्यक्ति धर्म को छोड़कर धन की पूजा करता है। धन के प्रति ममत्व अधिक होता है या स्त्री के प्रति यह कहना बहुत मुश्किल है, फिर भी हम अनुभव करते हैं कि प्रायः स्त्री पर मोह युवा अवस्था में शुरु होता है और कुछ वर्षों में कम हो जाता है। जितने समय स्त्री पर मोह रहता है, उतने समय उसका रस (Intensity) अधिक होता है, जबकि धन के प्रति मोह तो प्रत्येक दिन बढ़ता जाता है। वृद्धावस्था में तो यह पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है और जीवन के अन्तिम समय तक भी छूटता नहीं है। दुर्घ्यान करते हुए ही वह मृत्यु के मुख में चला जाता है। धन न किसी के साथ गया है और न ही जाने वाला है। नीतिशास्त्र में कहा गया है-

कीटिकासन्वितं धान्यं, माक्षिका सन्वितं मधु।
कृपणैः सन्वितं वित्तं, परैरेवोपभुज्यते॥

^{१८४} ममत्वेनैव निःशंकरमारंभादौ प्रवर्तते।

कालाकालसमुत्थायी धनलोभेन धावति॥६॥-ममत्वत्यागाधिकार, ८, अध्यात्मसार

^{१८५} ममत्वमात्रेण मनः प्रसाद-सुखं धनैरल्पकमल्पकालम्।

आरम्भपापैः सुचिरं तु दुःखं, स्पाद्गर्तौ दारुणमित्येवेहि॥३॥-अध्यात्मकल्पद्रुम-३/३,
मुनिसुंदरसूरि

चींटियों द्वारा एकत्र किया गया अनाज, मधुमक्खियों द्वारा संग्रह किया हुआ शहद और कृपण पुरुषों द्वारा एकत्र किए हुए धन का दूसरों के द्वारा ही भोग किया जाता है, अतः परभव में दुर्गति प्रदान करने वाले, निरंतर भयभीत रखने वाले और धर्म से विमुख करने वाला विषमता की ओर ले जाने वाले धन का मोहत्याग करके ही समभाव की साधना में प्रगति कर सकते हैं।

देहममत्व - सदा साथ रहने वाली काया के साथ जीव का विशेष ममत्व होता है। कंचन, कामिनी, कुटुंब के ममत्व का त्याग करना सरल है, किन्तु सभी के मध्य केन्द्र में रही हुई काया के स्वार्थ को, देह के ममत्व को छोड़ना आसान नहीं है। हम जीवनभर शरीर के इर्दगिर्द ही घूमते रहते हैं। शारीरिक सुखों को बटोरने में ही हमारी जिन्दगी का समस्त पुरुषार्थ लगा रहता है। काया जीव का जबरदस्त बंधन है। वैराग्यशतक^{५८६} में कहा गया है कि संसार में इस जीव ने प्रत्येक भव में जिन शरीरों को छोड़ा उन्हें अगर एकत्र किया जाए, तो उन शरीरों की संख्या इतनी होगी कि अनंत सागरों को भर देने पर भी वे बचे रह जाएंगे। शरीर में रहकर सुख प्राप्त करना असंभव है। उ. यशोविजयजी ने ज्ञानसार में कहा है कि ममता में अंध बनी हुई बाह्यदृष्टि वाला शरीर को सौन्दर्य से युक्त देखता है, जबकि तत्त्वदृष्टि वाला उसी शरीर को कौओं तथा कुत्तों के खाने योग्य कृमिसमूह से भरा हुआ देखता है।^{५८७}

सनत्कुमारचक्रवर्ती को शरीर के प्रति अत्याधिक ममत्व था। जब उनका मोह पराकाष्ठा पर पहुँचा, तब उनका शरीर विषमय हो गया। इस शरीर के ममत्व के कारण व्यक्ति अनेक कष्टों को सहन करता है। इसके पोषण के लिए अनेक पाप करता है।

अध्यात्मतत्त्वलोक में कहा गया है- “एक ही बार जिसने हमें कष्ट पहुँचाया हो, तो उससे हम दूर ही रहते हैं, तो फिर अनादिकाल से अनेक कष्टों

^{५८६} जीवेण भवे भवे, मिलियाइ देहाइ जाइ संसारे।

ताणं न सागरेहिं, कीरइ संखा अण्तेहिं।४७।।-वैराग्यशतक

^{५८७} लावण्यलहरीपुण्यं, वपुः पश्यति बाह्यदृक्।

तत्त्वदृष्टिः श्वकाकानां, भक्ष्यं कृमिकुलाकुलम्।५।।-तत्त्वदृष्टि, १६, ज्ञानसार

को उत्पन्न करने वाले इस शरीर के पोषण में मोहान्ध रहना, यह आश्चर्य है।”^{५८८}

शरीर का पोषण करना कृतघ्न पर उपकार करने जैसा है। यह शरीर अशुचि का घर है। शांतसुधारस में कहा गया है- “जिस तरह लहसुन को कर्पूर, बरास आदि सुगंधित पदार्थों से वासित किया जाए, तो भी लहसुन अपनी दुर्गंध को नहीं छोड़ती। दुर्जनों पर जिन्दगी भर उपकार करने पर भी उनमें सज्जनता नहीं आती है, ठीक उसी प्रकार इस शरीर को कितना ही विभूषित किया जाए वह अपनी स्वाभाविक दुर्गंध को नहीं छोड़ता है।”^{५८९}

यह शरीर किराए का घर है, घर का घर नहीं है, इसलिए शरीर के प्रति ममत्व का त्याग करना ही उचित है, लेकिन शरीर की उपेक्षा भी नहीं कर सकते हैं, क्योंकि कहा गया है-

“शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्”

समत्वमार्ग पर चलते हुए प्राणी के लिए शरीर धर्म का प्रथम साधन हो सकता है। उसी प्रकार-

“शरीरमाद्यं खलु पापसाधनम्”

ममत्व के मार्ग पर चलते हुए प्राणी के लिए शरीर पाप का प्रथम साधन हो सकता है।

उ. यशोविजयजी ने अध्यात्मसार में ममत्तरूपी व्याधि का उच्छेद करने के लिए ज्ञानरूपी औषधि बताई है। जिस प्रकार रस्सी के ज्ञान से सर्प का भय नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार भेदज्ञान से स्वत्व और स्वकीयत्व (मैं और मेरा) रूपी भ्रांति के हेतुरूप अहंता और ममता का नाश होता है।^{५९०}

ममता के नाश होने पर साधक को समत्व की प्राप्ति हो जाती है।

५८८. अध्यात्मतत्त्वालोक, १/६६

५८९. अशुचिभावना ६/३, शांतसुधारस, उ. विनयविजयजी

५९०. इत्येवं ममताव्याधिः वर्द्धमानं प्रतिक्षणम्।

जनः शक्नोति नोच्छेत्तुम् विना ज्ञानमहौषधम् ॥८॥

अहंताममते स्वत्वस्वीयत्वभ्रमहेतुके

भेदज्ञानात्पलायेते रज्जुज्ञानादिवाहिभीः ॥२२॥-ममत्वत्यागाधिकार, ८, अध्यात्मसार

समता के तीन स्तर : सम, संवेग, निर्वेद

ममत्व के विभिन्न रूपों को जानने के बाद अब हम समता के स्तरों का वर्णन करेंगे। समता के तीन स्तर हैं : सम, संवेग और निर्वेद।

सम - 'सम्' सम्यक्त्व का प्रथम लक्षण भी है। प्राकृत भाषा के सम् शब्द के संस्कृत भाषा में तीन रूप होते हैं- १. सम २. शम ३. श्रम। डॉ. सागरमल जैन ^{५६१} ने सम शब्द के दो अर्थ बताए हैं। पहले अर्थ में यह समाननुभूति या तुल्यता बोध है, अर्थात् सभी प्राणियों को अपने समान समझना। इस अर्थ में यह 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' के सिद्धान्त की स्थापना करता है, जो अहिंसा का आधार है। दूसरे अर्थ में इसे चित्तवृत्ति का समभाव कहा जा सकता है। उ. यशोविजयजी ^{५६२} ने ज्ञानसार में सम से युक्त साधक का वर्णन करते हुए लिखा है कि जो कर्म की विषमता से उत्पन्न हुए वर्णाश्रम आदि के भेद को गौण करते हुए, परमात्मा के अंश द्वारा बने एक स्वरूप वाले जगत को अपनी आत्मा से अभिन्न देखता है, वह उपशम वाला साधक अवश्य मोक्षगामी होता है।

अभिधानराजेन्द्रकोष ^{५६३} में सम की व्याख्या करते हुए लिखा गया है- "समो रागद्वेषवियुक्तो यः सर्वभूतान्यात्मवत्पश्यति।" राग-द्वेष से रहित सभी प्राणियों पर आत्मवत्दृष्टि सम है।

भगवद्गीता ^{५६४} के पाँचवें अध्याय में समदृष्टि वाले साधक कैसे होते हैं, उसका वर्णन करते हुए लिखा गया है कि आत्मज्ञानी, विद्याविनय से सम्पन्न ब्राह्मण में, गाय में, हाथी में, कुत्ते में तथा चांडाल में भी समदृष्टि वाले होते हैं।

यह समताभाव की चरम उपलब्धि है।

दूसरे अर्थ में इसे चित्तवृत्ति का समभाव कहा जा सकता है, ^{५६५} जो जय-पराजय, मान-अपमान, सुख और दुःख-दोनों ही स्थितियों में समभाव रखना

^{५६१} जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन -भाग २, पृ. ५८, डॉ. सागरमल जैन

^{५६२} अनिच्छन् कर्म-वैषम्यं ब्रह्मांशेन शमं जगत्।
आत्मभेदेन यः पश्येदसौ मोक्षं गमी शमी।।२।। - शमाष्टक, ६, ज्ञानसार

^{५६३} अभिधानराजेन्द्रकोष, भाग ७, पृ. ३६८

^{५६४} विद्याविनय संपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।

शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः।।१८।।-श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय ५ श्लोक १८

या चित्त का संतुलन बनाए रखना हैं। ज्ञानसार में कहा गया है- “दुखं प्राप्य न दीनः स्यात्, सुखं प्राप्य च विस्मितः” सम युक्त साधु दुःख प्राप्त होने पर दीन नहीं होते हैं, सुख पाने पर विस्मित नहीं होते हैं।”^{५६६}

अभिधानराजेन्द्रकोष^{५६७} में सम की व्याख्या करते हुए लिखा गया है- ‘प्रेक्षणीय तुल्यतृणमणिमुक्ता रूपे।’

यही बात गीता^{५६८} में कहीं गई है- ‘समलोप्टाश्मकान्चनः’

पत्थर हो या स्वर्ण, तृण हो या मणि, सभी पर जिसके समान भाव हों, अर्थात् स्वर्ण में आसक्ति न हो और पत्थर पर द्वेष न हो। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी भी समय किसी भी परिस्थिति में, किसी भी निमित्त से भेदभाव नहीं आए, वह स्थिति सम कहलाती है।

स्थानांगसूत्र^{५६९} में सम की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहा गया है-

“मध्यस्थे निन्दायां पूजायां च तुल्ये”

जो निन्दा होने पर या प्रशंसा होने पर सम स्थिति में रहता है, अर्थात् निन्दा करने वाले पर द्वेष नहीं करता है, प्रशंसा करने वाले से राग नहीं करता है, वह समबुद्धि वाला कहलाता है।

संस्कृत ‘शम’ के रूप का अर्थ है-शांत करना, अर्थात् कषायान्नि या वासनाओ को शांत करना। उ. यशोविजयजी ने ‘शम’ की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि विकल्परूप विषयों से निवृत्त होकर निरन्तर आत्मा के शुद्ध स्वभाव का आलंबन जिसे है-ऐसा ज्ञान का परिणाम ‘शम’ कहलाता है।^{६००} ज्ञान की पूर्ण अवस्था ‘शम’ है।

^{५६६}. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन - भाग २, पृ. ५८, डॉ. सागरमल जैन

^{५६६}. अभिधानराजेन्द्रकोष -भाग ७, पेज ३६८

^{५६७}. कर्मविपाकचिन्तन, २१, ज्ञानसार, उ. यशोविजयजी

^{५६८}. श्रीमद्भगवद्गीता -अध्याय ६, श्लोक ८

^{५६९}. स्थानांगसूत्र, ८, ठा. उ. उ.

^{६००}. विकल्पविषयोत्तीर्णः स्वभावलम्बनः सदा

ज्ञानस्य परिपाको यः स शमः परिकीर्तितः ॥११॥ -शमाष्टक ६, ज्ञानसार, उ. यशोविजयजी

अभिधानराजेन्द्रकोष^{६०१} में 'शम' की व्याख्या इस प्रकार की गई है- 'क्रोधकण्डूविषयतृष्णोपशमः शमः इति', दूसरी व्याख्या- 'अनन्तानुबन्धिनां कषायानामनुदयः' -क्रोधादि कषायों और विषयों का उपशम ही शम कहलाता है। आत्मस्वभाव में रमण करना, आत्मस्वभाव का आस्वादी होना 'शम' कहलाता है। आनन्दधनजी ने शान्तिनाथ भगवान्^{६०२} के स्तवन में जो ज्ञानयोगी का चरित्र दर्शाया है, उसमें सम के सम्पूर्ण स्वरूप की व्याख्या हो जाती है। वे लिखते हैं-

मान अपमान चित्त सम गणे, समगणे कनक पाषाण रे
 वंदक निंदक सम गणे रे, ईस्यो होय तु जाण रे - ६
 सर्व जगजंतु ने सम गणे, सम गणे तृण मणि भाव रे
 मुक्ति संसार बिहु सम गणे, मुणे भवजलनिधि नाव रे - १०

मान, अपमान, निंदा, स्तुति आदि को जो समान मानता है, जो मित्र, शत्रु आदि पर समभाव धारण करता है, इस प्रकार का उत्कृष्ट समभाव संसाररूपी समुद्र को तैरने के लिए नाव के समान है।

संस्कृत के तीसरे रूप 'श्रम' का अर्थ होगा 'सम्यक् प्रयास' या पुरुषार्थ।

अभिधानराजेन्द्रकोष^{६०३} में शम के दो प्रकार बताए गए हैं - १. द्रव्यशम और २. भावशम।

१. द्रव्यशम - परिणाम में असमाधि हो और प्रवृत्ति का संकोच किया हो, तो वह द्रव्यशम कहलाता है। जैसे- उपकारक्षमा, अपकारक्षमा और विपाकक्षमा में क्रोध का जो उपशम किया जाता है, वह द्रव्यशम कहलाता है।

१. उपकारी होने से उसके दुर्वचन सहन करना उपकारीक्षमा
२. अपकार के भय से बलिष्ठ व्यक्ति को दुर्वचन न कहकर चुप रहना अपकारक्षमा तथा
३. नरकादि दुःखद विपाक या यहीं अनर्थ- परम्परा को देखकर चुप रहना विपाकक्षमा कहलाती है। ये तीनों ही द्रव्य-शम हैं,

६०१. अभिधानराजेन्द्रकोष, ७/३६६ -आचार्य राजेन्द्रसूरि

६०२. आनन्दधनचौबीसी-स्त. १६- संत आनन्दधन

६०३. अभिधानराजेन्द्रकोष - ७/३६६

अर्थात् वस्तुतः 'शम' नहीं है। ये परिस्थिति विशेष पर आधारित है।

२. भावशम - मिथ्यात्व को दूर कर यथार्थ ज्ञानपूर्वक चारित्रमोह के उदय के अभाव से क्षमादि गुण में परिणमन करना भावशम है।

वचनक्षमा, अर्थात् आगमवचन यानी परमात्मा की आज्ञा को प्रमुख करके जो समभाव धारण करे तथा धर्मक्षमा, अर्थात् कठोर उपसर्ग करने वाले पर भी सहज स्वधर्मस्वरूप करुणा- ये दोनों क्षमा 'भावशम' कहलाती हैं।

अभिधानराजेन्द्रकोष^{६०४} में लौकिकशम और लोकोत्तरशम- इस प्रकार भी दो भेद किए गए हैं, जिसमें वेदांतवादी का शम लौकिकशम और जैनप्रवचनानुसार शुद्धस्वरूप में रमणता- वह लोकोत्तरशम कहा गया है।

सप्तनय के अनुसार शम - अभिधानराजेन्द्रकोष में कहा गया है कि प्रथम के चार नय, अर्थात् नैगमनय, संग्रहनय, व्यवहारनय और ऋजुसूत्रनय के अनुसार स्वरूप गुणों में परिणमन करने के कारण मन-वचन-काया का संकोच, कर्म के फल का चिंतन, तत्त्वज्ञान, बारहभावना आदि शम हैं।

शब्दनय के अनुसार क्षयोपशमभाव में जो क्षमादि है, वह शम है।

समभिरुद्धनयानुसार क्षपकश्रेणी में सूक्ष्मकषायवाले को क्रोधादि का जो उपशम होता है, वह शम कहलाता है। एवंभूतनय के अनुसार क्षीणमोह आदि गुणस्थानों में कषायों का सम्पूर्ण क्षय होना शम है।

इस प्रकार शम-परिणति आत्मा का मूलस्वभाव है।

समता का द्वितीय स्तर संवेग -

संवेग शब्द का शाब्दिक विश्लेषण करते हैं, तो उसका अर्थ इस प्रकार निकलता है- सम्+वेग, सम्-सम्यक्, वेग-गति अर्थात् सम्यक् गति।

विभिन्न टीकाओं में संवेग शब्द का अर्थ निम्नलिखित किया गया है- सम्यक् उद्वेग-मोक्ष के प्रति उत्कण्ठा, अभिलाषा या संसार के दुःखों से भयभीत होकर मोक्षसुख की अभिलाषा करना।

^{६०४}. अभिधानराजेन्द्रकोष भा. ७, पृ. ३६६

देव, गुरु, धर्म एवं तत्त्वों पर निश्चल अनुराग संवेग है।^{६०५} सर्वार्थ-सिद्धि^{६०६} में कहा गया है- “नारक-तिर्यंच मनुष्य-देवभवरूपात् संसार दुःखात् नित्यभीरुतः संवेगः,” अर्थात् चारों गतिरूप संसार के दुःखों से नित्य भयभीत रहना संवेग है।

डॉ. सागरमल जैन^{६०७} लिखते हैं कि सम शब्द आत्मा का भी वाचक है। इस प्रकार इसका अर्थ होगा- आत्मा की ओर गति। सामान्य अर्थ में संवेग शब्द अनुभूति के लिए भी प्रयुक्त होता है। यहाँ इसका तात्पर्य होगा- आत्मा के आनन्दमय स्वरूप की अनुभूति। मनोविज्ञान में आकांक्षा की तीव्रतम अवस्था को भी संवेग कहा जाता है। इस प्रसंग में इसका अर्थ होगा सत्याभीप्सा, अर्थात् सत्य को जानने की तीव्रतम आकांक्षा।

जब ममता का नाश हो जाता है और समत्वभाव प्रकट होता है, तब सत्य को जानने की जिज्ञासा भी बढ़ जाती है।

उत्तराध्ययन^{६०८} में संवेग के फल बताए गए हैं, जो इस प्रकार हैं-

१. संवेग से उत्कृष्ट धर्मश्रद्धा
२. अनन्तानुबंधी कषायों का क्षय
३. परम धर्मश्रद्धा से मोक्षाभिलाषा या संसारदुःखभीरुता
४. नूतन-कर्मबन्धनिरोध
५. मिथ्यात्वक्षय तथा निरतिचार क्षायिक सम्यग्दर्शन की आराधना
६. दर्शनविशुद्धि से निर्मल भव्यात्मा को या तो उसी भव में मोक्ष या तीसरे भव में अवश्य मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

६०५. (अ) बृहद्बृत्तिपत्र ५७७

(ब) दशवैकालिक अ. १ टीका

६०६. सर्वार्थसिद्धि ६/२४

६०७. जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन पृ. ५८ डॉ. सागरमल जैन

६०८. सम्यक्चपराक्रम २६/१

निर्वेद - समता का तृतीय स्तर या सम्यक्त्व का तीसरा लक्षण निर्वेद है। निर्वेद शब्द के विभिन्न अर्थ हैं- १. बृहद्वृत्ति के अनुसार सांसारिक विषयों के त्याग की भावना २. मोक्षप्राप्त के अनुसार- संसार, शरीर और भोगों से विरक्ति ३. पंचाध्यायी के अनुसार- समस्त अभिलाषाओं का त्याग।^{६०६}

डॉ. सागरमल जैन^{६१०} के अनुसार निर्वेद, अर्थात् उदासीनता वैराग्य, अनासक्ति। निर्वेद के अभाव में साधना के मार्ग पर चलना सम्भव नहीं है। जब तक संसार से वैराग्य भाव प्रकट नहीं होता है, तब तक समत्व भी नहीं टिक पाता है, अतः समता का तीसरा स्तर निर्वेद कहा है। निर्वेद का एक अर्थ वेदन का अभाव भी कर सकते हैं, जिसमें कषायों का वेदन न हो, अर्थात् शत्रु के प्रति मन में भी कोई प्रतिक्रिया न हो, वह निर्वेद कहलाता है।

उत्तराध्ययन^{६११} में निर्वेद का फल बताते हुए कहा गया है कि निर्वेद से समस्त कामभोगों और सांसारिक विषयों से विरक्ति हो जाती है और विरक्त होने पर आरम्भ का परित्याग हो जाएगा तथा आरंभ के परित्याग से चतुर्गति जन्म-मरणरूप संसार के मार्ग का विच्छेद होने के साथ ही मोक्षमार्ग की प्राप्ति हो जाती है।

इस प्रकार श्रद्धा के मजबूत होने पर (संवेग) तथा संसार से तीव्र वैराग्य होने पर (निर्वेद) साम्यभाव की पूर्णता प्रकट होती है।

समता और माध्यस्थभाव

अध्यात्मज्ञान का प्रथम बीज समता है। सभी संयोगों में मन को एक जैसा रखना, चाहे कैसे भी प्रसंग आएँ, तो भी चंचलवृत्ति धारण नहीं करना, शत्रु के प्रति द्वेष और मित्र के प्रति राग धारण नहीं करना समता है।

^{६०६}. (अ) निर्वेदेन - सामान्यतः संसार विषयेण कदाऽसौत्यक्ष्यामीत्येवंरूपेण -बृहद्वृत्ति ५७८

(ब) निर्वेदः संसार शरीर -भोग विरागतः -मोक्षप्राप्त ८२ टीका

(स) त्यागः सर्वाभिलाषस्य निर्वेदोः। -पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध ४४३

^{६१०}. जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन पृ. ५६ डॉ. सागरमल जैन

^{६११}. सम्यक्त्वपराक्रम -द्वितीयसूत्रः निर्वेद -अध्ययन २६ वाँ -उत्तराध्ययन

माध्यस्थभाव को समता का ही एक पहलू कह सकते हैं। सामान्यतया दूसरों के दोषों की उपेक्षा करना माध्यस्थभाव है। पापी और अविनीत जीवों के प्रति उपेक्षा रखना, उन पर द्वेष नहीं करना माध्यस्थभाव है। माध्यस्थभाव धारण करने से निन्दा, तुच्छता, उत्सुकता आदि दोषों का त्याग हो जाता है। माध्यस्थभाव भी समता के बिना सम्भव नहीं है। उ. यशोविजयजी ने ज्ञानसार^{६१२} में कहा है कि मनुष्य अपने-अपने कर्मों में परवश बना हुआ है और अपने अपने कर्म के फल को भोगने वाला है-ऐसा जानकर मध्यस्थपुरुष राग और द्वेष नहीं करता है, अर्थात् माध्यस्थ भाव राग और द्वेष से रहित अवस्था है। अभिधानराजेन्द्रकोष^{६१३} में कहा गया है-

‘मध्य रागद्वेषयोरन्तराले तिष्ठतीति मध्यस्थः’

जो राग और द्वेष के मध्य में रहता है, अर्थात् न राग करता है और न द्वेष करता है, वह मध्यस्थ कहलाता है। आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में माध्यस्थभावना को परिभाषित करते हुए कहा है कि, अविद्वेकी, क्रूरकर्म करने वाले, देव-गुरु-धर्म के निन्दक, आत्मप्रशंसा में रत मनुष्यों के प्रति किसी भी प्रकार का दुर्विचार न लाते हुए समभाव रखना ही माध्यस्थभावना है। योगशतक, तत्त्वार्थसूत्र आदि में कहा गया है कि दुर्जनों और अविनयी पुरुषों पर माध्यस्थभाव रखें। माध्यस्थ का अभिप्राय उनके कल्याण की कामना करते हुए उनकी अप्रिय वृत्तियों के प्रति उपेक्षा भाव रखना, तटस्थ रहना है। उपाध्याय विनयविजयजी भी कहते हैं कि माध्यस्थ भावना सांसारिक प्राणियों के विश्रांति लेने का स्थान है। सभी शास्त्रों का सार है। किसी प्राणी को हितोपदेश देने पर भी अगर वह ग्रहण नहीं करे और उसकी उपेक्षा करे, उपकार के स्थान पर अपकार करे, तो भी उस पर क्रोध नहीं करना माध्यस्थभाव है।

माध्यस्थभाव धारण करने से पर सम्बन्धी व्यर्थ की चिंताओं से मुक्त होकर समतारूपी सुख का अनुभव कर सकते हैं।

आचारांगसूत्र में कहा गया है-

^{६१२}. स्वस्वकर्मकृतावेशाः, स्वस्वकर्मभुजोनयः
नरागं नापि च द्वेषं, मध्यस्थतेषु गच्छति।।४।।-माध्यस्थाष्टक, १६, ज्ञानसार, उ.
यशोविजयजी

^{६१३}. अभिधानराजेन्द्रकोष भाग ६, पृ. ६४ - आचार्य राजेन्द्रसूरि

‘उवेह एणं बहिया य लोगं से सव्व लोगम्मि जे केई विण्णू।’

अपने धर्म के विपरीत रहने वाले व्यक्ति के प्रति भी उपेक्षा भाव रखो, क्योंकि जो कोई विरोधी के प्रति उपेक्षा-तटस्थता रखता है, उसके कारण उद्विग्न नहीं होता है, वह विश्व के समस्त विद्वानों में सिरमौर है। माध्यस्थभाव धारण किए बिना माध्यस्थभाव नहीं रह सकता है। इस प्रकार दोनों अन्योन्याश्रित हैं।

उ. यशोवियजी ने ज्ञानसार में कहा है-

नयेषु-स्वार्थ सत्येषु, मोषेषु पर चालने।

समशीलं मनो यस्य, स मध्यस्थो महामुनिः ॥ ३॥

अपने-अपने अर्थ में सत्य और दूसरों को मिथ्या बताने में निष्कल- ऐसे सर्व नयों में जिसका मन सम स्वभाव वाला है, वह महामुनि मध्यस्थ है। तात्पर्य यह है कि अपेक्षा दृष्टि से सभी नयों को समान रूप से स्वीकार करना माध्यस्थ भाव है। अभिधान राजेन्द्रकोष में कहा गया है कि- द्वेष के अभावरूप किसी भी दर्शन पर बिना पक्षपात की निर्मलदृष्टि ही मध्यस्थदृष्टि है। मध्यस्थभाव को उदासीनता, औदासीन्य उपेक्षाभाव भी कह सकते हैं।

इस प्रकार माध्यस्थभाव समता का ही एक अंग है।

साम्ययोग और सामायिक

सामायिक तनावग्रस्त चित्त को समत्व की ओर ले जाने का एक प्रयास है। इससे समस्त सावद्योगों (पापक्रियाओं) का त्याग होता है। सामायिक शब्द की रचना तीन शब्दों से हुई है- सम्+आय+इका। आय का अर्थ लाभ होना, जिसमें समभाव का लाभ हो, वह सामायिक कहलाती है। समत्वभाव सामायिक का नवनीत है। सामायिक साधन है और समता या साम्यभाव साध्य है। समत्व सामायिक का प्राण है।

अध्यात्मोपनिषद् मे उ. यशोविजयजी सामायिक का सार समता को बताते हुए कहते हैं कि “समत्वभाव के बिना, समत्वसहित की गई सामायिक को मैं मायावी मानता हूँ। समभावरूप सदगुणों का लाभ हो, तो ही सामायिक शुद्ध होती है।” जिस प्रकार छत्र और चंवर धारण करने से कोई राजा नहीं हो जाता, उसी प्रकार बाह्यलिंग धारण करने से कोई साधक नहीं होता है।

आचार्य मलयगिरि आवश्यकनिर्युक्ति की टीका में लिखते हैं कि- सम, अर्थात् राग-द्वेषरहित मनःस्थिति और आय अर्थात् लाभ। समभाव का जिससे लाभ हो, वह क्रिया सामायिक कहलाती है।

सर्वजीवेषुमैत्री = साम, साम्न आयः = समायः, अर्थात् सभी जीवों के प्रति मैत्री भाव की प्राप्ति सामायिक है।^{६१४} योगसार में कहा गया है- “राग और रोष-दोनों का परिहार करके जो जीव समभाव को जानता है, वही सामायिक को जानता है।”

अभिधानराजेन्द्रकोष^{६१५} में सामायिक की कई प्रकार से व्याख्याएँ दी हैं। सम् को सम्यक् अर्थ में मानकर सामायिकम् इति “समानां ज्ञानदर्शनचारित्राणां आयः समायः।” इसका अर्थ यह है कि सम्यग्ज्ञान-दर्शनचारित्र के आय का साधन सामायिक है।

सामायिक का दूसरा नाम ‘सावद्य योगविरति’ है। सामायिक में सदोष प्रवृत्तियों का त्याग और निर्दोष प्रवृत्तियों का आचरण किया जाता है।

अभिधानराजेन्द्रकोष^{६१६} में यह भी कहा गया है कि पापकार्यों से मुक्त होकर, दुर्ध्यान, अर्थात् आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान से रहित होकर समभाव में अन्तर्मुहूर्त तक स्थित रहने का जो व्रत लिया जाता है, उसे सामायिक कहते हैं।

विशेष आवश्यकभाष्य में^{६१७} सामायिक के तीन प्रकार बताए गए हैं-१. सम्यक्त्वसामायिक- सम्यक्त्व प्राप्ति के साथ जो आत्मा में समता के परिणाम बने रहते हैं, वह सम्यक्त्वसामायिक है २. श्रुतसामायिक- सद्ग्रन्थों का पठन-पाठन करना श्रुत सामायिक है ३. चारित्र सामायिक यह दो प्रकार की होती है-१. ईत्सरकालिक (स्वल्प समय तक)। यावत्कथिक- (जीवनपर्यन्त, जीवनभर तक सावद्य योगों का त्याग करना) सामायिक विषमतारूपी व्याधि की रामबाण औषधि है। इसका सेवन चार रूपों में किया जा सकता है।

६१४. आवश्यकनिर्युक्ति की टीका - १०४२ वृ. -श्रीमलयगिरिसूरि

६१५. अभिधानराजेन्द्रकोष -७, पृ. ७०१

६१६. सावद्यकर्ममुक्तस्य दुर्ध्यानरहितस्य च

समभावो मुहूर्त तद् व्रतं सामायिका हृदय -अभिधानराजेन्द्रकोष भा. ७, पृ. ३६६

६१७. सामाद्यपि तिविहं सम्मत् सुअं तथा चरित्त च।

दुविहं चैव चरित्त अगारमणगारियं चैव।।-आवश्यकभाष्य

१. भावना के रूप में - मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य- इन चार भावनाओं का चिन्तन करना। मैत्र्यादि भावनाओं को हृदय में धारण करने से विषमता दूर हो जाती है और शांति का झरना बहने लगता है।

२. आत्मशुद्धि के रूप में - राग-द्वेष कषायरूपी मल की आत्मालोचना या प्रायश्चित्त आदि के द्वारा शुद्धि करना।

३. उपासना - आत्मिक गुणों की पूर्णता को प्राप्त कर चुके-ऐसे अरिहन्त, सिद्ध आदि की उपासना, गुणचिन्तन करना, जिससे स्वयं के गुणों का भी उत्कर्ष होता है।

४. चौथी महाऔषधि आत्मसाधना रूप है। इसका प्रभाव यह है कि आत्मा संयोगों से विरक्त होने लगती है। साधक संकल्प-विकल्पों से मुक्त होकर आत्मस्वरूप में लीन हो जाता है और साम्ययोग के सर्वोत्कृष्ट स्वरूप- “आत्मा ही सामायिक है”^{६९८} को प्राप्त कर लेता है। उ. यशोविजयजी^{६९९} समत्व के महत्त्व को बताते हुए कहते हैं- “जो परमतत्त्व चंद्र, सूर्य, दीपक की ज्योति द्वारा भी पूर्व में कभी प्रकाशित नहीं हुआ, वह परमतत्त्व समतारूपी मणि का प्रकाश जब चारों तरफ फैलता है, तब प्रकाशित होता है” और इस समत्व को प्राप्त करने का प्रमुख साधन सामायिक है। सामायिक का प्रयोजन है आत्मस्वरूप की प्राप्ति और समत्व आत्मा का स्वरूप है, अतः सामायिक साधन और समता साध्य है।

ज्ञानयोग, भक्तियोग और क्रियायोग का साम्य में समन्वय

‘राह अनेक और मंजिल एक’- यही बात यहाँ लागू होती है। चाहे साधक ज्ञानयोग की साधना करे, चाहे भक्तियोग की साधना करे, चाहे क्रियायोग की साधना करे, सभी का उद्देश्य, सभी की मंजिल, सभी का साध्य एक ही है- ‘समत्व’ को प्राप्त करना। अतः ज्ञानयोग, भक्तियोग और क्रियायोग- तीनों का ही समन्वय साम्ययोग में हो जाता है। तीनों योगों का ही उद्देश्य ममत्वबुद्धि का नाश करना और समत्व को प्रकट करना है। जो ज्ञान, भक्ति और क्रिया समत्व की

^{६९८}. आया खलु सामाइए-भगवतीसूत्र

^{६९९}. निशानभोमन्दिररत्नप्रदीप-ज्योतिर्भरद्योतितपूर्वमन्तः।

विद्योतते तत्परमात्मतत्त्वम् प्रसुत्वरे साम्यमणिप्रकाशं ॥६॥

- साम्ययोग-अध्यात्मोपनिषद - उ. यशोविजयजी

ओर नहीं ले जाए, वह ज्ञान, भक्ति और क्रिया योगरूप नहीं बन सकती है, क्योंकि व्यक्ति समत्व के बिना पूर्णता की उपलब्धि नहीं कर सकता है; इसलिए उ. यशोविजयजी ने साम्ययोग की महत्ता बताते हुए कहा है- “ज्ञानी, क्रियावान्, विरतिधर, तपस्वी, ध्यानी, मौनी और स्थिर सम्यग्दर्शन वाले साधु भी उस गुण को (आत्मस्वरूप) को कभी प्राप्त नहीं कर सकते हैं, जो गुण साम्यसमाधि में रहकर एक योगी प्राप्त करता है।”^{६२०} अतः ज्ञान, भक्ति और क्रिया साम्ययोग को पुष्ट करे, तो ही उनकी सफलता है। गीता में भी कहा गया है- “ज्ञानयोगियों द्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियों द्वारा भी वही प्राप्त किया जा सकता है, इसलिए जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोग को फलरूप में एक देखता है, वही यथार्थ देखता है।”^{६२१} कहने का तात्पर्य यही है कि ज्ञानयोग, भक्तियोग और क्रियायोग- इन तीनों द्वारा ही रागद्वेषरहित अवस्था प्राप्त की जाती है और वही अवस्था साम्ययोग का उत्कृष्ट स्वरूप है।

साधक में एक योग के होने पर दूसरा योग प्रतिफलित नहीं होता है- यह धारणा समुचित नहीं है। मुख्य-गौण रूप में तो तीनों योग एक साथ होते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब तीनों ही योगों द्वारा समत्व को ही प्राप्त करना है, तो इन तीनों योगों की अलग-अलग चर्चा क्यों की गई? इसका कारण यह है कि इस संसार में असंख्य प्राणी हैं और सभी जीवों की कक्षाएँ एक जैसी नहीं होती हैं। भक्तियोग और क्रियायोग की अपेक्षा ज्ञानयोग अधिक कठिन है, अतः सभी जीव सीधे ज्ञानयोग को नहीं साध सकते हैं। कोई व्यक्ति ज्ञान के द्वारा आत्मा के स्वरूप को समझकर राग-द्वेषादि कषायरूपी विभाव का त्याग करके समतारूप आत्मस्वभाव में स्थिर होता है। कोई व्यक्ति परमात्मा की भक्ति करते-करते आत्मस्वरूप समत्व की प्राप्ति कर लेता है। संत आनंदघनजी नमिनाथ भगवान् के स्तवन में भक्तियोग की पराकाष्ठा बताते हुए कहते हैं-

^{६२०}. ज्ञानी क्रियावान् विरतस्तपस्वी ध्यानी च मौनी स्थिरदर्शनश्च ।
साधुर्गणं तं लभते न जातु, प्राप्नोति यं साम्यसमाधि निष्ठः ॥११४॥-अध्यात्मोपनिषद्
-उ. यशोविजयजी

^{६२१}. यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्यौगैरपि गम्यते ।

एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥-श्रीमद्भगवद्गीता -अध्याय -५

“जिनस्वरूप थई-जिन आराधे
ते सही जिन-वर होवे रे
भृंगी ईलिका ने चटकावे
ते भृंगी जग जोवे रे॥”^{६२२}

जिस प्रकार इलिका भ्रमरी के ध्यान से भ्रमरी बन जाती है- यह सारा जगत जानता है, उसी प्रकार जिनेश्वर को स्वात्मा में प्रतिष्ठित करके, जिनेश्वररूप होकर जिनेश्वर की जो आराधना करता है, वह निश्चय ही वीतरागस्वरूप को प्राप्त करता है। कहने का तात्पर्य यही है कि साधक परमात्मा के स्वरूप को समझकर उनकी भक्ति में तल्लीन हो जाता है, वह समत्व के उच्च शिखर को प्राप्त कर लेता है। उसी प्रकार क्रियायोग के परिणाम से आत्मा निर्मल हो जाने से भी उच्चस्तरीय समभाव की प्राप्ति होती है हाँलाकि तीनों योग में ज्ञान का समावेश मुख्य या गौण रूप से रहता ही है।

जिस प्रकार सभी नदियाँ समुद्र में आकर मिल जाती हैं और सागररूप बन जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञानयोग, भक्तियोग और क्रियायोग का समन्वय समत्व में हो जाता है। समत्व के बिना सर्वदुःखों से मुक्ति नहीं है, अर्थात् मोक्ष नहीं होता है, इसलिए तीनों ही योगों का प्रमुख लक्ष्य समत्व की साधना है।

योग की साधना के परिणाम

यह सर्वविदित है कि नीम का बीज बोते हैं, तो नीम के फल की प्राप्ति होती है और आम का बीज बोएँगे, तो आम के फल की प्राप्ति होगी। जैसे बीज बोएँगे, वैसे ही फलों की प्राप्ति होगी।

योग की साधना आम के बीज के समान है, जिसके मधुर सुखद परिणामों का अनुभव अवश्य होता है। पूर्व में हमने बताया है कि भक्तियोग, कर्मयोग और ज्ञानयोग का अन्तिम परिणाम समत्व है और जब समत्व जीवन में प्रकट हो जाता है, तो उसके कई सुंदर परिणाम देखने को मिलते हैं।

१. **सुखभ्रान्ति का निराकरण** - संसार में सभी प्राणी सुख को चाहते हैं और उसे प्राप्त करने के लिए रात दिन प्रयत्न करते हैं, फिर भी पूर्णरूप से सुखी नहीं होते हैं। जैसे कस्तूरीमृग अपनी ही नाभि में रही हुई कस्तूरी को दूँढने के

^{६२२}. नमिनाथजिनस्तवन-२१, आनंदघन चौबीसी

लिए वन में मारा-मारा फिरता है और रात दिन उसके लिए तड़प तड़प कर अपने प्राण गवां देता है; वैसे ही मनुष्य भी आज सुख को प्राप्त करने के लिए आकाश-पाताल एक कर रहा है। उसे यह पता नहीं चल रहा है कि जिसे वह बाहर ढूँढ रहा है, वह तो उसकी आत्मा में ही है। योगसाधना के द्वारा साधक बाहर की दुनिया को छोड़कर अन्दर विचरण करता है। उ. यशोविजयजी ने ज्ञानसार में कहा है- “बाह्य प्रवृत्तियाँ नहीं होने पर महापुरुष अपने अन्दर में ही रही हुई सर्व समृद्धियों का बोध करते हैं।”^{६२३} वह ज्ञानयोग द्वारा सत्य को समझता है, क्रियायोग द्वारा सत्य का आचरण करता है और भक्तियोग द्वारा परमात्मास्वरूप (आत्मस्वरूप) में लीन होता है और समत्वयोग को प्राप्त करता है, जिससे साधक को यह अनुभव होने लगता है कि जो कुछ बाहर दिखाई देता है, वह सुख नहीं सुखाभास है। जिस सुख से आत्मानन्द की अनुभूति हो, जो सुख स्वाधीन हो, अविनाशी हो, वह सुख सच्चा है। इस प्रकार बाह्य पदार्थों में जो सुख की भ्रान्ति थी, वह नष्ट हो जाती है। उ. यशोविजयजी कहते हैं- “ब्रह्म की सृष्टि तो बाह्य जगत रूप है और बाह्य की अपेक्षा पर अवलम्बित है, जबकि योगसाधक मुनि की अन्तरंग गुण सृष्टि तो अन्य की अपेक्षा से रहित है, अतः यह अधिक उत्कृष्ट है।”^{६२४} योगी योगसाधना द्वारा अपने अन्दर ही सुख का दिव्य खजाना पाकर संतुष्ट हो जाता है। बाह्य पदार्थों में सुख की भ्रमणा टूट जाती है और वह अनासक्तभाव को प्राप्त कर लेता है।

२. कषायों का क्षय - योग एक आध्यात्मिक साधना है, आत्मविकास की एक प्रक्रिया है। ज्ञानार्णव^{६२५} में बताया गया है कि कषाय पर विजय प्राप्त करने का साधन इन्द्रियजय है, इन्द्रियों को जीतने का उपाय मन की शुद्धि है, मन-शुद्धि का साधन है-समत्वभाव की साधना। इस प्रकार समत्वभाव की प्राप्ति योगसाधना की मुख्य विशेषता है। जैसे-जैसे साधक योगसाधना में आगे बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे उसका अज्ञान दूर होता जाता है और उसे उसे ज्ञानदृष्टि प्राप्त होती है। जिससे वह समस्त विश्व को ज्ञातादृष्टा भाव से देखता है और उसके कषाय मन्द होते जाते हैं। उ. यशोविजयजी ने योगियों की विशेषता बताते हुए कहा है-

^{६२३}. बाह्यदृष्टिप्रचारेषु मुद्रितेषु महात्मनः

अन्तरेवाव भासन्ति स्फुटाः सर्वाः समृद्धयः ॥११॥ - सर्व-समृद्धि - अष्टक-२०, ज्ञानसार

^{६२४}. या सृष्टिर्ब्रह्मणो बाह्या, बाह्यापेक्षावलम्बिनी।

मुनेः परानपेक्षाऽन्तर्गुणसृष्टिस्ततोऽधिका ॥११॥ - सर्व-समृद्धि-अष्टक-२०, ज्ञानसार

^{६२५}. ज्ञानार्णव सर्ग-३, गाथा - ६, १०, १७

“योगी इन्द्रियों को जीतने वाला, कषायों पर विजय पाने वाला तथा वेद के खेद से रहित होता है।”^{६२६} अहम् और ममत्व का विसर्जन होने से उसमें समत्वभाव प्रकट होता है। योग की साधना से मन की शुद्धि बढ़ती जाती है और विषय-कषाय घटते जाते हैं। आचार्य हरिभद्रसूरि ने योगशतक में योग के अधिकारी की चर्चा करते हुए कहा है कि- अपुनर्बन्धक चरमपुद्गलावर्त में विद्यमान जीव योगमार्ग के अधिकारी है।^{६२७} जीव जब चरमपुद्गलावर्त स्थिति (संसार-परिभ्रमण का अन्तिम कालखण्ड) में होता है, तब कषाय बहुत मन्द होते हैं। यहीं से योग के आरम्भ होता है। साधना में आगे बढ़ते हुए जीव जब अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ-चारों कषायों का क्षय, उपशम या क्षयोपशम करता है, तब वह सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है। मन की विशुद्धि बढ़ती जाती है। साधना में प्रगति करते हुए जब वह अप्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया और लोभ- इन चारों कषायों का क्षय, क्षयोपशम या उपशम करता है, तब वह अणुव्रतादि धारण करते हुए धर्मक्रियाओं में अनुरत रहता है। अपनी भूमिका के अनुरूप योगसाधना में आगे बढ़ते हुए जब प्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया, लोभ- इन चारों कषायों का क्षय, क्षयोपशम या उपशम करता है, तब वह महाव्रत को धारण करने के योग्य होता है। समत्व की साधना करते हुए तथा आत्मा में रमण करते हुए योगी की एकाग्रता बढ़ती जाती है और एक समय ऐसा आता है कि वह संज्वलनक्रोध, मान, माया और लोभ-इन चारों कषायों का क्षय करके वीतराग अवस्था को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार सम्पूर्ण कषायों का क्षय हो जाता है।

अनाग्रहदृष्टि का विकास - योगसाधना का प्रमुख उद्देश्य यही है कि समत्व का विकास हो। समत्व के विकास होने पर वैचारिक संघर्ष समाप्त हो जाते हैं। अनाग्रहदृष्टि का विकास होता है। सारे साम्प्रदायिक, पारिवारिक, सामाजिक आग्रह छूट जाते हैं। उ. यशोविजयजी कहते हैं- “माध्यस्थ पुरुष, अथवा समत्वयोगी के अलग-अलग मार्ग एक अक्षय उत्कृष्ट परमात्मस्वरूप को उसी प्रकार प्राप्त करते हैं, जिस प्रकार नदियों के अलग-अलग प्रवाह समुद्र में मिल जाते

^{६२६}. जितेन्द्रियो जितक्रोधो मानमायानुपद्रुतः
लोभ संस्पर्शहितो वेदखेदविवर्जितः।।४६।।-योगाधिकार १५, अध्यात्मसार, उ.
यशोविजयजी

^{६२७}. अहिगारी पुण एत्थं विन्नेओ अपुणबंधगाइ त्ति। -योगशतक, गाथा नं ६, आ.
हरिभद्रसूरि

हैं।”^{६२८} वैचारिक समन्वय और वैचारिक अनाग्रह समत्वयोग का एक अपरिहार्य अंग है। समत्वयोग राग-द्वेष के द्वन्द्व से ऊपर उठाकर वीतरागता की ओर ले जाता है, अतः समत्वयोग की साधना से केवल मानसिक विषमता ही समाप्त नहीं होती है, बल्कि वैचारिक दृष्टि से पारिवारिक सहिष्णुता और समता की स्थापना भी होती है।

अनाग्रहदृष्टि को जैनदर्शन में अनेकान्तवाद या स्याद्वाद के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ‘मेरा वही सच्चा’- इस प्रकार का आग्रह अनेकान्तवाद में नहीं होता है। उ. यशोविजयजी कहते हैं-अनाग्रहीदृष्टि सभी दर्शनों के प्रति समभावपूर्ण होती है। वह किसी भी दर्शन से राग या द्वेष नहीं करती है। अन्य किसी बात के लिए भी उसका एकान्त आग्रह नहीं होता है। वह वस्तुतत्त्व का हर दृष्टिकोण से, हर पहलू से विचार करती है, अतः अनाग्रहदृष्टि का विकास करके विश्व की, राष्ट्र की, सामाजिक, पारिवारिक अनेक समस्याएँ सुलझाई जा सकती हैं और संघर्षों को समाप्त करके सुख और शांति का साम्राज्य स्थापित किया जा सकता है। यह समत्वयोग-साधना से ही सम्भव है।

साक्षीभाव का विकास - साक्षीभाव, अर्थात् ‘ज्ञातादृष्टाभाव’। साक्षी ‘इनि’ प्रत्यय लगकर दो शब्दों से बना है- सह+अक्ष+इनि। अक्ष यानी देखना। साक्षिन्, अर्थात् देखनेवाला, अवलोकन करने वाला। योगी समत्व की साधना में जैसे-जैसे आगे बढ़ता है उसका कर्ता-भोक्ता भाव समाप्त हो जाता है। जैसे-जैसे दृष्टाभाव पुष्ट होता जाता है, वह वैसे-वैसे अपने अन्तर की दुनिया में, अर्थात् आत्मा के स्वरूप में लीन होता जाता है और उसे सत्य का आभास होता जाता है। उ. यशोविजयजी ने कहा है कि ऐसा साधक “पौद्गलिक भावों का न मैं करने वाला हूँ, न कराने वाला हूँ और न मैं इसका अनुमोदन करने वाला हूँ- ऐसा चिंतन करने वाला आत्मज्ञानी साधक भोक्ता भाव में कैसे लिप्त हो सकता है।”^{६२९} वह तो सिर्फ साक्षीभाव में रहता है। गीता में भी कहा गया है- “जिसका मन अपने वश में है, जो जितेन्द्रिय एवं विशुद्ध अन्तःकरण वाला है और सम्पूर्ण प्राणियों के आत्मस्वरूप को परमात्मस्वरूप समझता है, ऐसा कर्मयोगी कर्म करते हुए भी लिप्त

^{६२८}. विभिन्ना अपि पन्थानः समुद्रं सरिताभिव ।

मध्यस्थानां परं ब्रह्म, प्रणुवन्त्येकमक्षयम् ॥६॥-माध्यस्थाष्टक, १६, ज्ञानसार

^{६२९}. नाऽहं पुद्गलभावानां, कर्ता कारयिताऽपि न ।

नानुमन्ताऽपि चेत्यात्मज्ञानवान् लिप्यते कथम् ॥२॥ -निर्लोपाष्टक -११, ज्ञानसार

नहीं होता है।”^{६३०} तीर्थंकर परमात्मा प्रतिदिन दो प्रहर उपदेश देते हैं, लेकिन मात्र साक्षीभाव से। मैं किसी का हित कर रहा हूँ, मैं कुछ कर रहा हूँ- इस प्रकार का कर्तृत्वभाव उनमें नहीं होता है। जैसे स्वप्नकाल में शरीर, मन, इन्द्रियों द्वारा जिन क्रियाओं के करने की प्रतीति होती है, जाग्रत होने के बाद मुनष्य समझता है कि न तो मैंने वे क्रियाएँ की हैं और न मेरा उनसे कोई सम्बन्ध है, उसी प्रकार निर्विकारी योग साधक बहुजनहिताय बहुजनसुखाय के कार्यों में प्रवृत्त होते हुए भी उसमें उसका कर्तृत्वभाव नहीं होता है। साक्षीभाव से वह सभी कार्य करता है, इसलिए वह राग-द्वेष से मुक्त रहता है। समत्वयोग को साथे बिना ऐसा साक्षीभाव भी सम्भव नहीं है।

ज्ञानाहंकार का विलय - जब तक अहम् रहता है, तब तक अहम् का उद्भावन नहीं होता है। व्यक्ति जब तक ज्ञान की सतह पर होता है, तभी तक उसमें ज्ञान के प्रदर्शन की भावना होगी, ज्ञान का अहंकार होगा; लेकिन जब वह ज्ञान के गहन सागर में डूब जाता है, जब ज्ञानयोग को साथ लेता है, तब उसका अहंकार भी विलुप्त हो जाता है। उ. यशोविजयजी कहते हैं-

गुणैर्यदि न पूर्णोऽसि, कृतमात्मप्रशंसया।

गणैरेवाऽसि पूर्णश्चेत् कृतमात्मप्रशंसया।^{६३१}

यदि तू गुणों से पूर्ण नहीं है, तो फिर क्यों अपनी प्रशंसा करता है? क्यों अहंकार करता है? यदि तू गुणों से पूर्ण है, तो अपनी प्रशंसा से लाभ क्या? कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञानानंद से भरपूर ज्ञानयोगी में अहंकार और आत्मप्रशंसा जैसे दुर्गुण समाप्त हो जाते हैं। ज्ञानसार में कहा गया है- जिनका स्वरूप अपेक्षारहित ज्ञानमय है और उत्कर्ष तथा अपकर्ष की कल्पनाएँ जिनकी समाप्त हो गई हैं- ऐसा व्यक्ति ज्ञानयोगी होता है। जिनकी मान-अपमान, जय-पराजय, लाभ-हानि, अनुकूल-प्रतिकूल सभी के प्रति समान दृष्टि हो जो यशकीर्ति से और लोकसंज्ञा से मुक्त हो ऐसे ज्ञानयोगी अपने ज्ञान का भी अहंकार नहीं करते हैं जैसे फलों के आने पर वृक्ष झुक जाते हैं उसी प्रकार ज्ञानयोगी भी विनम्र होते हैं। जैसे-जैसे योग क साधना से समत्व का विकास होगा तो वह अपनी ही आत्मा के समान सभी की आत्मा को अनंत ज्ञानादि से युक्त ही जानेगा। जिसने भी अपने आत्मा का स्वरूप ज्ञान लिया है, जिसे यथार्थ ज्ञान

^{६३०} योगमुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रिय।

सर्वभूतात्मभूतात्मा, कुर्वन्मपि न लिप्यते। १७।१-गीता, अध्याय -५

^{६३१} ज्ञानसार १८/१ - उ. यशोविजयजी

हो गया है यथार्थ ज्ञान होने के बाद व्यक्ति की ज्ञान शक्ति व्यापक होगी परंतु उसे अहम् नहीं होगा। वह किसी को अल्पज्ञ जानकर उसका अपमान नहीं करेगा न अपने आपको ज्ञानी मानकर उसका अहंकार करेगा। ज्ञाता द्रष्टा भाव या साक्षी भाव की साधना करते करते व्यक्ति का अहम् और मम् दोनों का विलय हो जाता है।

अष्टम अध्याय

आत्मा की आध्यात्मिक-विकास-यात्रा

आत्मा ही परमात्मा है, किंतु जीव अपने परमात्मास्वरूप को भूलकर मोह और अज्ञान की परतंत्रता के कारण संसार के सुखों में मग्न है। संसार के पाँच इन्द्रियों के विषय सुख के परिणाम अनेक प्रकार से दुःख देने वाले हैं। विषयसुखों को प्राप्त करने में दुःख, प्राप्त हुए सुख का रक्षण करने में दुःख और वियोग होने पर अपार वेदना है। ये सुख अनेक प्रकार के दुःखों से युक्त हैं। उ. यशोविजयजी द्वारा विषयाभिमुखी प्रवृत्ति के दुष्परिणाम बताते हुए ज्ञानसार में कहा गया है कि पतंगिया भ्रमर मत्स्य हाथी और हिरण ये एक-एक इन्द्रियों में आसक्त होकर जब दुर्दशा को प्राप्त करते हैं तो जो पाँच इन्द्रियों में आसक्त है उसकी क्या दशा होगी? या अतः भ्रमजालरूपी सांसारिक सुखों में से प्रीति कम करके अनंतज्ञान, अनंतदर्शन और अनंत चारित्रादि आत्मीय गुणों पर प्रीति बढ़े तथा आत्मा परमात्मपद की सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त करे- इस लक्ष्य से आत्मा की तीन अवस्थाओं का चित्रण उ. यशोविजयजी ने अपने ग्रन्थों में किया है।

अध्यात्मसार^{६३२}, योगावतारद्वात्रिंशिका^{६३३}, अध्यात्मपरीक्षा^{६३४} आदि ग्रंथों में उन्होंने १. बहिरात्मा २. अन्तरात्मा और ३. परमात्मा इन त्रिविधआत्मा की चर्चा की है।

त्रिविधआत्मा की चर्चा आगमयुग के पश्चात् लगभग पाँचवीं शताब्दी से उपलब्ध होने लगती है। सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द^{६३५} के ग्रन्थों में त्रिविधआत्मा

-
६३२. पतङ्गभृङ्गामीनेभसारङ्गा यान्ति दुर्दशाम्।
एकैकेन्द्रियदोषाच्चेद् दुष्टैस्तैः किं न पंचभिः।।११।।-ज्ञानसार
६३३. अनुभववाधिकार-अध्यात्मसारगाथा
६३४. योगावतार द्वात्रिंशिका, श्लोक -१७
६३५. (क) नियमसार गाथा १४६-५० (ख) मोक्षप्राप्त, ४

की अवधारणा मिलती है। आचार्य शुभचन्द्रजी के ज्ञानार्णव^{६३६} में भी इसकी चर्चा उपलब्ध होती है। आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र^{६३७} में त्रिविधआत्मा की चर्चा की है।

अध्यात्मसार^{६३८} में उ. यशोविजयजी ने बहिरात्मा का मुख्य लक्षण बताते हुए कहा है कि वह देह में आत्मबुद्धि वाला होता है, वह शरीरस्तर पर ही जीवन जीता है। काया में साक्षी की तरह रहा हुआ वह आत्मा अंतरात्मा है और जो काया आदि की सर्वउपाधि से मुक्त है, वह परमात्मा है। एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीव बहिरात्मा ही होते हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में भी बड़े भाग में जीव बहिरात्मा ही होते हैं, अर्थात् देह के स्तर पर जीने वाले ही होते हैं। संसार में हमेशा बहिरात्मा की अपेक्षा अंतरात्मा जीव कम ही होते हैं और अंतरात्मा से परमात्मा बनने वाले जीव उससे भी कम होते हैं। सामान्यतः मिथ्यादृष्टि को बहिरात्मा, सम्यग्दृष्टि, देशविरत श्रावक एवं सर्वविरत मुनि को अंतरात्मा और वीतराग केवली और सिद्धों को परमात्मा के रूप में वर्णित किया जाता है। आधुनिक मनोविज्ञान में भी व्यक्तित्व का जो वर्गीकरण किया गया है, उसमें अन्तर्मुखी एवं बहिर्मुखी व्यक्तित्व का जो स्वरूप बताया गया है, वह कुछ सीमा तक बहिरात्मा और अन्तरात्मा के समान है।

इस अवधारणा के बीज हमें आचारांग जैसे प्राचीनतम आगम में भी उपलब्ध होते हैं। आचारांग में यद्यपि स्पष्ट रूप से बहिरात्मा, अन्तरात्मा जैसे शब्दों का प्रयोग नहीं है, किंतु उसमें इन तीनों ही प्रकार के आत्माओं के लक्षणों का विवेचन उपलब्ध हो जाता है। बहिर्मुखी आत्मा को आचारांग में बाल, मन्द या मूढ़ के नाम से वर्णित किया गया है। ये आत्माएँ ममत्व से युक्त होती हैं और बाह्य विषयों में रस लेती हैं। अन्तर्मुखी आत्मा को पण्डित, मेधावी, धीर सम्यक्त्वदर्शी और अनन्यदर्शी के नाम से चित्रित किया गया है। अनन्यदर्शी शब्द ही उनकी अन्तर्मुखता को स्पष्ट कर देता है। इनके लिए मुनि शब्द का प्रयोग भी हुआ है। पापविरत एवं सम्यग्दर्शी होना ही अन्तरात्मा का लक्षण है। इसी प्रकार

६३६. ज्ञानार्णव -शुद्धोपयोगविचार गाथा ५, ६, ७, ८

६३७. योगशास्त्र द्वादश गाथा ७-८

६३८. कायादिर्बहिरात्मा, तदधिष्ठातान्तरात्मतामेति।

गतनिःशेषोपाधिः परमात्मा कीर्तितस्तज्जै ॥२१॥ अनुभवविधिकार -अध्यात्मसार

आचारांग में मुक्त आत्मा के स्वरूप का विवेचन भी उपलब्ध होता है। उसे विमुक्त, पारगामी तथा तर्क और वाणी से अगम्य बताया गया है।”^{६३६}

आनन्दघनजी^{६४०} एवं देवचंद्रजी^{६४१} की रचनाओं में भी आत्मा के तीनों प्रकारों का उल्लेख मिलता है।

गीता में इन्हें कृष्णपक्षी और शुक्लपक्षी के रूप में वर्णित किया गया है। उपनिषद्कालीन चिन्तन में प्रायः आत्मा के दो रूपों की चर्चा उपलब्ध होती है- १. बहिःप्रज्ञ २. अन्तःप्रज्ञ। इन दोनों प्रकार की जीवनदृष्टियों को ईशावास्योपनिषद् में- १. अविद्या और २. विद्या के रूप में वर्णित किया गया है। लक्षणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि बहिःप्रज्ञ वह है, जो भौतिक साधनों को ही प्रधान मानता है। कंचनकामिनी काया में रत रहकर जीवन-यापन करता है तथा उसमें अहम् और मम की प्रधानता होती है। अन्तःप्रज्ञ का लक्षण अन्तरात्मा के समान ही बताया है। अन्तरात्मा के केन्द्र में आत्मा रहती है। वह आत्मा को प्रधान मानकर उसके स्वरूप को प्रकट करने के लिए प्रयासरत रहता है।

कठोपनिषद्^{६४२}, छान्दोग्योपनिषद्^{६४३} तैत्तरीयोपनिषद्^{६४४} आदि में भी आध्यात्मिक-विकास की दृष्टि से आत्मा के विभिन्न स्तर बताए गए हैं, जिसके लक्षण त्रिविधआत्मा के समान ही है। भगवतीसूत्र में आत्मा के आठ प्रकार बताए गए हैं, जिनका सम्बन्ध भी त्रिविधआत्मा से है। ये आठ प्रकार निम्न हैं-

१. द्रव्यात्मा २. उपयोगात्मा ३. ज्ञानात्मा ४. दर्शनात्मा ५. चरित्रात्मा ६. वीर्यात्मा ७. योगात्मा ८. कषायात्मा। योगात्मा और कषायात्मा को छोड़कर शेष छः ही प्रकार की आत्माएँ सिद्ध परमात्मा में होती हैं, क्योंकि अनंतचतुष्टय की अपेक्षा से सिद्धपरमात्मा में ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा, चारित्रात्मा, वीर्यात्मा तो घटित होती है और आत्मद्रव्य तथा उसका लक्षण उपयोग की अपेक्षा से द्रव्यात्मा और उपयोगात्मा भी है। अरिहंत परमात्मा में शरीर होने से योगात्मा भी होती है, इस तरह अरहंत परमात्मा में सात की सत्ता होती है।

^{६३६} 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन', भाग २, पृ. ४४७
^{६४०} आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ६७ एवं सुमतिजिनस्तवन
^{६४१} विचाररत्नसार प्रश्न १७८ (ध्यानदीपिका चतुष्पदी ४, ८, ७)
^{६४२} कठोपनिषद्, ३/१३
^{६४३} छान्दोग्योपनिषद्, ३०८, ७-१२
^{६४४} तैत्तरीयोपनिषद् ३/१०

अन्तरात्मा में अविरतसम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थानक से बारहवें क्षीणमोह गुणस्थानक तक के जीव आते हैं, अतः चौथे से लेकर ग्यारहवें गुणस्थानक तक आठों आत्माओं की सत्ता रहती है, किंतु बारहवें गुणस्थानक में कषायात्मा का अभाव होने से सात की ही सत्ता होती है। अतः अन्तरात्मा में आठ या सात की सत्ता होती है। बहिरात्मा में मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शनादि की अपेक्षा से आठों ही आत्माओं की सत्ता रहती है।

साधना की दृष्टि से हम इन्हें क्रमशः पतित अवस्था, साधक अवस्था और सिद्धावस्था भी कह सकते हैं। डॉ. सागरमल जैन ने नैतिकता के आधार पर इन तीन अवस्थाओं का चित्रण किया है, जिन्हें १. अनैतिकता की अवस्था २. नैतिकता की अवस्था ३. अतिनैतिकता की अवस्था कहा है। इनमें प्रथम अवस्था वाला बहिरात्मा व्यक्ति दुराचारी या दुरात्मा है। द्वितीय अवस्था वाला अन्तरात्मा सदाचारी या महात्मा है। पण्डित सुखलालजी ने इन त्रिविधआत्माओं को- १. आध्यात्मिक अविकास की अवस्था २. आध्यात्मिक-विकासक्रम की अवस्था ३. आध्यात्मिक पूर्णता या मोक्ष की अवस्था कहा है।^{६४५} इन्हें अविकसित, विकासशील और पूर्णविकसित अवस्था भी कह सकते हैं।

चरमावर्त के पूर्व का अचरमावर्त का काल अविकसित अवस्था का काल होता है। अचरमावर्तकाल में जीव को आत्मा, परमात्मा आदि परमतत्त्वों का ज्ञान ही नहीं होता है। चरमावर्तकाल या चरमपुद्गलपरावर्तकाल में जीव को धर्म की प्राप्ति होती है और वह क्रमशः विकास करता हुआ परमात्मा की अवस्था को प्राप्त करता है।

अब हम देखेंगे की विभिन्न ग्रन्थों में आचार्यों ने बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का स्वरूप किस प्रकार बताया है, तथा किन-किन साधनों से जीव बहिरात्मा से अन्तरात्मा और अन्तरात्मा से परमात्मा बन सकता है ?

बहिरात्मा का स्वरूप - यह जीव अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है और अज्ञानता के कारण जड़भोगी जीव जड़ की अधीनता को स्वीकार करता है। भौतिक सुख सुविधा पौद्गलिक साधन उसे जिस रूप में और जितने मिले हैं, उसी के आधार पर वह अपने-आपको श्रेष्ठ मानता है तथा उस पर अपना स्वामित्व स्थापित करता है। वह बाह्य पौद्गलिक सुख-सुविधा में रचा-पचा

^{६४५}. 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन', भाग २, पृ. ४४७

रहता है। स्वभाव को भूलकर विभाव में ही विचरण करता है। इस प्रकार स्वस्वरूप की विस्मृति और पर में स्व का आरोपण ही बहिरात्मभाव है। बहिरात्मा की जीवनशैली वस्तुतः भौतिकवादी होती है। “खाओ-पीओ और मौज करो”- इस सिद्धान्त पर वह चलता है।

भारतीय दर्शनों में हम चार्वाकदर्शन को बहिरात्म-दर्शन कह सकते हैं। इसका सिद्धान्त है-

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।^{६४६}

जब तक जीओ, सुख से जीओ। ऋण करके भी घी पीओ। खाओ, पीओ, मौज करो। इस देह के भस्मीभूत होने पर, राख होने पर फिर जन्म होने वाला नहीं है। बहिरात्मा विषयों और कषायों में गृद्ध होकर अपने जीवन को व्यतीत करता है।

उपाध्याय यशोविजयजी ने बहिरात्मा के मुख्य चार लक्षण बताए हैं-

१. विषयकषाय के आवेश से युक्त - बहिरात्मा विषयकषाय में डूबा हुआ रहता है। वह कस्तूरीमृग की तरह आत्मा में सुख-शोधन के बजाए बाह्य पदार्थों में ही सुख की खोज करता है। वह पुद्गलानंदी तथा भवाभिनंदी होता है। वह स्वयं की देह, स्वजन, संपत्ति, पद, प्रतिष्ठा को ही सर्वस्व मानता है। पाँचों इन्द्रियों के विषयों में उसे गहरी आसक्ति होती है। दिन-रात भौतिक पदार्थों की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करता है। उसके क्रोधादि कषाय भी उग्र होते हैं और कषायों को वह अनुचित भी नहीं मानता है। उसका जीवन मोह व अज्ञान से युक्त तथा वासनामय होता है।^{६४७}

२. तत्त्व में अश्रद्धा - बहिर्मुखी जीवों को आत्मा, परमात्मा तथा उनके द्वारा उपदिष्ट तत्त्वों में रुचि नहीं होती है; श्रद्धा नहीं होती है। रत्नत्रय की साधना से भी उसका कोई लेना-देना नहीं होता है।

६४६. चार्वाकदर्शन

६४७. विषयकषायवेशः तत्त्वाश्रद्धा गुणेषु च द्वेषः।

आत्माऽज्ञानं च यदा बाह्यात्मा स्यात्तदा व्यक्तः॥२२॥ -अनुभवविधिकार, २०, अध्यात्मसार

३. गुणों के प्रति द्वेष - सद्गुणों और गुणीजनों के प्रति उसे द्वेष रहता है। दूसरे शब्दों में, उसे सदाचरण, व्रत तप, त्याग के प्रति अरुचि होती है।

४. आत्मा का अज्ञान - शरीर में शरीर से भिन्न आत्मतत्त्व रहा हुआ है। इस पर उसे विश्वास नहीं होता है। आत्मस्वरूप का उसे ज्ञान नहीं होता है। वह पाप का पक्षपाती होता है तथा प्रथम मिथ्यात्वगुणस्थान पर होता है।

उ. यशोविजयजी ने अपने अन्य ग्रन्थों में भी त्रिविधआत्मा का स्वरूप बताया है।

गीता^{६४८} में शुक्लमार्ग और कृष्णमार्ग की चर्चा की गई है। उसमें कृष्णमार्ग या पितृयानमार्ग से गमन करने वाले जीव अज्ञान से मोहित रहते हैं। यह अंधकार से युक्त मार्ग है, अतः इस मार्ग के अनुगामी जन्म-मरण करते रहते हैं। इस प्रकार कृष्णपक्षी जीव का स्वरूप बहुत-कुछ सीमा तक बहिरात्मा के स्वरूप से मिलता है। शुक्लमार्गी जीव का स्वरूप अन्तरात्मा से मिलता है।

नियमसार के निश्चयपरमावश्यकधिकार में आचार्य कुन्दकुन्द ने बहिरात्मा के स्वरूप को बताते हुए कहा है कि बहिरात्मा देह-इन्द्रिय आदि में आत्मबुद्धि वाला होता है तथा स्वात्मनुष्ठान रूप आवश्यक कर्म से रहित होता है। आ. कुन्दकुन्द ने यहाँ तक कहा है कि आत्मातत्त्व को भूलकर, पौद्गलिक सुख की आकांक्षा से युक्त, सत्कार आदि की प्राप्ति का लोभी, धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान से रहित होकर जो जीव स्वाध्याय, तप, प्रत्याख्यान आदि करता है, वह द्रव्य लिंगधारी, द्रव्यश्रमण भी बहिरात्मा होता है। उन्होंने आगे कहा है कि निश्चय और व्यवहार -इन दो नयों से प्रणीत जो परम आवश्यक क्रिया है, उससे जो रहित हो, वह बहिरात्मा है।^{६४९}

^{६४८}. शुक्ल-कृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।

एकया यात्यनावृत्तिमन्यथावर्तते पुनः॥२६॥- गीता, अध्यायन ८

^{६४९}. आवासएण जुत्तो समणो सो होदि अंतरंगणा

आवासयपरिहीणो समणो सो होदि बहिरण्णा॥१४६॥

अंतरबाहिरजप्पे जो वट्ठ सो हवेइ बहिरण्णा ॥१५०॥-निश्चयपरमावश्यकधिकार

-नियमसार

बहिरात्मा संकल्प-विकल्पों के जाल में उलझा हुआ आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान से युक्त होता है। मोक्षप्राभृत^{६५०} में आचार्य कुन्दकुन्द ने बहिरात्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है- “बाह्य पदार्थों में जिसका मन स्फुरित हो रहा हो तथा इन्द्रियों के विषयों में डूबकर जो निजस्वरूप से च्युत हो गया हो- ऐसा मूढ़दृष्टि पुरुष, जो अपने शरीर को ही आत्मा समझता है, वह बहिरात्मा कहलाता है।”

कार्तिकेयानुप्रेक्षा^{६५१} में बहिरात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है- “जो बाह्य परद्रव्य को आत्मा मानता है, अर्थात् जो शरीर को ही आत्मा मानता है, वह बहिरात्मा है। बहिरात्मा मिथ्यात्व से युक्त और भेदज्ञान से रहित होता है। अनंतानुबंधी कषाय का अनुसरण करते हुए वह आवेश, अहंकार, छलकपट और असंतोष का शिकार होता है। देह आदि समस्त परद्रव्यों में अहंकार और ममकार से युक्त होता हुआ बहिरात्मा कहलाता है।”

देह, माता-पिता, धन आदि संयोगजन्य हैं, किन्तु मोह के अधीन हुआ बहिरात्मा इन परद्रव्यों पर राग करता है।^{६५२}

परमात्मप्रकाश^{६५३} में योगीन्दुदेव ने आत्मा के तीन भेदों की चर्चा करते हुए बहिरात्मा का लक्षण बताते हुए कहा है कि देह को आत्मा समझता है, वह बहिर्मुखी मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा होता है। अज्ञानतावश पर पदार्थ में ही उसकी

६५०. बहिरत्ये फुरियमणो इंदियदारेण णियसरुबचुओ।

णियदेहं अप्पाणं अण्णवसदि मूढदिट्ठीओ। - मोक्षप्राभृत-अष्टप्राभृत-आ. कुन्दकुन्द

६५१. मिच्छत्तपरिणदप्पा तिव्वकसाएण सुट्ठु आविट्ठो।

जीवं देहं एककं, मण्णतो होदि बहिरप्पा।।१९३।। -लोकानुपेक्षा -कार्तिकेयानुप्रेक्षा-स्वामी कार्तिकेय

६५२. देहाविउ जे परिकहिया ते अप्पाणु मुणेइ।

सो बहिरप्पा जिणम्मणिउ पुणु संसारु भनेइ।।१०।।-योगसार -योगीन्दुदेव

६५३. मूढु वियक्खणु बंधु परु अप्पा ति -विहु हवेइ।

देहु जि अप्पा जो मुणइ सो जणु मूढु हवेइ।।१३।।-परमात्मप्रकाश -योगीन्दुदेव

सुखबुद्धि रहती है। उपाध्याय यशोविजयजी ६५४ कहते हैं कि जीव अकेला ही परभव में जाता है और अकेला ही उत्पन्न होता है, तो भी ममता के वशीभूत होकर सभी सम्बन्धों की कल्पना करता है। बहिरात्मा संयोग-सम्बन्ध को सत्य मानकर मेरे माता-पिता, मेरे भाई, मेरी बहन, मेरी पत्नी, मेरे लड़के, मेरी लड़की, ये मेरे मित्र, ये मेरे जातिबंधु और ये मेरे परिचितजन हैं- इस तरह संबंध बढ़ाता जाता है तथा उनके संयोग या वियोग होने पर सुखी या दुःखी होता है। धन के लिए कई प्रकार के आरंभ समारंभ करता है। उपाध्याय यशोविजयजी ने कहा है कि जो बहिरात्मा है तथा ममता और मिथ्यात्व के अंधकार से युक्त है, वह अंधा है, लेकिन जन्मांध से भिन्न प्रकार का है, क्योंकि वह जो नहीं है, उसे देखता है, अर्थात् जो जिस स्वरूप में नहीं है, उसे उस स्वरूप में देखता है, जैसे देह को आत्मस्वरूप मानता है, किंतु जो जन्मांध है, वह तो जो है और जो नहीं है- दोनों को देख ही नहीं पाता है। जो वस्तु जिस स्वरूप में न हो उसे उस स्वरूप में देखना ही मिथ्यात्व है, वही बहिरात्मा है। जन्मांध व्यक्ति तो किसी ज्ञानी के संयोग से वस्तु के यथार्थस्वरूप को जानकर समझ सकता है, किन्तु बहिरात्मा तो चर्मचक्षु से देखते हुए भी वस्तुस्वरूप का दर्शन विपरीत रूप में करता है।

ज्ञानार्णव ६५५ में आचार्य शुभचंद्र ने भी त्रिविधआत्मा का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए बहिरात्मा का लक्षण इस प्रकार कहा है कि जिस जीव को अज्ञानता के कारण आत्मस्वरूप का यथार्थ बोध नहीं होने से शरीरादि परपदार्थों के विषय में आत्मबुद्धि हुआ करती है, अर्थात् जो आत्मस्वरूप से अनभिज्ञ होकर शरीर को आत्मा और उससे सम्बद्ध अन्य सब ही परपदार्थों स्त्री, पुत्र, धनादि को अपना मानता है, उसे बहिरात्मा जानना चाहिए। उसकी चेतना, विवेक, बुद्धि मोहस्वपी मदिरा के द्वारा नष्ट कर दी गई है। जैसे घटूरे का पान करने पर व्यक्ति को नशा चढ़ जाता है, उसे सफेद वस्तु भी पीली दिखाई देती है, उसी

६५४. एकः परभवे याति जायते चैक एव हि ।
ममतोद्रेकतः सर्वं संबंधं कल्पयत्यथ ॥५॥
माता पिता में भ्राता में भगिनी वल्लभा च मे ।
पुत्राः सुता में मित्राणि ज्ञातयः संस्तुताश्च मे ॥७॥
ममतान्धो हि यन्नास्ति तत्पश्यति न पश्यति ।

जात्यंधस्तु यदस्त्वेतद्भेद इत्यनयोर्महान् ॥१२॥ -ममत्वत्यागाधिकार-८-अध्यात्मसार

६५५. आत्मबुद्धिः शरीरादौ यस्य स्यादात्मविभ्रमात् ।
बहिरात्मा स विज्ञेयो मोहनिद्रास्तचेतनः ॥६॥ -शुद्धोपयोगविचार-२६-ज्ञानार्णव

प्रकार बहिरात्मा पर मोह का नशा चढ़ा होता है तथा तत्त्वों को अतत्त्व और अतत्त्वों को तत्त्व मानता है, सुदेव को कुदेव और कुदेव को सुदेव, हेय को उपादेय और उपादेय को हेय मानता है।^{६५६}

योगशास्त्र में आचार्य हेमचन्द्र ने भी त्रिविधआत्मा की चर्चा में बहिरात्मा का स्वरूप बताते हुए कहा है कि शरीरादि को आत्मबुद्धि से ग्रहण करने वाले को बहिरात्मा कहते हैं। आनंदधनजी ने भगवान् सुमतिनाथ के स्तवन में बहिरात्मभाव का स्वरूपकथन इस प्रकार किया है-

आत्मबुद्धे कायाऽदिक ग्रहे
बहिराऽऽतम अघरूप सुज्ञानि।^{६५७}

शरीर को आत्मा मानकर मैं और मेरे की ममता से जब तक ग्रसित होगा, तब तक जीव बहिरात्मा कहलाता है। बहिरात्मा की अवस्था मूर्च्छित अवस्था के समान है। बेभान अवस्था में धन के प्रति आसक्ति का चित्रण करते हुए कहा गया है कि- धन, धरती में गाड़ै बौरा, धूरि आप मुख लावै।

मूषक सोंप होइगो आखर, ताते अलछि कहावै।^{६५८}

बहिरात्मा परवस्तुओं को अपनी मानकर उन पर गहरी आसक्ति रखता है। वह धन के संरक्षण के लिए धन को जमीन में गाड़ देता है और उसे धूलादि से ढक देता है परंतु वह व्यक्ति वास्तव में स्वयं के ऊपर ही धूल डाल रहा है। धन पर मूर्च्छा के कारण मरकर चूहा या सर्प बनकर उसी धन का रक्षण करता है। आगे वे कहते हैं कि एक आत्मा में दोनों अवस्थाएँ समाई हुई हैं-

तरुवर एक पंछी दोउ बैठे एक गुरु एक चेला
चेले ने जुग चुण चुण खाया गुरु निरंतर अकेला।^{६५९}

६५६. आत्मधिया: समुपात्त: कायादि: कीर्त्यतेऽत्र बहिरात्मा।

कायादे: समधिष्ठायको भवत्यंतरात्मा तु। १७। १- योगशास्त्र, द्वादशप्रकाश-आ. हेमचन्द्र

६५७. सुमतिनाथस्तवन-आनंदधनचौबीसी

६५८. श्री आनंदधनपद -६७

६५९. श्री आनंदधनपद -६८, गाथा- २

प्रस्तुत दोहे में आत्मा को वृक्ष की उपमा देकर कहा है कि आत्मरूपी वृक्ष पर बहिरात्मा और अन्तरात्मा नामक दो पंछी बैठे हुए हैं। आनंदधनजी ने बहिरात्मा को चले के स्थान पर और अन्तरात्मा को गुरु के रूप में स्थापित किया और यह बताया है कि चले के रूप में इस बहिरात्मा ने विषय-कषाय आदि के वशीभूत होकर सम्पूर्ण जगत् में, अर्थात् चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करते हुए कर्मणवर्गणारूप आटे का भक्षण किया, अर्थात् जन्म-मरण की परम्परा को बढ़ाया, जबकि गुरु रूप अन्तरात्मा ने आत्मस्थ होकर स्वस्वरूप में ही रमण किया। इस प्रकार आनंदधनजी ने बहिरात्मा को संसार में परिभ्रमण करने वाला और अन्तरात्मा को अपने में ही रमण करने वाला बताया है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जब तक जीव को आत्म और अनात्म का यथार्थ विवेक प्रकट नहीं होता है, तब तक वह बहिरात्मभाव में ही जीवन व्यतीत करता है।

बहिरात्मा की अवस्थाएँ एवं प्रकार

सामान्यतया मिथ्यादृष्टि आत्मा को बहिरात्मा कहा गया है, किन्तु व्यक्ति के मिथ्यात्वगुण में तरतमता होने से बहिरात्मा में भी तरतमता होती है और उसी तरतमता के आधार पर उसके भेद किए जा सकते हैं। द्रव्यसंग्रह टीका^{६६०} में आत्मा के तीन भेद किए गए हैं। वे इस प्रकार हैं-

१. तीव्र बहिरात्मा - सैद्धान्तिक दृष्टि से मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती आत्मा को तीव्र बहिरात्मा कहा जाता है। वस्तुतः जिसे संसार, संसार के सुख और संसार के संबंध ही अच्छे लगते हैं, जिसके विवेक का प्रस्फुटन अभी नहीं हुआ है तथा जिसे आत्मस्वरूप की जानकारी भी नहीं होती है, ऐसा गहन अज्ञान के अंधकार में डूबा हुआ ओघदृष्टि वाला जीव तीव्र बहिरात्मा कहलाता है।

२. मध्यम बहिरात्मा - सैद्धान्तिक दृष्टि से सास्वादनगुणस्थानवर्ती आत्मा को मध्यम बहिरात्मा कहा गया है। वस्तुतः जिस आत्मा ने सम्यक्त्व का आस्वादन कर लिया है, किन्तु वासनाओं और कषायों के तीव्र आवेगों के कारण उससे विमुख हो गई, अर्थात् सम्यक्त्व से पतित हो गई, वह मध्यम बहिरात्मा है। जैसे- खीर खाते

^{६६०}. द्रव्यसंग्रह टीका गाथा-१४

समय जिस विशिष्ट मधुर रस का आस्वादन होता है, उसी का वमन करते समय वैसा नहीं, किन्तु यत्किंचित् मधुर रस का अनुभव होता है; उसी प्रकार मध्यम बहिरात्मा को अनंतानुबंधीकषाय के उदय से मलिन ऐसे सम्यक्त्व का रसास्वाद आता है। उसमें वासनाओं पर विवेक का अंकुश लगाने की शक्ति नहीं होती है और आत्मा पुनः विस्मृति की दिशा में गतिशील हो जाती है।

३. मन्द बहिरात्मा - सैद्धान्तिक रूप से मिश्रगुणस्थानवर्ती आत्मा को मन्द बहिरात्मा कहा गया है। जिस आत्मा ने एक बार सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लिया है, किन्तु अपनी अस्थिर प्रवृत्ति के कारण उसमें दृढ़तापूर्वक अपने कदम को नहीं जमा पाई है, वह मन्द बहिरात्मा है। सत्यासत्य के निर्णय में जो संशयशील बनी हुई है, उसे कभी आध्यात्मिक अनुभूति का आनंद अपनी ओर आकर्षित करता है, तो कभी भौतिक आकाँक्षाएँ अपनी ओर आकर्षित करती हैं, ऐसी दुविधा की स्थिति वाले व्यक्ति को मन्द बहिरात्मा कहा गया है।^{६६९}

दूसरी दृष्टि से देखा जाए तो अचरमातर्वकाल में स्थित जीव को तीव्र बहिरात्मा कह सकते हैं, किन्तु जब जीव अचरमातर्वकाल से चरमपुद्गलपरावर्तकाल में प्रवेश करता है, तब जीव की ओषदृष्टि, अर्थात् संसाराभिमुखदृष्टि कम होती जाती है। उसके मिथ्यात्वमोह के उदय का बल कमजोर हो जाता है। इस प्रकार उसका बहिरात्मभाव भी कम होता जाता है। वह ओषदृष्टि से योगदृष्टि में प्रवेश करता है। यशोवियजजी ने आठ दृष्टि की सञ्ज्ञाय में प्रथम की चार दृष्टियों मित्रदृष्टि, तारादृष्टि, बलादृष्टि और दीप्रादृष्टि को सम्यक्त्व के पूर्व भूमिका रूप माना है उनमें मिथ्यात्व अति मंद होता है, अतः उनका बहिरात्मभाव भी मंदतम होता है। इन चारों दृष्टियों के आधार पर हम बहिरात्मा को १. मंद बहिरात्मा २. मंदतर बहिरात्मा ३. मंदतम बहिरात्मा इन तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं।

मंद बहिरात्मा - मित्रा तथा तारादृष्टि में वर्तते जीव को मंद बहिरात्मा कह सकते हैं। प्रथम मित्रादृष्टि में ही जीव को आत्मकल्याण करने की भावना शुरु हो जाती है। मोहनीयकर्म की शक्ति कम हो जाती है, जिससे विषयाभिलाषा

^{६६९}. त्रिविध आत्मा की अवधारणा -साध्वी प्रियलताश्री

और कषाय भी मंद हो जाते हैं। यशोविजयजी^{६६२} कहते हैं कि मित्रादृष्टि में आत्मबोध तृण की अग्नि के समान अतिशय अल्प तथा तारादृष्टि में कण्डे (उपले) की अग्नि के समान अल्प होता है। इस प्रकार दोनों दृष्टि में आत्मतत्त्व का ज्ञान निर्बल होता है। इन दृष्टियों का अधिकारी जीव भोगरसिक से कुछ अंश में आत्मगुण का रसिक बनता है, अतः उसमें बहिरात्मभाव निर्बल होने से उसे मंद बहिरात्मा कह सकते हैं।

मंदतर बहिरात्मा - जब जीव को तीसरी बलादृष्टि की प्राप्ति होती है, तब उसका आत्मबोध भी बढ़ता है। उ. यशोविजयजी^{६६३} कहते हैं कि बलादृष्टि में जीव का बोध काष्ठ की अग्नि के समान होता है और उसमें तत्त्वश्रवण की इच्छा जाग्रत होती है और संसाराभिमुखता घटती है। इस दृष्टि में बहिरात्मभाव अल्प होने से इसे मंदतर बहिरात्मा कह सकते हैं।

मंदतम बहिरात्मा - यह स्थिति मिथ्यात्वगुणस्थानक का अन्तिमकाल और सम्यक्त्व प्राप्ति के ठीक पूर्व के काल के समय की है। इस समय जीव को चौथी दीप्रा नामक दृष्टि की प्राप्ति होती है। “इसमें दीपक की प्रभा के समान ज्ञानगुण विकसित होता है तथा जीव को सद्गुरु के पास में तत्त्वश्रवण का योग प्राप्त होता है।”^{६६४}

उ. यशोविजयजी दीप्रादृष्टि का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जीव को इस दृष्टि में भाव प्राणायाम की प्राप्ति होती है। इसमें बाह्यभावों का रेचन होता है, अशुभभाव आत्मा से दूर होते हैं तथा अंतरभावों का पूरक प्राणायाम होता है, अर्थात् बाह्यभावों की विमुखता और आत्मभाव की सन्मुखता बढ़ती है। क्रोध-मान-माया, लोभ, आसक्ति, तृष्णा, राग, द्वेष आदि दुर्गुणरूपी बाह्यभाव को हेय तथा क्षमा, नम्रता, सरलता, संतोष आदि उत्तमगुणरूप आध्यात्मिक भावों को

६६२. ऐह प्रसंग थी में कहु, प्रथम दृष्टि हवे कहीए रे
जिहां मित्रा तिहां बोध जे, तृण अग्निश्योलहीये रे ॥६ ॥
दर्शनतारा दृष्टि मां मनमोहनमेरे, गोमय अग्नि समान -आठदृष्टि की सज्जाय-उ.
यशोविजयजी

६६३. त्रीजी दृष्टि बला कही जी, काष्ठअग्नि सम बोध।
दोप नहीं आसन सधेजी,, श्रवण समीहा शोध।
रे जिनजी, धम-धम तुज उपदेश ॥११॥-वही

६६४. “योगदृष्टि चौथी कहीनी, दीप्रा तिहां न उत्थान
प्राणायाम ते भावथीजी, दीप प्रभासम ज्ञान। -आठदृष्टि की सज्जाय -उ. यशोविजयजी

उपादेय जानकर जीव गुणप्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है। प्राप्त किए हुए गुणों को स्थिर करना कुंभकभाव प्राणायाम है। यहाँ बाह्यभाव नगण्य हो जाता है, अतः इसे मंदतम बहिरात्मा कह सकते हैं।

काल की अपेक्षा से यदि बहिरात्मा का भेद करें, तो बहिरात्मा के तीन भेद इस प्रकार हो सकते हैं-

१. अनादि अनंत बहिरात्मा - सभी जीवों का बहिरात्मभाव अनादिकाल से हैं, किंतु जो जीव अभव्य होते हैं, वे कभी भी मोक्ष को नहीं जा सकते हैं, अतः उनकी पौद्गलिक सुख के प्रति लालसा बनी रहती है। उनका बहिरात्मभाव अनंतकाल तक रहने वाला होने से उन्हें अनादिअनंत बहिरात्मा कह सकते हैं। इसी प्रकार जातिभव्य भी अनादिअनंत बहिरात्मा होते हैं, क्योंकि युक्ति के योग्य होते हुए भी उनकी मुक्ति सम्भव नहीं है।

२. अनादिसान्त बहिरात्मा - जो भव्यजीव हैं, उनमें भी बहिरात्मभाव अनादि से ही है, किन्तु भव्यजीव होने से भविष्य में उनका मोक्ष संभव है। बहिरात्मभाव को छोड़े बिना अन्तरात्मा नहीं बना जा सकता है और अन्तरात्मा बने बिना परमात्मा नहीं बना जा सकता है। उनके बहिरात्मभाव का कभी न कभी अंत होने से उन्हें अनादिसान्त बहिरात्मा कह सकते हैं।

३. सादिसान्त बहिरात्मा- जो जीव बहिरात्मभाव को छोड़कर अन्तरात्मभाव को प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु उसमें स्थिर नहीं रह पाते हैं, वे एक बार सम्यक्त्व प्राप्त कर पुनः पतन के गर्त में गिर जाते हैं। जिसने एक बार बहिरात्मभाव से अन्तरात्मभाव प्राप्त किया है और पुनः बहिरात्म भाव में चला गया, तो भी उस जीव का बहिरात्मभाव अधिक से अधिक देशोनार्धपुद्गल परावर्त तक ही रहता है, फिर वह निश्चित ही अन्तरात्मभाव प्राप्त कर परमात्मपद को प्राप्त करता है इसलिए उस जीव को सादिसान्त बहिरात्मा कह सकते हैं।

बहिरात्मा और पुरुषार्थ - विभिन्न ग्रन्थों में पुरुषार्थ चार प्रकार के बताए गए हैं- १. धर्मपुरुषार्थ २. अर्थपुरुषार्थ ३. कामपुरुषार्थ और ४. मोक्षपुरुषार्थ। इन चार प्रकार के पुरुषार्थों में से काम और मोक्ष- ये दो पुरुषार्थ साध्य हैं और उनके उपायभूत अर्थ और धर्म- ये दो पुरुषार्थ साधन स्वरूप हैं। अर्थ के उपार्ज से कामसुख (भोगसामग्री) की प्राप्ति होती है। बहिरात्मा कामसुख के अर्थी होते हैं, अर्थात् पौद्गलिक सुख की ओर ही उनकी दृष्टि रहती है। अतः कामसुख के अर्थी जीव सतत अर्थोपार्जन में व्यस्त रहते हैं। इस प्रकार हम कह

सकते हैं, कि बहिरात्मा में मुख्य रूप से अर्थपुरुषार्थ और कामपुरुषार्थ ही प्रधान रहता है। बहिरात्मा अर्थपुरुषार्थ और कामपुरुषार्थ के अर्था होते हैं।

बहिरात्मा और लेश्या - लेश्या कर्म के निर्झर के रूप में है। जैसे निर्झर नित नए-नए रूप में प्रवाहित होता है, उसी प्रकार लेश्या का प्रवाह एक जीव के साथ अपने असंख्य रूप दिखलाता है। जीव के बदलते हुए परिणाम या मनोभावों और उनके आधार पर कर्मवर्गणाओं से बने हुए आभामण्डल को लेश्या कहा जाता है। मनोभावों को भावलेश्या और कर्मवर्गणा से निर्मित व्यक्ति के आभामण्डल को द्रव्यलेश्या कहा जा सकता है। मनोभाव शुभ व अशुभ- दो प्रकार के होते हैं। इन मनोभावों की तरतमता के आधार पर जैनदर्शन में छः लेश्या मानी गई हैं-

१. कृष्णलेश्या २. नीललेश्या ३. कापोतलेश्या ४. तेजोलेश्या ५. पद्मलेश्या ६. शुक्ललेश्या।

इनमें प्रथम तीन लेश्याएँ अशुभ और अन्तिम तीन लेश्याएँ शुभ होती हैं, किन्तु प्रश्न यह उठता है कि बहिरात्मा में कितनी तथा कौन-कौन सी लेश्याएँ होती हैं? सामान्यतया हम यह सकते हैं कि बहिरात्मा में तीनों अशुभ लेश्याएँ ही होती हैं, क्योंकि बहिरात्मा सदैव मिथ्यादृष्टि ही होते हैं और अनंतानुबंधीकषाय का उदय जब तक है, लेश्या अशुभ ही बनी रहती है। यद्यपि भावलेश्या की अपेक्षा से शुभलेश्याएँ भी सम्भव हैं, किन्तु द्रव्यलेश्या तो अशुभ ही रहती है।

कषाय को लेकर यदि हम बहिरात्मा पर विचार करें, तो अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ- चारों का उदय बहिरात्मा में होता है, अतः हम कह सकते हैं कि बहिरात्मा में अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन- इन चारों प्रकार के क्रोध, मान, माया और लोभ, अर्थात् सोलह प्रकार की कषाय होती हैं।

बहिरात्मा और उपयोग - ग्रन्थों में उपयोग के बारह भेद बताए गए हैं। तीन अज्ञान, पाँच ज्ञान और चारदर्शन ये बारह जीव के उपयोग हैं। इन उपयोगों में से बहिरात्मा में तीन अज्ञान तथा तीन दर्शन- इस तरह छः उपयोग पाए जाते हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं- १. मति अज्ञान २. श्रुत अज्ञान ३. विभंगज्ञान ४. चक्षुदर्शन ५. अचक्षुदर्शन ६. अवधिदर्शन।

बहिरात्मा में मिथ्यात्व का उदय होने से उनका ज्ञान, अज्ञान की कोटि में आता है, अतः बहिरात्मा में पाँचों ज्ञानों में से एक भी ज्ञान नहीं होता है, साथ ही केवलदर्शन भी नहीं होता है।

बहिरात्मा के स्वरूप को जानने के बाद अब हम अन्तरात्मा के स्वरूप का चित्रण करेंगे।

अन्तरात्मा का स्वरूप

बहिरात्मा जीव जब संसार के भौतिक सुखों से थक जाता है, अथवा जब उसे सुख के बदले दुःख ही प्राप्त होता है, और उसे भौतिक सुख की क्षणभंगुरता, पराधीनता आदि समझ में आती है, तब उसे संसार के प्रति निर्वेद उत्पन्न होता है। वह संसार से विमुख होने लगता है और उसकी अंतरखोज प्रारम्भ हो जाती है। ऐसे भयंकर संसारसमुद्र से उद्विग्न बनी जाग्रत आत्मा पूर्ण प्रयत्न से संसाररूपी समुद्र के पार जाने की इच्छा रखती है।^{६६५}

सद्गुरु के समागम से, शास्त्रों के पठन से उसका भेदज्ञान स्पष्ट होने लगता है। आत्मनिरीक्षण की प्रक्रिया में बहिरात्मा प्रगति करते हुए मिथ्यात्व की पकड़ को छोड़ देती है और अंतरात्मा बन जाती है।

उ. यशोविजयजी अंतरात्मा के स्वरूप का चित्रांकन करते हुए कहते हैं- “जब तत्त्वों के ऊपर श्रद्धा, ज्ञान, महाव्रत, अप्रमत्तदशा की प्राप्ति होती है तथा मोह जब परास्त हो जाता है, तब अंतरात्मा व्यक्त होती है।”^{६६६} तात्पर्य यह है कि जो जीव समकित की प्राप्ति के बाद परमात्मा बनने की दिशा में अंतर्मुख होकर अपना पुरुषार्थ आरंभ कर दे, ऐसी आत्माओं को अंतरात्मा कहते हैं। उ. यशोविजयजी अंतरात्मा की पवित्रता की चर्चा करते हुए कहते हैं- “जो समतारूपी कुण्ड में स्नान करके पाप से उत्पन्न मल का त्याग कर पुनः मलिन नहीं होता है, वह अन्तरात्मा परम पवित्र है।”^{६६७} चतुर्थ गुणस्थानक से बारहवें गुणस्थानक तक

^{६६५} ज्ञानी तस्माद् भवाम्भोधेनित्योद्विग्नोऽतिदारुणात् ।

तस्य सन्तरणोपायं सर्वयत्नेन कांक्षति ॥५॥-भवोद्वेग-२२, ज्ञानसार-उ. यशोविजयजी

^{६६६} तत्त्वश्रद्धा ज्ञानं महाव्रतान्यप्रमादपरता च ।

मोहजयश्च यदा स्यात् तदान्तरात्मा भवेद् व्यक्तः ॥२३॥-अनुभवाधिकार-अध्यात्मसार

^{६६७} यः स्नात्वा समताकुण्डे, हित्वा कश्मलजं मलम् ।

आत्मा अंतरात्मा कहलाती है। अंतरात्मा को हेय, ज्ञेय, उपादेय आदि का विवेक जाग्रत हो जाता है तथा संसार में रहते हुए भी वह अलिप्त भाव से जलकमलवत् निर्लेप होकर संसार में रहती है। अंतरात्मा संसार में रहते हुए भी उसके हृदय में संसार की स्थापना नहीं रहती है। उसका संसार में उसी प्रकार व्यवहार रहता है, जैसा कि धायमाता का दूसरों के बालक के साथ होता है। कहा भी गया है-

“सम्यग्दृष्टि जीवड़ा करे कुटुम्ब प्रतिपाल।
अन्तर थी न्यारो रहे, ज्यो धाय खिलावे बाला।।”

कुन्दकुन्दाचार्य ने मोक्षपाहुड ^{६६८} आत्मसंकल्परूप आत्मा को अन्तरात्मा कहा है। उनकी दृष्टि में अन्तरात्मा वही है, जिसने भेदविज्ञान के द्वारा स्व पर आत्म-अनात्म का विवेक उपलब्ध कर लिया है। उन्होंने अन्तरात्मा के तीन लक्षणों को स्पष्ट किया है- १. अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि होती है। २. वह सदैव अष्टकर्मों को नष्ट करने के लिए प्रयासरत रहती है और ३. सदैव अपने आत्मस्वरूप में रमण करती है।

अन्तरात्मा बने जीव स्वस्वरूप का ध्यान करते हुए परद्रव्य से पराङ्मुख रहते हैं तथा सम्यक्वचारित्र का निरतिचार पालन करते हुए परमात्मपद को प्राप्त कर लेते हैं।

नियमसार ^{६६९} में कुन्दकुन्द ने अन्तरात्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जो निजस्वरूप ध्यान में मग्न रहता है तथा सम्पूर्णरूप से अन्तर्मुख रहते हुए शुभ तथा अशुभ सभी विकल्पों से मुक्त होता है, वह अन्तरात्मा होता है। उनकी दृष्टि में अन्तरात्मा निरंतर धर्म ध्यान और शुक्लध्यान का आलम्बन लिए हुए रहता है तथा आर्तध्यान और रौद्रध्यान से सदैव दूर रहता है। अन्तरात्मा में स्थित वह मोहनीयकर्म को क्षीण करता है। वह संसार को तृणवत् समझता है, अर्थात् उसकी दृष्टि में संसार और पौद्गलिक पदार्थों का कोई मूल्य नहीं रहता है।

^{६६८} पुनर्न याति मालिन्यं, सोऽन्तरात्मा परः शचिः॥५॥-विद्याष्टक, १४, ज्ञानसार अंतरणा हु अप्संकल्पो। ६/५

सद्दब्बरओ सवणो सम्माइही हवेइ णियमेण।

सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुइइकम्माणि॥१४॥-मोक्षप्राभृत (६/५, १४) -अष्टप्राभृत

^{६६९} जापसु जो ण वट्टइ सो उच्चइ अंतरंगणा॥१५०॥

जो धम्मसुक्कझाणहि परिणदो सो वि अंतरंगणा॥१५१॥-नियमसार

उ. यशोविजयजी कहते हैं- “सुखशीलता के प्रवाह का अनुसरण करने वाली वृत्ति बहिरात्मा की होती है। अंतरात्मा की वृत्ति संसार के प्रवाह के विपरीत आत्मरमणता में होती है।”^{६७०}

स्वामी कार्तिकेय अंतरात्मा का स्वरूप बताते हुए उसके तीन लक्षणों को स्पष्ट करते हैं-

१. जिनवचन में प्रवीणता २. भेदज्ञान से युक्त और ३. अष्टमदविजेता।^{६७१}

जब तक प्राणी को जिनवाणी का सम्यक् ज्ञान नहीं होता है, तब तक उसमें विवेक भी जागृत नहीं होता है, अतः स्वामी कार्तिकेय ने अन्तरात्मा से परमात्मा तक पहुंचने के लिए जिनवचनों को समझने वाली निर्मलबुद्धि को जीव के लिए आवश्यक बताया है। भेदज्ञान भी इसी से उत्पन्न होता है। भेदज्ञान की दुर्लभता को उ. यशोविजयजी ने ज्ञानसार में स्पष्ट किया है। उन्होंने कहा है कि संसार में देह और आत्मा का अभेदरूप अविवेक, अर्थात् देह में आत्मबुद्धि सर्वदा सुलभ है, किन्तु उसका भेदज्ञान कोटि भवों में भी उपलब्ध नहीं होता है। अतः भेदज्ञान अतिदुर्लभ है और अन्तरात्मा का प्रमुख लक्षण भी है। तीसरा लक्षण अष्टमद विजेता बताया है। जाति, लाभ, कुल, रूप, तप, बल, विद्या और ऐश्वर्य-इन अष्टमद से अन्तरात्मा ग्रसित नहीं होगा। उ. यशोविजयजी ने भी इस बात को स्पष्ट करते हुए कहा है- “रूपवती दृष्टि, अर्थात् बहिरात्मा ही रूप को देखकर रूप (पुद्गल) पर मोहित होती है, जबकि रूपरहित दृष्टि, अर्थात् अन्तरात्मा तो आत्मा में ही मग्न रहती है,”^{६७२} अतः नश्वर, क्षणभंगुर ऐश्वर्यादि का मद उसमें कहाँ से होगा? अन्तरात्मा परमात्मा बनने के लिए अनेक कक्षाओं से गुजरता है। उसके आधार पर स्वामी कार्तिकेय ने अन्तरात्मा के तीन भेद किए हैं-

^{६७०}. आनुश्रौतसिकी वृत्तिर्बालानां सुखशीलता ।

प्रातिश्रौतसिकी वृत्तिज्ञानिनां परमं तपः ॥२॥-तपाष्टक-३१, ज्ञानसार

^{६७१}. जे जिनवयणे कुसलो, भेयं जाणति जीवदेहाणं ।

णिज्जियदुद्धमया, अन्तर अप्पा य ते तिविहा ॥९६४॥-लोकानुप्रेक्षा-कार्तिकेयानुप्रेक्षा

^{६७२}. रूपे रूपवती दृष्टिर्दृष्ट्वा रूपं विमुह्यति ।

मज्जत्यात्मनि नीरूपे, तत्त्वदृष्टिस्त्वरूपिणी ॥१॥-तत्त्वदृष्टि - अ. १६-ज्ञानसार

१. जघन्य अन्तरात्मा २. मध्यम अन्तरात्मा ३. उत्कृष्ट अन्तरात्मा। उन्होंने अविरतसम्यग्दृष्टि जीव को जघन्य अन्तरात्मा कहा तथा उसके तीन प्रमुख गुण बताए हैं- (१) “परमात्मा का परम भक्त (२) आत्मनिन्दक (३) गुणानुरागी।”^{६७३}

चारित्र मोहनीयकर्म के उदय से जघन्य अन्तरात्मा व्रतादि ग्रहण नहीं कर सकते हैं, परंतु उनकी श्रद्धा दृढ़ होती है तथा वे अपने विभाव परिणामों की निंदा करते ही रहते हैं।

मध्यम अन्तरात्मा का स्वरूप बताते हुए स्वामी कार्तिकेय कहते हैं- “जो जिनवचनों में अनुरक्त होते हैं, जिसके कषाय मन्द होते हैं, जो सत्त्वशाली होते हैं, जो प्रतिज्ञा से चलित नहीं होते हैं, ऐसे व्रतयुक्त श्रावक तथा प्रमत्तसाधु मध्यम अंतरात्मा होते हैं।”^{६७४}

उन्होंने उत्कृष्ट अन्तरात्मा के भी तीन महत्त्वपूर्ण लक्षण प्रतिपादित किए- १. पंचमहाव्रत से युक्त २. नित्य धर्मध्यान और शुक्लध्यान में स्थित ३. निद्रा आदि प्रमादों के विजेता।^{६७५} इस प्रकार अंतरात्मा का उन्होंने विस्तार से वर्णन किया है।

योगीन्दुदेव ने परमात्मप्रकाश में अन्तरात्मा का स्वरूप निरूपण करते हुए कहा है- “जो देह से भिन्न ज्ञानमयी आत्मा को जानता है तथा परमसमाधि में रहते हुए विवेक से युक्त होता है, वह अन्तरात्मा है।”^{६७६} उन्होंने स्पष्ट किया कि बहिरात्मा तो त्याज्य है, लेकिन परमात्मा की अपेक्षा से अंतरात्मा भी हेय है, अतः शुद्ध परमात्मा का ही ध्यान करने योग्य है। मंजिल तो परमात्मा ही है।

६७३. अविरयसम्महिट्ठी होंति जहण्ण जिणंदपयभत्ता।

अप्याणं णिंदता, गुणगहणे सुट्ठुअणुरत्ता।।१९७।। -लोकानुप्रेक्षा -कार्तिकेयानुप्रेक्षा

६७४. सावयगुणेहिं जुत्ता, पमत्तविरदा य मज्झिमा होंति।

जिणवयणे अणुरत्ता, उवसमसीला महासत्ता।।१९६।। -वही

६७५. पंचमहव्वयजुत्ता, धम्मे सुवके वि संठिदा णिच्चं।

णिज्जियसयलपमाया, उविकट्ठा अन्तरा होंति।।१९६।।-वही

६७६. देह-विभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु णिएइ।

परम-समाहि-परिट्ठियउ पंडिउ सो जि हवेइ।।१४।।-परमात्मप्रकाश -योगीन्दुदेव

योगीन्दुदेव ने योगसार में अंतरात्मा के लिए पण्डित आत्मा का प्रयोग किया है। उन्होंने कहा है- “जो परमात्मा को, अर्थात् शुद्धआत्मस्वरूप को समझता है, और जो परभाव का त्याग करता है, उसे पंडित-आत्मा या अंतरात्मा कहते हैं।”^{६७७} आगे वे स्पष्ट करते हैं कि “आत्मास्वरूप को जाने बिना व्रत, तप, संयम, शील आदि महत्त्व नहीं रखते हैं, क्योंकि इनसे उपाजित पुण्य से जीव स्वर्ग में जाता है, मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता है। जो पुण्य-पाप, दोनों को छोड़कर आत्मा को जानता है, वही अन्तरात्मा परमात्मा बन सकता है।”^{६७८} इस प्रकार हम देखते हैं कि योगीन्दुदेव ने साधना के क्षेत्र में आत्मज्ञान को सर्वाधिक महत्त्व दिया है।

आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव में अन्तरात्मा का स्वरूप आलेखित करते हुए कहा है- “अन्तरात्मा शरीर से शरीरधारी को भिन्न देखता है।”^{६७९} मैं कौन हूँ और मेरा क्या स्वरूप है, इस प्रकार का चिन्तन अन्तरात्मा की ओर ले जाता है। उन्होंने कहा है- “मैं शरीरादि से भिन्न, राग-द्वेषादि से रहित, अमूर्तिक, शुद्ध तथा ज्ञानमय हूँ”, इस प्रकार के आत्मविषयक संकल्प का नाम अन्तरात्मा है। उन्होंने ज्ञानार्णव के २८वें सर्ग में न केवल अन्तरात्मा का, अपितु उसके तीन भेदों का भी संकेत किया है।

पाहुड़दोहा^{६८०} में मुनिरामसिंह ने भेदज्ञान पर जोर देते हुए कहा है कि जिसने ज्ञानस्वरूपी आत्मा को देह से भिन्न जान लिया, वही अन्तरात्मा है। भेदज्ञान के बाद अन्य ज्ञान को जानने से भी क्या?

आचार्य हेमचन्द्राचार्य^{६८१} ने शरीरादि के अधिष्ठाता को अंतरात्मा कहा है। शरीर का मैं अधिष्ठाता हूँ, शरीर में रहने वाला हूँ, शरीर मेरा घर है या

६७७. जो परियाणइ अप्पु परु जो परभावचणइ ।
सो पंडित अप्पा मुणहु सो संसारु मुणइ ॥८॥-योगसार-योगीन्दुदेव
६७८. वउ तव संजमु सीलु जिय ए सव्वई अकयत्थु ।
जाव ण जाणइ इक्क परु सुद्धउ भाउ पवित्तु ॥३१॥
पुण्णि पावइ सग्ग जिउ पावई जरय-णिवासु ।
बे छंडिचि अप्पा मुणइ तो लब्भइ सिववासु ॥३२॥-योगसार-योगीन्दुदेव
६७९. बहिरात्माथं विज्ञानी पृथक् पश्यति देहिनम् ॥११॥ -ज्ञानार्णव -शुभचन्द्र
६८०. बुज्झहु बुज्झहु जिणु भणइ को बुज्झइ हंलि अण्णु
अप्पा देहइ णाणमउ छुडु बुज्झियउ विभिण्णु ॥४१॥ -पाहुड़दोहा-रामसिंह

शरीर का मैं दृष्टा हूँ, धन स्वजनादि पर हैं, शुभाशुभ कर्मविपाकजन्य सारे संयोग-वियोग हैं, इस प्रकार जानकर संयोग में हर्षित नहीं होता हैं, वियोग में दुःखी नहीं होता हैं, ऐसे ज्ञाता व दृष्टा की तरह रहने वाले अंतरात्मा कहलाते हैं। गीता में जो स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताए हैं, वह अन्तरात्मा के स्वरूप के समान ही हैं। गीता में स्थितप्रज्ञ के स्वरूप का कथन इस प्रकार किया है- जिस पुरुष की इन्द्रियाँ इन्द्रियों के विषयों से विरक्त हैं, जिसका मन स्थिर है, वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है। जैसे कछुआ सब ओर से अपने अंगों को समेट लेता है, वैसे ही अन्तरात्मा या स्थितप्रज्ञ इन्द्रियों के विषयों से इन्द्रियों को सब प्रकार से हटा लेता है। साथ ही दुःखों की प्राप्ति होने पर उसके मन में उद्वेग नहीं होता है और सुखों की प्राप्ति में वह सर्वथा निःस्पृह रहता है। उसके राग, भय, क्रोधादि नष्ट हो जाते हैं। ऐसा अन्तरात्मा ही परमात्मा बनता है। इस बात को गीता में स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि अन्तरात्मा आत्मा में ही रमण करने वाला, आत्मज्ञान में ही रहने वाला, परमात्मा के साथ एकत्व को प्राप्त कर ब्रह्म (परमात्मा) बन जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गीता में स्थितप्रज्ञ के लक्षणों में आत्मज्ञान को प्रमुख बताया गया है।^{६८२}

अन्तरात्मा एक साधक अवस्था है और साध्य परमात्मा है। साधक अन्तरात्मा का संत आनंदधन ने भी स्तवनों और पदों के माध्यम से सुंदर चित्रण किया है। वे भगवान् समुतिनाथ के स्तवन में अन्तरात्मा को अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं-

कायादिक नो हो साखि घर रद्धोः

अन्तर आतमरूप सुज्ञानि।^{६८३}

६८१. कायादेः समधिष्ठायको भवत्यंतरात्मा तु।७।।

पृथगात्मानं कायात्पृथक् च विद्यात्सवात्मनः कायं

उभयोर्भेदज्ञाताऽत्मनिश्चये न स्वलेद् योगी।६।।-योगशास्त्र-द्वादशप्रकाश-हेमचन्द्राचार्य

६८२. यदा संहरते चायं कूर्मोऽग्दानीव सर्वशः

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।५८।।

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तज्योतिरेव यः।

स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।।२४।।- गीता

६८३. समुतिनाथ स्तवन-आनंदधन चौबीसी

शरीरादि सारी प्रवृत्तियों में जो निर्लिप्त रहकर मात्र साक्षीरूप में ही रहता है, वह अन्तरात्मा कहलाता है। अनंतज्ञान, दर्शन, चारित्र्य से मुक्त आत्मा जब अपने स्वरूप का चिंतन करती है, तब उसे अनुभव होता है कि इंद्रियादि 'पर' हैं। शरीर और बाह्य सम्बन्ध भी पर हैं। उसे संसारी सम्बन्ध त्याज्य लगते हैं। राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करने की भावना जाग्रत होती है और स्वयं अति विशुद्ध सनातन ज्योतिर्मय है, यह विचार जिसे आ जाता है, वह अन्तरात्मा है।

डॉ. सागरमल जैन^{६८४} लिखते हैं- “बाह्य विषयों से विमुख होकर अपने अन्तर में झांकना अन्तरात्मा का लक्षण है।”

अंतरात्मा एक साधक अवस्था है। इसे विकासशील अवस्था भी कह सकते हैं। चूँकि यह अवस्था न शून्य है, न ही पूर्ण है। यह मध्य की अवस्था है। अन्तरात्मा से परमात्मा तक पहुँचने में बहुत सीढ़ियाँ पार करना पड़ती हैं, अतः सभी अन्तरात्माओं के परिणाम एक जैसे नहीं होते हैं। किसी ने चलना ही प्रारम्भ किया है, कोई मध्य में पहुँचा है और कोई मंजिल के समीप है। विभिन्न अवस्थाओं के आधार पर अन्तरात्मा के तीन भेद किए गए हैं, जिसका वर्णन कार्तिकेयानुप्रेक्षा^{६८५}, द्रव्यसंग्रहटीका^{६८६} एवं नियम सार की तात्पर्यवृत्ति टीका^{६८७} में उपलब्ध होता है।

उ. यशोविजयजी ने भी आठ दृष्टि की सञ्ज्ञाय में जो अन्तिम की चार दृष्टियाँ बताई हैं, उनका भी अन्तरात्मा की अवस्थाओं के समान ही वर्णन किया गया है।

अन्तरात्मा के तीन भेद इस प्रकार हैं-

१. जघन्य अन्तरात्मा - आत्मा को जिस साध्य को साधना हो, उसके साधनों का परिपूर्ण ज्ञान होना चाहिए। जब तक सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है, तब तक अज्ञानावस्था में व्यक्ति बहिरात्मा कहलाता है, लेकिन जैसे ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, वह अन्तरात्मा की श्रेणी में आ जाता है। जघन्य अन्तरात्मा के वर्ग में अविरतसम्यग्दृष्टि जीव आते हैं। अविरतसम्यग्दृष्टि उसे कहते हैं, जिसका दृष्टिकोण तो सम्यक् होता है, किन्तु आचरण सम्यक् नहीं

^{६८४} 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन', भाग २, पृ. ४४७

^{६८५} कार्तिकेयानुप्रेक्षा - १८७

^{६८६} द्रव्यसंग्रहटीका - गा.-१४

^{६८७} नियमसार तात्पर्यवृत्तिटीका गा.-१४६

होता है। उसके आगे लगा हुआ अविरत विशेषण इस तथ्य को सूचित करता है कि वह सत्य को जानते हुए भी उसका आचरण नहीं कर पाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आचारपक्ष की अपेक्षा से वह बहिरात्मा है, किन्तु विचारपक्ष की अपेक्षा से वह अन्तरात्मा है। सामान्यतया सभी जैनाचार्यों ने अविरतसम्यग्दृष्टि को अन्तरात्मा ही माना है।

उपाध्याय यशोविजयजी^{६८८} कहते हैं कि अविरतसम्यग्दृष्टि में पाँचवीं स्थिरा नाम की दृष्टि का उद्भव होता है। यहीं से आत्मा का वास्तविक अभ्युदय आरम्भ होता है। इसमें चार भावों की प्राप्ति होती है— १. रत्न की प्रभा के समान बोध २. सूक्ष्मबोध नामक गुण की प्राप्ति ३. भ्रान्तिदोष का त्याग ४. प्रत्याहार नामक योगांग की प्राप्ति।

जिस प्रकार रत्न की प्रभा परद्रव्यालंबन वाली नहीं होती है, स्वाभाविक होती है, स्थिर और स्पष्ट होती है, उसी प्रकार स्थिरादृष्टि में सम्यग्दर्शन के प्राप्त होने पर दृश्य वस्तु का दर्शन भी स्पष्ट और स्थिर होता है। अविरति के उदय से पूर्वबद्ध पुण्योदयजन्य पौद्गलिक सुखों में काया द्वारा वर्तन होने पर भी मन अनासक्त ही रहता है। रात-दिन सुखों के बीच रहने पर भी मन से निर्लेप रहता है। ऐसी निर्लेपावस्था स्थिरादृष्टि में, चतुर्थ गुणस्थानक से शुरू होती है। यही सम्यग्ज्ञान का फल है। जिस प्रकार एक बार जिसने बंगले में रहने के सुख का अनुभव कर लिया हो, उसे झोपड़े में रहने का मन नहीं होता है; उसी प्रकार जिसने एक बार ज्ञान के आनंद का अनुभव कर लिया हो, तो उसे शब्दादि संबंधी पंचेन्द्रियों के विषयसुख में प्रवृत्ति नहीं होती है। आत्मा और आत्मिक गुणों के सिवाय जगत् के कोई भी पदार्थ आत्महित करने वाले नहीं, मात्र मोह उत्पन्न करने वाले हैं और भव की परम्परा को बढ़ाने वाले हैं, यह उसे समझ में आ जाता है।

तत्त्वविषयक ज्ञान भी निर्मल और शुद्ध होता है। आचार्य हरिभद्र ने योगदृष्टिसमुच्चय^{६८९} में स्थिरादृष्टि के अन्तर्गत कहा है कि सम्यग्दृष्टि को समग्र

^{६८८}. दृष्टि धिरा माहे दर्शन, नित्ये रतनप्रभा सम जाणो रे
भ्रान्ति नहीं वली बोध ते, सूक्ष्म प्रत्याहार वरवाणो रे।।११।।-स्थिरादृष्टि-आठदृष्टि की
सज्जाय-उ. यशोविजयजी

^{६८९}. बालधूलीगृहक्रीडा-तुल्याऽयां भाति धीमताम्।
तमोग्रन्थिबिभेदेन, भवचेष्टारिवलैव हि।।१३५।।-योगदृष्टिसमुच्चय-आ. हरिभद्रसूरि

सांसारिक चेष्टा क्रिया-प्रक्रिया बालकों द्वारा खेल-खेल में मिट्टी के बनाए हुए घर के समान प्रतीत होती है, इसलिए सम्यग्दृष्टि संसार में रहते हुए भी संसार में आसक्त नहीं होते हैं और इसीलिए उन्हें हम जघन्य अन्तरात्मा कह सकते हैं।

मध्यम अन्तरात्मा - देशविरतसम्यग्दृष्टि नामक पंचम गुणस्थानक से लेकर उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थान तक स्थित आत्माएँ मध्यम अन्तरात्मा के अन्तर्गत आती हैं। जैन-परम्परा में साधना का प्रवेशद्वार सम्यग्दर्शन है। प्रवेशद्वार में प्रवेश करने के बाद जैसे-जैसे ज्ञान बढ़ता है, वैराग्यभाव भी बढ़ता जाता है। वह चिन्तन करता है कि संसार का उच्छेद किस प्रकार हो? आत्मा का शुद्ध स्वरूप कैसे प्राप्त हो? इस प्रकार चिंतन करते-करते सम्यग्ज्ञान द्वारा देश-विरति और सर्वविरतिभाव की तरफ जाने के लिए आत्मा प्रेरित होती है। इस प्रकार साधना के क्षेत्र में गतिमान साधक के दो प्रकार हैं- १. व्रतधारी श्रावक २. महाव्रतधारी श्रमण।

चूँकि मध्यम अन्तरात्मा में देशविरतिसम्यग्दृष्टि गुणस्थान से ले उपशान्तमोह गुणस्थान तक सात गुणस्थानों की सत्ता होती है। इस आधार पर हमें यह मानना होगा कि मध्यम अन्तरात्मा के भी अनेक उपविभाग हैं। यहाँ हम मध्यम अन्तरात्मा के तरतमता की दृष्टि से तीन भेद कर सकते हैं-

१. निम्न मध्यम अन्तरात्मा
२. मध्यम-मध्यम अन्तरात्मा
३. उत्तम-मध्यम अन्तरात्मा।

देशविरति को निम्न-मध्यम अन्तरात्मा, सर्वविरत को मध्यम-मध्यम अन्तरात्मा और आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान से उपशान्तमोह गुणस्थान तक श्रेणी-आरोहण करने वाली आत्मा को उत्तम-मध्यम अन्तरात्मा कहते हैं।

निम्न मध्यम अन्तरात्मा - इसमें देशविरतिश्रावक आते हैं, जो आंशिक रूप से सम्यक् आचार का पालन करते हैं। सभी गृहस्थश्रावक साधना की दृष्टि से समान नहीं होते हैं। उनमें भी श्रेणीभेद होता है।

हरिभद्रसूरि, आ. हेमचन्द्र आदि जैनाचार्यों ने अपने ग्रन्थों में श्रावकाचार का एक सरलतम प्रारूप भी निर्धारित किया है। श्रावक के आचार को चार भूमिकाओं में विभाजित किया जा सकता है-

१. सात व्यसन का त्याग २. मार्गानुसारी के पैंतीस गुण ३. श्रावक के बारहव्रत ४. श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएं। हमने यहाँ विस्तार के भय से श्रावकाचार का सम्पूर्ण विवेचन न करके मात्र संकेत ही किया है।

मध्यम-मध्यम अन्तरात्मा (सर्वविरत अन्तरात्मा) - मध्यम- मध्यम अन्तरात्मा के अन्तर्गत सर्वविरत मुनिवर्ग को समाहित किया जाता है। गुणस्थान की अपेक्षा से सर्वविरत के दो विभाग किए जाते हैं।

१. प्रमत्तसंयत २. अप्रमत्तसंयत।

कोई भी सर्वविरत जीवनपर्यन्त न तो सर्वथा अप्रमत्त रह सकता है, न ही प्रमत्त रहता है। इस कारण दोनों ही गुणस्थानवर्ती मुनि मध्यम-मध्यम अन्तरात्मा के अन्तर्गत ही सन्निहित हैं। इस अवस्था में मुनिजीवन के आवश्यक कर्तव्यों का पालन अनिवार्य है। ये आवश्यक कर्तव्य निम्न हैं-

पंचमहाव्रत, पंचसमिति, तीन गुप्तियों का पालन आवश्यक है। दिगम्बर परम्परानुसार मूलाचार में श्रमण के २८ गुण बताए गए हैं। श्वेताम्बर परम्परानुसार^{६६०} २७ मूलगुण बताए गए हैं, जो निम्न हैं-

(१-६) पंचमहाव्रत के पालनसहित रात्रिभोजनत्याग (७-१२) छःकाय जीव की रक्षा (१३-१७) पंचेन्द्रिय पर विजय (१८) लोभत्याग (वैराग्य) (१९) क्षमा धारण करना (२०) भाव शुद्ध रखना (२१) प्रत्युपेक्षणादि क्रिया की शुद्धि (२२) विनय वैयावच्च, स्वाध्यायादि संयम के व्यापारों का सेवन (२३-२५) मन-वचन-काया की दुष्ट प्रवृत्ति का निरोध (२६) शीत आदि परिषह सहन करना (२७) मरणांत उपसर्ग सहन करना।

उत्तराध्ययनसूत्र, दशवैकालिकसूत्र, आवश्यकनिर्युक्ति आदि ग्रन्थों में मुनिजीवन के स्वरूप का विस्तार से विवेचन किया गया है। यहाँ हमने मात्र संकेत ही किया है।

६६०. छव्ययच्छकायरकखा, पंचिदियलोहनिग्गहोखंती।

भावविसोहि पडिले हणाइकरणे विसुद्धी य ॥२८॥

संजमजोए जुत्तो अकु सलमणवयणकायसंरोहो।

सीयाइपीउसहणं, मरणंत उवसग्गसहणं चं ॥२९॥-संबोधसत्तरी-रत्नशेखरसूरी

उत्तम-मध्यम अन्तरात्मा - इसमें उन आत्माओं का समावेश है, जो श्रेणी चढ़ना प्रारम्भ करते हैं। साधक आध्यात्मिक विकास के मार्ग में दो मार्गों से आरोहण कर सकता है- १. उपशमश्रेणी और २. क्षपकश्रेणी।

कुछ साधक विषयों और कषायों को उपशमित करते हुए, अर्थात् दबाते हुए अपनी विकास यात्रा करते हैं। जैसे गंदे पानी में फिटकड़ी घुमाने पर गंदगी नीचे जम जाती है और जल स्वच्छ दिखाई देता है, किंतु थोड़ा भी हिलने पर पुनः गंदा हो जाता है, उसी प्रकार उपशमित विषयकषाय पुनः अभिव्यक्त होकर साधना की उच्चतम अवस्था से साधक को गिरा देते हैं, पर जो साधक कर्मों का क्षय करते-करते, अर्थात् क्षपकश्रेणी से अपनी यात्रा प्रारम्भ करते हैं और बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान को प्राप्त कर लेते हैं, इस प्रकार वे उत्कृष्ट अन्तरात्मा के पद पर पहुँच जाते हैं।

उत्तम-मध्यम-अन्तरात्माओं में, उपशमश्रेणी से आरोहण करने वाली आत्माओं में आठवें गुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती आत्माएँ आती हैं तथा जो क्षपकश्रेणी से आरोहण करते हैं, उन आत्माओं में आठवें से दसवें गुणस्थान तक की आत्माएँ होती हैं। इन अन्तर आत्माओं को उत्तम-मध्यम कहने का कारण यही है कि इनमें किसी न किसी रूप में संज्वलन कषाय की सत्ता बनी रहती है।

उत्कृष्ट अन्तरात्मा - उत्कृष्ट अन्तरात्मा में बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान पर रही हुई आत्माएँ आती हैं। यहाँ मोहनीयकर्म की सत्ता पूर्णतः समाप्त हो जाती है, इसलिए इन्हें क्षीणमोहवीतराग भी कहा जाता है। यह शीघ्र ही परमात्म अवस्था को प्राप्त कर लेती है।

उपाध्याय यशोविजयजी ने आठदृष्टि की सज्जाय में छठवीं कान्तादृष्टि तीव्र शुद्धि वाली बताई है। इस दृष्टि में “तारे के प्रकाश के समान ज्ञान होता है। तत्त्वबोध नामक गुण की तथा धारणा नामक योगांग की प्राप्ति होती है तथा अन्य श्रुत के परिचय और सहवास का त्याग होता है।”^{६६९} इसमें देशविरति श्रावक और छठे सातवें गुणस्थानवर्ती साधु भी आ जाते हैं। प्रभादृष्टि में सातवें-दसवें गुणस्थानवर्ती मुनि आते हैं। “इसमें ज्ञान सूर्य की प्रभा के समान होता है और

^{६६९} छट्टी दिट्टी रे हवे कान्ता कहँ, तिहां ताराभ प्रकाश।

तत्त्वमीमांसा रे दृढ होये, धारणा नही अन्यश्रुत नो संवास।।१५।।

-कान्तादृष्टि ६, आठदृष्टि की सज्जाय, उ. यशोविजयजी

ध्यान नाम का योगांग प्राप्त होता है।”^{६६२} योगदृष्टिसमुच्चय में कहा गया है कि सातवीं प्रभादृष्टि में ध्यानदशा, उसका अनुपम सुख, निर्मल बोध, असंग अनुष्ठान की प्राप्ति जीव को होती है, जो अल्पकाल में ही केवलज्ञानादि गुणों को प्रदान करता है। विशिष्ट कोटि के अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती तथा क्षपकश्रेणी के काल में वर्तते आत्माओं की इस प्रकार की दृष्टि होती है।^{६६३}

“आठवीं परा नामक दृष्टि में श्रेष्ठ समाधि प्राप्त होती है और चंद्र की तरह निर्मल बोध होता है। अपने आत्मस्वभाव में ही रहने की प्रवृत्ति इस दृष्टि में होती है।”^{६६४} क्षपकश्रेणी के गुणस्थानवर्ती साधक को इस प्रकार की दृष्टि होती है।

उपर्युक्त उल्लेख से हम कह सकते हैं कि जघन्य अन्तरात्मा में स्थिरादृष्टि होती है। मध्यम अन्तरात्मा में कान्ता और प्रभादृष्टि होती है तथा उत्कृष्ट अन्तरात्मा में परा दृष्टि होती है, जो परमात्मा अवस्था तक बनी रहती है।

अन्तरात्मा और पुरुषार्थ - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष- इन चारों प्रकार के पुरुषार्थ में जघन्य अन्तरात्मा, अर्थात् अविरतसम्यग्दृष्टि में अर्थपुरुषार्थ और कामपुरुषार्थ मुख्य रहता है तथा धर्मपुरुषार्थ और मोक्षपुरुषार्थ गौण रहता है। यह आचार की अपेक्षा से कहा गया है, विचार में तो उसके भी धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ की प्रधानता रहती है। मध्यम अन्तरात्मा में पाँचवें गुणस्थान से बारहवें गुणस्थानवर्ती साधक आते हैं। उस दृष्टि से पाँचवें गुणस्थानवर्ती देशविरति श्रावकों में अर्थपुरुषार्थ और कामपुरुषार्थ- दोनों रहते हैं, लेकिन गौण रूप में तथा धर्मपुरुषार्थ और मोक्षपुरुषार्थ की उनके जीवन में प्रधानता रहती है, लेकिन छठवें गुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती साधकों में धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ ही रहता है, अर्थ और काम पुरुषार्थ नहीं होता है।

^{६६२}. अर्कप्रभा सम बोध प्रभा मां ध्यानप्रिया में दिड्डी ।। 119 ।।

-प्रभादृष्टि 9, आठदृष्टि की सञ्ज्ञाय-यशोविजयजी

^{६६३}. सत्प्रवृत्तिपदं चेहासंगानुष्ठानसंज्ञितम् ।

महापथप्रयाणं य-दनागामिपदावहम् ।। 190५ ।। -योगदृष्टिसमुच्चय -हरिभद्रसूरी

^{६६४}. दृष्टि आठमी सार समाधि, नाम परा तस जाणु जी

आप स्वभावे प्रवृत्ति पूरण, शशिसम बोध वखाणु जी ।

- परादृष्टि -८, आठदृष्टि की सञ्ज्ञाय-यशोविजयजी

उत्कृष्ट अन्तरात्मा में मात्र मोक्ष पुरुषार्थ ही रहता है, वह धर्म को मोक्षपुरुषार्थ का मात्र साधन मानता है।^{६६५}

अन्तरात्मा के लिए हितशिक्षाएँ

बहिरात्मा से अन्तरात्मा बनने के लिए सूचना रूप कुछ हितशिक्षाएँ उ. यशोविजयजी ने अध्यात्मसार में उल्लेखित की हैं, जिन्हें हम प्रस्तुत कर रहे हैं-

१. सर्वप्रथम उ. यशोविजयजी ने अन्तरात्मा की कोटि में आने के लिए महत्त्वपूर्ण लक्षण बताते हुए कहा है कि साधक आगमतत्त्व का निश्चय करके हमेशा श्रद्धा और विवेकपूर्वक यत्न करे।
२. लोकसंज्ञा का त्याग करे।
३. आध्यात्मिक मार्ग में आगे बढ़ने के लिए आवश्यक है कि साधक किसी की निंदा नहीं करे। “दोष वादे च मौनं” इस प्रकार की स्वाभाविक प्रकृति रखे।
४. पापियों के प्रति (बहिरात्मा) धिक्कारभाव नहीं रखे, मध्यस्थ भाव रखे।
५. गुणवानों के प्रति अहोभाव, आदर के साथ ही अल्पगुणी पर प्रीति रखें।
६. बालक के पास से भी हितवचन ग्रहण करना, नम्रता रखना।
७. पर की आशा का त्याग करना, साथ ही संयोगों को बंधनरूप जानना।

^{६६५}. निश्चित्यागमतत्त्वं तस्मादुत्सृज्य लोकसंज्ञां च
 श्रद्धाविवेक सारं यतितत्त्वं योगिना नित्यं ॥३८॥
 निंदो न कोऽपि लोकः पापिष्ठेष्वपि भवस्थितिश्चिन्त्या ॥
 पूज्या गुणगरिमाद्दया धार्यो रागो गुणलवेऽपि ॥३९॥
 ग्राह्य हितमपि बालादालापैर्दुर्जनस्य न द्वेष्यम् ।
 त्यक्तव्या च पराशा पाशा इव संगमा ज्ञेयाः ॥४०॥
 - अनुभवाधिकार-२०, अध्यात्मसार, उ. यशोविजयजी

८. स्वयं की प्रशंसा होने पर गर्व धारण नहीं करना और निंदा होने पर क्रोधित नहीं होना, अर्थात् मान-अपमान में समभाव धारण करना।
९. धर्माचार्यों की सेवा करना तथा तत्त्व जिज्ञासा रखना।
१०. मन-वचन-काया की पवित्रता, स्थिरता, निर्दभता (मायाचार का अभाव) वैराग्य भाव (संसार पर अनासक्तभाव) रखना।
११. आत्मनिग्रह (इन्द्रियदमन)- उत्तराध्ययन में भी कहा गया है कि अप्पा दंतो सुही होई, अस्सि लोए परम्यच -आत्मा का दमन करने वाला इहलोक और परलोक में सुखी होता है।
१२. परमात्म भक्ति- भक्ति के उ. यशोविजयजी ने चार सोपान बताए हैं- १. प्रीतियोग २. भक्तियोग ३. वचनयोग ४. असंगयोग (परमात्मा के साथ एकरूप होना)
१३. एकान्तस्थल का सेवन।
१४. सम्यक्त्व की स्थिरता।
१५. प्रमादरूपी शत्रु का विश्वास नहीं करना इसलिए भगवान् महावीर ने भी कहा है- 'सयमं गोमयं मा पमायए' -हे गौतम! एक समय का प्रमाद मत कर।
१६. आत्माज्ञान के प्रति निष्ठा।
१७. कुविकल्पों का त्याग।
१८. आगमों पर दृढ़ श्रद्धा सर्वत्र आगमशास्त्रों को अग्रस्थान प्रदान करना। हरिभद्रसूरि ने आगमों की महत्ता बताते हुए कहा है- "अणाहा कंहं हुंता न हुतो जई जिणागमो", अर्थात् जो जिनागम नहीं होते, तो हमारे जैसे अनाथ की क्या दशा होती?
१९. तत्त्व का साक्षात्कार करना (आत्मसाक्षात्कार)।
२०. ज्ञानानंद की मस्ती में रहना।^{६६६}

६६६. स्तुत्या स्मयो न कार्यः कोपोऽपि च निन्दया जनैः कृतया ।
सेव्या धर्माचार्यास्तत्त्वं जिज्ञासनीयं च ॥४१॥
शौचं स्थैर्यमदंभो वैराग्यं चात्मनिग्रहः कार्यः ।
दृश्या भवगतदोषाश्चिन्तयं देहादिवैरूपयम् ॥४२॥

इस प्रकार उ. यशोविजयजी ने उपर्युक्त तथ्यों को उजागर करते हुए यह सूचित किया है कि बहिरात्मा से अन्तरात्मा बनने के लिए और ऊपर के गुणस्थान में आरोहण के लिए इनका पालन करना आवश्यक है।

परमात्मा का स्वरूप

आत्मा का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप परमात्मा कहलाता है। जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा परमात्मा है। प्रत्येक जीव में शिव है। उसका उद्घोष है- “अप्पा सो परम अप्पा”, अर्थात् आत्मा ही परमात्मा है। सत्ता की दृष्टि से बीजरूप में प्रत्येक आत्मा में परमात्मस्वरूप रहा हुआ है, किन्तु कर्मों के घनीभूत आवरण के कारण उसका शुद्ध स्वरूप अप्रकट है। कर्मों का क्षय होने पर उसका शुद्ध स्वरूप प्रकट होता है।

उ. यशोविजयजी ने सर्वउपाधि से रहित आत्मा को परमात्मा माना है। उन्होंने मुख्य रूप से सिद्ध परमात्मा की व्याख्या करते हुए कहा है कि परमात्मा कायादि उपाधियों से रहित होता है। परमात्मस्वरूप के मुख्य चार लक्षण उन्होंने बताए हैं, वे इस प्रकार हैं-

१. केवलज्ञान २. योगनिरोध ३. समग्र कर्मों का क्षय ४. सिद्धिनिवास।
ये लक्षण उन्होंने सिद्ध परमात्मा को लक्ष्य में रखकर कहे हैं।

जैनदर्शन में परमात्मा के दो प्रकार माने गए हैं-

१. अरिहन्त २. सिद्धपरमात्मा

१. अरिहन्तपरमात्मा -

जब तक केवल ज्ञान प्रकट नहीं होता है, तब तक परमात्मस्वरूप प्रकट नहीं होता है। जब तक ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय- इन चार घाति कर्मों का क्षय न हो, तब तक केवलज्ञान प्रकट नहीं होता है। चार

भक्तिर्भगवति धार्या सेव्यो देशः सदा विविक्तश्चं

स्थातव्यं सम्यक्त्वे विश्वस्यो न प्रमादरिपुः ॥४३॥

ध्येयात्मबोधनिष्ठा सर्वत्रैव षः पुरस्कार्यः।

त्यक्तव्याः कृविकल्पाः स्थेयं वृद्धानुवृत्त्या च ॥४४॥

साक्षात्कार्यं तत्त्वं चिद्रूपानंदं मेदुरैर्भाव्यम्

हितकारी ज्ञानवतामनुभववेद्यः प्रकारोऽयम् ॥४५॥- अनुभवाधिकार-२०, अध्यात्मसार, उ.

यशोविजयजी

घाति कर्मों के क्षय के बाद अनंतचतुष्टय, अर्थात् अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतवीर्य, अनंतसुख का प्रकटन हो गया है, वह अरिहन्त परमात्मा कहलाते हैं। जब तक आयुष्य पूर्ण नहीं हुआ हो और चार अघाति कर्मों का क्षय नहीं हुआ हो, तब तक सदेह विचरते हुए परमात्मा हैं। अरिहन्तपरमात्मा सर्वज्ञ, वीतराग और निर्विकल्प होते हैं। अन्य परम्परा की शब्दावली में हम इन्हें जीवनमुक्त भी कह सकते हैं, क्योंकि अरिहन्त परमात्मा चरम शरीरी होते हैं, अर्थात् वे इस शरीर के पश्चात् अन्य शरीर को धारण नहीं करते हैं और चारों अघाती कर्मों के क्षय के पश्चात् सिद्धावस्था प्राप्त कर लेते हैं।

अरिहन्त परमात्मा दो प्रकार के होते हैं-

१. सामान्यकेवली २. तीर्थंकर

सामान्यकेवली और तीर्थंकर- दोनों में अनंतचतुष्टय की अपेक्षा से कोई भिन्नता नहीं है। दोनों ही अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य के स्वामी होते हैं, किन्तु तीर्थंकर में इतना विशेष होता है कि वे केवलज्ञान के पश्चात् चतुर्विध तीर्थ (संघ) की स्थापना करते हैं और धर्ममार्ग का पुनः प्रवर्तन करते हैं। साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ की स्थापना करने के कारण वे तीर्थंकर कहलाते हैं।

तीर्थंकर शब्द का उल्लेख स्थानांगसूत्र, समवायांग, भगवतीसूत्र, ज्ञाताधर्मकथा, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र में उपलब्ध होता है, किन्तु कालक्रम की दृष्टि से ये सभी आगम परवर्ती माने गए हैं। प्राचीन स्तर के आगमों में आचारांगसूत्र, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययनसूत्र, दशवैकालिकसूत्र और ऋषिभाषित आते हैं, किन्तु इन आगमग्रन्थों में केवल उत्तराध्ययन में ही तीर्थंकर शब्द प्राप्त होता है। आचारांगसूत्र आदि ग्रन्थों में अर्हन्त शब्द का प्रयोग ही अधिक प्राप्त होता है। आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में भूतकाल और भविष्यकाल के अर्हन्तों की अवधारणा मिलती है।^{६६७} आत्म उपलब्धि की दृष्टि से तो सामान्य केवली (सर्वज्ञ) और तीर्थंकर में कोई अन्तर नहीं है, किन्तु जैन-परम्परा में सामान्य केवली की अपेक्षा तीर्थंकर की कुछ विशेषताएँ मानी गई हैं। हम यहाँ तीर्थंकर की विशेषताएँ बताते हुए सामान्य केवली से अंतर स्पष्ट करेंगे।

^{६६७} आचारांगसूत्र १/४/१/१ उद्धृत: जैनदर्शन में त्रिविध आत्मा की अवधारणा, पृ. ३०१-साध्वी प्रियलताश्री

१. तीर्थंकर प्रथम पद में होते हैं, जबकि सामान्य केवली पाँचों पद में होते हैं।

२. तीर्थंकर पद नामकर्म के उदय से प्राप्त होता है, जबकि सर्वज्ञ क्षायिकभाव से प्राप्त होता है।

३. तीर्थंकर नरक तथा देवगति से आने वाली आत्मा ही बनती है, जबकि सामान्य केवली चारों गतियों में से आने वाले बन सकते हैं।

४. तीर्थंकर परमात्मा, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, पंचम एवं एकादश गुणस्थानों का स्पर्श नहीं करते हैं, जबकि सामान्य केवली सिर्फ ग्यारहवें गुणस्थान का ही स्पर्श नहीं करते हैं।

५. तीर्थंकर को वेदनीयकर्म शुभ और अशुभ- दोनों प्रकार का होता है, किन्तु शेष तीन अघातिकर्म (नाम, गोत्र, आयुष्य) एकांतशुभ होते हैं, जबकि सामान्य केवली का सिर्फ आयुष्यकर्म ही एकान्तशुभ होता है, शेष तीनों कर्म शुभ या अशुभ हो सकते हैं।

६. तीर्थंकर केवलीसमुद्घात नहीं करते हैं, जबकि सामान्य केवली शेष कर्म आयुष्यकर्म के बराबर न हो, तो 'केवलीसमुद्घात' करते हैं।

७. सभी तीर्थंकरों का संस्थान समचतुरस्र ही होता है, जबकि सामान्य केवली को छहों में से कोई भी संस्थान हो सकता है।

८. तीर्थंकर स्वयंबुद्ध होते हैं, जबकि सामान्य केवली स्वयंबुद्ध और बुद्धबोधित (गुरु द्वारा बोधित)- दोनों हो सकते हैं।

९. तीर्थंकरों के गणधर होते हैं, जबकि सामान्य केवली के गणधर नहीं होते हैं।

१०. दो तीर्थंकरों का मिलन नहीं होता है, जबकि केवली मिल सकते हैं।

११. तीर्थंकरों की संख्या सभी क्षेत्रों में मिलकर एकसाथ जघन्य २० तथा उत्कृष्ट १७० होती है, जबकि सामान्य केवलियों की जघन्य संख्या २ करोड़ और उत्कृष्ट संख्या ६ करोड़ होती है।

१२. तीर्थंकरों के विशेष पुण्य के कारण निम्न पंचकल्याणक महोत्सव मनाए जाते हैं-

१. गर्भकल्याणक २. जन्मकल्याणक ३. प्रव्रज्याकल्याणक ४. केवल्यकल्याणक ५. निर्वाणकल्याणक। सामान्य केवली के कल्याणक-महोत्सव नहीं होते हैं।

१३. सभी तीर्थकरों के चौतीस अतिशय होते हैं, जिनमें से कुछ अतिशय सहज होते हैं, कुछ अतिशय देवकृत होते हैं और कुछ अतिशय कर्मक्षयज होते हैं, जबकि सामान्य केवलियों के अतिशय हों ही, यह आवश्यक नहीं है।

१४. तीर्थकरों के वाणी के पैंतीस अतिशय होते हैं, जबकि सामान्य केवलियों में इनका होना आवश्यक नहीं है।

१५. तीर्थकर चतुर्विध संघ की स्थापना करते हैं, जबकि सामान्य केवली नहीं करते हैं।

१६. सभी तीर्थकर अमूक होते हैं, अर्थात् सभी धमदेशना देते हैं, जबकि सामान्य केवली मूक और अमूक- दोनों होते हैं।

१७. सभी तीर्थकरों को संयम ग्रहण करते ही चतुर्थ मनःपर्यवज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, जबकि सामान्य केवलियों के लिए ऐसा कोई नियम नहीं है।

१८. तीर्थकरों को गर्भ में भी अवधिज्ञान रहता है और वे अवधिज्ञानसहित जन्म लेते हैं। सामान्य केवलियों के लिए इस प्रकार का नियम नहीं है।

१९. सभी तीर्थकरों की माता उनके गर्भ में आने पर चौदह महास्वन देखती हैं, जबकि सामान्य केवलियों के लिए यह नियम नहीं है।

२०. पूर्वजन्म में तीर्थकर दो भव से नियमतः सम्यग्दृष्टि होते हैं, जबकि सामान्य केवलियों के लिए यह आवश्यक नहीं है।

२१. तीर्थकरों के शरीर की जघन्य अवगाहना सात हाथ और उत्कृष्ट ५०० धनुष्य होती है, जबकि सामान्य केवलियों की जघन्य अवगाहना दो हाथ और उत्कृष्ट अवगाहना पाँच सौ धनुष्य हो सकती है।

२२. तीर्थंकरों का आयुष्य जघन्य बहन्तर वर्ष और 'उत्कृष्ट चौरासी लाख पूर्व का होता है, जबकि सामान्य केवलियों का जघन्य आयुष्य नौ वर्ष और उत्कृष्ट एक करोड़ पूर्व हो सकता है।^{६६८}

अरिहन्त परमात्मा के दोनों भेदों का अन्तर स्पष्ट करने के बाद एक अन्य अपेक्षा से अरिहन्त परमात्मा के जो दो भेद और बताए गए हैं, उनकी चर्चा हम संक्षेप में कर रहे हैं।

अरिहन्त परमात्मा के "१. संयोगीकेवली और २. अयोगीकेवली-इस तरह दो भेद होते हैं।"^{६६९} जिनके मन-वचन और काया के योग (प्रवृत्ति) होते हैं, वे तेरहवें गुणस्थानवर्ती संयोगीकेवली कहलाते हैं, किन्तु जब आयुष्यकर्म अत्यल्प रह जाता है तब वे मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियों का निरोध करते हैं तथा वे अयोगीकेवली कहलाते हैं।

इस प्रकार अरिहन्त के स्वरूप-कथन के पश्चात् अब हम सिद्धों के स्वरूप पर चर्चा करेंगे। उसके बाद विभिन्न आचार्यों के परमात्मा के विषय में जो मंतव्य हैं, उन्हें प्रस्तुत करेंगे।

सिद्ध का स्वरूप

सिद्धावस्था समस्त कर्मों के क्षय का परिणाम है। जिसके अष्टकर्म नष्ट हो गए हैं और जो सभी दोषों से रहित और सर्वगुणसम्पन्न होते हैं तथा जो सिद्धशिला पर विराजित हैं, वे सभी आत्माएँ सिद्ध परमात्मा की कोटि में आती हैं। जैसे बीज के जल जाने पर अंकुर उत्पन्न नहीं होता है, वैसे ही कर्मबीज के जल जाने पर जन्म-मरण की परम्परा समाप्त हो जाती है। "जीव अजीव आदि नौ तत्त्वों में अन्तिम तत्त्व मोक्ष है। मोक्ष तत्त्व जीव का चरम और परम लक्ष्य है। जिस आत्मा ने अपने समस्त कर्मों को क्षय कर अव्याबाध सुख को प्राप्त कर लिया है और कर्मबन्धन से मुक्ति हो गई है, जिन्होंने केवलज्ञान की सम्पदा उपलब्ध कर ली है, जिनके जन्म-मृत्यु रूप चक्र की गति रुक गई है, जिन्होंने

^{६६८}. तीर्थंकरचरित्र-पृ. ७, मुनि सुमेरमल लाडनू

^{६६९}. सजोगकेवली। अजोगकेवली षड्खण्डागम -१/१/२१-२२

सदा-सर्वदा के लिए मुक्तावस्था, अर्थात् सत्-चित् और आनन्दमय शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि कर ली है, वे सिद्ध कहे जाते हैं।^{७००}

आचारांग^{७०१} में सिद्धावस्था को प्राप्त शुद्धात्मा का स्वरूप बताने में असमर्थता व्यक्त की गई है, क्योंकि तर्क वहाँ पहुँचता नहीं है और बुद्धि की वहाँ गति नहीं है। शुद्धात्मा कर्ममलरहित ओज (ज्योति) स्वरूप है। समग्र लोक का ज्ञाता है। वह न लम्बा है, न छोटा है, न गोल है, न तिकोना है, न चौकोर है, न परिमंडल है, उसकी अपनी कोई आकृति नहीं है। न काला है, न नीला है, न लाल है, न पीला है, न शुक्ल है, उसका कोई रूप नहीं है। न सुगंध वाला है न दुर्गंध वाला है, उसमें कोई गंध नहीं है। न तीखा है, न कड़ुआ है, न कसैला है, न खट्टा है, न मीठा है, उसका कोई रस नहीं है। न कर्कश है, न मुलायम है, न भारी है, न हल्का है, न ठंडा है, न गरम है, न स्निग्ध है, न रूक्ष है, न शरीर रूप है, न जन्म-मरण करने वाला है, न संगवान् है। न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक हैं, अर्थात् अवेदी है। वह समस्त पदार्थों को विशेष और सामान्य रूप से जानता है। शुद्धात्मा को समझाने के लिए कोई उपमा नहीं है। वह अरुपी सत्ता है। वह अवस्थारहित है। वह शब्द, रूप, गंध, रस स्पर्श नहीं है। इन शब्दों द्वारा वाच्य भौतिक पदार्थ (पुद्गल) होते हैं, मगर आत्मा इनमें से कुछ भी नहीं है, अतः वह अवक्तव्य है।

इस प्रकार आचारांगसूत्र का यह विवरण परवर्ती जैनदर्शन के विवरण की अपेक्षा आत्मा के औपनिषदिक विवरण के अधिक निकट है।

उत्तराध्ययन के ३१वें अध्ययन में सिद्ध परमात्मा के ३१ गुण बताए गए हैं, किन्तु वहाँ उनके नामों का उल्लेख नहीं है। उत्तराध्ययन के टीकाकार भावविजयजी ने सिद्ध परमात्मा के निम्न ३१ गुणों का उल्लेख किया है^{७०२} - ५ संस्थानाभाव, ५ वर्णाभाव, २ गन्धाभाव, ५ रसाभाव, ८ स्पर्शाभाव, ३ वेदाभाव, अकायत्व, असंगत्व और अजन्मत्व। अष्टकर्म के क्षय के आधार पर सिद्ध परमात्मा के निम्न आठ गुण भी माने गए हैं-

^{७००} जैनदर्शन में त्रिविध आत्मा की अवधारणा -साध्वी प्रियलताश्री

^{७०१} आचारांगसूत्र प्रथम श्रुतस्कंध -५/६/१७६

^{७०२} उत्तराध्ययन की टीका पत्र-३०२६

१. अनन्तज्ञान २. अनन्तदर्शन ३. अब्याबाधसुख ४. अनन्तचारित्र ५. अक्षयस्थिति ६. अरूपीपन और ७. अगुरुगघु अनन्तवीर्य। सिद्ध का सामान्य स्वरूप बताने के बाद अब हम विभिन्न आचार्यों के परमात्मा के विषय में जो तथ्य हैं, उन्हें प्रस्तुत करेंगे।

आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार में प्रथम सयोगी केवली का वर्णन करते हुए कहा है- “केवली भगवान् स्वपर प्रकाशक केवलज्ञान के धारक होते हैं, अर्थात् सर्वद्रव्य और उनकी सर्वपर्यायों को जानते हैं, और देखते हैं, यह व्यवहारनय का कथन है, किन्तु निश्चय नय से तो केवलीज्ञानी आत्मा को (स्वयं) देखते और जानते हैं।”^{७०३} इस प्रकार यहाँ उन्होंने परमात्मा के विशिष्ट लक्षण केवलज्ञान और केवलदर्शन को लेकर चर्चा की है।

आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार- “केवलज्ञानी को ज्ञान तथा दर्शन युगपत् वर्तते हैं। उन्होंने दृष्टांत देकर समझाया कि जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश और ताप युगपत् होता है, इसी तरह केवलज्ञानियों के ज्ञान तथा दर्शन युगपत् होते हैं।”^{७०४} आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा प्रणीत प्रवचनसार में कहा गया है- “अर्हत् भगवन्त को उस काल खड़े रहना, बैठना, विहार और धर्मोपदेश, स्त्रियों के मायाचार की भाँति स्वाभाविक ही प्रयत्न बिना ही होता है।”^{७०५} कहने का आशय यह है कि उनमें इच्छापूर्वक कोई वर्तन नहीं होता है, सहज ही होता है।

केवलज्ञानी के आयुष्य का क्षय होने पर शेष प्रकृतियों का सम्पूर्ण नाश हो जाता है, फिर वे समय मात्र में लोकाग्र पर पहुँच जाते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने सिद्ध परमात्मा को करण परमात्मा कहा है। सिद्धों का स्वरूप विवेचित करते हुए उन्होंने कहा है- “सिद्ध जन्म-जरा-मरण से रहित, परम, तीनों काल में निरूपाधि स्वरूपवाले होने के कारण आठ कर्म रहित है, शुद्ध है, ज्ञानादि चार स्वभाव वाला है, अक्षय, अविनाशी और अच्छेय है।”^{७०६}

^{७०३} जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं ।

केवलणाणि जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ।।१५६।।-शुद्धोपयोगाधिकार-नियमसार

^{७०४} जुगवं वट्टइ णाणं केवलणाणिसस दंसणं च तथा ।

दिणयरपयासतावं जह वट्टइ तह मुणेयव्वं ।।१६०।।-वही

^{७०५} ठाणणिसेज्जविहारा धम्मवदेसो य णियदयो तेसिं ।

अरहंताणं काले मायाचारो पव्व इत्थीणं ।।४४।।-प्रवचनसार-आचार्य कुन्दकुन्द

^{७०६} जाइजरमरणरहियं परमं कम्मद्ववज्जियं सुद्धं

णाणाइचउसहावं अक्खथमविणासमच्छेयं ।।१७७।।-शुद्धोपयोगाधिकार-नियमसार

योगीन्दुदेव ने परमात्मप्रकाश में कर्मरहित अवस्था को परमात्मा कहा है। उनका कथन है- “जिसने ज्ञानावरणादि कर्मों को नाश करके और सब देहादिक परद्रव्यों को छोड़कर केवलज्ञानमयी आत्मस्वरूप को पाया है, वह परमात्मा है।”^{७०७} मुक्ति को प्राप्त हुए सिद्धों के स्वरूप का विवेचन करते हुए उन्होंने कहा है कि “नित्य, निरंजन, केवलज्ञान से परिपूर्ण परमानंद स्वभाव शांत और शिवस्वरूपी परमात्मा है।”^{७०८} योगीन्दुदेव^{७०९} ने परमात्मा के निरंजन स्वभाव की विस्तार से व्याख्या की है।

शुभचन्द्र ने ज्ञानावरण में रूपातीत ध्यान के अन्तर्गत सिद्ध परमात्मा के स्वरूप की चर्चा करते हुए कहा है- “सर्वव्यापक, ज्ञाताद्रष्टा, अमूर्तिक (आकार से रहित) निष्पन्न, राग-द्वेष से रहित, जन्मान्तर-संक्रमण से मुक्त, अन्तिम शरीर के प्रमाण से कुछ हीन, अविरल आत्म प्रदेशों से स्थित, लोक के शिखर पर विराजित, आनन्दस्वरूप से परिणत, रोग से रहित और पुरुषाकार होकर भी अमूर्तिक सिद्ध परमात्मा होते हैं।”^{७१०}

डॉ. सागरमल जैन^{७११} ने लिखा है- कर्ममल से रहित, राग-द्वेष का विजेता, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी आत्मा को परमात्मा कहा गया है। परमात्मा के दो भेद किए गए हैं-अर्हत् और सिद्ध। जीवनमुक्त आत्मा को अर्हत् कहा जाता है और विदेहमुक्त आत्मा को सिद्ध कहा जाता है।

मोक्षप्राभृत, रयणसार, योगसार, कार्तिकेयानुप्रेक्षा आदि सभी में तीनों प्रकार की आत्माओं के यही लक्षण किए गए हैं। आनंदधनजी ने भगवान् सुमतिनाथ के स्तवन में त्रिविधआत्मा की चर्चा की है तथा सुपाशर्वनाथ के स्तवन

^{७०७} अप्पा लद्धउ णाणमउ कम्म-विमुक्के जेण।

मेल्लिधि सयलु वि दव्बु परु सो परु मुणहि मणेण।।१५।।-परमात्मप्रकाश -योगीन्दुदेव

^{७०८} णिच्चु णिरंजणु णणमउ परमाणंद सहाउ

जो एहउ सो संतु सिउ तासु मुणिज्जहि भाउ।।१७।।-परमात्मप्रकाश -योगीन्दुदेव

^{७०९} परमात्मप्रकाश गाथा-१६-२१

^{७१०} व्योमाकारमनाकारं निष्पन्नं शान्तमच्युतम्।

चरमाङ्गात् कियन्न्यूनं स्वप्रदेशैर्धनैः स्थितम्।।२२।।

लोकाग्रशिखरासीनं शिवीभूतमनामयम्।

पुरुषाकारमापन्नमप्यमूर्तं च चिन्तयेत्।।२३।।-ज्ञानार्णव ३७ (रूपातीतम्)- शुभचन्द्र

^{७११} जैन, बौद्ध तथा गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन पृ. ४४८ -डॉ.

सागरमल जैन

में परमात्मा के विभिन्न नामों की चर्चा की है, जिससे परमात्मा का स्वरूप स्पष्ट होता है। उन्होंने परमात्मा को शिव चिदाऽऽनंद (ज्ञानानंदमय) भगवान (शांति करने वाले) जिन (राग-द्वेष जीतने वाले) अरिहा (पूजायोग्य), अरुहा (फिर से उत्पन्न नहीं होने वाले) तीर्थंकर (धर्मतीर्थ की स्थापना करने वाले) ज्योतिरूप, आकाश के समान व्यापक, अगोचर, निर्मल, निरंजन, जगवत्सल, सभी प्राणियों के आश्रयस्थल, अभयदान के दाता, वीतराग, निर्विकल्प, रति-अरति-भय-शोक आदि से रहित, निद्रा, तन्द्रा और दुर्दशा से रहित, परमपुरुष, परमात्मा, परमेश्वर, परमेष्ठी, परमदेव, विश्वम्भर, ऋषिकेश, जगन्नाथ, अघहर, अधमोचन, आदि नामों से अभिहित किया।^{७१२}

उपर्युक्त सभी नाम परमात्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं।

(५) गुणस्थान की अवधारणा और आध्यात्मिक-विकास -

प्रत्येक प्राणी में आध्यात्मिक-विकास की समान स्थिति नहीं रहती है। जिस आत्मा में विषय-कषाय की, मोह की प्रबलता रहती है, उसके आत्मगुण आच्छादित रहते हैं और तदनुसार उसका आध्यात्मिक-विकास अवरुद्ध रहता है। जैसे-जैसे मोह की सघनता कम होती जाती है, वैसे-वैसे आध्यात्मिक-प्रगति होती जाती है। प्राणियों के भावों के आधार पर आध्यात्मिक-विशुद्धि के अनेक स्तर हो सकते हैं। उन स्तरों के निर्धारण के लिए जैनदर्शन में गुणस्थानों की अवधारणा को प्रस्तुत किया गया है। यह एक प्रकार का धर्मामीटर है, जिससे आत्मा के विकास की स्थिति व मोह की तरतमता को मापा जा सकता है। यहाँ हम सर्वप्रथम गुणस्थान की अवधारणा का विकास किस रूप में माना जाता है- इसकी चर्चा करेंगे।^{७१३}

यद्यपि गुणस्थान की अवधारणा जैनधर्म की एक प्रमुख अवधारणा है, तथापि प्राचीन स्तर के जैनागमों, यथा-आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन,

^{७१२} श्री आनन्दघन चौबीसी- सुपाश्वरनाथस्तवनं ७, गाथा ३-७

^{७१३} कम्मविसोहिमग्गणं पडुच्च चउइस जीवद्वाण पण्णत्ता, तं जहा मिच्छादिट्ठी, सासायणसम्मादिट्ठी, सम्मामिक्खादिट्ठी, अविरय सम्मादिट्ठी, विरयसविरए, पमत्तसंगए, अपमत्तसंगए, निअट्टिबामरे अनिअट्टिबायरे, सुहुमसंपराए, उवसामए, वा खवएवा उवसंतमोहे, खीणमोहे, सजोगी केवली, अयोगी केवली।
-समवायांग (सम्पादक -मधुकरमुनि) १४/१५
- उद्धृत -गुणस्थानसिद्धान्त : एक विश्लेषण-डॉ. सागरमल जैन

ऋषिभाषित, दशवैकालिक, भगवती आदि में इसका कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है। श्वेताम्बर-परम्परा में सर्वप्रथम समावायांग में जीवस्थान के नाम से इसका उल्लेख हुआ है। उसके पश्चात श्वेताम्बर-परम्परा में गुणस्थानों के १४ नामों का निर्देश आवश्यकनिर्युक्ति में उपलब्ध है^{७१४}, किन्तु वहाँ नामों का निर्देश होते हुए भी उन्हें गुणस्थान नहीं कहा गया है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि मूल आवश्यकसूत्र, जिसकी निर्युक्ति में ये गाथाएँ आई हैं- मात्र चौदह भूतग्राम हैं, इतना ही बताता है, बाद में १४ गुणस्थानों का विवरण दिया गया है, किन्तु डॉ. सागरमल जैन की मान्यता है कि ये गाथाएँ प्रक्षिप्त हैं, क्योंकि आचार्य हरिभद्र (८ वीं शती) ने आवश्यकनिर्युक्ति की टीका में 'अधुनामुमैव गुणस्थान द्वारेण दर्शयन्नाह संग्रहणिकार' कहकर इन दोनों गाथाओं को संग्रहणीसूत्र से माना है। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन आगमों और निर्युक्तियों के रचनाकाल में गुणस्थान की अवधारणा नहीं थी।

श्वेताम्बर-परम्परा में सर्वप्रथम आवश्यकचूर्णि में हमें चौदह अवस्थाओं के लिए गुणस्थान संज्ञा का प्रयोग मिलता है। दिगम्बर-परम्परा में सर्वप्रथम गुणस्थान शब्द का प्रयोग आचार्य कुन्दकुन्द के 'समयसार' तथा षट्खण्डागम में मिलता है तथा प्राकृत पंचसंग्रह, मूलाधार, भगवती आराधना, कर्मग्रन्थ, गोम्मटसार, तत्त्वार्थसूत्र की देवन्दी की सर्वार्थसिद्धटीका, भट्ट अकलंक के राजवार्तिक विद्यानन्द के श्लोकवार्तिक, आदि ग्रन्थों में दिगम्बर आचार्यों ने अपनी टीकाओं में गुणस्थान पर विस्तृत विवेचन किया है। श्वेताम्बर-परम्परा में आवश्यकचूर्णि के अलावा तत्त्वार्थभाष्य की सिद्धसेन की वृत्ति, हरिभद्र की तत्त्वार्थसूत्र की टीका आदि में भी इस सिद्धान्त का गुणस्थान के नाम से विस्तृत उल्लेख पाया जाता है।

इस आधार पर कुछ जैन विद्वानों की यह मान्यता है कि जैनदर्शन में गुणस्थान सिद्धान्त का विकास परवर्तीकाल में हुआ, किन्तु यदि हम गुणस्थान-सिद्धान्त सम्बन्धी विभिन्न अवधारणाओं को देखते हैं, तो हमें स्पष्ट लगता है कि आध्यात्मिक-विकास की विभिन्न अवस्थाओं का उल्लेख आगमसाहित्य

^{७१४} मिच्छादिद्वी सासायणे य तह सम्मिच्छादिद्वी य ।

अविरससम्मदिद्वी विरयाविरए पमत्ते य ॥

तत्ते य अप्पभत्ता नियट्टिनियट्टिबायरे सुहुमे ।

उवसंतखीणमोहे होइ सजोगी अजोगी य ॥

-निर्युक्तिसंग्रह (आवश्यक निर्युक्ति) पृ. १४६ - उद्धृत-वही

में उपलब्ध है। परवर्तीकाल में उसे गुणस्थान-सिद्धान्त के रूप में सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न ही किया गया है। आगमों में सम्यग्दर्शन की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि-ऐसे तीन प्रकार के जीवों का उल्लेख मिलता है। चरित्र की अपेक्षा से अविरत, देशविरत और सर्वविरत ऐसे तीन विभाग मिलते हैं, जो चारित्र या सदाचरण के क्षेत्र में व्यक्ति के विकास की तीन अवस्थाओं को सूचित करते हैं। इसी प्रकार आध्यात्मिक-सजगता की अपेक्षा से भी आगम में तीन प्रकार के जीवों का उल्लेख मिलता है- प्रमत्त, प्रमत्ताप्रमत्त और अप्रमत्त। इसी क्रम में आध्यात्मिक-विकास की ओर आगे बढ़ने के दो मार्ग- उपशमश्रेणी और क्षायिकश्रेणी का भी उल्लेख हुआ। अतः हम देखते हैं कि व्यक्ति के आध्यात्मिक-विकास की दृष्टि से आगमकाल में भी पर्याप्त चिंतन हुआ। जहाँ तक गुणस्थान-सिद्धान्त का प्रश्न है, यह व्यक्ति के आध्यात्मिक-विकास को दो आधारों पर विवेचित करता है। प्रथम, दर्शनमोह के उपशम क्षयोपशम या क्षय के आधार पर और दूसरा, चारित्रमोह के उपशम, क्षयोपशम और क्षय के आधार पर। वस्तुतः जैनदर्शन यह मानता है कि जब तक दृष्टिकोण की विशुद्धि नहीं होती, तब तक आचरण की विशुद्धि नहीं होती है। दृष्टिकोण की विशुद्धि के लिए दर्शनमोह का उपशम, क्षयोपशम, या क्षय होना आवश्यक है, किन्तु दर्शनमोह के उपशम, क्षयोपशम या क्षय से भी बात पूर्ण नहीं होती, दृष्टिकोण की विशुद्धि के साथ-साथ चारित्र की विशुद्धि भी आवश्यक है। यद्यपि दृष्टिकोण की विशुद्धि के लिए भी यह आवश्यक माना गया है कि तीव्रतम कषायों के उपशम, क्षयोपशम या क्षय होने पर ही दृष्टिकोण विशुद्ध होता है। उसके बाद क्रमशः अप्रत्याख्यानी कषायचतुष्क, प्रत्याख्यानीचतुष्क, संज्वलनकषायचतुष्क और नौ नोकषायों के क्रमिक रूप से उपशमित या क्षय होने पर आध्यात्मिक-विकास की यात्रा आगे बढ़ती है। यह विकासयात्रा भी दो रूपों में होती है। कषाय और वासनाओं के प्रकटीकरण को रोककर, अर्थात् उन्हें उपशमित करके या फिर निरसन करके व्यक्ति आध्यात्मिक-क्षेत्र के विकास में आगे बढ़ सकता है। जैनदर्शन की यह मान्यता है कि जो वासनाओं का दमन करके आगे बढ़ता है, वह आध्यात्मिक-विकास की एक ऊँचाई तक पहुँचकर भी वापस पतित हो जाता है, अतः कषायों और आवेगों का निरसन करते हुए ही आगे बढ़ना, जैनदर्शन में आध्यात्मिक विकास का सम्यक् मार्ग माना गया है और ऐसा साधक ही अन्त में परमात्मपद और मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

चौदह गुणस्थानकों की अवधारणा और उनका स्वरूप

जैन-दर्शन का मन्तव्य है कि आत्मा का स्वरूप निश्चयदृष्टि से शुद्ध, ज्ञानमय और परिपूर्ण सुखमय है। आत्मा अनंत चतुष्टय से युक्त है, किन्तु कर्मों के कारण उसका स्वरूप विकृत एवं आवृत्त है। जिस प्रकार बादल के आवरण से सूर्य का तेज कम हो जाता है, किन्तु नष्ट नहीं होता है, उसी प्रकार कर्मों की घनघोर घटाओं से आत्म ज्योति मन्द-मन्दतम हो जाती है, किन्तु जैसे-जैसे कर्मों का आवरण हटता है, वैसे-वैसे आत्मा की शक्ति प्रकट होने लगती है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय- ये आत्मशक्ति को आच्छादित करने वाले आवरण हैं। इन चार प्रकार के आवरणों में भी मोहनीय का आवरण प्रधान है, इसलिए मोहनीयकर्म को राजा की उपमा दी है। मोह की तीव्रता और मन्दता पर अन्य आवरणों की तीव्रता और मन्दता अवलम्बित है। एतदर्थ ही गुणस्थानों की व्यवस्थाओं में मोह की तीव्रता और मन्दता पर अधिक दृष्टि रखी गई है। इसी आधार पर आध्यात्मिक-विकास क्रम की चौदह अवस्थाओं का वर्णन किया गया है-

दिगम्बर आचार्य नेमिचन्द्र के अनुसार- “प्रथम चार गुणस्थान दर्शनमोह के उदय आदि से होते हैं और आगे के आठ गुणस्थान चारित्रमोह के क्षयोपक्षम आदि से निष्पन्न होते हैं।”^{७१५} समवायांग में जीवस्थानों की रचना का आधार कर्मविशुद्धि बताया गया है।^{७१६} हम यहाँ चौदह गुणस्थानकों के नाम तथा उनका संक्षिप्त स्वरूप प्रस्तुत करेंगे।

चौदह गुणस्थानों के नाम इस प्रकार हैं -१. मिथ्यादृष्टि २. सास्वादन ३. मिश्रदृष्टि ४. अविरतसम्यग्दृष्टि ५. देशविरति ६. प्रमत्तसंयत ७. अप्रमत्तसंयत

^{७१५}. एदे भावा णियमा दंसणमोहं पडुइच्च भणिदा हु।

चास्तिं णत्थि जदो अविरद अन्तेसु ठाणेसु ॥१२॥

देसविरदे पमत्ते, इदरे य खओ बसमियमानो दु।

सो खलु चस्तिमोहं पडुच्च भणियं तथा उबारिं ॥१३॥-गोम्मटसार

^{७१६}. कम्मवियोहिमगणं पडुच्च चउइस जीवठाणा पन्नत्ता।-समवायांग १४/१

८. निवृत्तिकरण (अपूर्वकरण) ९. अनिवृत्तिकरण १०. सूक्ष्मसंपराय ११. उपशान्तमोह १२. क्षीणमोह १३. सयोगीकेवली १४. अयोगीकेवली।^{७१७}

१. **मिथ्यादृष्टिगुणस्थानक** - यह जीव की अधस्तम अवस्था है। इस अवस्था में आत्मा यथार्थज्ञान और सत्यानुभूति से वंचित रहती है। इस गुणस्थान में दर्शनमोह और चारित्रमोह- दोनों की प्रबलता होती है, जिससे वह आत्मा आध्यात्मिक-दृष्टि से दरिद्र होती है। यथार्थबोध के अभाव के कारण परपदार्थों से सुख की कामना रहती है। उसे आध्यात्मिक-सुख का रसास्वादन नहीं हो पाता है। वह दिग्भ्रमित व्यक्ति की तरह लक्ष्यविमुख होकर भटकता रहता है, जैसे कोई दिग्भ्रमित पुरुष उत्तर को दक्षिण मानकर उस दिशा में चलता है, किन्तु चलने पर भी वह अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता है। हम इसे अन्य उदाहरण से भी समझा सकते हैं, जैसे-मदिरा पीए हुए किसी व्यक्ति को हित-अहित, योग्य-अयोग्य, उचित-अनुचित का ध्यान नहीं रहता है, उसी प्रकार मोह की मदिरा से उन्मत्त बने व्यक्ति को आत्मा के हित-अहित कर्तव्य-अकर्तव्य आदि का विवेक नहीं होता है।^{७१८}

इस गुणस्थान पर रही हुई सभी आत्माओं का स्तर एक समान नहीं होता है। उनमें भी तारतम्य है। पण्डित सुखलालजी के शब्दों में-प्रथम गुणस्थान पर रहने वाली ऐसी अनेक आत्माएँ होती हैं, जो राग-द्वेष के तीव्र वेग को दबाए हुए होती हैं। उनकी अनंतानुबंधी कषाय दमित होती हैं। वे यद्यपि आध्यात्मिक लक्ष्य के सर्वदा अनुकूलगामी तो नहीं होती है, तो भी उनका बोध व चारित्र अन्य अविकसित आत्माओं की अपेक्षा अच्छा होता है, इसे मार्गाभिमुख अवस्था भी कहते हैं। उ. यशोविजयजी^{७१९} ने आठदृष्टि की सञ्ज्ञाय में मार्गाभिमुख अवस्था के चार विभाग किए हैं, जिन्हें क्रमशः मित्रा, तारा, बला और दीप्रा कहा गया है। इनमें क्रमशः मिथ्यात्व की अल्पता होने पर जीव उस गुणस्थानक के अन्तिम चरण

^{७१७}. (अ) मिच्छे सासणमीसे, अविरयदेसे पमत्त अपमत्ते ।

नियद्विअनियद्वि, सुहुमुबसमखीणसजोगिअजोगिगुणा ॥२॥-द्वितीय कर्मग्रन्थ-देवेन्द्रसूरी

(ब) मूलाचार, पर्याप्त्याधिकार, गाथा-११६७-११६८

^{७१८}. मद्यमोहायथा जीवो न जानाति हिताहितम् ।

धर्माधर्मो न जानाति तथा मिथ्यात्वमोहितम् ॥८॥-गुणस्थानकमारोह

^{७१९}. आठ दृष्टि की सञ्ज्ञाय - उ. यशोविजयजी

में ग्रन्थभेद की प्रक्रिया करता है और उनमें सफल होने पर विकास के अगले चरण सम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान को प्राप्त करता है।

मिथ्यात्व के भेद - स्थानांगसूत्र^{७२०} में मिथ्यात्व के निम्न दस भेद बताए गए हैं- १. अधर्म में धर्मबुद्धि २. धर्म में अधर्मबुद्धि ३. उन्मार्ग में मार्गबुद्धि ४. मार्ग में उन्मार्गबुद्धि ५. अजीव में जीवबुद्धि ६. जीव में अजीवबुद्धि ७. असाधु में साधु की बुद्धि ८. साधु में असाधु की बुद्धि ९. अमूर्त में मूर्त की बुद्धि और १०. मूर्त में अमूर्त की बुद्धि। तत्त्वार्थभाष्य^{७२१} में अभिगृहीत और अनाभिगृहीत ये दो भेद मिथ्यात्व के बताए हैं। आवश्यकचूर्ण^{७२२} और प्राकृत पंचसंग्रह^{७२३} में सांशयिक, आभिग्रहिक और अनाभिग्रहिक ये तीन भेद बताए गए हैं। गुणस्थान क्रमारोह^{७२४} की वृत्ति में एवं कर्मग्रन्थ^{७२५} में पाँच प्रकार के मिथ्यात्व बताए हैं- १. आभिग्रहिक २. अनाभिग्रहिक ३. सांशयिक ४. आभिनिवेशिक और ५. अनाभोगिक। गुणस्थानक्रमारोह^{७२६} में काल की अपेक्षा से मिथ्यात्व के तीन भेद बताए गए हैं- १. अनादि अनन्त २. अनादिसान्त ३. सादिसान्त उपर्युक्त पाँच प्रकार के मिथ्यात्व का परिचय लोकप्रकाश में दिया गया है। संक्षेप में सारांश इस प्रकार है-

१. आभिग्रहिक - मेरी मान्यता ही सत्य है, अर्थात् जो मैंने माना है, वही सत्य है।
२. अनाभिग्रहिक - सभी धर्म समान हैं, सभी सत्य है।

^{७२०} दशविधे मिच्छते, धम्मे अधम्मसण्णा, उमग्गे मग्गसण्णा,
मग्गे उम्मग्गसण्णा, अजीवेसु जीवसण्णा, जीवेसु अजीवसण्णा,
आहुसु साहुसण्णा, साहुसु आसाहुसण्णा,
अमुत्तेसु मुत्तसण्णा, मुत्तेसु अमुत्तसण्णा
- (क) स्थानांगसूत्र, स्थान १०, सूत्र ७४ (ख) गुणस्थान क्रमारोहवृत्ति, पृष्ठ-४
तत्त्वार्थभाष्य ८/१

^{७२१} आवश्यकचूर्ण ६/१६५८

^{७२२} प्राकृतपंचसंग्रह १/७

^{७२३} गुणस्थान क्रमारोह की स्वोपज्ञवृत्ति गाथा-६

^{७२४} अभिग्रहिअमणभिगहिआ, भिनिवेशियंससइयमणाभोगं

^{७२५} पणमिच्छबार अविरेइ, मणकरणानिअनुछजिअवहो।।५१।।-कर्मग्रन्थ -भाग-४, देवेन्द्रसूरी

^{७२६} अभव्याश्रिता मिथ्यात्वे, अनाद्यन्ता स्थितिर्भवेत्।

सा भव्याश्रिता मिथ्यात्वे, अनादिसान्ता पुनर्मता।।-गुणस्थान क्रमारोह-६

३. सांशयिक - जिनवाणी पर शंका करना।
 ४. आभिनिवेशिक - स्वयं का मत असत्य है यह जानकर भी हठाग्रह से उसे पकड़ रखना।
 ५. अनाभोगिक - वस्तुतत्त्व को जानना ही नहीं, अर्थात् विशेष ज्ञान का अभाव ।

२. सांस्वादन गुणस्थान - द्वितीय गुणस्थान सांस्वादन सम्यग्दृष्टि है। जिसे प्राकृत भाषा में 'सासायण' कहा गया है। संस्कृत में इसके दो रूप बनते हैं- 'सांस्वादन' और 'सासादन'। जो जीव औपशमिक सम्यक्त्व से गिरता है, किन्तु मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होता है, अर्थात् मिथ्यात्वाभिमुख जीव को सम्यक्त्व का जो आंशिक आस्वादन शेष रहता है, उसी अवस्था को सांस्वादन गुणस्थान कहते हैं।^{७२७} अभिधानराजेन्द्रकोष^{७२८} में तथा समवायांगवृत्ति^{७२९} में इस गुणस्थान का काल जघन्यतः एक समय तथा उत्कृष्टतः ६ आवलिका बताया गया है। साथ ही अभिधानराजेन्द्रकोष में उदाहरण देते हुए स्पष्ट किया है कि "जैसे कोई व्यक्ति ऊपर की मंजिल पर चढ़ रहा हो और अकस्मात् फिसल जाने पर जब तक जमीन पर आकर नहीं ठहर जाता, तब तक बीच में विलक्षण अवस्था का अनुभव करता है, इसी प्रकार उपशम सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व के पाने के बीच आत्मा एक विलक्षण आध्यात्मिक-अवस्था का अनुभव करती है।"^{७३०} जैसे खाई हुई खीर वमन के समय निकल गई, किन्तु खीर का आस्वादन कुछ समय के लिए अवश्य रहता है, ठीक उसी प्रकार सम्यक्त्व की खीर का वमन करने के बाद कुछ समय उसका आस्वादन बना रहता है। अतः इसे सांस्वादन कहते हैं।^{७३१}

^{७२७}. आसादनं सम्यक्त्व विराधनम् सह आसादनेन वर्तत इति सासादनां विनाशित सम्यग्दर्शनोऽप्राप्तमिथ्यात्व कर्मोदयजनित परिणामो मिथ्यात्वाभिमुखः सासादन इति ऋण्यते। - षट्खण्डांगम, धवलावृत्ति, प्रथमखण्ड, पृ. १६३

^{७२८}. अभिधानराजेन्द्रकोष-७, पृ. ७६४

^{७२९}. समवायांगवृत्ति पत्र २६

^{७३०}. उवसमसम्मा पढमा-णाओ मिच्छत्तसंकमणकालो।

सासायणछावलितो, भूमिगपत्तो व पवडंतो ॥१२५॥-अभिधानराजेन्द्रकोष -भाग ७, पृ. १६४

^{७३१}. भुवताक्षीरान्नविषयव्यलीकचित्तः

पुरुषस्तद्वमनकाले क्षीरान्न रसमास्वादयति

तथाऽत्रापि गुणस्थाने मिथ्यात्वाभिमुखतया सम्यक्त्वस्योपरि

व्यलीक चित्तस्य पुरुषस्य सम्यक्त्वमुद्वमतर तद्रसास्वादो

द्वितीय गुणस्थानवर्ती जीव पतोन्मुख है। आत्मा प्रथम गुणस्थान से सीधे दूसरा गुणस्थान प्राप्त नहीं करती है, किन्तु ऊपर के गुणस्थानों से पतित होने वाली आत्मा ही इसकी अधिकारिणी बनती है, अतः दूसरा गुणस्थान आरोहण क्रम से नहीं बल्कि अवरोहण क्रम से प्राप्त होता है। समवायांगवृत्ति में कहा गया है— “अनंतानुबंधीकषाय के उदय से वह औपशमिकसम्यक्त्व से गिरता है। वह समय, अर्थात् एक समय से ६ आवलिकापर्यन्त हो सकता है। इस काल में वह द्वितीय गुणस्थान पर रहता है। उक्त काल के पूर्ण होते ही मिथ्यात्वकर्म का उदय हो जाता है और वह प्रथम गुणस्थान को प्राप्त कर मिथ्यादृष्टि हो जाता है।”^{७३२}

३. मिश्रगुणस्थान - “जिसकी दृष्टि मिथ्या और सम्यक्- दोनों परिणामों से मिश्रित है, वह मिश्रदृष्टि या सम्यक् मिथ्यादृष्टि कहलाता है।”^{७३३} तीसरा गुणस्थान आत्मा उत्क्रान्ति के समय भी और अवक्रान्ति के समय भी, इस प्रकार दोनों स्थितियों में प्राप्त कर सकती है, किन्तु यहाँ ध्यान रखने योग्य है कि प्रथम गुणस्थान से तृतीय गुणस्थान पर वे ही आत्माएँ आरोहण कर सकती हैं, जिन्होंने कभी चतुर्थ गुणस्थान का स्पर्श किया हो। कहने का आशय यह है कि चतुर्थ गुणस्थान में यथार्थ का बोध कर पुनः जो प्रथम गुणस्थान में आई हुई हैं, वे आत्माएँ ही मिश्रपुंज का उदय होने पर तृतीय गुणस्थान को प्राप्त कर सकती हैं, लेकिन जिन आत्माओं ने कभी सम्यक्त्व का स्पर्शन ही नहीं किया हो, वे अपने विकास में प्रथम गुणस्थान से चतुर्थ में ही आती हैं, क्योंकि संशय उसे ही हो सकता है, जिसने यथार्थता का कुछ अनुभव किया हो। मिश्र अवस्था एक अनिश्चय की अवस्था है, जिसमें आत्मा सत्य और असत्य के बीच झूलती रहती है। दूसरे शब्दों में कहें तो मिश्रगुणस्थानवर्ती जीव को जिनवाणी पर न श्रद्धा होती है, न अश्रद्धा। “जैसे दही और मिश्री के मिश्रण से निर्मित हुए श्रीखण्ड का स्वाद न केवल दहीरूप होता है, न मिश्रीरूप, किन्तु दोनों के स्वाद से पृथक्

भवतीति इदं सास्वादनमुच्यते इति। - अभिधानराजेन्द्रकोष-भाग ७, पृ.- ७६४

७३२

उवसमसंमत्ताओ मिच्छं अपानमाणस्स

सासायणसंमत्तं तदंतरालमि छावलियं।।१॥ -समवायांगवृत्ति- पत्र-२६

७३३

(क) कर्मग्रन्थ-२, स्वोपज्ञवृत्ति पृ. ७०

(ख) गोम्वटसार जीवकाण्ड

(ग) सं. पंचसंग्रह १/२२

तृतीय खट्टामिठा स्वाद होता है।^{७२४} दोलायमान स्थिति रहने से मिश्रगुणस्थान में जीव को न पर भव की आयुकाबंध होता है न उसका मरण होता है। वह सम्यक्त्व या मिथ्यात्व दोनों में से किसी एक के अनुरूप परिणामों को प्राप्त करके ही मरता है। यह वैचारिक या मानसिक संघर्ष की अवस्था अन्तर्मुहूर्त्त से अधिक नहीं रहती है, क्योंकि मिश्रपुंज का उदय सिर्फ अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त रहता है। इसके बाद शुद्ध या अशुद्ध किसी एक पुंज का उदय हो जाता है। इसलिए तृतीय गुणस्थान की कालस्थिति अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त होती है।

४. अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान - “जो जीव सम्यग्दृष्टि होकर भी किसी प्रकार के व्रत को धारण नहीं कर सकता है, वह जीव अविरतसम्यग्दृष्टि है और उसका स्वरूप विशेष अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान है।”^{७२५} इन्द्रियों के विषयों से तथा त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा से विरत न होने पर भी जिनाज्ञा पर श्रद्धा होने से उसका दृष्टिकोण सम्यक् होता है। सम्यक्मार्ग की समझ होने पर भी उस मार्ग पर गति नहीं होने का कारण संयम का घातक अप्रत्याख्यानी कषाय का उदय रहता है। इस कारण वह सम्यक् आचरण नहीं कर पाता है। डॉ. सागरमल जैन कहते हैं कि वह एक अपंग व्यक्ति की भाँति है, जो देखते हुए भी चल नहीं पता है। वह हिंसा, झूठ, अब्रह्मचर्य आदि को अनैतिक मानते हुए भी उनका त्याग नहीं कर पाता है किन्तु यह भी स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि वह बिना प्रयोजन हिंसादि कार्यों में प्रवृत्ति नहीं करता है अविरतसम्यग्दृष्टि में क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों के तीव्रतम आवेगों का अभाव होता है, क्योंकि जब तक अनन्तानुबन्धी चौकड़ी का क्षय या उपशम नहीं होता, तब तक उसे सम्यग्दर्शन भी प्राप्त नहीं होता है। उ. यशोविजयजी ने अविरतसम्यग्दृष्टि का चित्रण करते हुए कहा है-

“मन महिला नुरे व्हाला उपरे बीजा काम करंत
तिमश्रुतधर्मे रे एहमां मन धरे ज्ञानाक्षेपकवंत
एहवे ज्ञाने रे विघन निवारणे भोग नहि भव हेत्
नवि गुण दोष न विषय स्वरूप थी, मन गुण अवगुण खेत”^{७२६}

७२४. जात्यन्तर समुद्भूतिर्बडवारवयोर्यथा
गुडदध्नोः समायोगे रसभेदान्तरं यथा ॥११॥-गुणस्थान क्रमारोह-१४
७२५. सं. पंचसंग्रह १/२३
७२६. आठदृष्टि की सज्जाय-६, उ. यशोविजयजी

जिस प्रकार सती स्त्री का मन अन्य कार्य करते हुए भी पति में ही रहता है उसी प्रकार काया के अन्य कार्य करते हुए भी सम्यग्दृष्टि का मन सदैव श्रुतधर्म में रहता है, इसलिए आक्षेपकज्ञान के कारण उसके भोग भव के हेतुरूप नहीं होते हैं।

अविरतसम्यग्दृष्टि को दर्शन सप्तक का क्षय, उपशम या क्षयोपशम करना होता है। दर्शनसप्तक, अर्थात् अनंतानुबंध क्रोध, मान, माया और लोभ, मिथ्यात्वमोह, मिश्रमोह और सम्यक्त्वमोह।

इन सात प्रकृतियों का जब क्षय होता है, तब क्षायिकसम्यक्त्व होता है और जब उपशम होता है, तब औपशमिकसम्यक्त्व होता है और जब क्षयोपशम होता है तब क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है।

“अविरतसम्यग्दृष्टि को तीनों में से कोई भी सम्यक्त्व हो सकता है। आचार्य हरिभद्र ने सम्यग्दृष्टि अवस्था की तुलना महायान के बोधिसत्व के पद से की है।”^{७३७}

५. देशविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान - यह आध्यात्मिक-विकास की पाँचवीं सीढ़ी है। इस गुणस्थान में जीव प्रत्याख्यानीकषाय के उदय से पापक्रियाओं से सम्पूर्ण निवृत्त तो नहीं होता है, किन्तु अप्रत्याख्यान का अनुदय होने से वह आंशिक रूप से पाप से विरत होता है, अर्थात् वह आंशिक रूप से व्रतों का पालन करता है।

इस गुणस्थान के अपरनाम विरताविरत, संयतासंयत^{७३८} और देशसंयत भी हैं, क्योंकि इस गुणस्थान पर रहा हुआ जीव सर्वज्ञवीतराग के कथन में श्रद्धा रखता हुआ त्रस जीवों की हिंसा का त्याग करता है, किन्तु बिना प्रयोजन के स्थावर जीवों की हिंसा भी नहीं करता है, अर्थात् “त्रस जीवों के त्याग की अपेक्षा से विरत और स्थावर जीवों की हिंसा की अपेक्षा से अविरत होने के कारण विरताविरत आदि नाम दिए गए हैं।”^{७३९} श्रावक के बारह व्रतों में से कोई एक कोई दो यावत् कोई बारह व्रतों को धारण कर सकता है तथा इस गुणस्थानवर्ती

७३७. योगबिन्दु-२७०

७३८. षट्खण्डागम-१/१०/१३

७३९. जो तसवहाउविरदो अविरदो तहय थावरवहादो
एक समयहि जीवो विरदाविरदो जिणेवकमइ।।३१।।-गोम्मटसार

जीव ग्यारह प्रतिमाओं का भी आराधन करता है। प्रतिमा का अर्थ प्रतिज्ञाविशेष, व्रतविशेष, तपविशेष अथवा अभिग्रहविशेष है।

इस गुणस्थान का काल जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से देशोनपूर्वकोटि प्रमाण है। आदि के चार गुणस्थान चारों गतियों के जीवों में होते हैं, किन्तु पाँचवाँ गुणस्थान मनुष्य और तिर्यचों के ही होता है। तिर्यचों में भी संज्ञीपर्याप्त पंचेन्द्रियतिर्यच को ही संभव है। जिसने पहले देवायु के अतिरिक्त शेष तीन आयु में से किसी एक का बंध कर लिया हो, ऐसा जीव देशविरत गुणस्थान को प्राप्त नहीं हो सकता है।

६. प्रमत्त सर्वविरति संयत गुणस्थान - छठवें गुणस्थान में साधक कुछ और आगे बढ़ जाता है। वह मोह के बादल को बिखेरकर देशविरत से सर्वविरत हो जाता है। साधक पूरी तरह से सावद्य कार्यों से निवृत्त हो जाता है। उ. यशोविजयजी ने षष्ठ गुणस्थानवर्ती साधु के चारित्र का चित्रण करते हुए कहा है- “संसाररूप विषम पर्वत का उल्लंघन कर छठवें गुणस्थानक को प्राप्त लोकोत्तर मार्ग में स्थित साधु लोकसंज्ञा में रत अर्थात् प्रीति वाला नहीं होता है।”^{७४०} साधु लोकसंज्ञा से मुक्त होते हैं।

षष्ठ गुणस्थानवर्ती साधक पंचमहाव्रतधारी होते हैं। इस गुणस्थानवर्ती साधक में प्रमाद की सत्ता रहती है, इसलिए इस गुणस्थान का नाम प्रमत्तसंयत रखा गया है। गोम्मटसार में प्रमाद के पन्द्रह भेद बताए गए हैं- “स्त्री कथा, भक्तकथा, चोरकथा, राजकथा, क्रोध, मान, माया, लोभ, पंचेन्द्रिय का असयंम निद्रा, स्नेह।”^{७४१}

प्रमत्तसंयत गुणस्थान की स्थिति कर्मस्तव, योगशास्त्र, गुणस्थान क्रमारोह,^{७४२} सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रन्थों में जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त कही गई है। अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् प्रमत्तसंयती एक बार अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में पहुँचता है और वहाँ भी अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त रहकर पुनः प्रमत्तसंयत गुणस्थान में आ जाता है। यह चढ़ाव और उतार देशोनकोटिपूर्व

^{७४०}. प्राप्तः षष्ठं गुणस्थानं भवदुर्गाऽद्विलंघनम् ।

लोकसंज्ञारतो न स्यान्मुनिलोकोत्तरस्थितिः । १११-लोकसंज्ञात्याग, २२, ज्ञानसार

^{७४१}. विकहा कहा कसाया इदिय जिद्दा तहेव पणयो य

चदु चदु पणमेगेगं हौति पमाया हु पण्णरस-गोम्मटसार, गाथा-३४

^{७४२}. गुणस्थान क्रमारोह, स्वोपज्ञवृत्ति-२७, पृ. २०

तक रह सकता है, अतएव छठवें और सातवें दोनों गुणस्थान की स्थिति मिलाकर देशोनकरोड़पूर्व की है। इसके पश्चात् जीव को छठवें, सातवें गुणस्थान का परित्याग करना पड़ता है, क्योंकि अधिक से अधिक संयमपालन की अवधि देशोनपूर्वकोटि होती है और ये दोनों गुणस्थान संयमी जीवों के ही होते हैं।

७. अप्रमत्तसंयतगुणस्थान - “इस गुणस्थानवर्ती साधक में सञ्चलन कषायों का उदय मंद होता है तथा निद्रादि प्रमाद का अभाव होता है,”^{७४३} इससे आत्मा, अप्रमादी या अप्रमत्त महाव्रत बन जाती है। जब साधक में आत्मरमणता होती है तब वह सातवें गुणस्थान में चढ़ता है और प्रमाद का उदय आने पर पुनः छठे गुणस्थान पर आ जाता है। वर्तमानकाल में भरतक्षेत्र एवं ऐरावतक्षेत्र में कोई भी साधु सातवें गुणस्थान के ऊपर के गुणस्थानों पर आरोहण नहीं कर सकता है। अप्रमत्तसंयत दशा का काल जघन्य एक समय तथा उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है। छठवें सातवें दोनों का साथ मिलाकर जघन्य काल अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोनपूर्व करोड़ वर्ष है।

८. निवृत्ति (अपूर्वकरण) गुणस्थान - पूर्व में कभी नहीं आए ऐसे आत्मा के निर्मल परिणाम इस गुणस्थानवर्ती साधक में होते हैं, जिससे इस गुणस्थान को अपूर्वकरण गुणस्थान कहते हैं। यह आध्यात्मिक-साधना की एक विशिष्ट अवस्था है। इस गुणस्थान का दूसरा नाम निवृत्तिकरण भी है। निवृत्ति, अर्थात् असमानता, फेरफार, परस्पर अध्यवसायों की चित्र-विचित्रता, भेद, भिन्नता। इस गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त है तथा उसके असंख्यात समय होते हैं। इसमें भिन्न समयवर्ती जीवों की परिणाम विशुद्धि तो एक समान नहीं होती है, किन्तु एक समयवर्ती जीवों के अध्यवसायों में भी असंख्यागुनी न्यूनाधिक विशुद्धि होती है।^{७४४} इस प्रकार सर्वसमयों में हीनाधिक विशुद्धि वाले अध्यावसाय के स्थान होने से इस गुणस्थानक का दूसरा नाम निवृत्तिकरण है।

भावों की विशुद्धि के कारण इस गुणस्थानक से आत्मा गुणश्रेणी पर आरूढ़ होने की तैयारी करती है। श्रेणी दो प्रकार की होती है- १. उपशमश्रेणी और २. क्षपकश्रेणी। मोह को उपशान्त कर आगे बढ़ने वाला जीव उपशमश्रेणी से आरोहण कर ग्यारहवें गुणस्थान तक जाता है यहाँ मोह सर्वथा उपशान्त रहता है,

^{७४३} गुणस्थान क्रमारोह, श्लोक-३२

^{७४४} (अ) समवायांगवृत्ति, पृ. २६

(ब) गोम्मतसार, पृ. ५२

किन्तु यह उपशम अल्पकालीन होता है। मोह के पुनः प्रकट होने पर जीव नीचे की भूमिकाओं में आ जाता है। क्षपकश्रेणी से चढ़ने वाला जीव मोहनीयकर्म का क्षय करते-करते ८-९-१०-१२ वें से सीधा तेरहवें गुणस्थानक पर केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है। क्षीणमोह का अवरोह नहीं होता है इस गुणस्थानक पर जीव पाँच अपूर्व कार्य करता है- १. स्थितिघात २. रसघात ३. गुणश्रेणी ४. गुणसंक्रम ५. अपूर्वस्थितिबंध।

यह समस्त क्रिया अपूर्वकरण के नाम से जानी जाती है। डॉ. सागरमल जैन के अनुसार पहले से सातवें गुणस्थान तक की सात श्रेणियों में नियति की प्रधानता प्रतीत होती है और आठवें से चौदहवें गुणस्थान तक की सात श्रेणियों में पुरुषार्थ का प्राधान्य प्रतीत होता है।

६. अनिवृत्तिकरण (बादरसम्पराय गुणस्थान) - अनिवृत्ति का अर्थ अभेद है। इस गुणस्थानकवर्ती सभी काल के सभी जीवों के एक समय में एकसदृश अध्यवसाय ही होते हैं, अतः अध्यवसाय की समानता के कारण इसे अनिवृत्तिकरण गुणस्थान कहा गया है। इस गुणस्थान पर जीव मोहनीयकर्म की २० प्रकृतियों को उपशमित या क्षय करता है।

१०. सूक्ष्मसम्पराय - इस गुणस्थानवर्ती जीव में मात्र सूक्ष्म लोभरूप कषाय का ही उदय रहता है। आध्यात्मिक-पतन के कारणों में मात्र सूक्ष्म लोभ का उदय शेष रहने के कारण इसे सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान कहा गया है। डॉ. टाटिया के शब्दों में आध्यात्मिक-विकास की उच्चता में रहे हुए इस सूक्ष्म लोभ की व्याख्या अवचेतन रूप में शरीर के प्रति रहे हुए राग के अर्थ में की जा सकती है। आठवें, नवें और दसवें गुणस्थान का काल उपशमश्रेणी के आश्रयी जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से अंतर्मुहूर्त ही होता है।

११. उपशान्तमोह गुणस्थान - आध्यात्मिक-विकास करते हुए वे ही जीव इस गुणस्थानक पर आते हैं, जो उपशमश्रेणी से आरोहण करते हैं। यह आत्मोत्कर्ष की वह अवस्था है, जहाँ से पतन निश्चित होता है। जैसे गंदे जल में कतकफल (फिटकरी) घुमाने से गंदगी नीचे बैठ जाती है और ऊपर स्वच्छ जल रह जाता है, वैसे ही उपशमश्रेणी में शुक्लध्यान से मोहनीयकर्म जघन्य एक समय और उत्कृष्ट एक अन्तर्मुहूर्त के लिए उपशान्त कर दिया जाता है, जिससे जीव के

परिणाम में एकदम वीतरागता और निर्मलता आ जाती है।^{७४५} इसलिए उसे उपशान्तमोह गुणस्थान कहते हैं। उपशमश्रेणी का यह अन्तिम गुणस्थान है। यहाँ से जीव का पतन दो कारणों से होता है १. भवक्षय से २. कालक्षय से। इस गुणस्थानक पर मनुष्य आयु पूर्ण होने पर जीव देवगति में जाता है और सीधे चतुर्थ गुणस्थान पर आ जाता है, कालय होने से पतन होने पर वह जिस क्रम से ऊपर चढ़ता है, उसी क्रम से नीचे के गुणस्थानों में आ जाता है। कभी-कभी प्रथम गुणस्थानक तक पहुँच जाता है।

इस गुणस्थान की कालमर्यादा जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

१२. क्षीणमोहगुणस्थान - मोहनीयकर्म का सर्वथा क्षय होने के पश्चात् ही यह गुणस्थान प्राप्त होता है। यह आध्यात्मिक-विकास की पूर्णता की ओर बढ़ती हुई अवस्था है। इस गुणस्थान को प्राप्त करने वाले व्यक्ति का पतन नहीं होता है। अष्टकर्मों में मोह प्रधान है। जिस तरह प्रधान सेनापति के भाग जाने से सेना स्वतः भाग जाती है, उसी तरह मोह के परास्त होने पर अन्तर्मुहूर्त में ही दर्शनावरण, ज्ञानावरण और अन्तराय ये तीनों घातिकर्म भी नष्ट होने लगते हैं। साधक अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतचारित्र्य से युक्त होकर विकास की अग्रिम श्रेणी में चले जाते हैं। इसका अजघन्य उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त होता है। इस गुणस्थानक पर मरण भी संभव नहीं है।

१३. सयोगीकेवली गुणस्थान - चार घातिकर्मों का क्षय करके अनंतचतुष्टय से युक्त आत्मा का गुणस्थान सयोगीकेवली गुणस्थान कहलाता है। इस गुणस्थानक पर साधक को मनयोग वचनयोग और काययोग होते हैं, इसलिए इसे सयोगी कहा गया है। योग के कारण इस गुणस्थान में मात्र एक सातावेदनीय का ही बंध होता है। कषाय के अभाव में स्थिति तथा रस का बंध भी नहीं होता है, अतः यहाँ प्रथम समय में सातावेदनीय का बंध होता है, दूसरे समय में उदय में आता है और तीसरे समय में निर्जरित हो जाता है। इस अवस्था में स्थित व्यक्ति को जैनदर्शन में अर्हत्, सर्वज्ञ, केवली, जिनेश्वर कहा जाता है। यह वेदान्त के अनुसार सदेहमुक्ति की अवस्था है।

^{७४५}. (क) अधोमले यथानीते कतके नाम्भोऽस्तु निर्मलम्।

उपरिष्ठात्तथा, शान्तं मोह ध्यानेन मोहने। -सं. पंचसंग्रह -१/४७

(ख) गोम्मतसार, गाथा-६१-६२

इसका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टकाल देशोनपूर्व करोड़पूर्व होता है।

१४. अयोगीकेवली गुणस्थान - जो केवली सूक्ष्मकाययोग से सूक्ष्म मनयोग तथा सूक्ष्म वचन योग का निरोध कर देते हैं और अन्त में सूक्ष्मक्रियानिवृत्ति शुक्लध्यान के बल से सूक्ष्मकाययोग का भी निरोध कर देते हैं और शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं, वे अयोगी अवस्था को प्राप्त अयोगी केवली कहलाते हैं। समुच्छिन्नक्रिया अप्रतिपाति शुक्लध्यान द्वारा निष्प्रकम्प स्थिति को प्राप्त करके शरीर का त्याग करके वह सर्व संगरहित भुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

इस गुणस्थानक का काल पाँच ह्रस्वस्वर (अ, इ, उ, ऋ, लृ) के उच्चारण के काल जितना है, अर्थात् मध्यम अन्तर्मुहूर्तकाल जितना होता है।

यही आध्यात्मिक-विकास की पूर्णता है, चरम आदर्श की उपलब्धि है उसके बाद की अवस्था को जैन विचारकों ने मोक्ष, निर्वाण, शिवपद कहा है। उ. यशोविजयजी ने ज्ञानसार में योगनिरोध की इस अवस्था को योगसंन्यास भी कहा है तथा अन्य दर्शनों में वर्णित निर्गुण ब्रह्म से इसकी समानता बताई है।^{७४६}

चौदह गुणस्थानों का स्वरूप वर्णित करने के बाद अब हम चौदह गुणस्थानों के आधार पर आध्यात्मिक-विकास का क्रम दर्शाएंगे।

गुणस्थानों के आधार पर आध्यात्मिक-विकास का क्रम

गुणस्थान आध्यात्मिक-विकास का ही एक रूप है। जैसे-जैसे कर्मों के आवरण क्षीण होते हैं। अध्यात्मदशा का विकास होता है। विकास कर्मों के क्षय, उपशम या क्षयोपशम पर आधारित है। कर्मों के क्षय, उपशम जैसे जैसे होते जाते हैं, वैसे-वैसे आत्मा गुणस्थानरूपी श्रेणी के अग्रिम अग्रिम सोपानों पर आरूढ़ होती है।

तत्त्वार्थसूत्र^{७४७} में आध्यात्मिकदशा के दस विकास स्थान कहे गए हैं- १. सम्यग्दृष्टि (यहीं से मोक्षमार्ग शुरु होता है) २. श्रावक (देशविरति) ३. विरतिवंत (साधु) ४. अनंतानुबंधी कषायों का विसंयोजन करने वाला (४, ५, ६, ७

^{७४६}. योगसंन्यासतस्त्यागी योगानप्यखिलांस्त्यजेत्।

इत्येवं निर्गुणं ब्रह्म परोक्तमुपपद्यते।।७।।-ज्ञानसार, त्यागाष्टक

^{७४७}. (क) सम्यग्दृष्टि श्रावक विश्वाऽनन्तवियोजक-दर्शनमोह

(ख) तत्त्वार्थसार अधिकार ७, गाथा ५५, ५६, ५७-अमृतचंद्राचार्य

गुणस्थानवर्ती) ५. दर्शनमोह का क्षय करने वाला (क्षायिकसम्यग्दृष्टि ४, ५, ६, ७ गुणस्थानवर्ती) ६. दर्शन का उपशमन करने वाला (उपशमश्रेणी चढ़ने चाले ७, ८, ९, १० गुणस्थानवर्ती) ७. उपशांतमोह नामक ११ वें गुणस्थानवर्ती ८. क्षपकश्रेणी चढ़ने वाला (७, ८, ९, १० गुणस्थानवर्ती) ९. क्षीणमोह (बारहवें गुणस्थानवर्ती) १०. जिन (१३-१४ गुणस्थानवर्ती)।

इन दस स्थानों में क्रमशः असंख्यातगुनी कर्म निर्जरा होती है। इस निर्जरा के परिणाम से ही वह गुणस्थानों की अग्रिम श्रेणियों में बढ़ता जाता है। गोमटसार में आध्यात्मिक-विकास की ग्यारह गुण श्रेणियों के साथ-साथ चौदह गुणस्थानों की भी चर्चा है। आ. हरिभद्रसूरि ने भी अपुनर्बन्धक मिथ्यादृष्टि अवस्था को आध्यात्मिक-विकास का प्रथम चरण माना है।

उ. यशोविजयजी ने भी आठदृष्टि की सज्जाय में सम्यक्त्व के पूर्व की मित्रा, तारा, बला और दीप्रा इन चार दृष्टियों में भी आध्यात्मिक-विकास को स्वीकार किया है। वस्तुतः सम्यक्त्व के सम्मुख होने वाले जीव का भी कुछ अंश में तो आध्यात्मिक-विकास अवश्य माना जा सकता है।

आध्यात्मिक-विकास की प्रक्रिया में आत्मा के दो प्रमुख कार्य होते हैं- १. सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना, अर्थात् आत्म और अनात्म का या हेय और उपादेय आदि का यथार्थ विवेक प्राप्त करना और २. स्वस्वरूप में स्थित रहना, अर्थात् सम्यक्चारित्र प्राप्त करना।

दर्शनमोहनीयकर्म के नष्ट होने से सम्यग्ज्ञानदर्शन का प्रकटन होता है चारित्रमोहनीयकर्म पर विजय पाने से यथार्थचारित्र (नैतिकता) का उदय होकर स्वस्वरूप में स्थिति हो जाती है। दर्शनमोह और चारित्रमोह-दोनों में दर्शनमोह ही प्रबल है, इसलिए आध्यात्मिक-विकासयात्रा में प्रथमतः दर्शनमोह पर विजय पाना होता है।

जैनदर्शन यह मानता है कि आत्मा की पूर्णता को प्रकट करने के लिए उसे दर्शनमोह और चारित्रमोह से संघर्ष करना होता है। इसी संघर्ष से आत्मा की विजययात्रा प्रारम्भ होती है। डॉ. सागरमल जैन^{७४८} लिखते हैं- “इस संघर्ष में सदैव विजय हो- यह आवश्यक नहीं है, आत्मा कभी परास्त होकर पुनः पतनोन्मुख हो जाती है।” उ. यशोविजयजी कहते हैं- “आध्यात्मिक-विकास में

^{७४८}. गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण, पृ. ४५ -डॉ. सागरमल जैन

आगे कदम बढ़ाने वाले, अर्थात् उपशमश्रेणी चढ़ने वाले तथा श्रुतकेवली भी दुष्टकर्मवश अनन्त संसार में भटक जाते हैं।”^{७४६} अतः हम कह सकते हैं कि कर्मरूप शत्रुओं से संघर्ष करते समय कुछ आत्माएँ संघर्ष से विमुख हो जाती हैं, तो कुछ संघर्ष के मैदान में डटी रहती हैं और कुछ विजय प्राप्त करके स्वस्वरूप में स्थित हो जाती हैं। विशेषावश्यक भाष्य^{७५०} में इन तीनों अवस्थाओं का सोदाहरण विवेचन इस प्रकार है-

कोई तीन प्रवासी का अपने गंतव्य स्थान की ओर बढ़ रहे थे। जंगल का बहुत मार्ग उन्होंने पार कर लिया। इतने में वे एक भयानक स्थान पर पहुँचें। वहाँ उनको दो चोर मिले। उन दो चोरों को देखकर एक प्रवासी मार्ग से पीछे हट गया। दूसरे को चोर ने पकड़ लिया और तीसरा चोरों पर विजय प्राप्त करके अपने लक्ष्य पर पहुँच गया। यहाँ जंगल या अटवी- यह संसार है और विकासोन्मुख आत्मा को प्रवासी की उपमा दी है। कर्मों की स्थिति- यह दीर्घपथ है। मोहग्रंथि या कर्मग्रन्थी भयस्थान है। राग और द्वेष रूपी दो चोर हैं। जो आत्मा इन चोरों पर विजय प्राप्त करती है, वही आध्यात्मिक-विकास करते हुए अपने गन्तव्यस्थान पर पहुँच जाती है। यहाँ हमें तीन प्रकार के व्यक्तियों का चित्रण मिलता है। एक तो वे, जो आध्यात्मिक-लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साधना के युद्धस्थल पर आते तो हैं, किन्तु साहस के अभाव में शत्रु की चुनौती का सामना नहीं कर युद्धस्थल से भाग जाते हैं, अर्थात् वापस संसारोन्मुख हो जाते हैं। दूसरे वे, जो साहस करके शत्रु का सामना तो करते हैं, किन्तु युद्धकौशल के अभाव में हार जाते हैं। तीसरे वे, जो शत्रु पर विजय प्राप्त करके ग्रंथिभेद कर साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ जाते हैं। ग्रन्थिभेद का तात्पर्य आध्यात्मिक-विकास में बाधक प्रगाढ़ अनादिकालीन राग एवं द्वेष की ग्रन्थियों का छेदन करना है। आध्यात्मिक-विकास में आगे बढ़ने के लिए अर्थात् क्रमशः उपर के गुणस्थान प्राप्त करने के लिए ग्रंथिभेद की क्रिया बहुत महत्त्वपूर्ण है। अब हम इसी विषय पर विचार करेंगे।

७४६. आरुढ़ाः प्रशमश्रेणिं, श्रुतकेवलिनोऽपि च।

भ्राम्यन्तेऽनन्तसंसारमहो दुष्टेन कर्मणा ॥५॥-ज्ञानसार २१/५

७५०. विशेषावश्यक भाष्य गाथा (१२११-१२-१३-१४)

आध्यात्मिक-विकास की प्रक्रिया और ग्रंथिभेद

आत्मा का शुद्धस्वरूप मोह से आवृत्त है और इसे दूर करने के लिए साधक को तीन मानसिक ग्रन्थियों का भेदन करना होता है। डॉ. सागरमल जैन^{१५१} लिखते हैं कि यह आत्मा जिस प्रासाद में रहती है, उस पर मोह का आधिपत्य है। मोह ने आत्मा को बन्दी बना रखा है। प्रासाद के तीन द्वारों पर उसने अपने प्रहरी लगा रखे हैं। प्रथम द्वार पर निःशस्त्र प्रहरी हैं। दूसरे द्वार पर सशस्त्र, सबल और दुर्जेय प्रहरी हैं और तीसरे द्वार पर पुनः निःशस्त्रप्रहरी हैं। वहां जाकर अत्म-देव के दर्शन के लिए व्यक्ति को तीनों द्वारों से प्रहरियों पर विजय प्राप्त करके गुजरना होता है। यह आत्मदेव का दर्शन ही आत्मसाक्षात्कार है और यह तीन द्वार ही तीन ग्रन्थियाँ हैं और इन पर विजयलाभ करने की प्रक्रिया ग्रन्थिभेद कहलाती है, जिसके क्रमशः तीन स्तर हैं- १. यथाप्रवृत्तिकरण २. अपूर्वकरण ३. अनिवृत्तिकरण

१. यथाप्रवृत्तिकरण - संसार समुद्र में अनादिकाल से भटकते-भटकते जीव के तथा भव्यता के परिपक्व होने से नदी घोल के न्याय से उसके आत्मपरिणाम कुछ शुद्ध बनते हैं, उसे यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं। विशेषावश्यकभाष्य में कहा गया है कि पर्वत के पास बहती नदी में पर्वत से गिरे हुए छोटे-छोटे पत्थर इच्छा बिना पानी के प्रवाह से परस्पर टकराकर या घिसकर गोल और चिकने हो जाते हैं, उसी प्रकार यथाप्रवृत्तिकरण में अज्ञानपूर्वक दुःखसंवेदना जनित अल्प आत्मशुद्धि हो जाती है और वह ग्रंथिदेश को प्राप्त कर लेता है। यथाप्रवृत्तिकरण पुरुषार्थ और साधना का परिणाम नहीं होता है, वरन् एक संयोग है, एक प्राकृतिक उपलब्धि है। यह एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इसमें आयुष्यकर्म को छोड़कर शेष सातों कर्मों की बाँधी हुई दीर्घ स्थिति (मोहनीयकर्म ७० कोड़ाकोड़ी सागरोपम) घटकर मात्र अंत कोड़ाकोड़ी सागरोपम परिणाम हो जाती है। यथाप्रवृत्तिकरण- यह कार्य है और स्थिति कम होना इसका कारण है।

यह आवश्यक नहीं है कि यथाप्रवृत्तिकरण करने वाला प्रत्येक जीव आध्यात्मिक विकास यात्रा में आगे बढ़ हो जाए, क्योंकि यथा प्रवृत्तिकरण भव्य और अभव्य-दोनों प्रकार के जीव अनेक बार करते हैं, किन्तु अभव्य जीव यहाँ से आगे नहीं बढ़ सकते हैं, यहीं पर रह जाते हैं और पुनः दीर्घस्थिति का बंध कर

^{१५१}. गुणस्थानसिद्धान्त : एक विश्लेषण पृ. ४६-डॉ. सागरमल जैन

लेते हैं। भव्यजीवों में भी किसी समय कोई जीव वीर्योल्लास के अतिरेक से आध्यात्मिक विकास-यात्रा में आगे बढ़ जाता है। उसके यथाप्रवृत्तिकरण को चरम यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं।

२. अपूर्वकरण - चरमयथाप्रवृत्तिकरण में आए हुए जीव का सद्गुरु का योग मिलने पर उदय होता है, विवेक-बुद्धि और संयमभावना का प्रस्फुटन होता है। धर्मश्रवण से उसका मन विशिष्ट वैराग्य वाला होता है। आत्मा को अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करते हुए कभी भी नहीं आया- ऐसा अपूर्व वैराग्ययुक्त अध्यवसाय उत्पन्न होता है, इसे ही शास्त्रों में अपूर्वकरण कहा गया है। विकासगामी आत्मा को यहाँ प्रथम बार शान्ति का अनुभव होता है। अपूर्वकरण का कार्य ग्रन्थिभेद है।

अपूर्वकरण की अवस्था में जीव कर्मशत्रुओं पर विजय पाते हुए निम्नलिखित चार प्रक्रियाएं करता है।

१. स्थितिघात - पूर्व में यथाप्रवृत्तिकरण द्वारा जो सातों कर्मों की स्थिति अंतः कोटाकोटी सागरोपम की हुई है, उसमें से भी अपूर्वकरण द्वारा कर्मों की स्थिति और कम हो जाती है।

२. रसघात - कर्मविपाक की प्रगाढ़ता में कमी होती है, अर्थात् कर्मों में फल देने की शक्ति या रस हीन हो जाता है।

३. गुणश्रेणी - कर्मों को ऐसे क्रम में रख देना, ताकि विपाककाल के पूर्व ही उनका फलभोग किया जा सके।

४. अपूर्वबन्ध - क्रियमाण क्रियाओं के परिणामस्वरूप होने वाले बन्ध का अत्यन्त अल्पकालिक एवं अल्पतर मात्रा में होना।

५. अनावृत्तिकरण - निवृत्ति, अर्थात् पीछे हटना (वापस लौट जाना); अनिवृत्ति, अर्थात् जहाँ से सम्यक्त्व प्राप्त किए बिना वापस नहीं लौटे- ऐसा आत्मा का अनिर्वचनीय, लोकोत्तर निर्मल अध्यवसाय अनिवृत्तिकरण कहलाता है। इस करण के समय जीव का वीर्योल्लास पूर्व की अपेक्षा बढ़ जाता है, जो कर्मक्षय के लिए वज्र के समान माना जा सकता है। तीनों करण में प्रत्येक की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। अनिवृत्तिकरण में भी उपर्युक्त स्थितिघातादि चालू ही हैं, लेकिन अभी गुणस्थानक पहला ही है। “जब अनिवृत्तिकरण का एक भाग शेष रहता है, तब अन्तःकरण की क्रिया शुरू होती है। इस प्रक्रिया में मिथ्यात्वमोहनीय के कर्मदलिकों को आगे-पीछे कर दिया जाता है। कुछ कर्मदलिकों को

अनिवृत्तिकरण के अन्त तक उदय में आने वाले कर्मदलिकों के साथ और कुछ को अन्तर्मुहूर्त बीतने के बाद उदय में आने वाले कर्मदलिकों के साथ कर दिया जाता है। इससे अनिवृत्तिकरण के बाद का एक अन्तर्मुहूर्त काल मिथ्यात्वमोहनीय के कर्मदलिक से रहित हो जाता है।^{७५२}

इसका सामान्य चित्र निम्नांकित है-

अनिवृत्तिकरण संख्याताभाग	१ संख्यातवां भाग	अंतकरण	बड़ी स्थिति
	मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति	मिथ्यात्व के दलिक से रहित अन्तर्मुहूर्तकाल औपशमिक सम्यक्त्व	मिथ्यात्व की द्वितीय स्थिति

प्रथम स्थिति जब पूर्ण होती है और जीव जैसे ही अंतकरण में प्रवेश करता है, वैसे ही वहाँ मिथ्यात्व के दलिक नहीं होने से वह उपशमसम्यक्त्व प्राप्त करता है।

लोकप्रकाश^{७५३} में दृष्टान्त देते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार वन में लगा हुआ दावानल आगे बढ़ते हुए जब ऊसरभूमि या जले हुए काष्ठादि को प्राप्त कर दाहवस्तु नहीं मिलने से स्वयं ही बुझ जाता है, उसी प्रकार यह मिथ्यात्वरूपी दावानल भी अंतकरण के प्रथम समय ही शांत हो जाता है और औपशमिकसम्यक्त्व प्रकट होता है। सम्यक्त्व की इस विशुद्धि के द्वारा दूसरी स्थिति में जो उपशान्त मिथ्यात्वमोहनीय है, वह भी तीन भागों में विभाजित हो जाती है, जिसे शास्त्रों में त्रिपुंजीकरण कहा गया है। इन्हें क्रमशः- १. सम्यक्त्वमोहनीय २. मिश्रमोहनीय और ३. मिथ्यात्वमोहनीय कहते हैं।

^{७५२} आध्यात्मिक विकास की भूमिकाएं एवं पूर्णता / १६- आचार्य जयन्तसेन

^{७५३} यथा वनदेवो दग्धेन्धनः प्राप्या तृणं स्थलम्।

स्वयं विध्यायति तथा मिथ्यात्वोद्गदवानलः॥

अवाप्यान्तर करणं क्षिप्रं विध्यायति स्वयम्।

तदीपशमिकं नाम सम्यक्त्वं लभतेऽसुभान्।-लोकप्रकाश गाथा ३/६३१-६३२

सम्यक्त्वमोहनीय सत्य पर श्वेत काँच का आवरण है, जबकि मिश्रमोह हल्के रंगीन काँच का और मिथ्यात्वमोह गहरे रंग के काँच का आवरण है।

उपशमसम्यग्दर्शन के अन्तर्मुहूर्त का काल जब समाप्त हो जाता है, तो पुनः दर्शनमोह के पूर्व में विभाजित तीन वर्गों में से किसी भी वर्ग की कर्मप्रकृति का गुणश्रेणी के अनुसार उदय हो सकता है। यदि प्रथम उदय सम्यक्त्वमोह का है, तो आत्मा विशुद्ध आचरण करती हुई विकासोन्मुख हो जाती है, लेकिन मिश्रमोह या मिथ्यात्वमोह का उदय होने पर आत्मा पुनः पतनोन्मुख हो जाती है। प्रथम गुणस्थानक आने के बाद सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय की उद्वलना करके दोनों के दलिकों को जीव पुनः मिथ्यात्वमोहनीय में प्रक्षेपित करता है। उसमें यदि सम्यक्त्व मोहनय की उद्वलना चल रही हो और उस समय जीव जो सम्यक्त्व प्राप्त करे तो उसे क्षयोपशमसम्यक्त्व प्राप्त होता है और जो मिश्रमोहनीय की उद्वलना चल रही हो उस समय भावो की विशुद्धि हो तो मिश्रगुणस्थानक को प्राप्त करता है। यदि दोनों की उद्वलना पूर्ण हो गई, अर्थात् सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्रमोहनीय दोनों के दलिक मिथ्यात्वमोहनीय में पूर्णतः रूपान्तरित हो जाते हैं, तो सम्यक्त्व प्राप्त करने के लिए पुनः ग्रन्थिभेद की प्रक्रिया करनी होती है, फिर भी एक बार सम्यक्त्व प्राप्त कर लेने के बाद इतना तो निश्चित हो जाता है कि वह एक सीमित समयावधि में आध्यात्मिक-विकास की पूर्णता को प्राप्त कर ही लेगा।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद आत्मा को अपूर्व आनंद प्राप्त होता है। अर्द्धसफलता में ही सन्तुष्ट नहीं होने के स्वभावानुसार वह विकासगामिनी आत्मा आत्मिकसुख की पूर्णता प्राप्त करने के लिए लक्ष्य में अवरोधक मोहनीयकर्म की दूसरी शक्ति चारित्रमोह पर आक्रमण कर उसे शिथिल करने का प्रयास करती है। आंशिक सफलता मिलने पर अर्थात् अल्पविरति के प्राप्त होने पर चौथी भूमिका से अधिक उसे शान्ति का लाभ प्राप्त होता है। अब वह देश विरति में सर्वविरति में आने के लिए प्रयत्न करता है, क्योंकि अल्पविरति में उसे परम आनंद की अनुभूति होती है तो वह विचार करता है कि अल्पविरति से इतनी आत्मिक शान्ति प्राप्त हुई तो सर्वविरति के प्राप्त होने पर कितना आनंद होगा ? अतः इस विचार से प्रेरित होकर वह प्रबल पुरुषार्थ करता है तो उसे सर्वविरति भी प्राप्त हो जाती है यह सर्वविरति नामक छठवां गुणस्थान है, जिसमें आत्मा को पौद्गलिक भावों पर मूर्च्छा नहीं रहती है तथा सारा समय स्वरूप की अभिव्यक्ति में लगता है, किन्तु बीच रमें प्रमाद उसकी शांति को भंग करता है उसे वह सहन नहीं कर सकता है तथा प्रमाद का त्याग करके सातवें गुणस्थान अप्रमत्तसंयत को प्राप्त कर

लेती है, लेकिन आत्मा कभी निद्रा तो कभी जागृति की अवस्था में क्रमशः छटे-सातवें गुणस्थान में झूलता रहता है। प्रमाद के साथ होने वाले इस शुद्ध में जब वह विजय प्राप्त कर लेता है तो अब उसके हौंसले बुलन्द हो जाते हैं। अब वह अपना आन्तरिक बल बढ़ाता है ताकि शेष रही मोह राजा की सेना को नष्ट किया जा सके। मोह के साथ होने वाले भावी युद्ध के लिए की जाने वाली तैयारी की इस भूमिका का नाम अपूर्वकरण गुणस्थान है। आध्यात्मिक-विकास की ओर क्रमशः बढ़ती हुई आत्माएँ आठवें गुणस्थान से दो श्रेणी में विभक्त हो जाती हैं। कोई विकासगामिनी आत्मा मोह को उपशमित करती हुई आगे बढ़ती है, किन्तु उसे निर्मूल नहीं कर पाती है तथा ग्यारहवें गुणस्थानक में मोह से पराजित होकर पतित हो जाती है।

विशिष्ट आत्मशुद्धि वाली कुछ आत्माएँ मोह के संस्कारों को जड़मूल से उखाड़ते हुए आध्यात्मिक-विकास में आगे बढ़ती हैं तथा दसवें गुणस्थान को प्राप्तकर इतना अधिक आत्मबल प्रकट करती हैं कि ग्यारहवें गुणस्थान को स्पर्श किए बिना ही मोह को सर्वथा क्षीण करके सीधे बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान पर पहुँच जाती हैं। जो आत्माएँ मोह को नष्ट कर आध्यात्मिक-विकास में आगे बढ़ती हैं, वे अपनी पूर्णता को प्राप्त करके ही विश्राम लेती हैं। उनका विकास बीच में अवरुद्ध नहीं होता है।

“परमात्मस्वरूप को प्रकट करने में मुख्य बाधक मोह ही है। मोह के पराजित होते ही अन्य घातिकर्म भी नष्ट हो जाते हैं, इस कारण विकासगामिनी आत्मा तुरन्त ही सच्चिदानन्दस्वरूप को पूर्णतया प्रकट करके अनंतचतुष्टय से शोभित होती है। इस भूमिका को तेरहवाँ सयोगीकेवली गुणस्थान कहते हैं, जिसमें आत्मा की सभी मुख्य शक्तियाँ पूर्ण विकसित हो जाती हैं। इस गुणस्थान में भी जब आत्मा अघातीकर्मों को नष्ट करने के लिए सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती शुक्लध्यानरूप पवन का आश्रय लेकर, मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापारों को सर्वथा रोक देती है, तब चौदहवाँ अयोगीकेवली गुणस्थान प्रकट होता है। यह आध्यात्मिक-विकास की पराकाष्ठा है। इसके अन्त में आत्मा शरीर त्याग कर मोक्ष प्राप्त करती है। यही सर्वांगीण पूर्णता है, परम पुरुषार्थ की अन्तिम सिद्धि है।”^{७५४}

^{७५४}. आध्यात्मिक विकास की भूमिकाएँ एवं पूर्णता /२० आचार्य जयन्तसेन

चौदह गुणस्थानकों का त्रिविधआत्मा से सम्बन्ध

चौदह गुणस्थानकों के स्वरूप को जानने के बाद अब प्रश्न यह उठता है कि इन चौदह गुणस्थानकों का बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा से क्या सम्बन्ध है ? बहिरात्मा पतित अवस्था है, अन्तरात्मा विकासशील अवस्था है और परमात्मा विकसित अवस्था है।

इसमें प्रथम गुणस्थानक पर रहे हुए जीव को तीव्र बहिरात्मा कहा गया है, क्योंकि प्रथम गुणस्थान पर रहे हुए जीवों में विषयकषाय की बहुलता रहती है और वे अज्ञान के अंधकार में डूबे हुए आत्मस्वरूप को नहीं समझते हैं। परवस्तुओं पर गाढ़ ममत्व रहता है। इन जीवों में हेय-ज्ञेय-उपादेय तत्त्वों का वास्तविक ज्ञान नहीं होने के कारण इन्हे तीव्र बहिरात्मा कहा गया है। प्रथम मिथ्यात्वगुणस्थानक पर अनंतानुबंधीकषाय का उदय रहता है, जो जीव के बहिरात्म पाने का सूचक है।

सास्वादनगुणस्थान और तीसरा मिश्रगुणस्थान भी वस्तुतः बहिरात्मा के ही रूप हैं। गुणस्थान-सिद्धान्त में इनको भी आत्मा की पतनोन्मुख अवस्था माना गया है। यद्यपि इन गुणस्थानों में पहले गुणस्थान की अपेक्षा आत्मशुद्धि कुछ अधिक अवश्य होती है, इसलिए इनका क्रम प्रथम गुणस्थानक के बाद आता है। सास्वादनगुणस्थान की अधिकारिणी ऊपर के गुणस्थानों से पतित होने वाली आत्मा ही होती है। ऊपर के गुणस्थानों से अधःपतन होने का कारण मोह का उत्प्रेक है, इस कारण इस गुणस्थान में मोह की तीव्र काषायिक-शक्ति का आविर्भाव पाया जाता है, अतः सास्वादनगुणस्थान भी बहिरात्मभाव का सूचक है। सास्वादनगुणस्थान पर रहे हुए जीव को मध्यम बहिरात्मा भी कह सकते हैं।

तीसरा गुणस्थान आत्मा की उस मिश्रित अवस्था का परिचायक है, जिसमें आत्मा न तो सम्यग्दृष्टि होती है और न ही मिथ्यादृष्टि। इस गुणस्थानवर्ती आत्मा में निर्णय करने की क्षमता नहीं होने से वह न तो एकान्तरूप से तत्त्व को अतत्त्व मानती है और न ही अतत्त्व को तत्त्व मानती है। वह तत्त्व-अतत्त्व का पूर्ण विवेक नहीं कर पाती है, इसलिए इसमें अवस्थित आत्मा भी बहिरात्मा ही कहलाती है। इसे मंद बहिरात्मा कह सकते हैं।

चतुर्थ गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक की अवस्थाएँ अन्तरात्मा की सूचक हैं। चौथा गुणस्थान अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान है। शब्द से ही अर्थ स्पष्ट हो जाता है कि सम्यग्दर्शन के होने पर भी सम्यक् चारित्र नहीं होता है।

उ. यशोविजयजी कहते हैं- “चारित्रमोहनीयकर्म की महिमा ही ऐसी है कि अन्य हेतु का योग होने पर भी फल का अभाव दिखता है।”^{७५५} चौथे गुणस्थान पर रहे हुए जीव को भवस्वरूप का ज्ञान, भव की निगुणता के दर्शन, तत्त्व में श्रद्धा आदि कारण उपस्थित होने पर भी विरति (त्याग) नहीं होती है।

प्रश्न यह उठता है कि अविरतसम्यग्दृष्टि बहिरात्मा है या अन्तरात्मा? अविरतसम्यग्दृष्टि सत्य को जानते हुए भी उसे जीने में असमर्थता का अनुभव करता है। वह यह जानता है कि हेय क्या है, उपादेय क्या है? वह जहर को जहर समझते हुए भी उसका त्याग नहीं कर सकता है, क्योंकि अनंतानुबंधीकषाय के नष्ट होने पर भी अप्रत्याख्यानीकषाय का उदय रहता है। दर्शनमोहनीयकर्म के क्षय होने पर भी चारित्रमोहनीयकर्म उदय में रहता है। उसकी जीवनदृष्टि सम्यक् होती है, लेकिन उसका आचारपक्ष शिथिल होता है। उसका जीवन भोगपरक होता है। जो विचारक यह मानते हैं कि सत्य केवल जानने का विषय नहीं है जीने का विषय है उनकी दृष्टि में अविरत बहिरात्मा है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि अविरतसम्यग्दृष्टि आचार की अपेक्षा से बहिरात्मा है, किन्तु विचार की अपेक्षा उसे एकान्त रूप से बहिरात्मा नहीं कह सकते हैं। उ. यशोविजयजी का कहना है- “चौथे गुणस्थान पर वैराग्य सर्वथा नहीं होता है-ऐसा नहीं है। स्वभाव-रमणता द्वारा आसक्ति का हरण हो जाता है।”^{७५६} अर्थात् विषयों में प्रवृत्ति होने पर भी आसक्ति नहीं होती है, अतः विषय वासना में जीते हुए भी उसके वासना के संस्कार दृढ़िभूत नहीं होते हैं। वह विषयों के स्वरूप के ज्ञान के द्वारा आसक्ति की तीव्रता को कम करता रहता है। इसी बात को आचार्य हेमचन्द्र ने भी वीतरागस्तोत्र में स्पष्ट करते हुए कहा है कि परमात्मा जब पूर्वभव में देवेन्द्र या चरम भव में राजा या चक्रवर्ती का पद प्राप्त करते हैं तब चौथा गुणस्थान ही होता है। तीर्थंकर के भव में भी जब तक सर्वविरतिधर न हो तब तक चौथा गुणस्थान ही होता है। वे ऐश्वर्य को भोगते हैं, तब उनमें रति का आभास होता है किन्तु वास्तव में तो उसमें भी विरक्ति ही रहती है।^{७५७}

^{७५५}. सत्यं चारित्रमोहस्य महिमा कोऽप्ययं खलु।

यदन्यहेतुयोगेऽपि फलायोगोऽत्र दृश्यते ॥१११॥

-वैराग्यसंभव अधिकार -५, अध्यात्मसार, उ. यशोविजयजी

^{७५६}. दशाविशेषे तत्रापि न चेदं नास्ति सर्वथा।

स्वव्यापारउत्तासंगं तथा च स्तवभाषितम् ॥१२॥-वैराग्यसंभवाधिकार-अध्यात्मसार-उ.

यशोविजयजी

^{७५७}. यदा मरुन्नेन्द्र श्रस्त्वया नाथापभुज्जयते।

चतुर्थ गुणस्थान पर भी जीवों में बाह्यदृष्टि से अविरति दृश्यमान होने पर भी वे आसक्ति रहित हो सकते हैं अतः चतुर्थ गुणस्थान पर रही हुई आत्मा को भी विचार पक्ष से अन्तरात्मा कह सकते हैं, इसलिए उसकी गणना जघन्य अन्तरात्मा में की गई है।

पाँचवें गुणस्थान देशविरतसम्यग्दृष्टि से लेकर उपशान्तमोह गुणस्थानवर्ती तक की सभी आत्माएँ मध्यम अन्तरात्मा कहलाती हैं। पंचम गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक आत्मविशुद्धि निरंतर बढ़ती है, किन्तु कम या अधिक कषाय की सत्ता सभी में रही हुई है, उस दृष्टि से इन्हें मध्यम अन्तरात्मा कहा गया है।

बारहवें गुणस्थान पर रहीं हुई आत्माएँ उत्कृष्ट अन्तरात्मा कहलाती हैं, क्योंकि इस गुणस्थान पर कषाय की सत्ता नहीं रहती हैं, सम्पूर्ण कषायों का क्षय हो जाता है। मोहनीयकर्म का अंश भी नहीं रहता है। परमात्म अवस्था तक पहुँचने में मात्र अन्तर्मुहूर्त समय ही बाकी रहता है, अतः इसे अन्तरात्मा की उत्कृष्ट अवस्था कह सकते हैं।

तेरहवाँ सयोगीकेवली तथा चौदहवाँ अयोगीकेवली-ये दो अवस्थाएँ परमात्मपद की सूचक हैं।

उ. यशोविजयजी ने अध्यात्मोपनिषद् में इस बात पर प्रकाश डालते हुए कहा है- “जितने भी गुणस्थानक हैं तथा जितनी भी मार्गणाएँ हैं-दोनों में से किसी के साथ भी परमात्मा का कोई संबंध नहीं है।”^{७५८} यह बात उन्होंने सिद्धपरमात्मा को दृष्टि में रखते हुए कही है। अध्यात्मसार में उन्होंने परमात्मा की जो व्याख्या की है, वह भी परमात्मा के सिद्धस्वरूप को स्पष्ट करती है। अध्यात्मसार में उन्होंने कहा है- “केवलज्ञान योगनिरोध और सभी कर्मों का नाश तथा सिद्धशिला में वास होता है तब परमात्मा व्यक्त होता है।”^{७५९} यह व्याख्या भी उन्होंने सिद्ध परमात्मा को लक्ष्य करके ही की है, अतः हम कह सकते हैं कि अरिहंत परमात्मा सयोगीकेवली दशा में तेरहवें गुणस्थान में होते हैं तथा जब योग का निरोध करते हैं, तब चौदहवें अयोगीकेवली गुणस्थान में होते हैं, किन्तु सिद्धों का कोई भी गुणस्थान नहीं होता है, वे गुणस्थान अतीत हैं।

यत्र तत्र रतिनामि विरक्तत्वं तदापि ते ॥१३॥ (क) वीतरागस्तोत्र १२/४ (ख)

अध्यात्मसार

^{७५८} गुणस्थानानि भावति यावन्त्यश्चापि मार्गणाः ।

तदन्यतरसंश्लेषो, नैवात. । परमात्मनः ॥२८॥

-अध्यात्मोपनिषद-उ. यशोविजयजी

^{७५९} ज्ञानं केवलसंज्ञं योगनिरोधः समग्रकर्महतिः ।

सिद्धिनिवासश्च यदा परमात्मा स्यत्तदा व्यक्तः ॥२४॥

-अनुभवाधिकार-अध्यात्मसार, उ. यशोविजयजी

नवम अध्याय

उपसंहार

आधुनिक वैश्विक समस्याओं के निराकरण में अध्यात्मवाद का अवदान

विश्वव्यवस्था की वर्तमान स्थिति पर दृष्टिपात करें तो हम पायेंगे कि आज समूचा विश्व अनेक समस्याओं से जूझ रहा है। बढ़ता हुआ प्रदूषण, शास्त्रों की प्रतिस्पर्धा, युद्ध का उन्नाद, अपराधों की अभिवृद्धि, जनसंख्या विस्फोट, राष्ट्रों में प्रभुत्व विस्तार की भावना, भोगवादी दृष्टिकोण, मादक वस्तुओं के सेवन में बढ़ती हुई प्रवृत्ति, उपभोक्तावादी संस्कृति का विकास आदि अनेक समस्याएँ अपना विकराल रूप धारण किए हुए हैं। जिधर भी दृष्टि जाए उधर अभाव, असंतोष, भय, चिंता, क्लेश, कलह, कदाग्रह, भ्रष्टाचार एवं अनैतिक आचरण दृष्टिगोचर होता है।

आज के युग के मानव की शारीरिक सुरक्षा, सुख एवं सुविधा के लिए अनेक प्रकार के प्रयास चल रहे हैं। विज्ञान के क्षेत्र की मूर्धन्य प्रतिभाएँ इस लक्ष्य की पूर्ति में लगी हुई हैं। बैलगाड़ी पर चलने वाला मनुष्य एक ओर राकेट स्पूतनिक और हवाई जहाज के माध्यम से अन्तरिक्ष की यात्रा कर रहा है, तो दूसरी ओर समुद्र की गहराई में प्रवेश कर गया है। मशीनों और यंत्रों का चरम विकास हुआ है। स्थिति ऐसी बन रही है कि युद्ध में भी आदमी नहीं उसकी बुद्धि ही लड़ेगी। मनुष्य उपकरण प्रधान हो गया है। लेकिन फिर भी मानव जाति में तनावों एवं अशांति की इतिश्री नहीं हो रही है। जहाँ धन वैभव तथा भोग-विलास के साधन ज्यादा हैं, वहीं शस्त्रों की प्रचुरता है, दुःख और समस्याओं का अम्बार लगा हुआ है। शिक्षा और सुखसुविधा के साधनों का चहुँमुखी विकास होने पर भी व्यक्ति अशान्त क्यों? इस पर गंभीरतापूर्वक विचार करने से निष्कर्ष यह निकलता है कि मनुष्य की व्यक्तिगत एवं सामूहिक समस्त समस्याओं,

कठिनाईयों, उलझनों, विपत्तियों का एकमात्र कारण मनुष्य के दृष्टिकोण तथा भावनात्मक स्तर का विकृत हो जाना ही है।

हमें यह जान लेना चाहिये कि ऊँचाई हमेशा गंभीरता के साथ पैदा होती है। यदि ऊँचे भवन को खड़ा करना है तो गहराई में जाना होगा। यदि उस प्रसाद को बालू की नींव पर खड़ा कर दें या बिना नींव के खड़ा कर दें, तो वह टिकेगा नहीं, ढह जायेगा। मजबूत मकान के लिये गहरी नींव की आवश्यकता होती है। गहराई के बिना ऊँचाई सम्भव नहीं है। भौतिकता के भवन को यदि ऊँचा उठाना है, सुख और शांति का जीवन जीना है तो अध्यात्म की गहराई में भी हमें जाना होगा। इस सन्दर्भ में विनोबा जी^{१६०} ने 'आत्मज्ञान और विज्ञान' नामक पुस्तक में अपने विचार प्रस्तुत करते हुए कहा है कि आज विज्ञान के कारण हम लोगों के हाथों में अत्यधिक शक्ति आ गयी है। लेकिन उसका उपयोग कैसे किया जाय, यह तो आत्मज्ञान (अध्यात्म) ही बतलाएगा। घोड़े को काबू में रखें और उस पर लगाम चढ़ाये, तभी आप उस पर चढ़कर चाहे जहाँ पहुँच सकते हैं। विज्ञान घोड़ा है और आत्मज्ञान है उसकी लगाम। अगर घोड़े को लगाम नहीं रही, तो सवार के उस पर बैठने की जगह घोड़ा ही सवार की छाती पर सवार हो जाएगा। इसी तरह विज्ञान को भी आत्मज्ञान की अर्थात् अध्यात्म की लगाम न रही, तो विज्ञान दुनिया का संहार कर डालेगा। यदि उसे आत्मज्ञान की जोड़ दे दी जाय, तो इसी भू पर स्वर्ग उतर आयेगा। आज के युग की मांग है कि विज्ञान जितनी तीव्रता से गति कर रहा है उसी अनुपात में अध्यात्म की भी वृद्धि होनी चाहिए तो ही समस्याओं का निराकरण होगा।

आज विश्वशांति के नाम पर कितने ही प्रयत्न अपने ढंग से चल रहे हैं। राजनैतिक क्षेत्र में विश्वसंघ का संगठन खड़ा किया गया है। इसका उद्देश्य अच्छी दुनिया की रचना करना है। रुस समर्थित शांति परिषद और अमेरिका समर्थित शान्ति सेना भी अपना यही उद्देश्य बताते हैं। इस प्रकार विभिन्न स्तरों पर चल रहे प्रयत्नों के होते हुए भी आशाजनक परिणाम सामने नहीं आए। उसका कारण यही है जिस आध्यात्मिक स्तर पर यह प्रयत्न किये जाने चाहिये थे, उसे नहीं अपनाया गया। भौतिक स्तर पर किये गये प्रयत्न क्षणिक लाभ ही देते हैं। जब तक आध्यात्मिक स्तर पर प्रयत्न नहीं किये जायेंगे तब तक ठोस परिणाम सामने नहीं आयेंगे। केवल त्यों का सिंचन करने से वृक्ष फलता-फूलता नहीं है, विकसित नहीं होता है। सिंचन तो मूल में ही करना पड़ता है। आज या जब कभी

भी वास्तविक एवं चिरस्थायी, सुदृढ़ विश्वशांति की आवश्यकता अनुभव की जाएगी और उसके लिए दूरदर्शितापूर्ण हल खोजा जाएगा तो वह हल एक ही होगा—“जन-जन के मन में अध्यात्मवाद और नैतिक चेतना का विकास”।

आज विश्व में अनेक समस्याएँ हैं। हम उन समस्याओं को तथा उनके निराकरण में अध्यात्मवाद का क्या अवदान हो सकता है? यह प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे। उसके पहले यहाँ यह बताना आवश्यक है कि आज विश्व के प्रायः सभी धर्म कर्मकाण्ड प्रधान हो गये हैं। धर्म में जो अध्यात्म का पक्ष होना चाहिए वह गौण या प्रायः समाप्त ही हो गया है। आज धर्म आत्मविशुद्धि का साधन नहीं रह गया है। विज्ञान के इस युग में कर्मकाण्ड से भरपूर अथवा स्वर्ग के प्रलोभन और नरक के भय के आधार पर खड़े हुए धर्म का कोई मूल्य नहीं है।

धर्म को कर्मकाण्डात्मक मान लेने पर देश काल और परिस्थिति के अनुरूप कर्मकाण्ड में अन्तर आता है तथा कर्मकाण्ड में अन्तर आने पर धर्म में भेद उत्पन्न होते हैं। ये धार्मिक मतभेद धार्मिक असहिष्णुता और धार्मिक संघर्षों के कारण होते हैं। आज जिस धर्म की आवश्यकता है उसे स्वर्ग के प्रलोभन या नरक के भय के आधार पर खड़ा नहीं किया जा सकता है अपितु आज एक ऐसे धर्म की आवश्यकता है। जिससे पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सद्भावना और सहिष्णुता पैदा की जा सके इसलिए विनोबाजी का यह कहना सत्य है कि आज धर्म अर्थात् कर्मकाण्ड प्रधान धर्म की आवश्यकता नहीं है, आज आवश्यकता है विशुद्ध आध्यात्मिक धर्म की। उपाध्याय यशोविजयजी के अध्यात्मोपनिषद, अध्यात्मसार और ज्ञानसार में जिस धर्म का चित्रण किया गया है वह धर्म एक प्रायोगिक धर्म है और उसका आधार है अध्यात्मा। उसके द्वारा मानव समाज में शान्ति, सौहार्द और सहिष्णुता की वृद्धि की जा सकती है। अतः हम इन्हीं ग्रंथों का आधार लेकर विश्व की विभिन्न समस्याओं का समाधान खोजने का प्रयास करेंगे।

१. उपभोक्तावादी दृष्टिकोण एक जटिल समस्या -

असीम इच्छाएँ, असीम आवश्यकताएँ और असीम पदार्थों की उपलब्धि आज मानव इसी चिन्तन के रंग में रंगा हुआ है। इसी मानस ने जन्म दिया है पदार्थ प्रधान संस्कृति को। ‘खाओ, पीओ और मौज करो।’ आज जीवन का प्रवाह इसी दिशा में मुड़ गया है। वर्तमान की आर्थिक व्यवस्था और अवधारणा ने व्यक्ति को भोगवादी बनाया है। उत्पादन अधिक, अर्जन अधिक और भोग

अधिक- ये जीवन के तीन सूत्र मान लिए गए हैं। इस दृष्टिकोण ने कुछ लोगों को भोगी बना दिया, कुछ लोगों को अभाव ग्रस्त और दीन हीन बना दिया। भोगवादी दृष्टिकोण सचमुच एक बहुत बड़ी समस्या हो गई है। अतिभोग ने कई रोगों को भी जन्म दिया है। इस उपभोक्तावादी संस्कृति की ही उपज है- मानसिक असंतुलन, अतृप्ति और मानसिक तनाव।

भोग का संबंध इन्द्रिय जगत् से है। पाँच इन्द्रियों के पाँच विषय है- शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गंध। आज व्यक्ति पूर्णतः इन्द्रियों का गुलाम बना हुआ है। इन्द्रियों की प्रेरणा से आकांक्षाएँ उत्पन्न होती हैं और इनकी पूर्ति के लिए मनुष्य दिन-रात प्रयत्न करता है। इस वैज्ञानिक युग ने सामग्री अतिमात्रा में उपलब्ध कराई है। उसका परिणाम यह हुआ कि व्यक्ति की आकांक्षा पूर्ति ने अब घोर अतृप्ति का रूप ले लिया है। आज हम बाजार में जीवन में अतृप्ति को बढ़ाने के लिए उतनी सामग्री बेच रहे हैं जितनी शरीर के लिए बिलकुल आवश्यक नहीं है। पुद्गल के परिभोग में तृप्ति? यह एक असंभव बात है चाहे जितने पुद्गलों अर्थात् भौतिक सुख-सुविधाओं का भोग करिए, अतृप्ति की आग सुलगती ही रहेगी। उ. यशोविजयजी ने इसका चित्रांकन 'अध्यात्मसार' ग्रंथ में करते हुए कहा है कि "अग्नि में ईंधन डालने से अग्नि शांत नहीं होती वरन् उससे तो अग्नि की शक्ति बढ़ती है और लपटों में वृद्धि होती है। ऐसे ही जगत् के पौद्गलिक विषयों के उपभोग से तृप्ति तो नहीं होती परन्तु अतृप्ति की आग बढ़ती है।"^{१६१} आज हम देख रहे हैं कि जिस राष्ट्र में भोगवादी दृष्टिकोण जितना अधिक प्रबल है, उतनी ही अधिक समस्याएँ भी वहाँ हैं। उपभोक्तावादी संस्कृति के कई दुष्परिणाम सामने आए हैं। आत्महत्या, जघन्य अपराध, हिंसा, मानसिक तनाव, मादक वस्तुओं के सेवन की प्रवृत्ति, तस्करी के द्वारा अधिकतम धन उपार्जन की मनोवृत्ति आदि कई समस्याएँ खड़ी हुई हैं। जब तक विकसित राष्ट्र और विकसित समाज की परिभाषा आर्थिक सम्पन्नता और साधन सामग्री की प्रचुरता के आधार पर होगी तब तक चारित्रिक पतन, भ्रष्टाचार और तनावग्रस्तता की समस्याओं के समाधान सम्भव नहीं है। वही समाज और राष्ट्र विकसित है जिसका आध्यात्मिक बल उन्नत है। जिसका चारित्रिक बल उठा हुआ है। इस दृष्टि में वर्तमान वैश्विक समस्याओं का समाधान छिपा हुआ है।

७६१. विषयः क्षीयते कामो नेन्धनैरिव पावकः

प्रत्युत प्रोल्लसच्छक्तिर्भूय एवोपवर्द्धते ॥४॥-वैराग्यसंभवाधिकार -अध्यात्मसार -उ.

यशोविजयजी

भौतिक विकास के लिए काम और अर्थ जरूरी है। लेकिन भौतिक विकास के साथ आने वाली विकृतियों को दूर करने के लिए अध्यात्मवादी दृष्टिकोण से युक्त धर्म और मोक्ष भी आवश्यक है। भोग जीवन की अनिवार्यता है तो त्याग उसका अलंकरण है। पोजिटिव और निगेटिव दोनों का योग होता है, तो ही बिजली जलती है। चमक पैदा होती है। भोग के साथ-साथ त्याग का होना भी जरूरी है। इसलिए उ. यशोविजयजी इन्द्रिय विषयों के गुलाम बने हुए जीव को चेतावनी देते हुए ज्ञानसार में कहते हैं कि “एक-एक इन्द्रिय की परवशता से जीवात्मा की कैसी करुण दुर्दशा होती है, इस पर विचार करें। पतंगा दीपक की ज्योति के आसपास खूब नाचता है। चक्षु इन्द्रिय द्वारा रूप के प्रति आसक्त बना पतंगा ज्योति का आलिंगन करने जाता है और जलकर भस्म हो जाता है। सुगन्ध का दीवाना भ्रमर जो लकड़ी को भी छेद सकता है किंतु कोमल कमल के पुष्प में बंद होकर अपनी जान गवां देता है। रसनेन्द्रिय के वश होकर मछली मछुआरे के जाल में फंस जाती है। स्पर्शेन्द्रिय के सुख में भान भूला गजेन्द्र और मधुर स्वर को श्रवण करने के शौकीन हिरणों को भी मौत का शिकार होना पड़ता है। एक-एक इन्द्रिय के परवश बने जीवों की ऐसी दुर्दशा होती है तो आज का मानव तो पाँचों इन्द्रियों के भोग में आकण्ठ डूबा हुआ है। इसलिए आज के मानव की यह करुण दुर्दशा हुई है कि वह सुख और शांति का अनुभव नहीं कर पाता है।”^{७६२}

जैनागम उपासंगदशांगसूत्र में श्रावक के बारह व्रत बताये गये हैं उसमें सातवाँ व्रत भोगोपभोग परिमाण व्रत आता है अर्थात् भोग और उपभोग की सामग्री का परिणाम निश्चित करना अर्थात् अपनी आवश्यकताओं की सीमा का निर्धारण करना। इस वैज्ञानिक युग में आज यह नियम अत्यन्त ही प्रासंगिक है। क्योंकि आसक्ति और स्वार्थ से प्रेरित होकर लोगों ने त्याग के पक्ष को गौण कर दिया है। इसी प्रकार अहं ने प्रदर्शन के पक्ष को मुख्य कर दिया है और दर्शन गौण हो गया है। जिस मकान में सौ आदमी रह सके उतना बड़ा भव्य मकान बनायेंगे पर उसमें रहने वाले होंगे दो चार सदस्य। जीवन की सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति तो कम आय वाला भी कर सकता है किंतु असीम इच्छाओं की पूर्ति अरबपति भी कभी नहीं कर सकता है। वास्तव में जिस समाज

७६२. पतङ्गभृगमीनेभ सारंगयान्ति दुर्दशाम् ।

एकैकेन्द्रियदोषाच्चेद् दुष्टैस्तैः किं न पंचभिः ॥७॥ -इन्द्रियजयाष्टक -७/७, ज्ञानसार, उ. यशोविजयजी

में हम रहते हैं, उसके औसत जीवन स्तर से बहुत अधिक ऊँचा, बहुत अधिक खर्चीला जीवन स्तर बनाना निश्चित रूप से अनैतिक है। इसमें समाज के प्रति अर्थात् दूसरे लोगों के प्रति उपेक्षा का निष्ठुरतापूर्ण मनोभाव छिपा हुआ है। इसकी प्रतिक्रियाएँ बहुत दुःखद होती हैं। चोर-डाकू, लूटेरे, हत्यारे, दुराचारी लोगों की उत्पत्ति होती हैं। अमीरों के आकर्षण टाटबाट और भोग उपभोग के साधन देखकर कमजोर व्यक्ति भी विलासितापूर्ण जीवन जीने के लिए उन साधनों की प्राप्ति करने के लिए गलत मार्ग अपनाते हैं। भोग के प्रति आकर्षण समाज में विक्षोभ पैदा करता है और अनेक दुष्प्रवृत्तियों की उत्पत्ति का कारण बनता है।

पूरे विश्व में भोगवादी दृष्टिकोण अपनी चरमसीमा पर पहुँच गया है। अतः अब अतिआवश्यक है कि लोगों के मन में आध्यात्मिक चेतना को जागृत कर संयम की भावना उत्पन्न की जाए। भोगोपभोग परिमाण-व्रत का प्रचार प्रसार किया जाए। साथ ही पदार्थ की अनित्यता या भौतिक सुखों की क्षणिकता का बोध कराकर जीवन के शाश्वत मूल्यों के प्रति आस्था स्थापित करना भी आवश्यक है। यह सच है कि पदार्थ के बिना जीवन की यात्रा नहीं चलती है। खाना-पीना, मकान, कपड़ा आदि सभी पदार्थ पर ही निर्भर है किन्तु जिसमें आध्यात्मिक चेतना का जागरण हो चुका है वह पदार्थ को पदार्थ मानता है, उपयोगी और आवश्यक मानता है किन्तु उसे आत्मीय नहीं मानता है उसके प्रति आसक्त नहीं होता है। उ. यशोविजयजी ने कहा है कि “अहं और मम” में और ‘मेरा’ में पूरा जगत अंधा बना हुआ है। उ. यशोविजयजी ने हृदय परिवर्तन का सूत्र दिया ‘अहं नहीं ममत्व नहीं’।^{७६३} इन दो सूत्रों का विकास किया जाए और व्यक्ति का शाश्वत जीवन मूल्यों के प्रति आकर्षण बढ़ाया जाए। जिस पदार्थ का संयोग हुआ है उसका वियोग निश्चित है, जब मृत्यु आती है, तब सब पदार्थ यही रह जाते हैं। कुछ भी साथ नहीं जाता है। यहाँ तक कि यह शरीर भी यहीं जलकर भस्म हो जाता है। मनोविज्ञान में इड, ‘ईगो’ और ‘सुपर ईगो’ पर बहुत चिन्तन हुआ है। ईगो (चेतना) को इड ईगो (वासनात्मक चेतना) और सुपर ईगो (आदर्शात्मक चेतना) में समन्वय करना होगा। उ. यशोविजयजी ने हृदय परिवर्तन को दूसरा सूत्र दिया है- “भेद विज्ञान” का “मैं पदार्थ नहीं हूँ, पदार्थ से भिन्न हूँ।”^{७६४}

७६३. अहं ममेति मन्त्रोऽयं मोहस्यजगदान्धकृत् ।

अयमेव हि नंपूर्वः प्रतिमन्त्रोपि मोहजित् ॥११॥-मोहत्यागाष्टक ४/१, ज्ञानसार, उ. यशोविजयजी

७६४. शुद्धात्मद्रव्यमेवाहं, शुद्धज्ञानं गुणो मम ।

भौतिक सुख दिखने में चाहे जितने सुन्दर हो, परंतु वे दुःखमिश्रित हैं विनाशी हैं, और पराधीन हैं। वे शाश्वत नहीं और स्वाधीन नहीं- इस सत्य को अगर स्वीकार कर लिया जाय तो पदार्थ के प्रति आसक्ति कम हो सकती है।

उ. यशोविजयजी ने अन्यत्व, एकत्व और अनित्यता के बोध रूपी इन तीन सूत्रों के द्वारा मनुष्य के भोगवादी दृष्टिकोण के परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। अब आवश्यकता है कि इन सूत्रों को इतना समर्थ और व्यावहारिक बनाया जाए कि व्यक्ति की उपभोक्तावादी जीवन दृष्टि बदले और वह सादा जीवन और उच्च विचार को अपनावे।

२. मानसिक तनाव :-

मानसिक तनाव या अशांति चित्तवृत्ति भी वर्तमान युग की एक गंभीर समस्या है, जिससे आज प्रायः समग्र विश्व के मानव ग्रसित हैं। अशान्ति की इस स्थिति में भी शान्ति की खोज हेतु मनुष्य अथक् प्रयास कर रहा है किन्तु अन्ततः असफलता ही प्रायः हाथ लगती है। आज के इस वैज्ञानिक युग में मनुष्य अन्य बहुत कुछ पाया, किन्तु शान्ति को प्राप्त नहीं कर सका। अशान्ति का प्रश्न जहाँ का तहाँ और ज्यों का त्यों सामने खड़ा है। मनुष्य के भीतर जो आग है वह बाहर के किन्हीं भी उपायों से बुझ नहीं सकती है। मनुष्य के भीतर जो तृष्णाजन्य दुःख है वह बाहरी सुख सुविधा के साधन से समाप्त नहीं हो सकता है। मनुष्य के भीतर जो अंधकार है बाहर की कोई भी रोशनी उसे नष्ट करने में असमर्थ है। लेकिन अब तक यही हुआ है, आग भीतर है और बुझाने की कोशिश बाहर है। विज्ञान अकेला जीवन को शांति, आनंद देने में समर्थ नहीं है और न कभी समर्थ हो सकेगा। वह सुविधाएँ दे सकता है और सुविधाएँ ज्यादा से ज्यादा दुःख के विस्मरण में क्षणिक रूप से सहयोगी हो सकती है। सुविधाओं से दुःख मिटता नहीं है केवल छिपता है। सुविधाओं को जुटाने के लिए एक दौड़ पैदा होती है जिसका कोई अंत नहीं और यह दौड़ ही एक तनाव अशांति और दुःख बन जाती है। यह अंतहीन दौड़ ही विक्षिप्तता बन जाती है। तनाव से जन्म होता है नशे की प्रवृत्ति का और अपराध की वृत्ति का। “आज मनुष्य का मानसिक तनाव इतना बढ़ गया है कि शायद इतना पहले कभी नहीं था। अमेरिका आज की दुनिया का सबसे धनी देश है। वहाँ पर खाने पीने पहनने की कोई कमी नहीं है। इसके उपरान्त भी वहाँ मानसिक तनाव के रोगियों की संख्या दुनिया में सबसे

नान्योऽहं न ममान्ये चेत्यदोमोहास्त्रमुल्बणम ॥२॥ -वही

अधिक है। वहाँ करोड़ों रुपया प्रतिवर्ष नींद की गोलियों के लिए खर्च करना पड़ता है। यदि बाह्य उपकरण ही सुख के साधन होते तो शायद ऐसा नहीं होता। फ्रांस में भी मानसिक तनाव के रोगियों की संख्या इतनी बढ़ी है कि वहाँ के लोग यह अनुभव करने लगे कि आध्यात्मिकता का जीवन में प्रवेश नहीं हुआ तो हम समाप्त हो जायेंगे।”

तनाव का एक प्रमुख कारण महत्वाकांक्षा भी है। आज की शिक्षा में बचपन से ही बच्चों को प्रतिस्पर्धा (कॉंपिटिशन) या आगे बढ़ने की होड़ में खड़ा कर दिया है। प्रत्येक क्षेत्र में प्रथम आने की दौड़ मनुष्य को विक्षिप्त कर रही है। जहाँ तुल्यता (कम्पेरिजन) का बोध आया, वहीं कठिनाई शुरु हो जाती है। लेकिन सारी दुनियां आज कम्पेरिजन में खड़ी है। हर व्यक्ति सबसे आगे निकलने की दौड़ में है। अर्थाभाव होने पर भी खर्च का भार उठाकर व्यक्ति अपने बच्चों को नामी विद्यालयों में पढ़ाने की भावना रखता है। वह चाहता है कि मेरा बच्चा डॉक्टर हो, इंजिनियर हो, बड़े से बड़े पद को प्राप्त करे; यही आकांक्षा उसको जिंदगी भर तनाव से युक्त जीवन जीने को मजबूर कर देती है। आज पढ़े लिखे व्यक्ति और अमीर व्यक्ति अधिक असंतुलित हो गये हैं।

सुविधावादी दृष्टिकोण भी मानसिक अशान्ति के लिए एक बहुत बड़ा कारण है। एक लालसा अंदर ही अंदर पनपती है कि प्रिय वस्तु का संयोग हो उसका कभी वियोग न हो और अप्रिय वस्तु या प्रतिकूल परिस्थिति का वियोग ही रहे उसका कभी संयोग न हो। उ. यशोविजयजी जी ने इसे आर्तध्यान की संज्ञा दी है। यह मानसिक तनाव का मुख्य हेतु है।

आचार्य महाप्रज्ञ ने अनुकूलता के प्रति गहरी आसक्ति और प्रतिकूलता के प्रति द्वेष की मनोवृत्ति वाले व्यक्ति के व्यवहार का चित्रण करते हुए उसे पाँच भागों में विभक्त किया है।

- (१) व्यवसाय आदि की असफलता होने पर हीनभाव से ग्रस्त हो जाना।
- (२) दूसरे की संपदा पर विस्मय से अभिभूत हो जाना।
- (३) संपदा प्राप्त होने पर उसमें आसक्ति हो जाना।
- (४) दूसरे की संपदा की इच्छा करना।

(५) अधिकतम संपदा के अर्जन में दत्तचित्त रहना।^{७६५}

ये स्पर्धा के लक्षण है। मानसिक तनाव के हेतु है। जैसे-जैसे संपदा बढ़ती है वैसे-वैसे शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श के प्रति आसक्ति बढ़ती जाती है। एक ओर संपदा की वृद्धि दूसरी ओर मानसिक तनावों में वृद्धि। आकाश में पतंग कितनी ऊपर उठती है फिर भी वह डोरे से मुक्त नहीं बन सकती है। इसी तरह मनुष्य चाहे करोड़पति-अरबपति क्यों न बन जाए किंतु इच्छाओं का गुलाम होने से वह दुःख से मुक्त नहीं हो सकता है। धन-सम्पत्ति वैभव और सत्ता में शांति की खोज करने वाले बड़ी भूल कर रहे हैं। धन में सुख की मिथ्याअवधारणा ने तनाव को जन्म दिया है। स्थानांगसूत्र के चतुर्थ स्थानक^{७६६} में बताया गया है कि चार स्थान सदैव अपूर्ण रहते हैं (१) सागर (२) श्मसान (३) पेट और (४) तृष्णा। तृष्णा का खड्डा सबसे बड़ा खड्डा है जिसे कभी भरा नहीं जा सकता है। इसी बात को उ. यशोविजयजी ने ज्ञानसार में कहा है कि-

“सरित्सहस्रदुष्पूरसमुद्रोदरसोदरः

तृप्तिमानेन्द्रिग्रामो भव तृप्तोऽन्तरात्मना”^{७६७}

हजारों नदियां सागर के उदर में नियमित रूप से गिरती हैं फिर भी क्या सागर को तृप्ति हुई? सागर की तरह पाँच इन्द्रियों का स्वभाव है अतृप्त रहना। इसलिए शारीरिक सुख और इन्द्रिय सुख के प्राप्त होने पर मानसिक सुख भी स्वतः प्राप्त हो जाएगा। तनाव दूर हो जाएगा यह मान्यता ही मिथ्या है। उसे उ. यशोविजयजी ने बहिरात्मा^{७६८} कहा है। आज दुनिया के सभी लोग बहिरात्मभाव में ही जीवन व्यापन कर रहे हैं। विषय और कषायों के आवेग से युक्त व्यक्ति को कभी शान्ति नहीं मिलती है और शान्ति के अभाव में सुख की प्राप्ति भी नहीं होती है। उ. यशोविजयजी ने तनाव से ग्रसित मानव को दुःख से मुक्ति दिलाने के लिए तथा वास्तविक सुख और दुःख का लक्षण बताते हुए कहा

७६५. अहिंसा और शांति पृष्ठ ४७ -आचार्य महाप्रज्ञ

७६६. स्थानांगसूत्र

७६७. इन्द्रियजयाष्टक ७/३, ज्ञानसार, उ. यशोविजयजी

७६८. विषयकषायावेशः तत्त्वाश्रद्धा गुणेषु च द्वेषः

आत्माऽज्ञानं च यदा बाह्यात्मा स्यात्तदा व्यक्तः॥२२॥

-अनुभवाधिकार २०/२२, अध्यात्मसार, उ. यशोविजयजी

है कि जहाँ-जहाँ स्पृहा है, वहाँ-वहाँ दुःख है और जहाँ निस्पृहता है वहीं सुख है।^{७६६}

विश्व को तनाव से मुक्त करने के लिए उ. यशोविजयजी ने अध्यात्मोपनिषद में साम्ययोग की चर्चा की है। समत्व का विकास ही तनाव के विनाश में सहायक हो सकता है। आध्यात्मिक प्रक्रिया को छोड़कर दूसरी कोई प्रक्रिया तनाव विसर्जन का मार्ग प्रशस्त नहीं कर सकती है। डॉक्टर शामक औषधियाँ देकर तनाव को दबा देता है किन्तु दवा लेने पर थोड़ी देर राहत मिलती है फिर वही उत्तेजना और तनाव उभर आता है। कुछ व्यक्ति नशे के द्वारा तनाव से मुक्त होने की कोशिश करते हैं। किन्तु यह समस्या का समाधान नहीं है। तनाव हमारी गलत धारणाओं, मिथ्या मान्यताओं के कारण उत्पन्न होता है। अतः तनाव से मुक्त होने के लिए सम्यक् ज्ञान या सम्यक् समझ की आवश्यकता है। जब तक चित्त में निर्मलता नहीं आएगी तब तक तनाव की समस्या भी बनी रहेगी। इसलिए आवश्यक है चित्तवृत्ति का परिष्कार उ. यशोविजयजी ने इसलिए साम्य योग की चर्चा करते हुए उसे साधने के लिए चार उपाय बताये हैं। जिन्हें व्यावहारिक जीवन में लागू करने से विश्व शांति की कल्पना साकार हो सकती है।

- (१) आत्मा (स्वयं) की वृत्तियों के प्रति जागृत रहना ।
- (२) पर की प्रवृत्तियों को देखने में अंधे के समान बन जाना ।
- (३) पर निन्दा सुनने में बहरे और
- (४) कहने में गुंगे।^{७७०}

गांधी जी के तीन बन्दरों का अनुसरण करते हुए परपंचायत करने में अंधे गुंगे बहरे हो जाने पर तथा 'स्व' की वृत्तियों के प्रति जागरुक होने पर अशांति या तनाव की समस्या का हल हो जाता है। शरीर मन, वाणी और भावों के प्रति जागरुक रहने का अर्थ है कि इनके द्वारा कोई गलत प्रवृत्ति न हो।

७६६. परस्पृहा महादुःखं निस्पृहत्वं महासुखम् ।
एतदुक्तं समासेन लक्षणं सुखदुःखयो ॥८॥ -निस्पृहताष्टक १२/८, ज्ञानसार, उ.
यशोविजयजी

७७०. आत्मप्रवृत्तावतिजागरुकः पर प्रवृत्तौ बधिरान्मूकः ।
सदाचिदानन्दपदोपयोगी, लोकोत्तरं साम्यमुपैति योगी ॥२॥ -अध्यात्मोपनिषद ४/२, उ.
यशोविजयजी

विलासी ठाट-बाट और बड़े लोगों का अंधानुकरण से बचते हुए 'सादा जीवन उच्च विचार' की नीति अपनाई जाए तो तनाव मुक्त और संतुष्ट जीवन जी सकते हैं।

सद्भावना और उदात्त दृष्टि रखते हुए अधिकार की तुलना में कर्तव्य को महत्त्व दिया जाए साथ ही हर परिस्थिति को स्वीकार करने की मनःस्थिति बना ली जाए तो भी तनाव मुक्त रहा जा सकता है। सुख और दुःख वास्तव में तो हमारी कल्पना की ही उपज है। विचारों को मोड़ना सीख जाए, हमारे सोचने का दृष्टिकोण बदल जाए तो तनाव उत्पन्न करें ऐसी कोई परिस्थिति ही नहीं होती है। स्नेह सद्भाव और आत्मीयता इन तत्त्वों के होने पर व्यक्ति गरीब तथा अभावग्रस्त होने पर भी बहुत शांति और संतोष का अनुभव करता है। दूसरे की भूलों और दुर्गुणों पर दृष्टि नहीं डालें और पर द्रव्य को लोष्टवत् समझे तो व्यक्ति तनाव रहित हो सकता है। क्योंकि दूसरों के ऐश्वर्य और दूसरों के दुर्गुणों पर दृष्टि रखने से व्यक्ति का पतन होता है। तनाव मुक्ति का एक और उपाय उ. यशोविजयजी ने बताया है 'ज्ञाता दृष्टा भाव का विकास' -व्यक्ति छोटा हो और उसका व्यवहार अनुकूल न हो तो भी व्यक्ति तनावग्रस्त हो जाता है। आफिसर आया, कर्मचारी ने हाथ नहीं जोड़े, किसी ने सम्मान नहीं दिया, किसी ने कहा हुआ कार्य नहीं किया तो व्यक्ति तनाव से भर जाता है ऐसी अनेक घटनाएँ दिनभर में घटित होती हैं अगर उन्हें मूल्य न दे तो भी तनाव में कमी हो जाती है। उ. यशोविजयजी ने उसे ज्ञानी कहा, जो संसार की घटनाओं से प्रभावित नहीं होता है।^{७७} घटना को जानना एक बात है भोगना दूसरी बात। 'ज्ञानी जानाति, अज्ञानी भुक्ते', ज्ञानी जानता है और अज्ञानी भोगता है। जो घटना को जानता है परंतु घटना के साथ-साथ बहता नहीं है वह कभी तनाव से ग्रसित नहीं होता है। गीता में भी कहा गया है कि जो सुख-दुख में समभाव रखता है उससे प्रभावित नहीं होता है उस धीर व्यक्ति को इन्द्रियों के सुख दुख आदि विषय व्याकुल नहीं करते हैं, जो स्वाभाविक उपलब्धियों में सन्तुष्ट है, राग द्वेष एवं ईर्ष्या से रहित निर्द्वन्द्व एवं सिद्धि-असिद्धि (सफलता-असफलता) में समभाव से युक्त है वह जीवन के सामान्य व्यापारों को करते हुए भी बन्धन में

७७. संसारे निवसन् स्वार्थसज्जः कज्जलवेश्मनि ।

लिप्यते निखिलो लोकः ज्ञानसिद्धो न लिप्यते ॥१॥ -निर्लेपाष्टक ११/१, ज्ञानसार, उ.

यशोविजयजी

नहीं आता है, तनाव में नहीं आता है। निन्दा स्तुति को समान समझने वाला मननशील व्यक्ति समत्व भाव को प्राप्त करता है।^{७७२}

डॉ. सागरमल जैन^{७७३} ने समत्व के क्रियान्वयन के चार सूत्र बताये १. वृत्ति में अनासक्ति, २. विचार में अनाग्रह ३. वैयक्तिक जीवन में असंग्रह ४. सामाजिक आचरण में अहिंसा यहीं समत्व योग की साधना का व्यावहारिक पक्ष है। अहंकार, ममत्व और तृष्णा का विसर्जन समत्व के सर्जन के लिए आवश्यक है। यह समत्व व्यक्ति को तनाव मुक्त रखता है।

कायोत्सर्ग से तनाव मुक्ति - कायोत्सर्ग की खोज अध्यात्म की ऐसी खोज है जो जीवन में आने वाले तनाव का वास्तविक उपचार है। हमारे आचरणों, व्यवहारों घटनाओं परिस्थितियों का जो दिमाग पर मानसिक बोझ होता है कायोत्सर्ग करते ही एकदम हल्का हो जाता है। व्यक्ति असिम सुख और शांति का अपुभव करता है। शारीरिक तनाव से मुक्ति तथा स्वास्थ्य की उपलब्धि कायोत्सर्ग से प्राप्त होती है। हठयोग का शब्द है श्वासन और जैन योग का शब्द है कायोत्सर्ग अर्थात् काया के प्रति ममत्व का विसर्जन करना। इसमें शारीरिक प्रवृत्तियों का शिथिलीकरण होता है। साथ ही चैतन्य के प्रति जागरुकता होती है। 'कायोत्सर्ग सब दुखों से छूटकारा दिलाने वाला है' भगवान महावीर के इस वाक्य की आचार्य महाप्रज्ञ^{७७४} ने वैज्ञानिक सन्दर्भ में व्याख्या करते हुए कहा है कि मस्तिष्क की कई तरंगें हैं, अल्फा, बीटा, थीटा, गामा आदि। जब-जब अल्फा तरंगें होती हैं मानसिक तनाव से मुक्ति मिलती है, शान्ति प्रस्फुटित होती है। कायोत्सर्ग की स्थिति में अल्फा तरंग को विकसित होने का मौका मिलता है। कायोत्सर्ग किया और अल्फा तरंगें उठने लग जाएगी, मानसिक तनाव घटना शुरु हो जायेगा। प्राचीन काल में प्रायश्चित्त की एक विधि कायोत्सर्ग भी रही अमुक व्यवहार अकरणीय हो गया तो आठ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग, पन्द्रह श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग क्रमशः हजार श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग। इससे हृदय का बोझ उतर जाता है और वह बिल्कुल हल्का हो जाता है। कायोत्सर्ग खड़े-खड़े बैठकर या लेटकर भी किया जा सकता है।

७७२. गीता २/१५, ४/२३,

७७३. जैन बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन-डॉ सागरमल जैन

७७४. महावीर का स्वास्थ्य शास्त्र पृष्ठ-१०८ आचार्य महाप्रज्ञ

मानसिक और दैहिक विकृतियाँ

तनाव के कारण साहस, शौर्य, धैर्य, उत्साह, पुरुषार्थ, उदारता, आशावादिता, क्षमा, संतोष, सद्भाव, दया, करुणा, सेवा, आस्तिकता, आत्मविश्वास आदि अनेक सत्प्रवृत्तियाँ सूखने लगती हैं। मानसिक अशान्ति से जीवन रस सूखता है और अनेक दैहिक एवं मानसिक बीमारियाँ भी उत्पन्न होती हैं। अतः बीमारियों ने भी एक समस्या का रूप धारण कर लिया है। अन्तर्द्वन्द के उद्देगों का स्वास्थ्य पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। दिन-दिन तन्दुरुस्ती गिरने और बीमारियाँ बढ़ने का प्रश्न सामने खड़ा है। हृदय रोग उच्च रक्तचाप, निम्न रक्तचाप, ब्रेनएमेरेज, केन्सर आदि अनेक प्रकार की बीमारियाँ हैं जिनका उन्मूलन करने के लिए चिकित्सक चिकित्सालय और औषधि निर्माण बढ़ाने पर जोर दिया जा रहा है परंतु मूलकारण असंयम पर ध्यान नहीं दिया जा रहा है। चिकित्सा पद्धतियों में बाह्य कारणों पर ध्यान दिया जाता है परंतु आंतरिक कारणों को गौण कर दिया जाता है। आयुर्वेद का सूत्र है- “दोष-वैषम्यं रोगः दोषसाम्यं आरोग्यम्” दोषों की विषमता रोग है और दोषों का साम्य आरोग्य है। जब वात, पित्त और कफ विषम हो जाते हैं तब रोग उत्पन्न होता है और जब ये तीनों दोष सम अवस्थाओं में रहते हैं तब निरोगी अवस्था होती है। मानसिक समता आरोग्य है। भगवान महावीर ने रोग की उत्पत्ति के नौ कारण बताए हैं - (१) अत्यधिक भोजन (२) अहित कर भोजन (३) अति निद्रा (४) अतिजागरण (५) मल बाधा को रोकना (६) मूत्र बाधा को रोकना (७) पंथगमन (८) प्रतिकूल भोजन (९) इन्द्रियार्थ विलोपन अर्थात् इन्द्रियों का असंयम।^{७७५}

स्वस्थ जीवन के लिए तीन बातें आवश्यक हैं (१) आहार, (२) उत्सर्जन और (३) अनशन। संतुलित भोजन मात्र से स्वास्थ्य ठीक नहीं रह सकता। इसके साथ अनशन की प्रक्रिया को अपनाकर ही हम स्वास्थ्य को प्राप्त कर सकते हैं। जैन आगमों में बारह प्रकार के तपों की चर्चा है। उ. यशोविजयजी ने भी ज्ञानसार में छः बाह्य और छः आभ्यन्तर तपों की चर्चा की है।^{७७६} बाह्य तप में

७७५. १. अच्चासणयाए २. अहितासणयाए ३. अतिणिद्दाए ४. अतिजागरितेणं ५. उच्चारणिरौहेणं ६. पासवणणिरौहेणं ७. अब्झाणगमणेणं ८. भोयणपडिकूलताए ९. इंदियत्यविकोवणयाए - उद्धृत - महावीर का स्वास्थ्य शास्त्र - आचार्य महाप्रज्ञ

७७६. ज्ञानमेव बुधः प्राहुः, कर्मणां तापनात्तपः।

तदाभ्यन्तरमेवेष्टं बाह्यं तदुपबृंहकम् ।।१।।-तपाष्टक - ३१/१, ज्ञानसार, उ. यशोविजयजी

प्रथम तप उपवास है। अमेरिकी डाक्टर सेल्टन ने आहार चिकित्सा पर जो कार्य किया है वह स्वास्थ्य का सिद्धान्त है उन्होंने कहा आहार से विष जमा होते है। यदि विषों को शरीर से बाहर नहीं निकाला जाएगा तो स्वास्थ्य अस्त व्यस्त हो जाएगा। शरीर के विजातीय पदार्थों के निष्कासन का एक मात्र उपाय है-उपवास। उपवास से पाचनतंत्र को विश्राम मिलता है। जीवन का आधार है- पाचन तंत्र। पाचनतंत्र, अमाशय, पक्वाशय, लीवर, तिल्ली आदि ठीक कार्य करते हैं तो स्वास्थ्य बना रहता है। जो उपवास नहीं कर सके तो दूसरा प्रकार का तप ऊनोदरी बताया गया है।

ऊनोदरी का अर्थ है भूख से कम खाना। अल्पाहार से शक्ति का संचय होता है। अधिक भोजन और कब्ज का गठबंधन है। इसका कारण है कि भोजन पचता नहीं है, कच्चा रस बनता है। उसका निष्कासन कठिन होता है। उससे अनेक बीमारियां सुस्ती, मन की उदासी, घबराहट आदि उत्पन्न होती है। एगभत्तं च भोयणं -एक वक्त भोजन करो बीमारियां नहीं होगी।

वृत्ति संक्षेप यह तपस्या या स्वास्थ्य का तीसरा साधन है। भोजन के द्रव्यों की सीमा निर्धारित करना। चौथा तप है रस परित्याग यह भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि निरंतर गरिष्ठ पदार्थों के, स्निग्ध पदार्थों के सेवन से अनेक बीमारियां उत्पन्न हो जाएगी। मानसिक रोग तथा कामुकता की समस्याएँ उभरेगी।

कायक्लेश भी बाह्य तप है जिसका तात्पर्य है काया को साधना, कायसिद्धि। इसके अन्तर्गत जैनागमों में हेमचन्द्राचार्य^{७७७} तथा उ. यशोविजयजी^{७७८} के ग्रंथों में विभिन्न आसनों की चर्चा मिलती है और आसनों का भी स्वास्थ्य से गहरा सम्बन्ध है। वर्तमान में फिजियोथेरेपी का जो प्रकल्प मेडिकल साइंस के साथ जुड़ा है, उसका प्रयोग यही है आसन करो, व्यायाम करो, कोई न कोई एक्सरसाइज अवश्य करो अन्यथा बीमारी बढ़ती चली जाएगी। हम आसन के द्वारा अन्तःस्त्रावी ग्रन्थियों को स्वस्थ रख सकते हैं, पाचनतंत्र को स्वस्थ रख सकते हैं, मेरुदण्ड को लचीला बनाए रख सकते हैं। अभ्यन्तर तप में ध्यान और कायोत्सर्ग से अनेक बीमारियों की समस्या हल हो सकती है। आचार्य महाप्रज्ञ^{७७९}

७७७. पर्यकवीरवज्राब्ज, भद्रदण्डासनानि च

उत्कटिका, गोवोहिका, कायोत्सर्गस्तथासनम्।।२४।। -योगशास्त्र ४/१२४-१३१

७७८. (अ) ज्ञानसार -३०/६-७-८

(ब) अध्यात्मसार -१५/८०-८१-८२

७७९. प्रेक्षाध्यान और स्वास्थ्य : महावीर का स्वास्थ्य शास्त्र पृष्ठ ६७- आचार्य महाप्रज्ञ

ने 'भगवान महावीर का स्वास्थ्य शास्त्र' पुस्तक में प्रेक्षाध्यान से चिकित्सा की चर्चा की है। उन्होंने कहा है कि रोग का प्रमुख कारण है- प्राणों का असंतुलन, प्राण संतुलित हुआ तो बीमारी मिट जाएगी। प्राण तब संतुलन का एक साधन है दर्शन, अपने पीड़ित अवयव को देखना। जब हम देखना शुरू करते हैं प्राण का संतुलन होता है, अच्छे रसायन पैदा होते हैं एकाग्रता बढ़ती है। स्वास्थ्य के स्थूल लक्षण ये हैं -अच्छी नींद, अच्छी भूख, अच्छा मन, अच्छा चिन्तन और अच्छा भाव। जिसमें ये हैं वह आदमी स्वस्थ है। अनिद्रा का रोग पूरे विश्व में बहुत फैल गया है। करोड़ों रु. नींद की गोलियों को निर्मित करने में खर्च होते हैं। प्रेक्षा ध्यान का प्रयोग अच्छी नींद के लिए अचूक औषधी हैं-कायोत्सर्ग की मुद्रा में लेटकर अंगूठे से सिर तक की प्रेक्षा का यह प्रयोग नींद का अमोघ प्रयोग है। हमारे शरीर में पैदा होने वाले रसायन ही शरीर को स्वस्थ बनाते हैं।

भावों के साथ भी बहुत गहरा सम्बन्ध है हमारे स्वास्थ्य का। क्रोध के प्रबल आवेश से अस्थमा या लकवे की बीमारी हो सकती है। मन की बात कहने का अवसर नहीं मिलता है। वह मन में दबी हुई भावना की बात माइग्रेन पैदा कर देगी। अतृप्ती की भावना है, चिंता है तो भूख कम हो जाएगी। इस प्रकार भाव और बीमारियों का आज के वैज्ञानिकों ने परीक्षण के द्वारा बहुत अध्ययन किया है। कौन सा भाव पैदा हो रहा है इसके प्रति जागरूक रहें। दर्शन की पद्धति अध्यात्म चेतना के जागरण की पद्धति है, चिकित्सा की पद्धति है। इसका सम्यक् मूल्यांकन और उपयोग कर हम अनेक शारीरिक एवं मानसिक समस्याओं से मुक्ति पा सकते हैं। कायोत्सर्ग द्वारा भी रक्त चाप, अनिद्रा, मानसिक तनाव आदि पर काबू पाया जा सकता है। आचार्य महाप्रज्ञ ने हृदय रोग निवारण के कुछ सूत्र बताये जो महत्वपूर्ण हैं।

(१) अनेकान्त दृष्टिकोण का विकास (२) कायोत्सर्ग (३) प्राण और अपान (४) मंत्र चिकित्सा (५) दीर्घ श्वास प्रेक्षा (६) रंग चिकित्सा।

हृदय रोग के सन्दर्भ में उपयुक्त आध्यात्मिक घटकों पर विचार किया जाए और प्रयोग किये जाए तो हृदय रोग की संभावना को निर्मूल किया जा सकता है। उ. यशोविजयजी ने भी 'अनेकान्त दृष्टि'^{७८०} तथा 'माध्यस्थ भाव'^{७८१} पर विशेष बल दिया है।

“अपने -अपने कर्म के कारण मनुष्य परवश बना हुआ है और अपने अपने कर्म के फल को भोगने वाला है, ऐसा जानकर मध्यस्थ पुरुष राग और द्वेष को प्राप्त नहीं करता है।”^{७८२} मध्यस्थ व्यक्ति का दिमाग सन्तुलित होता है। वह कभी तनाव में नहीं रहता है इसलिए प्रायः वह रोगमुक्त होता है।

(४) नशा और अपराध एक भीषण समस्या - नशा और अपराध आज ये दोनों प्रवृत्तियाँ बरसाती नदी के प्रवाह की तरह तेजी से बढ़ रही हैं। नशे की प्रवृत्ति एक काल्पनिक आवश्यकता है जो आज की भीषणतम समस्या है। नशे और अपराध का गहरा सम्बन्ध है। यद्यपि यह तो सम्भव नहीं है कि अपराधी प्रवृत्ति के लिए केवल नशे की प्रवृत्ति को ही उत्तरदायी ठहराया जाय परंतु बढ़ते हुए अपराध में नशा अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है।

जब कुविचार मन में आते हैं तब उसका प्रतिफल कुकर्म के रूप में सामने आता है। मन में पाप रहेगा तो शरीर से भी पाप ही होगा। कुछ लोगों का मानना है कि गरीबी और परेशानी के कारण लोग, चोरी, ठगी, विश्वासघात आदि करने लगते हैं, यह बात एक अंश तक ही सही है। गरीब और दुर्बल आदमी छोटी-मोटी उठाई गिरी कर सकता है परंतु बड़े-बड़े उत्पाद वही करेगा जिसकी भुजाओं में बल है और दिमाग में चुस्ती है। सम्पन्न और सामर्थ्यवान लोगों की आसक्ति और तृष्णाजन्य दुष्प्रवृत्तियाँ ऐसे भयंकर अपराधों को जन्म देती हैं जिसकी बेचारे गरीब कभी कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। यह सोचना उचित नहीं है कि गरीबी के साथ-साथ अपराधी मनोवृत्ति का भी अन्त हो जायेगा। भौतिक समृद्धि और भोगविलास से भरपूर देशों में गरीब देशों की अपेक्षा अधिक अपराध और नशे की प्रवृत्ति पाई जाती है। सच बात तो यह है कि अपराधी प्रवृत्ति एक प्रकार का मानसिक रोग है जो सत्संग, स्वाध्याय और नैतिक शिक्षा के आध्यात्मिक उपक्रमों के अभाव में पनपता है।

सभी देशों में अपराध जिस गति से बढ़ रहे हैं उसे देखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस संगठन (इन्टरपोल) ने वर्तमान समय को ही अव्यवस्था का युग करार दे दिया है। भौतिक और वैज्ञानिक प्रगति में सबसे बढ़ा समृद्ध देश अमेरिका अपराधों की वृद्धि में सबसे आगे है। दूसरा क्रम पिछले युग का सबसे समर्थ साम्राज्यवादी राष्ट्र ब्रिटेन का है। “पिछले वर्षों संयुक्तराज्य अमेरिका में हर

७८१. माध्यस्थ अष्टक-१६ - ज्ञानसार - उ. यशोविजयजी

७८२. स्वस्वकर्मकृतावेशाः स्वस्वकर्मभुजोनराः

न रागं ना पि च द्वेषं मध्यस्थस्तेषु गच्छति- ज्ञानसार १६/४

सत्रह मिनट में एक शीलहरण, हर सत्रह सेकण्ड में एक लूट खसोट, हर पच्चीस सेकेण्ड में एक चोरी, हर दो मिनट में एक घातक हमला और प्रत्येक ३१ मिनट में एक हत्या और हर मिनट में आठ गम्भीर अपराध हुए यह दर बहुत चौकाने वाली है। भारत में हर वर्ष लगभग ग्यारह लाख व्यक्ति किसी न किसी अपराध में पकड़े जाते हैं।” जिस गति से अपराध बढ़ रहे हैं निश्चित ही चिन्ताजनक है। बम्बई जैसे बड़े शहरों में बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ, मिलें और प्रॉपर्टी डीलर अपने व्यवसाय में माफिया सरगनाओं की मदद लेते हैं। कोई भी समझदार नागरिक समाज के कानून को देश के कानून को तोड़ना नहीं चाहता है। समाज की हो या राष्ट्र की व्यवस्था में भंग करना अपराध है किन्तु जब चेतना विकृत बन जाती है, तब व्यक्ति समाज के नियमों को तोड़ता है और अपराधी बनता है। चोरी, डकैती, हत्या, बलात्कार आदि-आदि जितने भी अपराध हैं, वे विकृत चेतना के परिणाम हैं। अपराधों का मूलभूत कारण तो यही है कि भौतिक सुख सुविधाओं के साथ-साथ मनुष्य की वासनान्मुख प्रवृत्ति या विलासिता की वृद्धि हुई। इसका निदान मात्र आध्यात्मिक विकास की दृष्टि ही है।

दुनिया के हर देश में नशा और आपराधिक प्रवृत्तियों की रोकथाम पर भारी बजट बनते हैं। दो ही मुद्दों पर सबसे ज्यादा खर्च किया जाता है। (१) युद्ध के लिए (२) अपराधों की रोकथाम के लिए। तस्करी रोकने के लिए सरकार कितना प्रयत्न करती है, किन्तु समाचार पत्रों को पढ़े, प्रतिदिन अखबारों में ऐसी खबरें छपती हैं- आज इतनी हेरोईन पकड़ी गई, इतनी मात्रा में स्मैक पकड़ी गई या इतने हथियार पकड़े गये। यह केवल भारत की ही नहीं पूरे विश्व की समस्या बनी हुई है। डण्डे के बल पर, भय के सहारे अपराध नहीं रोके जा सकते हैं।

इन बढ़ते अपराधों के विषय में विचार करने पर यह बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि इतने पुलिस कर्मचारी होते हुए भी अपराध द्रुत गति से बढ़ रहे हैं। ‘मर्ज बढ़ता गया ज्युं ज्युं दवा की’ यह कहावत यहाँ चरितार्थ होती है।

अपराध रोकने के लिए तो मनुष्य के मन को अध्यात्म की दिशा में मोड़ना आवश्यक है, जो उसे ऊँचा उठाये। मनुष्य के सामने जब तक शाश्वत मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा रहती है, तब तक वह अपराधों की ओर उन्मुक्त नहीं होता है। अध्यात्म के आधार पर ही मनुष्य के विचारों को ऊँचा उठाया जा सकता है। उ. यशोविजयजी ने इस बात पर जोर देते हुए कहा है कि “जिसके हृदय में अध्यात्मशास्त्र के अर्थ का तत्त्व परिणमित है उसके हृदय में विषयों और

कषायों का आवेश नहीं रहता है।”^{७८३} विषय-भोग तथा कषायों के अभाव में अपराध भी नहीं पनपते हैं। निरंकुश भोगवाद अपराधी प्रवृत्तियों को बढ़ाता है।

अपराध करने पर अपराधी को पकड़ना और सजा देना एक बात है और व्यक्ति अपराध की ओर प्रवृत्त ही न हो ये दो भिन्न-भिन्न बातें हैं। दूसरे तथ्य के साथ ही अपराध कम होते हैं पहले से नहीं।

अपराधी प्रवृत्ति भय, आशंका, अविश्वास, घृणा और लोभ की अधिकता से बढ़ती हैं। इन पर रोक लगाने का काम अन्तःकरण की वे आस्थाएँ ही कर सकती हैं जिन्हें आस्तिकता धार्मिकता, आध्यात्मिकता, सदाशयता, सद्भावशीलता, संस्कारसम्पन्नता के रूप में जाना जाता है। सामाजिक वातावरण में ही करुणा, संवेदना, कोमलता की भावनाएँ उभारने वाले तत्त्व पर्याप्त मात्रा में रहें तो अपराध की प्रवृत्तियाँ कभी भी नहीं बढ़ सकती हैं। साथ ही मुख्य आवश्यकता उन दुष्प्रवृत्तियों की प्रेरणा के आधारों को ही समाप्त करने की है जो इन अपराधों तथा न्याय व्यवस्था में होने वाली चालाकियों के लिए उत्तरदायी हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में विश्वविद्यालयों में विभिन्न विषयों की सैकड़ों-सैकड़ों शाखाएँ हैं कहीं दो सौ विभाग हैं कहीं चार सौ भी हैं किन्तु एक भी फैकल्टी चरित्र निर्माण या अहिंसा प्रशिक्षण के लिए नहीं हैं। इसका अर्थ है- विद्या की ये शाखाएँ जीविका के साथ जुड़ी हुई मान ली गई हैं और चरित्र के विषय को जीविका से बाहर रख दिया गया इसका परिणाम यह हुआ कि शिक्षा बढ़ने के साथ-साथ संस्कार नहीं बढ़े। विद्या की किसी भी शाखा में जाएँ आचरण या चरित्र की शिक्षा सबके लिए अनिवार्य होना चाहिए। इसके लिये प्राथमिक कक्षाओं में एक स्वतंत्र विषय होना जरूरी है जिससे विद्यार्थियों को चरित्र विज्ञान, नैतिकता एवं अध्यात्म की जानकारी मिले। अहिंसा, सत्य आदि अध्यात्म के समग्र पक्षों का ज्ञान देना उनका प्रयोग करना अनिवार्य होना चाहिए। बी. ए. (ग्रेजुएशन) और एम.ए. (पोस्ट ग्रेजुएशन) में उनके विषयों में ही चरित्र विज्ञान का भी समावेश हो।

आध्यात्मिक भावनाओं की प्रचुरता का प्रतिफल यह होता है कि व्यक्ति अपने लिए कठोर और दूसरों के लिए उदार बनता है। स्वयं संयम और सादगी का त्याग और तपस्या का अंगदर्श अपनाकर बहुत ही स्वल्प साधनों में काम चला

७८३. येषामध्यात्मशास्त्रार्थ तत्त्वं परिणतं हृदि ।

कषायविषयावेशकलेशस्तेषां न कर्हिचित् ॥१४॥ -अध्यात्मसार १/१४ - उ. यशोविजयजी

लेता है और अपनी शेष प्रतिभा एवं क्षमता का लाभ दूसरों को पहुँचाता है। यह उदारता, यह धर्म बुद्धि जिस देश में, जिस समाज में बढ़ेगी वहाँ सुख शांति का अवतरण उसी अनुपात से होगा।

इस बात की साक्षी के लिए प्रत्यक्ष उदाहरण एशिया के एक छोटे से देश जापान का, जिसने दो दो महायुद्धों में पूरी तरह तहस नहस हो जाने के बाद भी आज विश्व इतिहास में दीप्तिमान स्थान प्राप्त कर लिया। उसका एक ही कारण है वहाँ के चरित्रवान नागरिक, देश भक्त और ईमानदार नागरिक, श्रम और समय को महत्त्व देने वाले समर्पित नागरिक। ये सब बातें अध्यात्म को महत्त्व देने पर ही सम्भव हैं।

भौतिक संसाधनों के विकास की अंधी दौड़ में चरित्रविकास आध्यात्मिक विकास की बात सुनाई ही नहीं दे रही है। परंतु यह बहुत आवश्यक है। जैसे सरकार प्राथमिक आवश्यकताओं रोटी, कपड़ा और मकान, शिक्षा और चिकित्सा आदि की चिन्ता करती है वैसे ही उसे इस बात की भी चिन्ता होनी चाहिए कि राष्ट्र के नागरिकों का चरित्र कैसे उन्नत हो? चारित्रिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों को बढ़ावा कैसे मिले। जब तक नागरिकों में आध्यात्मिक निष्ठा विकसित नहीं होगी तब तक अपराधिक प्रवृत्तियों और नशा खोरी से मुक्ति सम्भव नहीं है। उपाध्याय यशोविजयजी ने ज्ञानसार, अध्यात्मसार और अध्यात्मोपनिषद में आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति निष्ठा जगाने का प्रयत्न किया है।

मादक द्रव्यों का सेवन एक प्रमुख समस्या

अपराध वृत्ति के प्रमुख कारण मादक पदार्थों का सेवन ने एक पृथक और जटिल समस्या का रूप धारण कर लिया है। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने अपराध और मादक वस्तुओं के सेवन की विधियों को जानने के लिए विशेषज्ञों की समिति गठित की। उस समिति का जो प्रतिवेदन है से पता चलता है कि अनेक प्रकार की मादक वस्तुएँ विश्व बाजार में छा गई हैं। अमेरिका जैसे राष्ट्र में जहाँ नागरिक प्राज्ञ है वहाँ राष्ट्रपति बुश के कार्यकाल में किए गए सर्वे में पाया गया - दो करोड़ अस्सी लाख लोग विशेष मादक पदार्थों के सेवन में व्यस्त थे। शराब आदि सामान्य नशा नहीं बल्कि हेरोइन, कोकीन आदि तीव्र नशीली चीजों के सेवन के आदि थे। राष्ट्रपति बुश ने इन नशीली चीजों के निषेध की अपील की

और सात अरब अस्सी करोड़ डालर इन वस्तुओं के निरोध के लिए खर्च करने की घोषणा की। इतना बड़ा विश्वव्यापी संकट खड़ा हुआ है। प्रश्न उठता है कि नशा क्यों करते हैं? इसका उत्तर एक ही है वह है तनाव मुक्ति। क्योंकि नशीली वस्तुओं के सेवन से व्यक्ति एक बार तो पूर्ण शान्ति अनुभव करता है वह सारे तनाव को, परेशानियों को भुल जाता है किन्तु उसके खतरनाक परिणाम सामने आते हैं।

आध्यात्मिक चिंतन में दो पहलुओं से विचार किया गया - एक प्रवृत्ति का पहलू और दूसरा परिणाम का पहलू। कुछ वस्तुएँ या कार्य प्रारंभ में बहुत अच्छे लगते हैं किन्तु परिणाम में बहुत विकृत बन जाती है जैसे “किंपाक फल दिखने में सुन्दर स्वाद में मधुर किंतु परिणाम मृत्यु, उसी तरह खुजली भी चलती है तो खुजालने में आनंद महसूस होता है किंतु नाखुन के जहर से परिणाम में महावेदना होती है।”^{७८४} कुछ कार्य या वस्तु प्रारंभ में कष्टकारी लगने पर भी परिणाम में भद्र होती है। मादक वस्तुओं का परिहार इसलिए करना चाहिए कि उनका परिणाम अच्छा नहीं होता है। नशा करने से अवसाद (डिप्रेशन), अकर्मण्यता, आलस्य, मतिभ्रम और स्नायविक दुर्बलता, अपराध की प्रवृत्ति ये सारे नशे के बुरे परिणाम हैं। तम्बाकू पीने से फेफड़े और हृदय के कैंसर का खतरा रहता है। कोई भी नशीला पदार्थ ऐसा नहीं है, जो शरीर के किसी न किसी अवयव को क्षतिग्रस्त और नष्ट नहीं करता हो। योगशास्त्र में हेमचन्द्राचार्य ने मदिरा के दोषों को बताते हुए उसका त्याग करने की प्रेरणा दी है। उन्होंने कहा है कि “अग्नि के कण से घास का समूह जैसे नष्ट हो जाता है उसी प्रकार मदिरा से विवेक, संयम, ज्ञान, सत्य, पवित्रता, दया और क्षमा उन सबका नाश हो जाता है। मद्य दोषों का कारण है, सभी दुःखों का कारण है इसलिए जिस तरह रोगातुर व्यक्ति अपथ्य का त्याग करता है उसी तरह हितेच्छु को मदिरा का त्याग करना चाहिए।”^{७८५}

भगवान महावीर ने चार महा विकृतियों में मद्य को स्थान देकर उसका त्याग करने का निर्देश दिया है।

७८४. भुजंता महरा विवागविरसा, किंपाग तुल्ला इमे
कच्छूकंडुअणव दुक्खजणया, दाविंति बुद्धिं सुहे। - इन्द्रियपराजयशतक

७८५. विवेकः संयमो ज्ञानं सत्यं शौचं दया क्षमा।
मद्यात्प्रलीयते सर्वं तुण्यं वन्धिकणादिव ॥१६॥
दोषाणां कारणं मद्यं मद्यं कारणपामदाम् ॥

रोगातुरइवापथ्यं तस्मान्मद्यं विवर्जयेत् ॥१७॥ - योगशास्त्र ३/१६, १७, आचार्य हेमचन्द्र

प्रश्न यह उठता है कि नशे को छोड़ा कैसे जाय क्योंकि एक बार जो उसका आदि बन चुका है उसे छोड़ना मुश्किल हो जाता है। नशे को छोड़वाने के लिए आचार्य हेमचन्द्रसूरि, उ. यशोविजयजी आदि ने अपने ग्रन्थों में ध्यान की प्रक्रिया बताई है जो अभी भी प्रासंगिक है। आचार्य महाप्रज्ञ^{७८६} ने इसी ध्यान की प्रक्रिया को वैज्ञानिक ढंग से प्रकाश में लाते हुए संदेश दिया है कि नशा अपराध तब वर्जित हो सकता है जब हमारी चेतना जागृत हो। जागरूक रहने के लिए केवल कान पर ध्यान केन्द्रित करें। इससे चेतना पवित्र बन जाएगी। यह एक सुन्दर उपाय है नशा मुक्ति का। हमारे शरीर का एक प्रमुख अवयव है कान। प्रेक्षा ध्यान में इसे अप्रमाद का केन्द्र कहा जाता है। जागरूकता का सबसे बड़ा केन्द्र है कान। कान हमारे शरीर का महत्त्वपूर्ण चैतन्य केन्द्र (साइकिक सेन्टर) है। नशे की आदत छोड़ने के लिए इस पर ध्यान का प्रयोग किया जाए तो नशे की आदत स्वतः छूट जाएगी।

आचार्य महाप्रज्ञ जी कहते हैं कि “आजकल मानसिक परिवर्तन या मादक वस्तुओं के सेवन की आदत को छोड़ने के लिए कुछ औषधियों का प्रयोग किया जाता है। डॉक्टर भी करते हैं, होमियोपैथी और एक्यूप्रेसर वाले भी करते हैं। एक्यूप्रेसर में कुछ ऐसे प्वाइण्ट हैं जिन पर दबाव डालने से नशे की आदत बदल जाएगी किन्तु यह जागरूकता का प्रयोग इतना सरल है कि न तो दवा की आवश्यकता और न ही चिकित्सक की। बिना किसी की मदद के चेतना का रुपान्तरण हो जाता है। जो चेतना हमारी नाभि के पास है, उसे ऊपर ले जाएँ, आनन्दकेन्द्र पर, विशुद्धि केन्द्र और अप्रमाद केन्द्र पर लाएं, दर्शन केन्द्र और ज्ञान केन्द्र पर ले जाए। जैसे जैसे चेतना का ऊर्ध्वारोहण होगा वैसे-वैसे अपराध वृत्ति और नशे की आदत समाप्त होगी।”^{७८७}

इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए अन्य प्रयत्न के साथ-साथ ध्यान साधना का आयोजन बहुत जरूरी है।

७८६. नया मानव नया विश्व - पृष्ठ ५५- आचार्य महाप्रज्ञ

७८७. नया मानव नया विश्व - पृष्ठ नं ५६ - आचार्य महाप्रज्ञ

(५) विश्वव्यापी पर्यावरण प्रदूषण की समस्या :-

पर्यावरण प्रदूषण एक गंभीर संकट है पूरी पृथ्वी के लिए सम्पूर्ण मानव जाति के लिए। जहाँ तक पर्यावरण की शुद्धि का प्रश्न है प्राणीमात्र के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। आज न जल शुद्ध मिल रहा है न वायु शुद्ध मिल रही है। जिधर देखो उधर धुएँ के अंबार है, जहरीली गैस हवा में धुली हुई है। हमारे औद्योगिक संस्थान प्रगति के सोपान होकर भी प्रदूषण के जनक है। मिलों, कारखानों से जो निरन्तर उत्पादन हो रहा है उससे हमारी सुख सुविधाएँ जुटाई जा रही है लेकिन हमें मालूम नहीं है कि इन कल-कारखानों से होने वाले प्रदूषण ने हमारे लिए तथा अन्य प्राणियों के अस्तित्व के लिये कितनी समस्याएँ पैदा की हैं दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है कि -

“सब्बे जीवा वि इच्छंति जीविऊं न मरिज्जिऊं”^{७८८}

अहिंसा का विज्ञान यही है कि संसार में सभी प्राणी जीना चाहते है मरना कोई नहीं चाहता। सभी को इस संसार में जीने का हक है। हमें क्या अधिकार है, अपने सुख के लिए दूसरों प्राणियों की जान लेने की। आज कारखानों, मिलों से जो गंदा प्रदूषित जल या जहरीली गैस निकलती है वह पशु पक्षियों और मनुष्यों के लिए हानिकारक है। सुख में आसक्त मानव इस बात की घोर उपेक्षा कर रहा है। नदियों में इतना प्रदूषित जल आकर मिलता है कि मछलियां मरी हुई ऊपर तैरती दिखाई देती है। कारखानों में पानी का बहुत मात्रा में प्रयोग होता है। जब वह पानी रासायनिक क्रियाओं से गुजरकर बाहर आता है तो इतना प्रदूषित हो जाता है कि मनुष्यों के क्या जानवरों तक को पीने लायक नहीं रह जाता है। प्रतिवर्ष लगभग दो लाख व्यक्ति जल प्रदूषण से मर रहे हैं। अमेरिका की इरी झील, स्विट्जरलैंड और जर्मनी के सीमा प्रदेश पर स्थित ज्यूरिच झील को भी भयंकर जल प्रदूषण से होकर गुजरना पड़ा। भारत में बम्बई जैसे शहरों में जल प्रदूषण इतनी तीव्रता से बढ़ रहा है कि वहाँ के समुद्र तट में स्नान करना भी खतरे से खाली नहीं है।

वायुमण्डलीय प्रदूषण का एक गम्भीर पक्ष सामने है। वैज्ञानिक सच्चाई को जानने वाले सब लोग जानते हैं कि -ओजोन की छतरी की सुरक्षा धरती का सांस लेने वाले जीव जगत की सुरक्षा है। इसमें छेद होने का अर्थ है पूरी मानव जाति और पूरी जीव जगत् के लिए खतरा पैदा होना। पता चलता है कि

अंटार्कटिक महाद्वीप के ऊपर ओजोन की छतरी में एक बड़ा छेद हो गया है। इसमें दूसरा छेद उत्तरी ध्रुव प्रदेश के ऊपर भी हुआ है। ये छेद वैज्ञानिक जगत् को चिंतातुर बनाए हुए हैं। सुपरसोनिक विमान और नाभिकीय विस्फोट ओजोन की परत के लिए खतरनाक है। रेफ्रिजरेटर और वातानुकूलन की प्रणाली के लिए जिन गैस का प्रयोग होता है वे भी ओजोन की परत के लिए हानिकारक है।

ऐसा कहा जाता है कि सतत कोलाहल होने वाला ध्वनि प्रदूषण मनुष्य के लिए मृत्यु का एक छोटा एजेंट है और वायु प्रदूषण बड़ा एजेंट है। वनस्पतिकार्य की हिंसा से अनेकविध दुष्परिणाम सामने दिखाई देते हैं। एक ओर उससे प्राणवायु का नाश हो रहा है, दूसरी ओर भूक्षरण को बढ़ावा मिल रहा है तथा उसका उर्वरापन घट रहा है, तीसरी ओर वर्षा के अनुपात में अन्तर आ रहा है तो चौथी ओर जनजीवों का विनाश तेजी से बढ़ रहा है।

मानव को जमीन की आवश्यकता हुई। उसने जंगलों को नष्ट किया, बस्ती बसायी, कहीं बांधों के बड़े-बड़े कृत्रिम जलाशय बनाये तो कहीं पहले से बने हुए तालाबों को पाट दिया।

सचमुच मनुष्य ने प्रकृति का जो विनाश किया है वह अमाप्य है। इससे प्राणवायु के उत्पादन में भारी गिरावट आई है। प्रदूषण विश्व मानवता के विरुद्ध एक हमला है।

विज्ञान में पर्यावरण के लिए इकोलॉजी शब्द आया है इसका अभिप्राय यह है कि प्रकृति के सभी पदार्थ एक दूसरे पर निर्भर हैं, एक दूसरे के पूरक हैं। वे जहाँ कोई एक भी पदार्थ अपनी प्रकृति के या अपने स्वभाव के विपरीत कार्य करता है प्रकृति में असंतुलन पैदा हो जाता है, जो अतिवृष्टि, अनावृष्टि, बाढ़-भूचाल, प्रचण्ड गर्मी आदि के रूप में भयानक हानि लेकर आता है। सभी वस्तुएँ अपने-अपने स्वभाव में रहकर सक्रिय रहे तथा उनमें सामंजस्य और संतुलन बना रहे तो हमारा पर्यावरण दूषित नहीं होगा। अध्यात्म का मूल संदेश यही है कि व्यक्ति अपने निज स्वभाव में जीना सीखें, विभाव या विकृति से दूर रहे। पर्यावरण का अर्थ है यह अस्तित्त्व। सभी वस्तुएँ एक दूसरे की सहयोगी बनी रहे, सभी एक दूसरे परिपूरक बनी रहे। आ. उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में 'परस्परपग्रहो जीवानाम्'^{७८६} अर्थात् जीव का गुण परस्पर एक दूसरे का उपकार

करने का है सहायक बनने का है, यह सूत्र लोगों को पर्यावरण की चेतना प्रदान करता है।

पर्यावरण प्रदूषण के इस विश्वव्यापी संकट से बचने के लिए हमें आध्यात्मिक सिद्धान्त अहिंसा तथा अपरिग्रह की दृष्टि को अपनाना होगा। उ. यशोविजयजी ने ज्ञानसार में जो साधना पद्धति बताई है वह असंदिग्ध रूप से एक ऐसी साधना पद्धति है तो प्रकृति के संतुलन में जरा भी बाधक नहीं बनती है। उ. यशोविजयजी ने अहिंसा के सूक्ष्मस्वरूप का वर्णन करते हुए अध्यात्मसार में कहा है कि हिंसा तीन प्रकार की होती है- (१) किसी को शारीरिक या मानसिक पीड़ा करने से हिंसा होती है। (२) किसी की देह का घात करने से हिंसा होती है। (३) दुष्ट परिणाम, गलत विचारों से भी हिंसा होती है।^{७६०} आचार्य हेमचन्द्र ने ही “जिस प्रकार अपने को सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय है उसी प्रकार सभी प्राणियों को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है। अतः स्वयं के लिए अनिष्ट ऐसी हिंसा अन्य प्राणियों के संबंध में नहीं करना चाहिए।”^{७६१} जैनागमों में बिना प्रयोजन के स्थावर जीवों की भी हिंसा का निषेध किया है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी कहा है कि “अहिंसा के महत्त्व को समझने वाला स्थावर जीवों की भी बिना प्रयोजन के हिंसा नहीं करते है।”^{७६२} आचारांग में मनुष्य और प्रकृति को समान गुण सम्पन्न माना है। दोनों जन्मते हैं, बढ़ते हैं, दोनों चैतन्ययुक्त है, दोनों छिन्न होने पर म्लान हो जाते है, दोनों आहार लेते हैं दोनों अनित्य, अशाश्वत है, दोनों अनेक अवस्थाओं को प्राप्त होते हैं, दोनों उपचित-अपचित हैं। इसलिए वनस्पतिकायिक जीव को, प्रकृति को न स्वयं नष्ट करें न दूसरों से नष्ट करावें, न नष्ट करने वालों का अनुमोदन करें।

जैनधर्म अहिंसावादी है अतः इसमें इकोलॉजी या पर्यावरण पर विशेष बल दिया गया है। आज विकास के नाम पर जो प्रकृति का दोहन किया जा रहा है तथा अपनी सुविधाओं के लिए स्वार्थों के पोषण के लिए, भोगविलास के लिए निरपराधी, निराधार मूक प्राणियों की निर्दयतापूर्वक जो हत्याएँ की जा रही है,

७६०. पीडाकार्तृत्वतो देहव्यापत्या दुष्टभावतः

त्रिधा हिंसागमे प्रोक्ता नहीत्यमपहेतुका ॥४१॥- सत्यवक्त्राधिकार, अध्यात्मसार - उ.

यशोविजयजी

७६१. आत्मवत् सर्वभूतेषु सुःख दुःखे प्रियाप्रिये

चिंतयन्नात्मनोऽनिष्टां हिंसामन्यस्य नाचरेत् ॥२०॥- योगशास्त्र २/२०, आचार्य हेमचन्द्र

७६२. निरर्थकं न कुर्वीत जीवेषु स्थावरेष्वपि

हिंसामहिंसाधर्मज्ञः कांक्षन् मोक्षमुपासकः ॥२१॥-योगशास्त्र २/२१

उनके साथ जिस प्रकार अन्याय किया जा रहा है, हम उसके दुष्परिणाम से कैसे बच सकते हैं। प्राणियों के विनाश से अपना विकास मानने वाले मानव आज अपने ही हाथों से अपने लिए गढ़वा खोद रहा है। समग्रता के मानवता के विनाश का आह्वान कर रहे हैं। उपाध्याय यशोविजयजी के अनुसार प्रदूषण से बचने के लिए, प्रकृति का संतुलन बनाए रखने के लिए अति आवश्यक है अहिंसा तथा अपरिग्रह के सिद्धान्त का प्रचार प्रसार किया जाए। साथ ही जन-जन के मन में वृक्षों एवं वन्य प्राणियों के प्रति प्रेम और करुणा और वात्सल्य का भाव उत्पन्न हो। उनके प्रति आत्मौपम्य की भावना का विकास हो। जैसा आत्मा मुझमें है वैसी ही आत्मा पशु पक्षियों और वनस्पति आदि में है। इस भावना का प्रचार हो साथ ही इच्छाओं को सीमित किया जाय और परिग्रह की सीमा निर्धारित की जाय। अल्पेच्छा अल्प हिंसा और अल्पपरिग्रह इस जीवन शैली को प्रतिपादित किया जाए तो प्रदूषण की समस्या बहुत कुछ हल हो सकती है।

(६) शस्त्रों की प्रतिस्पर्धा :-

जब तक मनुष्य में आत्मानुशासन था, असंग्रही था, आध्यात्मिक तत्त्वों के प्रति आस्था थी, तब तक वह निर्भय था। इसका अर्थ यह है कि वह शस्त्रहीन था। भय और शस्त्र में कार्यकारण सम्बन्ध है। जहाँ भय होता है वहाँ शस्त्र का निर्माण होता है। जब आत्मानुशासन घटा, परिग्रह बढ़ा, दूसरों के 'स्व' को हड़पने का मनोभाव बना, आध्यात्मिक तत्त्वों के प्रति आस्था उठी, तब भय का वातावरण बढ़ा, शस्त्रों की परम्परा का जन्म हुआ है। वर्तमान में सर्वाधिक प्रलयकारी अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण हो रहा है।

शस्त्र से शस्त्र को परास्त करने की वृत्ति से कुछ समय के लिए युद्ध को टाला जा सकता है किंतु उसके परिणाम को नहीं टाला जा सकता है। शस्त्र निष्ठा के साथ-साथ जो अशान्ति शिथिलता और आतंक पैदा होता है, वह पूरे विश्व की शांति को भंग कर देता है। निरंतर एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के प्रति आशंकित, भयभीत रहते हैं। मनुष्य के मन में भय होता है इसलिए सहज ही उसमें शस्त्रनिष्ठा होती है। अवसर पाकर वह शस्त्र निष्ठा अधिक प्रबल हो जाती है। चीन ने आक्रमण किया और भारत की शस्त्र निष्ठा प्रबल हो गई। शस्त्र बनाने की प्रतिस्पर्धा शुरू हो गई। रुस, चीन और अमेरिका में अस्त्र-शस्त्र की प्रतिस्पर्धा है। यदि युद्ध छिड़ता है तो कोई भी सुरक्षित नहीं है और यदि युद्ध नहीं होता है तो आण्विक शस्त्रों का निर्माण कोरा अपव्यय है। इसका निर्माण

दोनों दृष्टियों से व्यर्थ है, परंतु कोई एक देश करता है तो दूसरा कैसे बच सकता है। मानवता के प्रति सबसे बड़ा अन्याय उसने किया जिसने अणु अस्त्रों के निर्माण में पहल की। शस्त्रों की प्रतिस्पर्धा में मानव अपनी ही विनाश लीला का खेल खेल रहा है। महामूर्ख मानव खुद अपने ही हाथों अपनी चिता तैयार कर रहा है।

लगभग ६० वर्ष पूर्व हिरोशिमा में अमेरिका ने पहला अणुबम का विस्फोट किया था। उस समय ७८१५० व्यक्ति तो उसी क्षण मारे गये थे तथा ३७४५२ व्यक्ति उस विकिरण में जलकर सदा के लिए अपंग बन गए थे। जो १०६००० बचे थे उन पर भी रेडियोधर्मिता का असर हुआ। कुछ व्यक्तियों की भूल का परिणाम पूरी मानवता को भोगना पड़ता है। अणुयुद्ध का परिणाम कितना भयंकर है, इसकी कल्पना ही कंपन पैदा कर देती है। समझ में नहीं आता है कि मनुष्य नवनिर्माण चाहता है फिर भी प्रलय के साधनों का संग्रह क्यों कर रहा है? सामूहिक नरसंहार के लिए रोग के जीवाणु, विषाणु बम, जहरीले रसायन व गैसों, दूर-मारक मिसाइलें, मृत्यु किरणों और लेसर किरणों से युक्त ऐसे-ऐसे हथियार बन गये हैं कि जिनका उपयोग विश्व का अस्तित्व और मानव सभ्यता का नामोनिशान मिटा सकता है।

भारत और पाकिस्तान के पारस्परिक संदेह के कारण एक ओर जहाँ पाकिस्तान को भयंकर शस्त्रों का भंडार भरना पड़ रहा है वही दूसरी ओर भारत को भी बहुत सारा धन अपनी सुरक्षा दृष्टि से खर्च करना पड़ रहा है। अपने शस्त्र आप बनाने वाले देशों की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। शस्त्रों की इस प्रतिस्पर्धा को देखकर लग रहा है कि दुनिया युद्ध के विनाशकारी मैदान में तैयार खड़ी है।

आयुर्वेद में दवा के सन्दर्भ में कहा गया है दवा वह है कि जो लेने पर नये रोग पैदा न करे और पुराने रोग को भी शनैः-शनैः निर्मूल करे। औषध उसी का नाम है। वह दवा किस काम की जो रोग मिटाने की बजाय नये रोग को जन्म दे। हिंसा एक ऐसी दवा है जिससे ऐसा लगता है कि समस्या सुलझ रही है, बीमारी मिट रही है किन्तु उसकी प्रतिक्रिया इतनी भयंकर होती है कि अनेक नई बीमारियाँ पैदा हो जाती है हम ऐसी दवा की खोज करें जो नई बीमारी पैदा न करे और वह दवा है अहिंसा। युद्ध समस्या का समाधान नहीं है। व्यक्ति को अन्त में अहिंसा की शरण में जाना ही पड़ता है। शान्ति के लिए समझौता करना ही पड़ता है।

तृतीय युद्ध की चिनगारी उठे उसके पहले ही सभी को जागृत हो जाना चाहिए। वर्तमान स्थिति में भगवान महावीर का यह वाक्य 'अत्थि सत्थं परेण परं नत्थि, असत्थं परेण परं' शस्त्र में प्रतिस्पर्धा है, अशस्त्र में कोई प्रतिस्पर्धा नहीं है। आचारांग बहुत मूल्यवान हो गया है। शस्त्रों की दौड़ को केवल शस्त्रों में कमी करके नहीं रोका जा सकता है। यदि शस्त्रों के प्रसार को रोकना है, भयमुक्त जीवन जीना है तो इस वाक्य पर ध्यान देना होगा।

चंद्र लोग जो सत्ता पर सवार हैं उन्हें राष्ट्रीय दृष्टि से नहीं मानवीय दृष्टि से विचारकर प्रलयकारी अस्त्रों के निर्माण पर रोक लगाना चाहिए। इस दिशा में जो पहल करेगा, वही मानवता का सबसे बड़ा पुजारी होगा।

इस महाविनाश से बचने के लिए अहिंसा का प्रचार प्रसार एक मात्र उपाय है। यही हिंसा से लड़ने का सही तरीका है। जैसे देखा जाय तो शायद कोई भी राष्ट्र हिंसा नहीं चाहता है किंतु हिंसा के कारणों को छोड़ नहीं रहा है साथ ही अहिंसा और शांति की चाह प्रत्येक राष्ट्र को है किंतु अहिंसा के मूल्य को आत्मसात् नहीं करना चाहता है न ही उन्हें अपनाता है। इच्छा कार्य में परिणत न हो तो उस इच्छा का कोई अर्थ नहीं है।

आध्यात्मिक आधार पर विश्वशांति के कुछ सूत्र आचार्य महाप्रज्ञ^{७६३} ने बताये जो निम्न हैं -

१. आत्मौपम्य की भावना का विकास - प्रत्येक प्राणी में आत्मा है। हम मनुष्य के सम्बन्ध में विचार करते समय इस सिद्धान्त को प्रस्फुटित करें कि प्रत्येक मनुष्य में आत्मा है। हम मनुष्य की आकृति, रंग जाति, संप्रदाय, प्रादेशिकता, राष्ट्रीयता आदि को देखते समय यह न भूलें कि इन सब आवरणों के पीछे छिपा हुआ एक सत्य है और वह है मानवीय आत्मा।
२. राष्ट्रीय या विभक्त भूखण्ड के पीछे रहे हुए अखण्ड जगत की अनुभूति।
३. मैत्री और करुणा की भावना का विकास।
४. शस्त्र के प्रयोग की सीमा

७६३. समस्या को देखना सीखें। पृ. ३६ -आचार्य महाप्रज्ञ

५. वैचारिक संघर्षों का अनेकान्तवाद से निराकरण
६. व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा
७. अनावश्यक हिंसा का निषेध
८. आत्मविश्वास और पारस्परिक सौहार्द्र का विकास
९. शान्ति का आध्यात्मिक सिद्धान्त सहअस्तित्व की कल्पना को साकर रूप दिया जाय।
१०. विज्ञान को अध्यात्म के साथ जोड़ा जाय।

आज सारी दुनिया को एक विश्व परिवार बनाने की आवश्यकता है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना का विस्तार करना होगा तथा विभिन्न देशों के बीच होने वाले आक्रमणों एवं संघर्षों की संभावना को समाप्त करना होगा। जितनी जनसंख्या सेना में भर्ती है, अस्त्र-शस्त्र तथा सेना सामग्री बनाने में जितना धन खर्च होता है वह सब मानव कल्याण के कार्यों में लगाने लगे तो समस्त संसार में स्वर्गीय सुख शांति की स्थापना में देर न लगे। यह तब ही हो सकता है कि जब विज्ञान और अध्यात्म का मेल हो। "विज्ञान को सही प्रगति करना है तो उसे ठीक मार्गदर्शन मिलना चाहिए और वह मार्गदर्शन आत्मज्ञान ही दे सकता है।"

(७) अध्यात्मविहीन या मूल्यविहीन राजनीति - युग की महत्त्वपूर्ण समस्या

राजनीति ने आज मानव जीवन के सभी क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया है। स्वास्थ्य, संस्कृति, भाषा, साहित्य, कला विज्ञान जैसे जनरुचि के विषय भी अब राजनैतिक प्रभाव में आ रहे हैं। शिक्षा, उत्पादन, श्रम व्यवसाय, शासन, न्याय, निर्माण, विज्ञान शिल्प आदि तो पहले से ही उसके नियन्त्रण में है। जनजीवन में अपनी प्रमुखता रखने वाली राजनीति में, शासन तन्त्र में गदि कहीं दोष भ्रष्टाचार आदि रहता है तो उसका दुष्परिणाम सभी को भुगतना पड़ता है। अतः शासनतन्त्र के संचालकों का उच्च चारित्रिक गुणों एवं उच्च आदर्शों से परिपूर्ण होना आवश्यक है। किसी सम्प्रदाय की अवधारणा से राष्ट्र को शासित करना जितना खतरनाक है, उतना ही खतरनाक है धर्मविहीन राजनीति से राष्ट्र को संचालित करना। अध्यात्मविहीन राजनीति मानव जाति के लिए खतरा बनी हुई है। देशगत राजनीति पर विचार किया जाय या अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर

सभी क्षेत्रों में उच्चचरित्र के मार्गदर्शन की नितान्त आवश्यकता अनुभव की जा रही है। यह मार्गदर्शन अध्यात्म से ही मिल सकता है।

यहाँ अध्यात्म से तात्पर्य किसी साम्प्रदायिक कट्टरता वाले धर्म से नहीं है। यहाँ अध्यात्म का तात्पर्य है अहिंसा, सत्य, प्रामाणिकता मैत्र्यादि भावना के विकास से हैं। उ. यशोविजयजी ने अध्यात्मोपनिषद् में अध्यात्म का रुढ़ अर्थ बताते हुए कहा “सदाचार से पुष्ट तथा मैत्र्यादि भावना से भावित निर्मल चित्त अध्यात्म है।”^{७६४} विनोबा भावे ने अध्यात्म की व्याख्या करते हुए तीन अनिवार्य निष्ठाएँ बताई थी (१) “निरपेक्ष नैतिक मूल्यों पर आस्था अर्थात् कभी सच कभी झूठ इस प्रकार की अवसरवादी मनोवृत्ति और दाम्भिक विचार नहीं रखना। (२) आत्मा की शाश्वतता का स्वीकार (३) जीवन की एकता और पवित्रता में विश्वास।”^{७६५}

उपर्युक्त अध्यात्म के नैतिक पक्ष को अगर राजनीति से जोड़ दिया जाय तो विनाशकारी युद्ध की कल्पना के भय से मुक्ति तथा सर्वत्र शांति स्थापित की जा सकती है। भारत तथा प्रगति सम्पन्न देशों के राजनेताओं की मदनोन्मत मनःस्थिति से उबारने के लिए अध्यात्म का शामक अमृत जल पिलाया जाय।

इसी एक अध्यात्म की कमी के कारण समस्त विश्व की जनता क्षुब्ध और निराश होती चली जा रही है। विश्व रुस और अमेरिका के दो गुटों में बंटा हुआ है। शक्ति के अभाव में तटस्थ देशों की अभी अपनी कोई स्थिति नहीं है। दोनों गुट अपने संकुचित दृष्टिकोण के कारण अपने प्राधान्य और वर्चस्व के लिए संघर्ष कर रहे हैं। अणु विज्ञान की तलवार इन लोगों के हाथ लग जाने से तीसरे अणुयुद्ध का खतरा दिन-दिन बढ़ता चला जा रहा है। यदि विश्व के दोनों गुटों के राज्य संचालकों में इतनी दूरदर्शिता उत्पन्न हो जाय कि नाश की तैयारी छोड़कर, दुर्भावना और द्वेष छोड़कर परस्पर प्रेम तथा मैत्री भावना पूर्वक मिल जाय तो मानव जीवन को अधिक सुखी, अधिक सन्तुलित एवं अधिक समुन्नत बनाने का प्रयत्न करें तो स्वर्ग के समान दृश्य उपस्थित हो सकता है। करोड़ों व्यक्ति जो फौज में काम कर रहे हैं वे शिक्षा उत्पादन एवं अन्य जन कल्याण के कामों में संलग्न होकर प्रगति के लिए बहुत काम कर सकते हैं। इसी प्रकार जो धन युद्ध की तैयारी में खर्च होता है जितने श्रमिक और कारखाने इस प्रयोजन के लिए

७६४. रुढ्यर्थनिपुणास्त्वाहुश्चित्तं मैत्र्यादिवासितम्।

अध्यात्मं निर्मलं बाह्यव्यवहारोपबंहितम् ॥३१॥- अध्यात्मोपनिषद् - उ. यशोविजयजी

७६५. आत्मज्ञान और विज्ञान पृष्ठ २०, विनोबा भावे

संलग्न रहते हैं, वे यदि उपयोगी कार्यों में लग सके तो संसार में गरीबी बीमारी अशिक्षा आदि का पूरी तरह सफाया होने में देर न लगे। संसार के राजनीतिज्ञों के पास सारे साधन मौजूद हैं। उच्च शिक्षा, सविकसित मस्तिष्क, चतुर सलाहकार जनसहयोग सभी कुछ तो उन्हें प्राप्त है। कमी केवल एक ही है वह है अध्यात्म की, उदारता और उदात्त भावनाओं की।

आज राजनीति की आत्मा अत्यंत दूषित हो गई है। कथनी तथा करनी में जमीन आसमान का अंतर होता है। उदाहरण के रूप में पाकिस्तान अमरीकी गुट में हैं किन्तु सही अर्थ में तो वहाँ जनतंत्र भी नहीं है, वह अधिनायकतावादी है। उसने महान लोकतंत्र को क्षतविक्षत करने का शक्तिशाली प्रयत्न किया और वह भी अमेरिका के शक्ति संरक्षण में किया जो जनतंत्र के विस्तार में सबसे अगुआ है। यह विरोधाभास कितना आश्चर्यकारी है। एक ओर जनतंत्र के विस्तार की अदम्य उत्कण्ठा और दूसरी ओर एक महान जनतंत्र के विकासमान पौधे पर कुठाराघात। इस बिन्दु पर पहुँचकर हम राजनीति की आत्मा को देखते हैं तो पता चलता है कि उसका गठबंधन सिद्धान्त के साथ उतना नहीं होता है जितना स्वार्थपूर्ति के साथ होता है। सेवा का पाठ पढ़ो। ये बिना व्यक्तित्व का परिमार्जन किये बिना सत्ता में जा पहुँचने वाले उन अनगढ़ व्यक्तियों के हाथों में पढ़कर व्यवस्थाएँ अभिशाप सिद्ध होती हैं। अध्यात्म के अभाव में नेतृत्व का जो स्वरूप आज बना है उसे देखते हुए यही विश्वास होता है कि नवनिर्माण की उनसे कोई आशा नहीं की जाना चाहिए। भारत में कुछ दशकों पूर्व नेता शब्द सार्थक था तथा नेताओं का कर्तव्य भी। पर अब वह शब्द सम्मानजनक नहीं रहा। नेता काम लेते ही आम व्यक्ति की नजरों में एक खुदगर्ज व्यक्ति की तस्वीर घूम जाती है, जिसे अपने स्वार्थ के अतिरिक्त किसी से मतलब नहीं। जो कुर्सी एवं पद के लिए आम लोगों के हितों की बलि भी चढ़ा सकता है। राजनीति के क्षेत्र ऐसे निठल्ले व्यक्तियों की संख्या बढ़ती जा रही है। विभिन्न राजनैतिक दलों के राजनेताओं के कार्यक्रम घोषणापत्र उत्तम होते हैं। उनमें से किसी भी दल की घोषित विचारणा व कार्यपद्धति ठीक कर कार्यान्वित हो तो समाज में सुख शांति समृद्धि की संभावना मूर्तिमान हो सकती है पर देखा यह जाता है कि बेचारे अनुयायी तो दूर, दलों के मूर्धन्य राजनेता भी व्यक्तिगत जीवन में उस नीति को कार्यान्वित नहीं करते। कहते कुछ है करते कुछ है।

आज ऐसे नेतृत्व की आवश्यकता है जो भाषण से नहीं वरन् अपने चरित्र से दूसरों को उसी उत्कृष्टता के मार्ग पर चलने के लिए प्रेरणा दे सकें। जो निःस्वार्थ सेवा परायण तथा यशालोलुपता से दूर रहकर जनजागरण का कार्य पूर्ण

श्रद्धा और तत्परता के साथ कर सके। उत्कर्ष की शिक्षा देने का अधिकारी वही होता है जो अपना उत्कर्ष करने में पहले सक्षम हो।

रेलगाड़ी के सभी डिब्बे अपना-अपना बोझ ढोते और गति पकड़ते हैं, पर उन सबका सूत्र संचालन इंजन को करना पड़ता है। इंजन में खराबी आ जाय, वह रुक जाय तो बाकी डिब्बे समर्थ होते हुए भी निश्चित मार्ग पर चलने का साहस नहीं कर सकेंगे। उसी प्रकार इंजन के समान नेता का शौर्य साहस त्याग और बलिदान अनुकरणीय हो तो उसके पीछे चलने वाले न तो कम पड़ते हैं न धीमें चलते हैं।

भारत में परतन्त्रता काल में नेतृत्व का जो प्रभाव जन साधारण पर देखा गया उसका यही कारण था कि नेतृत्व सर्वांगीण व्यक्तित्व में उभरा था। राजनीति के साथ अध्यात्म का नैतिक पक्ष भी जुड़ा हुआ था। त्याग, साहस, सूझबूझ, विचारशीलता कथनी और करनी की एकता आदि सद्गुणों का वही चमत्कार था कि सर्वसाधारण उनकी निर्दिष्ट दिशा में चलते थे। आज नेता राजा हो गये त्याग का स्थान लालच ने ले लिया कर्मठता प्रमाद में बदल गयी नेता पद जिस त्याग और तपस्या के बाद मिलता था वही आज भोग और विलासिता का कारण बन गया। फलतः राजनीति ने आज व्यवसाय का रूप धारण कर लिया है। हर किसी में नेता बनने की होड़ लगी है। कुर्सी और गद्दी पाकर काम के नाम पर केवल भाषण करना और उपदेश देना किसे घाटे का सौदा लगेगा? अध्यात्मविहीन राजनीति का ही एक भयंकर दुष्परिणाम भ्रष्टाचार है, जिसका हम पृथक से वर्णन करेंगे। नेता आज बदनाम शब्द हो गया है। प्रायः सभी देशों की राजनीति की यही दुर्दशा है। वर्तमान में कई राजनेता अपने स्वार्थ के लिए अपने देश के साथ ही गद्दारी कर लेते हैं उनसे क्या आशा रखी जाय कि वे विश्वमैत्री का शंखनाद करें और वसुधैव कुटुम्बकम् के उद्घोष को विश्वव्यापी बनाए।

आचार्य श्री महाप्रज्ञ का कथन है कि आज सभी क्षेत्रों पर राजनीति का प्रभाव है। सारी शक्ति राजनीति के हाथ में है अतः आवश्यक है कि राजनीति को धर्मनीति से जोड़ा जाय। महात्मा गांधी ने कहा- मेरे लिए धर्महीन राजनीति निरी कूड़ा करकट है और सदैव त्याज्य है। राजनीति का सम्बन्ध राष्ट्रों से है और जिसका सम्बन्ध राष्ट्रों के कल्याण से है, उसमें सभी धार्मिक प्रवृत्ति के पुरुषों को रुचि लेना चाहिए।

राजनीति पंथनिरपेक्ष या सम्प्रदाय निरपेक्ष होना चाहिए किन्तु धर्मनिरपेक्ष नहीं। राजनीति राष्ट्र की व्यवस्था करने के लिए है और धर्म का नैतिक पक्ष व्यवस्था के विशुद्धिकरण के लिए हैं। अतः राजनीति को धर्म के नैतिक अथवा चरित्र पक्ष से प्रभावित होना चाहिए किंतु उपासना पक्ष या साम्प्रदायिक पक्ष से अलग रहना चाहिए। इस प्रकार धर्म का राजनीति के साथ सम्बन्ध है भी और नहीं भी, यह अनेकान्त दृष्टिकोण ही राजनीति और धर्म के सम्बन्ध की समस्या का समाधान हो सकता है।

चिन्तन, चरित्र और व्यवहार में आदर्श का समावेश करने के लिए धर्म के नैतिक पक्ष को राजनीति का एक अविच्छिन्न अंग माना जाना चाहिए। महात्मा गांधी ने कहा- “अहिंसा और सत्य राजनीति का आधार होना चाहिए। उन्होंने लिखा- “हमें सत्य और अहिंसा को केवल व्यक्तिगत आचरण का विषय नहीं, बल्कि समूहों, समाजों और राष्ट्रों के व्यवहार की चीज भी बनाना होगा। कम से कम मेरा स्वप्न तो यही है। अहिंसा आत्मा का गुण है और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सभी को उसका पालन करना चाहिए।”^{७६६}

वर्तमान की अपेक्षा है राजनीति के धर्म की एक आचार संहिता निर्मित की जाए। आचार्य तुलसी ने अणुव्रत की आचार संहिता जो निर्मित की है उससे राजनीति के धर्म की आचारसंहिता की पूर्ति की जा सकती है। अणुव्रत की आचार संहिता का वर्णन आचार्य महाप्रज्ञ ने ‘लोकतंत्र नया व्यक्तित्व नया समाज’ के अन्तर्गत किया है। जो इस प्रकार है-

१. मैं किसी भी निरपराध प्राणी का संकल्पपूर्वक वध नहीं करूंगा। योगशास्त्र में भी हेमचन्द्र ने यही संदेश दिया है ‘निरागस्त्रसजंतूनां हिंसा संकल्पतस्त्यजेत्।’
२. मैं आक्रमण नहीं करूंगा। (अ) आक्रमण नीति का समर्थन नहीं करूंगा। (ब) विश्वशांति तथा निःशस्त्रीकरण के लिए प्रयत्न करूंगा।
३. मैं हिंसात्मक एवं तोड़फोड़ मूलक प्रवृत्तियों में भाग नहीं लूंगा।
४. मैं मानव एकता में विश्वास करूंगा अर्थात् जाति रंग आदि के आधार पर किसी को ऊँच-नीच नहीं मानूंगा।

७६६. लोकतंत्र : नया व्यक्ति नया समाज- आचार्य श्री महाप्रज्ञ

५. मैं धार्मिक सहिष्णुता रखूंगा। (साम्प्रदायिक उत्तेजना नहीं फैलाऊंगा।)
६. मैं व्यवसाय और व्यवहार में प्रामाणिक रहूंगा।
 - (अ) अपने लाभ के लिए दूसरों को हानि नहीं पहुँचाऊंगा।
 - (ब) कपटपूर्वक व्यवहार नहीं करूंगा।
 - (स) मैं इन्द्रियसंयम की साधना करूंगा।
७. मैं संग्रह या व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा का निर्धारण करूंगा।
८. मैं चुनाव के सम्बन्ध में अनैतिक आचरण नहीं करूंगा।
 - (अ) मैं प्रलोभन और भय से मत प्राप्त नहीं करूंगा।
 - (ब) मैं प्रतिपक्षी प्रत्याशी का चरित्र हनन नहीं करूंगा।
 - (स) मैं मतदान और मतगणना के समय अवैध तरीकों को काम में नहीं लूंगा।
९. मैं सामाजिक कुरुतियों को प्रश्रय नहीं दूंगा।
१०. मैं व्यसन मुक्त जीवन जीऊँगा- मादक तथा नशीले पदार्थों- शराब, गांजा, चरस, हेरोइन, भांग, तम्बाकू आदि का सेवन नहीं करूंगा।
११. मैं पर्यावरण की समस्या के प्रति जागरूक रहूँगा।
 - (अ) हरे-भरे वृक्ष नहीं काटूँगा।
 - (ब) पानी का अपव्यय नहीं करूँगा।

उपर्युक्त नियम किसी सम्प्रदाय से जुड़े हुए नहीं हैं। यह धर्म का नैतिक पक्ष है। विधानसभा और लोकसभा के सदस्यों के लिए इन निर्धारित नियमों से प्रशिक्षित करना आवश्यक है। “कमन्दकीय नीतिसार में नेता कौन हो सकता है, इसकी सुन्दर व्याख्या की है- उदार, शास्त्रसम्मत बोलने वाला, वाग्मी स्मृतिमान,

बलवान्, जितेन्द्रिय, शिक्षक, दण्ड प्रयोग करने वाला, चतुर, शिल्पविद्या में निपुण तथा प्रभावशाली व्यक्तित्व वाला नेता होता है।”^{७६७}

कुछ कमियां होने के बाद भी आज सबसे श्रेष्ठ शासन प्रणाली लोकतंत्रीय प्रणाली है। इसलिये सारे विश्व में लोकतंत्र फैलता जा रहा है। लोकतन्त्र को चलाने वाले लोग अध्यात्म को अपने साथ जोड़ ले तो लोकतन्त्र सोने में सुगन्ध बन जाएंगे। पूरे विश्व की मानवजाति के लिए वरदान बन जाएगा। क्योंकि इसमें एक नहीं अनेक समस्याओं का समाधान सन्निहित है।

(८) बढ़ता हुआ भ्रष्टाचार एक भीषण समस्या -

सामाजिक व्यवस्थाओं और धर्म आदेशों के विरुद्ध जो भी आचरण किया जाता है वह भ्रष्टाचार की कोटि में आता है। दूसरे शब्दों में धर्मविरुद्ध अनैतिक उपायों के द्वारा धन सम्पत्ति और वस्तु की प्राप्ति तथा वासना की पूर्ति सभी भ्रष्टाचार में सन्निहित है। यदि अधिक व्यापक अर्थ में ले तो अपनी योग्यता और अपने कार्य के प्रतिफल के रूप में नियमानुसार जो व्यवस्था है उसका उल्लंघन करना भ्रष्टाचार है। भ्रष्टाचार राज्यविरुद्ध, धर्मविरुद्ध और नैतिकता के विरुद्ध आता है। यद्यपि भ्रष्टाचार एक सामान्य शब्द है किंतु देश विशेष, काल विशेष और धर्म विशेष के आधार पर इसकी परिभाषाओं में अन्तर पाया जाता है। भ्रष्टाचार का सम्बन्ध केवल धन, धनार्जन के साधन या अनैतिक तरीके से धन की उपलब्धि तक ही सीमित नहीं है, चारित्रिक दुराचार, यौनशोषण आदि भी भ्रष्टाचार की ही कोटि में आते हैं।

आज समस्त राष्ट्र ही नहीं, वरन् समस्त विश्व भ्रष्टाचार की समस्या से त्रस्त है। कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं जो इसके प्रभाव से दूषित न हो। आज वैभव और विलास को सर्वोपरि मान्यता मिली हुई है। विभिन्न प्रकार के प्रयासों द्वारा इन्हीं दोनों को अधिक मात्रा में जल्दी से जल्दी हस्तगत कर लेने के लिये छटपटाहट देखी जाती है। इस लोभ की भूमि पर जन्म होता है भ्रष्टाचार का। भ्रष्टाचार का तात्पर्य केवल गैरकानूनी धन लाभ से नहीं है बल्कि उन सभी पद्धतियों से है जो ईमानदारी निष्पक्ष और सामान्य प्रशासन के सरल संचालन में रुकावट पैदा करती है। बहुत से विभाग तो भ्रष्टाचार के गढ़ ही हैं। प्रत्येक प्रार्थना पत्र परमिट, पदोन्नति, स्थानान्तरण के मूल्य निश्चित हैं। कार्यालयों में लोग

७६७. वाग्गी प्रगल्भः स्मृतिमानुदग्रा बलवान् वशी

नेता दण्डस्य निपुणः कृतशिल्पः सुविग्रहः ॥ - कामन्दकीय नीतिसार, सर्ग ४, श्लोक १५

काम नहीं करेंगे केवल गिद्धदृष्टि से यह देखा करेंगे की कब कोई जरूरतमंद आ सकता जिसको मुर्गा बना सकें। वाणिज्यिक प्रतिष्ठानों में तथा निजी उद्योगों में तो भ्रष्टाचार यहाँ तक घुस गया है कि अब कोई चीज शुद्ध मिलती ही नहीं है। अधिकाधिक लाभ कमाने की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। लोग छलकपट, अन्याय, अत्याचार, अनाचार सभी तरीकों से जल्दी से जल्दी धनवान बनने की कोशिश में है। नकली दवाइयाँ बेची जा रही है। जिससे कई बार लोगों की मृत्यु तक हो जाती है। हृदय की संवेदनशीलता के अभाव में बुद्धि निरंकुश और कठोर बन गई है। ऊपर से नीचे तक ऐसा लगता है कि पूरा प्रशासन भ्रष्ट हो गया है। प्रत्येक कार्यालयों में रिश्वत के बिना काम ही नहीं चलता है। अर्थ सभी अनर्थ की खान हैं। भ्रष्टाचार केवल भारत की ही समस्या नहीं है पूरे विश्व की समस्या है। अर्थ का शिकंजा इतना मजबूत है कि बड़े से बड़े आदमी को अपनी पकड़ में ले लेता है। कुछ वर्ष पूर्व चीन में एक आर्थिक घोटाला हुआ। चीन में साम्यवादी शासन प्रणाली है। इतनी नियंत्रित प्रणाली में भी आर्थिक घोटाला आश्चर्य की बात है। जापान लोकतंत्रीय प्रणाली से शासित है, वहाँ भी आर्थिक घोटाला। भारत के लोकतंत्र का चाँद तो शायद पूरी तरह भ्रष्टाचार के राहु से ग्रसित है। हमारा मुख्य उद्देश्य किन देशों में कितना भ्रष्टाचार है यह बताना न होकर भ्रष्टाचार क्यों और उसकी निवृत्ति के क्या उपाय हो सकते हैं, यह बताना ही हमारा मुख्य ध्येय है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में यदि हम भ्रष्टाचार के कारणों का विश्लेषण करें तो उसका मुख्य कारण उपभोक्तावादी संस्कृति और भौतिकवादी जीवनदृष्टि ही उसका मुख्य कारण है विगत शताब्दियों में भोगोपभोग के साधनों या विलासिता की वस्तुओं की जितनी अधिक मात्रा में वृद्धि हुई है और व्यक्ति की आध्यात्मिक आस्था शिथिल हुई है, भ्रष्टाचार उतना अधिक बढ़ा ही है। व्यक्ति भ्रष्टाचार तब करता है जब भोगोपभोग के विपुल विलासिता पूर्ण साधनों को देखकर उनको प्राप्त करने की इच्छा जन्म लेती है किंतु दूसरी ओर अर्थाभाव या आय के सीमित साधनों के कारण उनको प्राप्त करने में असमर्थ रहता है तो वह येन केन प्रकारेण नैतिक अनैतिक रूप से धन प्राप्त करके या अन्य किसी उपाय से उन साधनों को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। बस यहीं भ्रष्टाचार का जन्म होता है। भोगोपभोग के विपुल साधन, बढ़ती हुई तृष्णा या भोगाकांक्षा तथा आदर्श जीवन मूल्यों के प्रति निष्ठा का अभाव यही भ्रष्टाचार के मूलभूत कारण है। भ्रष्टाचार के निराकरण के लिए सर्वप्रथम व्यक्ति की जीवनदृष्टि में परिवर्तन आवश्यक है। जब तक जीवन में भोगाकांक्षा रहेगी और उसकी पूर्ति के लिए धन का अभाव रहेगा तब तक भ्रष्टाचार का निराकरण संभव नहीं है। वस्तुतः जहाँ

प्रदर्शन की भावना और भौतिकवादी जीवन दृष्टि प्रमुख बन जाती है वहाँ भ्रष्टाचार अपनी जड़ जमा लेता है। उ. यशोविजयजी ने भौतिक पदार्थों में आसक्ति तथा प्रदर्शन से मुक्त जीवन का संदेश दिया है कि “पर पदार्थ के निमित्त से जो संतोष होता है वह तो याचना कर लाये हुए अलंकार के समान है। वास्तविक आत्मिक संतोष तो उत्तम रत्नों की चमक के समान है।”^{७६८} बेईमानी से कमाई हुई भौतिक सम्पदा, यश, कीर्ति अल्पकालीन है। वास्तव में यह तो उधार लाए हुए अलंकार के समान है। इससे वास्तविक आनंद की, पूर्णता की प्राप्ति संभव नहीं है। उत्तम रत्न की चमक के समान सदबुद्धि, सत्प्रवृत्ति, सद्गुणों से ही वास्तविक आनंद की प्राप्ति होती है। नम्रता, सरलता, निर्लोभता, आत्मा की स्वाभाविक सम्पत्ति है। अतः हमें भोगोपभोग के साधनों और सुविधाओं के पीछे उन्मत्त न बनकर, जीवन की आवश्यकताओं और विलासिता में अन्तर करना होगा। भ्रष्टाचार विलासिता पूर्ण जीवन में ही पनपता है सादगीपूर्ण आध्यात्मिक जीवन जीने वाले व्यक्ति की आवश्यकताएँ इतनी कम होती हैं कि उसे अपने सामान्य जीवन जीने के लिए बहुत अधिक अर्थ की अपेक्षा नहीं होती है। वस्तुतः भारतीय संस्कृति में जो सादा जीवन और उच्च आदर्श की बात कही गई है वह भ्रष्टाचार के निवारण के लिए एक आदर्श वाक्य हो सकता है।

भ्रष्टाचार का दूसरा मुख्य कारण नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति निष्ठा का अभाव है। वैज्ञानिक और तकनीकी विकास के कारण व्यक्ति की धर्म अध्यात्म और नैतिकता के प्रति आस्थाएँ कम हुई हैं। यह मूल्य निष्ठा की कमी भी भ्रष्टाचार का एक मुख्य कारण है। क्योंकि व्यक्ति ऐहिक जीवन को ही सब कुछ मान लेता है। विज्ञान के परिणामस्वरूप स्वर्ग का प्रलोभन और नरक का भय भी अब नहीं रहा। व्यक्ति की यही जीवन दृष्टि होती है कि वह येन केन प्रकारेण जितनी अधिक भौतिक सुख सम्पत्ति प्राप्त कर सके उसे करना चाहिए। उसके लिए अध्यात्म, धर्म और नैतिकता का कोई मूल्य नहीं। परिणामस्वरूप वह भ्रष्टाचार की ओर उन्मुख होता है। प्राचीन समय में धर्म और ईश्वर का भय था जो व्यक्ति को भ्रष्ट आचरण से विमुख करता था। विज्ञान के कारण वह भय तो समाप्त हो गया। अतः हमें व्यक्ति में ऐसी मूल्य निष्ठा जागृत करना होगी जिसके कारण वह भ्रष्टाचार से विमुख हो सके। संक्षेप में आध्यात्मिक मूल्य निष्ठा का विकास भ्रष्टाचार के निराकरण में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य हो सकता है। बेईमानी

७६८. पूर्णता या परोपाधेः सा याचितकमण्डनम्।

या तु स्वाभाविकी सैव जात्यरत्नविभानिभा।।२।।-ज्ञानसार १/२

का प्रतिफल घृणा अविश्वास, असहयोग, राजदण्ड, आत्मदण्ड आदि है। साथ ही जिसने विश्वस्ता का सिक्का दूसरों पर जमा लिया, अच्छी सही चीजें उचित मूल्य पर दी, ईमानदारी से व्यापार किया और व्यवहार में प्रामाणिकता सिद्ध कर दी, तो लोग उस पर मुग्ध हो जाते हैं। सदा सर्वदा के लिए उसके ग्राहक प्रशंसक एवं सहयोगी बन जाते हैं और सबसे बड़ा सुख आत्मसंतोष की प्राप्ति होती है। आज विश्व में जो भ्रष्टाचार बढ़ा है उसका एक मुख्य कारण हमारे राजतंत्र का भ्रष्ट होना है। वर्तमान राजनीति आदर्शविहीन है। जब प्रशासन तंत्र ही भ्रष्ट होगा तो फिर भ्रष्टाचार का निवारण कैसे संभव होगा। वर्तमान युग में आज चाहे कहने के लिए हम प्रजातंत्र में जी रहे हैं किंतु इस प्रजातंत्र में जो लोग सत्ता पर हावी हो रहे हैं। वे भ्रष्ट आचरणों के माध्यम से ही सत्ता में आते हैं और परिणाम स्वरूप सत्ता में आकर ही भ्रष्ट आचरण से लिप्त रहते हैं। अतः भ्रष्टाचार का निवारण तब ही संभव है जब प्रशासन तंत्र में राष्ट्र भक्ति और मानव कल्याण की वृत्ति का विकास हो किंतु यह तभी संभव होगा जब चरित्रवान् और मानवहित के शुभेच्छु व्यक्ति प्रशासन में आए।

(६) सम्प्रदायवाद एक समस्या :-

सम्प्रदायवाद की समस्या भी विश्वव्यापी है। चाहे उसकी मात्रा में भिन्नता हो उसके रूप में अन्तर हो फिर भी सम्प्रदायवाद की समस्या सभी कालों में और सभी देशों में रही है। प्राचीन इतिहासों में भी सम्प्रदाय के नाम पर कितने झगड़े हुए, खून खराबे हुए, मंदिरों और मस्जिदों को तोड़ा गया और आज भी यह झगड़े जारी है। हम सर्वप्रथम यह बताना चाहेंगे कि सम्प्रदाय किसे कहते हैं तथा धर्म और सम्प्रदाय में क्या अन्तर है। साधना का सामुदायिक रूप, संघबद्धता सम्प्रदाय कहलाता है। सम्प्रदाय एक साधन है। जीवन यापन की परस्परता या सहयोग। वह व्यक्ति को धर्म के लिए प्रेरित कर सकता है किंतु स्वयं धर्म नहीं है। आज धर्म और सम्प्रदाय को एक मान लिया गया है इसलिए लोगों की यह धारणा हो गई है कि धर्म के कारण कितनी लड़ाइयाँ हुईं, कितनी बार खून की होली खेली गई, कितने देश उजड़े? किंतु विवेकपूर्वक विचार करने पर समझ में आ जाता है कि धर्म के कारण न भी ऐसा हुआ है और न कभी होगा। क्योंकि धर्म का अर्थ है राग द्वेष से मुक्त, आसक्ति से मुक्त, तृष्णा से मुक्त जीवन जीना। दशवैकालिक में अहिंसा संयम और तप को धर्म कहा है। कोई भी व्यक्ति अगर रागद्वेष से मुक्त अहिंसा संयम से मुक्त जीवन जीएगा तो लड़ाइयाँ कहाँ होंगी? डॉ. सागरमल जैन ने लिखा है कि “धर्म स्वभाव है वह आन्तरिक है।

सम्प्रदाय का सम्बन्ध आचार की बाह्य रुढ़ियों तक सीमित है। इसलिए वह बाहरी है। सम्प्रदाय यदि धर्म से रहित है तो वह ठीक वैसा ही है जैसे आत्मा से रहित शरीर। सम्प्रदाय धर्म का शरीर है और शरीर का होना बुरा भी नहीं है किंतु जिस प्रकार शरीर में से आत्मा निकल जाने के बाद वह शव हो जाता है और परिवेश में संड़ांध व दुर्गन्ध फैलाता है उसी प्रकार धर्म से रहित सम्प्रदाय भी समाज में घृणा और अराजकता उत्पन्न करते हैं, सामाजिक जीवन को गलित व सड़ांधयुक्त बनाते हैं। वस्तुतः धर्म निष्ठा के साथ मानवीय सद्गुणों को जीवन में जीने के प्रयास से जुड़ा है, जबकि सम्प्रदाय केवल कुछ रुढ़ क्रियाओं को ही पकड़कर चलता है। नैतिक सद्गुण त्रैकालिक सत्य है, वे सदैव शुभ हैं। जबकि साम्प्रदायिक रुढ़ियों का मूल्य युग विशेष और समाज विशेष में ही होता है अतः वे सापेक्ष हैं। जब इन सापेक्षिक सत्त्यों को ही एक सार्वभौम सत्य मान लिया जाता है तो इसी से सम्प्रदायवाद का जन्म होता है। यह सम्प्रदायवाद वैमस्य और घृणा के बीज बोता है।”^{७६६} यदि व्यक्ति धार्मिक है और किसी सम्प्रदाय से जुड़ा है तो वह बुरा नहीं है किंतु यदि व्यक्ति सम्प्रदाय में ही जीता है धर्म में नहीं, तो वह निश्चय समाज के लिए एक चिन्ता का विषय है। आज हम सम्प्रदाय में जीते हैं, धर्म में नहीं। यह साम्प्रदायिक कट्टरता ही खतरनाक है। साम्प्रदायिक विग्रह से राष्ट्र शक्तिहीन होता है और व्यक्ति का मन अपवित्र होता है।

सभी धर्मों की मूलभूत शिक्षाएँ तो एक समान ही हैं। विविध धर्मों में भिन्नता देश, काल और आवश्यकता के अनुसार हुई। एक कवि का कथन है -

“गवामनेकवर्णानां, क्षीरस्यास्त्येकवर्णता।
तथैव सर्वधर्माणां, तत्त्वस्यास्त्येकवस्तुता।।”

गाये अनेक रंगों की हैं पर उनका दूध एक ही रंग का होता है। उसी प्रकार धर्म अनेक और भाषा भी अनेक है परंतु तत्त्व सबका एक है। धर्मों में जो दृश्यमान भेद है, वह नाममात्र का ही है, वास्तविक नहीं। जो जल समुद्र में लहराता है, वही जल ओस की बूंद में भी है। “धर्म को यदि हम केन्द्र बिन्दु माने तो सम्प्रदाय व्यक्ति रूपी परिधि-बिन्दु को केन्द्र से जोड़ने वाली त्रिज्या रेखा के समान है। एक केन्द्र बिन्दु से परिधि बिन्दुओं को जोड़ने वाली अनेक रेखाएँ खींची जा सकती हैं। यदि वे सभी रेखाएँ परिधि बिन्दु को केन्द्र से जोड़ती हैं जब तो वे एक दूसरे को नहीं काटती अपितु केन्द्र पर मिल जाती हैं। किन्तु कोई भी

रेखा जब केन्द्र का परित्याग करके चलती है तो वह एक दूसरे को काटने लगती है। यही स्थिति सम्प्रदाय की है। यदि सम्प्रदाय धर्म के सम्मुख रहे तब तो झगड़े का सवाल ही नहीं लेकिन धर्म से विमुख हो जाने पर सम्प्रदाय आपस में टकराते हैं।”^{८००} सम्प्रदायों का आग्रह ही एक दूसरे के प्रति द्वेष या घृणा उत्पन्न करता है।

“अमेरिका के सुप्रसिद्ध मनोविद् गौर्डन आलपोर्ट के मतानुसार आज धार्मिक क्षेत्र में जितनी भ्रान्तियाँ और समस्याएँ दृष्टिगोचर हो रही हैं, उनके पीछे एक ही तथ्य काम करता आया है- जातीय मताग्रह जिसे उन्होंने ‘रेसियलबायगोट्री’ के नाम से सम्बोधित किया है। धर्मान्धता इसी को कहते हैं। संसार की हर जाति के लोगों को अपना ही धर्म और मत पसन्द है। उनके अन्तराल में धर्मान्धता की प्रवृत्ति इस प्रकार समाविष्ट हो चुकी है कि दूसरों की उचित, उपयुक्त एवं उपयोगी बात को भी सहन कर सकने में अपनी असमर्थता ही प्रकट करते हैं और आग बबूला होकर उबल पड़ते हैं। असहिष्णुता की ये प्रवृत्तियाँ मानवीय सभ्यता पर प्रश्नचिन्ह लगा देती हैं और परस्पर मनमुटाव और मतभेद का असभ्य व्यवहार खड़ा कर देती हैं, यह किसी भी धर्म, समाज और राष्ट्र के लिए घातक है।”^{८०१} असहिष्णुता का दुर्गुण मनुष्य को एक प्रकार से मानसिक रूप से विक्षिप्त एवं विकलांग बना देता है उसके सौचने का दृष्टिकोण अत्यंत संकुचित होता है। डॉ. सागरमल जैन ने लिखा है कि “सम्प्रदाय वह रंगीन चश्मा है जो सबको अपने ही रंग में देखना चाहता है और जो भी उसे अपने से भिन्न रंग में दिखाई देता है उसे वह गलत मान लेता है।”^{८०२} यह समझना एकदम अनुचित है कि किसी एक महापुरुष ने जो कोई खास तरीका किसी देशकाल अथवा अवस्था के लिए बताया, वह बलपूर्वक सब लोगों से, सब जगह, सब परिस्थितियों में मनवाया ही जाय और बाकि सबकी बातें मिथ्या कहकर मिटा दी जाये।

यदि जो लोग अपने धर्म का प्रचार करना भी चाहते हैं तो वे शिष्टता और प्रेम से अपने धर्म की विशेषताएँ बताकर अन्य धर्म की निन्दा किये बिना,

-
८००. डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रंथ : धर्म का मर्म, पृष्ठ ३४५ -डॉ. सागरमल जैन
 ८०१. डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रंथ : धर्म का मर्म, पृष्ठ ३४६ -डॉ. सागरमल जैन
 ८०२. डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रंथ : धर्म का मर्म, पृष्ठ ३४६ -डॉ. सागरमल जैन

लोगों को प्रभावित करें। यदि धर्म का प्रचार यह समझकर किया जाय कि सभी धर्मों का मूल तत्त्व, सारभूत तत्त्व तो एक ही है, उनमें भीतरी समानता है तो सारे साम्प्रदायिक झगड़े समाप्त हो जायें। यदि हम धर्म की मूलभूत शिक्षाओं को देखें तो मूसा की दस आज्ञायें, ईसा के पर्वत पर के उपदेश, बुद्ध के पंचशील, महावीर के पंच महाव्रत और पतंजलि के पंचयम एक दूसरे से अधिक भिन्न नहीं है। इन मूलभूत शिक्षाओं का पालन करके कोई भी व्यक्ति महानता की ओर अग्रसर हो सकता है। उ. यशोविजयजी के समकालीन आध्यात्मिक संत आनंदधनजी ने सभी आदर्शपुरुषों की समानता बताते हुए कहा है कि -

“राम कहो रहिमान कहो, कोउ काण्ह, कहो महादेव री।
 पारसनाथ कहो कोउ ब्रह्मा सकल ब्रह्म स्वयमेव री।।
 भाजन भेद कहावत नाना एक मृतिका का रुप री।
 तापे खंड कल्पनारोपित आप अखण्ड अरुपरी।।”

राम-रहीम, कृष्ण करीम, महादेव और पार्श्वनाथ सभी एक ही सत्य के विभिन्न रूप हैं। जैसे एक ही मिट्टी के बने विभिन्न पात्र अलग-अलग नामों से पुकारे जाते हैं, किन्तु उनकी मिट्टी मूलतः एक ही है। वस्तुतः आराध्य के नामों की यह भिन्नता वास्तविक नहीं है। यह भिन्नता भाषागत है। अतः इस आधार पर विवाद और संघर्ष निरर्थक है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने लोकतत्त्व निर्णय में इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा है कि “जिसके सभी दोष नष्ट हो चुके हैं और जिसमें सभी गुण विद्यमान है वह फिर ब्रह्म हो, महादेव हो, विष्णु हो या फिर जिन्हें हम प्रणाम करते हैं।”^{८०३} वाद-प्रतिवाद को उ. यशोविजयजी निरर्थक बताते हुए कहते हैं कि “जो शास्त्रज्ञान या धर्म राग द्वेष से मुक्त होने के लिए हैं उसी शास्त्रज्ञान या धर्म को लेकर वाद-विवाद करे संघर्ष उत्पन्न करे तो वह व्यक्ति गति करने में घाणी के बैल समान होता है उसकी प्रगति नहीं होती वह तत्त्वनिर्णय को प्राप्त नहीं कर सकता है।”^{८०४}

इस तरह हम देखते हैं कि संघर्ष में कोई सार नहीं है साम्प्रदायिक कलह को दूर करने के लिए धार्मिक सहिष्णुता का होना आवश्यक है और धार्मिक सहिष्णुता के विकास का आधार है अनेकान्तवाद। जैनाचार्यों की मान्यता है कि

८०३. यस्य अनिखिलाश्च दोषा न सन्ति सर्वे गुणाश्च विद्यन्ते।

ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै।।-लोकतत्त्वनिर्णय - १४०

८०४. वादांश्च प्रतिवादांश्च वदन्तोऽनिश्चितांस्तथा।

तत्त्वान्तं नैव गच्छन्ति तिलपीलकवद्गतौ।।४।।-ज्ञानसार, ५/४, उ. यशोविजयजी

वस्तु अनंतधर्मात्मक है। उसे अनेक दृष्टियों से जाना जा सकता है और कहा जा सकता है। अतः उसके संबंध में कोई भी निर्णय निरपेक्ष और पूर्ण नहीं हो सकता है। कोई भी कथन किसी दृष्टिकोण या सन्दर्भ के आधार पर सत्य है किंतु अन्य दृष्टिकोण से कहे गये उसके विरोधी कथन को असत्य कहकर नकारने का अधिकार नहीं है। इसे हम निम्न उदाहरण से स्पष्टतया समझ सकते हैं जैसे एक स्त्री है वह किसी की बेटी है तो किसी की बहू है किसी की पत्नी है तो किसी की माँ है, किसी की बुआ, दादी, चाची है तो किसी की मासी, नानी है। इस प्रकार अलग-अलग व्यक्तियों की दृष्टि में उस एक ही स्त्री के अनेक रूप हैं। अभिन्नता और भिन्नता दोनों ही बातें उस स्त्री में हैं। कोई यह कहकर संघर्ष करे कि यह स्त्री सिर्फ माँ ही है और कुछ नहीं तो इस प्रकार का संघर्ष व्यर्थ तथा संघर्ष करने वाला मूर्ख है। वस्तुतः मनुष्य का ज्ञान सीमित है। अपूर्ण है और अपूर्ण के द्वारा पूर्ण को जानने का प्रयास भी आंशिक सत्य के ज्ञान तक ही ले जा सकता है। इसी आंशिक सत्य को जब पूर्ण सत्य मान लिया जाता है तो संघर्ष उत्पन्न होते हैं। हमारे आंशिक दृष्टिकोण पर आधारित सापेक्ष ज्ञान को यह अधिकार नहीं है कि वह अपने से विरोधी मन्तव्यों को असत्य कहकर नकार दें। उ. यशोविजयजी कहते हैं कि “प्रत्येक नय अपने दृष्टि बिन्दु से सत्य होता है, परन्तु जब वे एक दूसरे से दृष्टिबिन्दु का खंडन करते हैं तब गलत होते हैं।”^{८०५} सिद्धसेन दिवाकर ने सन्मति तर्क में इसी बात को प्रतिपादित करते हुए कहा है कि “सभी नय अपने-अपने वक्तव्य में सत्य है परन्तु दूसरे नय के वक्तव्य का खण्डन करने में झूठे है। अनेकान्त सिद्धान्त का ज्ञाता पुरुष उन नयों का ‘यह सत्य है और यह असत्य है’ ऐसा विभाग नहीं करता।”^{८०६} इस प्रकार परस्पर विरोधी विचार है वे अनेकान्त की विशाल एवं उदार दृष्टि के अधीन होकर पारस्परिक विरोध को भूल जाते हैं। उ. यशोविजयजी लिखते हैं कि “जिसने अनेकान्तवाद को अपने हृदय में स्थापित किया है वह व्यक्ति किसी भी दर्शन से द्वेष नहीं करता है। वह सम्पूर्ण दृष्टिकोणों को इस प्रकार वात्सल्य दृष्टि से देखता है, जिस प्रकार कोई पिता अपने पुत्रों को।”^{८०७} एक सच्चे अनेकान्तवादी की

८०५. नयेषु स्वार्थसत्येषु मोघेषु परचालने

समशीलं मनो यस्य स मध्यस्थो महामुनिः॥३॥-ज्ञानसार-१६/३, उ. यशोविजयजी

८०६. नियनियवयगिज्जसच्चा सब्बनया परवियालणे मोहे।

ते पुण ण दिट्ठसमओ विभयई सब्बे व अलिप्पा।-सन्मतितर्क- २८, सिद्धसेनदिवाकर

८०७. यस्यसर्वत्र समता नयेषु तनयेष्विव

दृष्टि किसी के प्रति राग द्वेष क्री नहीं होती है अतः सम्प्रदाय के झगड़ों को हल करने का एक मात्र उत्तम उपाय है कि अनेकान्तवाद के सिद्धान्त को समझा जाय उसे समझाया जाय। उसका प्रचार प्रसार किया गया, उसका प्रशिक्षण दिया जाय। विद्यालयों के पाठ्यक्रमों में अनेकांतवाद को भी स्थान देकर उसे सर्वसुलभ बनाकर विभिन्न आग्रहों से मुक्ति पाई जा सकती है।

भारत जैसे बड़े विस्तार और आबादी वाले देश में, जिसके आचार-विचार के विकास का इतिहास संसार में अत्यंत प्राचीन है, जिसके जनसमुद्र में समय-समय पर बाहरी सरिताएँ आकर मिलती गई वहाँ धार्मिक सम्प्रदायों के अनेक विभाग होना अस्वाभाविक बात नहीं है। भारत देश में संसार के प्रायः सभी धर्मों के लोग निवास करते हैं। इसलिए यदि यहाँ सभी धर्मों के मेल का आदर्श स्थापित हो जाय तो सारी दुनिया पर इसका प्रभाव पड़ेगा और संसार के लिए भारत पथप्रदर्शक हो जायेगा। यह तब ही संभव है जब सभी के हृदय में अनेकान्तवाद को बसाया जाय। अनेकता में एकता स्थापित करने वाली दृष्टि इसी अनेकान्तवाद के सिद्धान्त से स्थापित की जा सकती है।

(१०) स्त्री पुरुष की समानता की मांग : एक समस्या -

जिस तरह नारी का अविकसित होना एक समस्या है उसी तरह नारी का पुरुषों के समान शिक्षित व संस्कारित होना, पुरुषों के साथ समानता की मांग होना यह भी एक गंभीर समस्या है। मनुष्य के इतिहास में नारी जाति के साथ सदा ही अन्याय तथा अत्याचार होता आया है। हजारों वर्षों तक स्त्रियों को पुरुषों से हीन, पैरों ही जूती या दासी के समान समझा जाता रहा है। पुरुषों ने उसे अनपढ़ अशिक्षित और घर की चार दिवारों में कैद करके रखा। चीन में हजारों वर्षों तक यह माना जाता रहा कि स्त्रियों के भीतर कोई आत्मा ही नहीं होती है। जैसे अन्य उपभोग की वस्तुएँ हैं वैसे ही स्त्री भी उपभोग की वस्तु है। आज से सौ वर्ष पूर्व चीन में कोई पुरुष अपनी स्त्री की हत्या कर दे तो उसे कोई दण्ड नहीं दिया जाता था। क्यों कि पुरुष की अन्य सम्पत्ति के समान स्त्री को भी पुरुष की सम्पत्ति माना जाता था। स्त्रियों को स्वतंत्र सोचने का उनके गुणों को विकसित करने का उन्हें मौका ही नहीं मिला। भारत में भी लड़के और लड़कियों के बीच आकाश-पाताल जैसा अन्तर किया जाता है। लड़की के जन्म पर उदासी छा जाती है और लड़के का जन्म हो तो मिठाईयाँ बांटी जाती है। उनके खाने पीने की वस्तुओं में, स्नेह में आदि में भेदभाव किया जाता है। विवाह के समय भी यह

तस्यानेकान्तवादस्य वव न्यूनाधिकशेषुषी ।।-अध्यात्मोपनिषद - यशोविजयजी

अन्तर सामने आता है। बड़ी से बड़ी रकम दहेज में मांगते हैं। यह नारी जाति का नृशंस अपमान है। जिस प्रकार अविकसित, अशिक्षित नारी एक समस्या है उसी प्रकार हर क्षेत्र में पुरुषों के समान शिक्षित व संस्कारित होने की मांग भी एक गंभीर समस्या है। अगर अशिक्षित नारी में स्त्रीत्व के गुणों के विकास संभव नहीं है तो पुरुषों के समान शिक्षा दीक्षा में भी स्त्रीत्व गुणों का हास ही है। उन गुणों के खिलने की संभावना न के बराबर है। पुरुष उपाजन एवं संघर्ष की क्षमता में आगे है तो नारी में भावनात्मक उत्कृष्टता एवं रचनात्मक सूझबूझ का बाहुल्य है। स्त्रियाँ पुरुष से न हीन हैं न पुरुष के समान हैं। जैसे चन्द्रमा सूर्य से न तो हीन है और न ही सूर्य के समान है। जैसे हवा जल से न तो हीन है और न समान है। जीवन जीने लिये दोनों की ही आवश्यकता है। यह ठीक है कि स्त्री की शारीरिक संरचना एवं गुणों में पुरुष से भिन्नता है। स्त्रियों में करुणा, वात्सल्य, ममता, त्याग, बलिदान की भावना अधिक होती है जबकि पुरुषों में प्रायः कोमलता का अभाव होता है। अतः जब तक स्त्रियाँ अपने भिन्न व्यक्तित्व, भिन्न गुणों के बारे में नहीं सोचेंगी तब तक वह पुरुष के समक्ष एक सहयोगी शक्ति के रूप में प्रस्तुत नहीं होगी। स्त्री को पुरुष के समकक्ष मानना या उससे कमजोर मानना दोनों ही स्थितियाँ खतरनाक हैं। पश्चिम में स्त्रियों ने विद्रोह किया, आंदोलन किया परिणाम यह हुआ कि स्त्रियाँ पुरुषों से समानता की होड़ में शामिल हो गईं। जैसा पुरुष करते हैं वैसा स्त्रियों को भी करना चाहिए। जो शिक्षा पुरुष को मिलती है उसी प्रकार की शिक्षा स्त्री को भी मिलना चाहिए। पुरुष सैनिक बनकर युद्ध में लड़ने जाते हैं तो स्त्रियों को भी युद्ध के मैदान में सैनिक बनकर डटे रहना चाहिए। हर क्षेत्र में पुरुषों की नकल करने से, पुरुषों जैसी वेशभूषा पहनने से, पुरुषों जैसे शिक्षा पाकर स्त्री एक नकली पुरुष बन जाती है, असली स्त्रीत्व को खो देती है। असली स्वर्ण और नकली स्वर्ण में जितना अन्तर होता है उतना ही अन्तर नकली पुरुष बनी स्त्री में और असली पुरुष में होता है। क्योंकि जिन गुणों में स्त्री पुरुषों की प्रतिस्पर्धा करने जा रही है वे गुण तो पुरुषों में सहज ही होते हैं किंतु स्त्रियों के लिए वे असहज धर्म हैं। ऐसी स्थिति में स्त्रियाँ अशोभनीय हो जाएंगी। परिवार टूटने लगेंगे। पश्चिम में जिस प्रकार परिवार टूट रहे हैं, परस्पर प्रेम समाप्त हो रहा है वैसा ही भारत में भी होगा। क्यों कि भारत में भी पुरुष की समानता का दौर चल पड़ा है। प्रकृति ने पुरुषों का दायित्व अलग निर्धारित किया है स्त्रियों का अलग। दोनों की शारीरिक रचना, दोनों के गुण भिन्न-भिन्न हैं। स्त्रियों में त्याग, बलिदान, वात्सल्य, ममता, करुणा, सेवा, कोमलता, मृदुता जैसे गुण सहज पाये जाते हैं। पुरुष बनने की नकल में वह

अपने इन गुणों को खोती जा रही है। पहले स्त्रियों को हीन समझकर उसे जो नुकसान पहुँचाया और आज अगर पुरुष अपनी ही दौड़ में स्त्रियों को शामिल कर रहा है तो इससे स्त्रियों का ही नुकसान नहीं होगा, उसका भी पूरा जीवन नष्ट होगा। फिर घर घर नहीं रहेगा। सिर्फ मकान बनकर रह जाएगा। बच्चे पैदा होंगे लेकिन माता पुत्र जैसे संबंध नहीं होंगे। नर्स और बच्चे जैसा संबंध होगा। बच्चे का पालन पोषण घर में नहीं होगा बल्कि झूला घरों में नौकरों के द्वारा होगा। बच्चों में भविष्य में महानता की जो संभावनाएँ छुपी हुई हैं जिसे एक सुसंस्कारी माता प्रगट कर सकती है वह नष्ट हो जाएगी। एक माता को हजार शिक्षक के बराबर कहा है। क्योंकि बच्चे उनकी छाया में पलते हैं और वे जैसा चाहे उन बालक और बालिकाओं को परिवर्तित कर सकती है। पुरुषों के हाथ में कितनी ही ताकत हो लेकिन पुरुष एक दिन स्त्री की गोद में होता है वहीं से उसकी जीवन यात्रा शुरू होती है। वह माँ की छाया में ही बड़ा होता है। स्त्रियों के पास अद्भूत शक्ति स्वपित अवस्था में है। नारी शक्ति का कोई उपयोग नहीं हो सका है। एक बार स्त्री यदि पूर्णतः जागृत हो जाये तो वे एक ऐसी दुनियाँ को निर्मित कर सकती है, जहाँ युद्ध नहीं होगा, जहाँ हिंसा नहीं होगी, जहाँ चोरी, डकैती, आतंकवाद, अत्याचार नहीं होगा, जहाँ जीवन में कोई बीमारियाँ नहीं होगी। जहाँ चारों ओर शांत, तनावमुक्त वातावरण होगा। लेकिन यह तब ही हो सकता है जब स्त्रियाँ यह निर्णय करले कि उन्हें पुरुषों जैसा नहीं होना है। वे पुरुष से भिन्न हैं। उनकी चेतना, उनका व्यक्तित्व उनका शरीर, उनका मन किन्हीं अलग रास्तों से जीवन में गति करता है। पुरुषों से भिन्नता का स्पष्ट उन्हें बोध होना चाहिए। साथ ही अपनी शक्ति और अपने गुणों को विकसित करने का उन्हें बराबर अवसर मिलना चाहिए। पुरुषों की नकल नहीं स्त्री अपने ही गुणों में परिपूर्ण गरिमा को उपलब्ध हो इस दिशा में कदम उठाना जरूरी है। समय की मांग है कि बिना वक्त गवाएँ नारी उत्थान का एक प्रचण्ड आंदोलन खड़ा किया जाय। इसके लिए नारी को स्वयं आगे आना होगा। पुरुषों का अनुकरण नहीं बल्कि उसके खुद के विचार, खुद का अपना रास्ता होगा। इसके लिए सर्वप्रथम उन्हें निम्न कार्य करने होंगे।

१. घरों, दुकानों तथा कमरों में टँगे हुए नारी को अपमानित करने वाले अश्लील चित्रों को हटाकर उनके स्थान पर प्रेरणाप्रद वाक्य या आदर्श चित्रों को लगायें।
२. चुस्त कपड़े, पुरुषों जैसे वेशभूषा, व्यर्थ की फैशन, भद्दे शृंगार आदि का त्याग करके शालीन वेशभूषा धारण करना चाहिए।

३. पर्दाप्रथा का त्याग करना चाहिए।
४. आरोग्य प्रशिक्षण, काव्य एवं नाट्य कला आदि अनेक रचनात्मक गतिविधियों का प्रशिक्षण लेना चाहिए।
५. गृह व्यवस्था के अगणित पक्षों का ज्ञान होना चाहिए।
६. प्रेम, आनंद, करुणा, वात्सल्य, सेवा, त्याग, बलिदान का विस्तार करके स्त्रियाँ अपना चहुँमुखी विकास कर सकती हैं तथा विश्व के विकास में विश्व शांति में अपना अनूठा सहयोग प्रदान कर सकती हैं। स्त्री अपना स्त्रीत्व खोकर, पुरुषों का अनुकरण करने लग जाए तो इससे उसकी स्वयं की हानि तो होगी जीवन का सारा आनंद नष्ट हो जाएगा।

अतः हमेशा यह याद रखना चाहिए कि -

**नारी नर से कम नहीं परंतु
वह पुरुष के सम नहीं।**

यह अन्तर व्यावहारिक स्तर पर ही हैं किंतु आध्यात्मिक स्तर ऊपर अथवा आत्मिक स्तर पर दोनों की आत्मा समान ही है।

विश्व की समस्याओं का अध्ययन करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि अधिकांश समस्याएँ मनुष्य ने स्वयं ही पैदा की हैं। लगभग समस्याओं का मूलभूत कारण भौतिकवादी जीवन है। वर्तमान समय में विकसित देशों की जनता की समूची जीवनशैली भौतिक विकास के आसपास केन्द्रित है। आध्यात्मिक मूल्यों को परिधि के बाहर कर दिया है। भौतिकवादी जीवन पद्धति हिंसा के बिना गतिशील नहीं हो सकती है। हिंसा का प्रमुख साधन है परिग्रह धन संपत्ति एवं वैभव के उत्तुंग शिखरों पर आरोहण करने के लिए प्रयत्नशील मानवों को देखकर उ. यशोविजयजी कहते हैं -

**नपरावर्तते राशेर्वक्रतां जातु नोज्झति
परिग्रहग्रहः कोऽयं विडम्बितजगत्त्रयः॥१॥**

न जाने परिग्रह रूपी यह ग्रह कैसा है, जो राशि से दुबारा लौट कर नहीं आता, कभी वक्रता का परित्याग नहीं करता और जिसने त्रिलोक को विडम्बित किया है? त्रिलोक को सदा सर्वदा अशांत और उद्ध्वस्त करने वाले परिग्रह नामक

ग्रह के दुष्परिणामों का आज तक किसी भी खगोलशास्त्री ने विश्लेषण किया ही नहीं। इसके व्यापक दुष्प्रभावों को विज्ञान समझ नहीं पाया। इसके दुष्प्रभावों को आध्यात्मिक शास्त्रों ने समझाया है। योगशास्त्र में आचार्य हेमचन्द्र ने इसके दुष्प्रभावों का वर्णन करते हुए कहा है -

असंतोषमविश्वासमारंभं दुःखकारणम्।
मत्वा मूर्च्छाफलं कुर्यात्, परिग्रहनियंत्रणम्॥

असंतोष, अविश्वास, आरंभ-समारंभ (अतिऔद्योगिकरण) दुःख, कष्ट और अशांति रूपी फल देने के कारण परिग्रह को नियंत्रित करने की प्रेरणा दी है।

उ. यशोविजयजी ने भी बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों परिग्रह को त्याग करने की प्रेरणा देते हुए कहा है कि -

यस्त्यक्त्वा तृणवद्, बाह्यमाभ्यन्तरं च परिग्रहम्।
उदास्ते तत्पदांभोजे पर्युपास्ते जगत्स्वयी॥३॥

धन संपदा आदि बाह्य परिग्रह तथा विषय, कषाय आदि आभ्यन्तर परिग्रह दोनों का जो तृण के समान त्याग कर देता है वह महापुरुष पूजनीय होता है। जिसके हृदय में आध्यात्मिक मूल्यों की प्रतिष्ठा है उसके लिए भौतिक सुख भौतिक समृद्धि तृणतुल्य ही है।

आध्यात्मिक जीवनशैली में वे सभी तत्त्व मौजूद हैं जो आज के युग की समस्याओं के समाधान में आवश्यक हैं। आध्यात्मिक जीवनशैली स्वस्थ समाज रचना तथा विश्वशांति के हेतु मूलतः परिग्रह तथा हिंसा के अल्पीकरण का सिद्धान्त देती है। आध्यात्मिक जीवनशैली विश्वशांति हेतु नींव का पत्थर सिद्ध हो सकती हैं। इच्छा नियंत्रण परिग्रह परिमाण व्रत के रूप में उसकी वैज्ञानिकता इस दृष्टिकोण से सिद्ध है कि आज पर्यावरणविद् परिवेश विशेषज्ञ एक स्वर में विश्व को चेतावनी दे रहे हैं कि परिवेश का संतुलन बनाये रखना है, स्व अस्तित्व की रक्षा करनी है तो प्रकृति विजेता मानव को अपनी इच्छाओं को नियंत्रित करना होगा।

वर्तमान में उपाध्याय यशोविजयजी के सिद्धान्तों के द्वारा उनके आध्यात्मिक दृष्टिकोण द्वारा, भेद विज्ञान द्वारा पुस्तकों के माध्यम से तथा प्रवचनों के माध्यम से अनेक आचार्य, मुनि भगवंत युवकों में जागृति लाने का प्रयास कर रहे हैं। किंतु यह प्रयास काफी नहीं है। आध्यात्मिक मूल्यों को जीवन्त बनाने हेतु दृष्टिकोण में परिवर्तन आवश्यक है। दृष्टिकोण में परिवर्तन हेतु वैयक्तिक एवं

सामाजिक स्तर पर प्रोग्राम चलाए जाए तो सफलता मिल सकती है। इसके लिए आवश्यक है हर विद्यालय में प्राथमिक कक्षा से ही अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह आदि सिद्धान्त व प्रयोग दोनों को पाठ्यक्रम में लागू कर दिया जाय तो उम्र के साथ-साथ आध्यात्मिक संस्कार भी मस्तिष्क में परिपक्व होते जायेंगे। कच्ची मिट्टी को जिस आकार में ढालना चाहे ढाल सकते हैं। विद्यार्थी जीवन में ही बच्चों में आध्यात्मिक सिद्धान्त हृदय में उतर जायेंगे तो मजबूत जड़ों से युक्त आध्यात्मिक सिद्धान्त का शानदार वृक्ष पल्लवित होगा जिसकी घनी छांव तले सारा विश्व शांति की सांस ले सकेगा। तब एक नया युग आएगा जिसमें मनुष्य की महत्ता, सत्ता, संपत्ति, शक्ति के आधार पर नहीं होगी बल्कि आध्यात्मिक संस्कारों और नैतिक मूल्यों के आधार पर होगी।

जन-जन में जागृति लाने के लिए छोटी-छोटी सेमिनार, शिविर, संगोष्ठियाँ आयोजित की जाए साथ ही राजनैतिक क्षेत्रों में, प्रवचन मालाएँ आयोजित की जाए। इसके अलावा आधुनिक संचार माध्यमों से आध्यात्मिक सिद्धान्तों को इसके व्यावहारिक उपयोगिता को विदेशों तक प्रचारित किया जाये।

जब जन-जन के मन में होगी, अध्यात्म के प्रति निष्ठा।

तब समस्याओं का होगा, अंत विश्वशांति की होगी प्रतिष्ठा।।

अध्यात्म की महत्ता बताते हुए उ. यशोविजयजी ने भी कहा है कि -

“अध्यात्मशास्त्र रूपी सुराज्य में धर्म का मार्ग सुगम होता है, पापरूपी चोर भाग जाते हैं और अन्य कोई उपद्रव नहीं होता है।”^{८०८}

शोधप्रबन्ध लिखते समय ‘आध्यात्मिक ग्रंथों को आधार लेकर जो चिंतन मनन हुआ उससे यही निष्कर्ष निकला कि आध्यात्मिक सिद्धान्त ही विश्व की समस्याओं का अंत करने में सफल है।

८०८. अध्यात्मस्य सुस्थः स्यात्पापचौरः पलायते।

अध्यात्मशास्त्र सौराज्ये न स्यात्कश्चिदुपप्लवः।।१३।।-अध्यात्म माहात्म्य अधिकार - अध्यात्मसार

- सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची -

- | | | | |
|----|--------------------------|---------------------------|--|
| १. | अध्यात्मसार | उपाध्याय यशोविजयजी | श्री रामसोभाग सत्संग
मंडल, सायला ई. सन्
२००४ |
| २. | ज्ञानसार | उपाध्याय यशोविजयजी | प्राकृत भारतीय
अकादमी, जयपुर, सन्
१९६५ |
| ३. | अध्यात्मोपनिषद,
भाग-१ | उपाध्याय यशोविजयजी | श्री अंधेरी गुजराती जैन
संघ, करमचंद जैन,
पौषधशाला,
सन् १९६८ |
| ४. | अध्यात्मोपनिषद,
भाग-२ | उपाध्याय यशोविजयजी | १०६, एस.बी. रोड,
ईलब्रिज अंधेरी (वेस्ट),
मुम्बई |
| ५. | अनुयोगद्वार सूत्र | सं. मधुकरमुनि | श्री आगम प्रकाशन
समिति, ब्यावर
(राजस्थान) सन् १९८७ |
| ६. | उत्तराध्ययन सूत्र | आत्मारामजी | श्री तारक गुरु जैन
ग्रन्थालय, उदयपुर |
| ७. | छशवैकालिक | | जैन विश्व भारती, लाङ्गू
(राजस्थान) |
| ८. | आचारांगसूत्र | व्याख्याकार आत्मारामजी म. | आचार्य श्री आत्मारामजी
जैनागम प्रकाशन समिति,
जैन स्थानक, लुधियाना,
सन् १९६४ |

६.	स्थानांगसूत्र	मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान), सन् १९६२
१०.	योगशतक	हरिभद्रसूरि	जैन धर्म प्रसारण ट्रस्ट ७०२, रामसा टावर्स, सूरत, सन् १९६६
११.	जैन योगग्रन्थ चतुष्टय	हरिभद्रसूरि	मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन ब्यावर (राजस्थान)
१२.	योगविशिका	हरिभद्रसूरि	दिव्यदर्शन ट्रस्ट कलिकुंड सोसायटी, ब्यावर (राजस्थान)
१३.	समयसार	आचार्य कुन्दकुन्द	वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, अजमेर (राजस्थान), सन् १९६४
१४.	नियमसार	आचार्य कुन्दकुन्द	साहित्य प्रकाश एवं प्रचार विभाग, श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, बापूनगर (जयपुर)
१५.	नवतत्त्वप्रकरण	वकील चीमनलाल अमृतलाल शाह	श्री जैन श्रेयस्कर मंडल, मेहसाणा
१६.	सन्मतितर्क प्रकरण	सिद्धसेनदिवाकर	शेठ मोतीशा लाल बाग, जैन चेरीटीज ट्रस्ट पांजरापोल कम्पाउण्ड, धुलेश्वर, मुम्बई-४
१७.	प्रशमरसि	उमास्वाति जी म.	श्री महावीर जैन विद्यालय ओगस्ट क्रांति मार्ग, मुम्बई

१८.	न्यायलोक	श्री यशोविजयजी गणि	दिव्यदर्शन ट्रस्ट, मुम्बई
१९.	स्याद्वादरहस्य	श्री यशोविजयजी गणि	दिव्यदर्शन ट्रस्ट, मुम्बई
२०.	योगदृष्टि समुच्चय	हरिभद्रसूरि	दिव्यदर्शन ट्रस्ट, कुमारपाल, वि. शाह ६८, गुलालवाड़ी, मुम्बई
२१.	ललितविस्तरा	हरिभद्रसूरि	दिव्यदर्शन ट्रस्ट, कुमारापाल वि. शाह, ३६, कलिकुट सोसायटी, धोलका
२२.	पंचवस्तुक ग्रंथ	हरिभद्रसूरि	अरिहंत आराधक ट्रस्ट, ४८१ गनीअपार्टमेंट, मुम्बई-आगरा रोड़, भिवंडी
२३.	संस्कृति संजीवनी श्रीमद्भागवत एवं गीता	पं. श्रीराम शर्मा	अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा, सन् १९६५
२४.	विज्ञान और अध्यात्म परस्पर पूरक	पं. श्रीराम शर्मा	अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा, सन् १९६५
२५.	षोडशक प्रकरण	हरिभद्रसूरि	श्री अंधेरी गुजराती जैन संघ
२६.	अष्टक प्रकरणम्	हरिभद्रसूरि	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, २०००
२७.	पन्चाशक प्रकरण	हरिभद्रसूरि	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, २०००
२८.	शास्त्रवातसमुच्चय	हरिभद्रसूरि	दिव्यदर्शन ट्रस्ट, ६८, गुलालवाड़ी, मुम्बई, वि. सं. २०४४

२६.	उपदेशमाला	धर्मदासगणि	शारदाबेन चिमनभाई एज्यूकेशनल रिसर्च सेन्टर, शाहीबाग, अहमदाबाद
३०.	ध्यानस्तव	सं. सुजुको ओहिरा	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, सन् १९७३
३१.	योगशास्त्र (भाषांतर)	श्री हेमचन्द्राचार्य	श्री मुक्तिचन्द्रश्रमण आराधना ट्रस्ट, गिरिविहार तलेटी रोड, पालीताणा
३२.	अध्यात्मतत्त्वालोक	न्यायविजयजी	श्री मोतीचंद झवेरचंद मेहता, फर्स्ट असिस्टेन्ट हाईस्कूल, भावनगर
३३.	बृहदारण्यकोपनिषद्	गोविन्दभवन कार्यालय	गीताप्रेस गोरखपुर, सं. २०५२
३४.	ऐतरेयारण्यक	हनुमानप्रसाद पोद्दार	गीताप्रेस गोरखपुर, सं. २०१८
३५.	कठोपनिषद		गीताप्रेस गोरखपुर
३६.	छांदोग्योपनिषद	गोविन्दभवन कार्यालय	गीताप्रेस गोरखपुर, सं. २०५२
३७.	भगवद्गीता	हनुमानप्रसाद पोद्दार	गीताप्रेस गोरखपुर, सं. २०५७
३८.	मार्कण्डेय पुराण		गीताप्रेस गोरखपुर, सं. २०५७
३९.	अग्निपुराण	पं. श्रीरामजी शर्मा	संस्कृति संस्थान ख्वाजा कुतुब वेदनगर बरेली, सन् १९८७

४०.	पद्मपुराण	पं. श्रीरामजी शर्मा	संस्कृति संस्थान ख्वाजा कुतुब वेदनगर बरेली, सन् १९८७
४१.	रामायण	महर्षि वाल्मीकि	गीताप्रेस गोरखपुर, सं. २०५७
४२.	महाभारत		गीताप्रेस गोरखपुर
४३.	लिंग पुराण	पं. श्रीरामजी शर्मा	संस्कृति संस्थान ख्वाजा कुतुब वेदनगर बरेली, सन् १९८३
४४.	विष्णु पुराण	श्री मुनिलाल गुप्त	गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. २०५७
४५.	तत्त्वार्थसूत्र	श्री उमास्वाति म.	श्री गणेशवर्णा दि. जैन (शोध) संस्थान, नरिया, वाराणसी, ई. सन १९६१
४६.	त्रिषष्टिश्लोका पुरुष चरित्र	आचार्य श्री हेमचन्द्राचार्य	प्राकृत भारतीय अकादमी, जयपुर
४७.	कर्मस्तव (दूसरा कर्मग्रन्थ)	देवेन्द्र मुनि	जैन श्वेताम्बर नाकोड़ा, पार्श्वनाथ तीर्थ मेवानगर, सन् १९८६
४८.	निशीथ सूत्र	सम्पादक उपाध्याय श्री अमरमुनि तथा मुनि श्री कन्हैयालाल	अमरपब्लिकेशन, वाराणसी, सन् २००५
४९.	ज्ञानार्णव	आचार्य शुभचन्द्र	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, सन् १९७७
५०.	विशेषावश्यक भाष्य	संपादक पं. दलसुख मालवणिया	लालभाई दलपत भाई, भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर, सन् १९६३

५१.	मिला प्रकाश, खिला बसन्त	आ. जयंतसेनसूरि	श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद
५२.	मैं जानता हूँ	आ. जयंतसेनसूरि	
५३.	डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रंथ	डॉ. सागरमल जैन	पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी
५४.	लोकतन्त्र नया व्यक्ति नया समाज	आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्वभारती लाइन्स
५५.	अमूर्त चिन्तन	आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्वभारती लाइन्स
५६.	समस्या को देखना सीखें	आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्वभारती लाइन्स
५७.	नया मानव, नया विश्व तीसरा नेत्र	आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्वभारती लाइन्स
५८.	मोक्षमार्ग प्रकाशक	आ. श्री पं. टोडरमल	साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग, जयपुर
५९.	श्री अष्ट पाहुड़	पं. मोतीलाल गौतमचन्द्र कोठारी	बालचन्द्र देवचन्द्र शाह
६०.	ध्यानदीपिका	केशरसूरि म.	
६१.	अध्यात्मबिंदु	उ. हर्षवर्धन	
६२.	प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका	आ. अमृतचन्द्र	

६२.	उवासगदसाओ	युवाचार्य श्री मधुकर मुनि	टागम प्रकाशन समिति, ब्यावरा (राज.)
-----	-----------	---------------------------	------------------------------------

अध्यात्म एवं ज्ञान साधना का अनुपम केन्द्र

प्राच्यविद्यापीठ शाजापुर (म.प्र.)



डॉ. सागरमल जैन पारमार्थिक शिक्षण न्यास द्वारा सन् 1997 से संचालित प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर आगरा-मुम्बई राष्ट्रीय राजमार्ग पर स्थित है। इस संस्थान का मुख्य उद्देश्य भारतीय प्राच्य विद्याओं के उच्च स्तरीय अध्ययन, प्रशिक्षण एवं शोधकार्य के साथ-साथ भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को पुनः प्रतिष्ठित करना है।

इस विद्यापीठ के 18 विद्यार्थी जैन विश्व भारती लाडनू एवं विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन से पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त कर चुके हैं, शोधार्थी कार्यरत हैं एवं डॉ. सागरमल जैन के निर्देशन में तैयार 21 ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

इस विद्यापीठ में जैन, बौद्ध और हिन्दू धर्म एवं दर्शन आदि के लगभग 10,000 दुर्लभ ग्रन्थ उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त 700 हस्त लिखित पाण्डुलिपियाँ हैं। यहाँ 40 पत्र-पत्रिकाएँ भी नियमित आती हैं।

इस परिसर में साधु-साधिवियों, शोधार्थियों और मुमुक्षुजनों के लिए अध्ययन-अध्यापन के साथ-साथ निवास, भोजन आदि की भी उत्तम व्यवस्था है।

शोधकार्यों के मार्गदर्शन एवं शिक्षण हेतु डॉ. सागरमलजी जैन का सतत सानिध्य प्राप्त है।

इसे विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन द्वारा शोध संस्थान के रूप में मान्यता प्रदान की गई है।

**सुविशाल गच्छाधिपति साहित्य मनीषी राष्ट्रसंत आचार्य
श्रीमद् विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजी म.सा. द्वारा रचित ज्ञानवर्धक
साहित्य**

- | | |
|---|-------------------------------------|
| 1. जीवन ऐसा हो, | 2. कर्म प्रकृति |
| 3. नरक द्वार— रात्रि भोजन | 4. जीवन धन |
| 5. आध्यात्मिक विकास की पूर्णता एवं भूमिकाएं | 6. मिला प्रकाश: खिला बसंत |
| 7. मनवा पल पल बीती जाय | 8. अरिहंते शरणं पवञ्जामि |
| 9. जीवन साधना, जीवन सौरभ | 10. नवकार आराधना |
| 11. नमो मन से नमो तन से | 12. राजेन्द्र कोश में अ |
| 13. जयन्त प्रवचन सरिता, | 14. जयन्त प्रवचन निधि |
| 15. जयन्त प्रवचन परिमल , | 16. जयन्त प्रवचन वाटिका |
| 17. नवकार करे भवपार | 18. कर्म सिद्धांत एक अनुशीलन |
| 19. शीलत्व की सौरभ | 20. मैं जानता हूँ |
| 21. इसमें क्या शक है ? | 22. अनोखी सलाह |
| 23. किस्मत की बात | 24. भाग्योदय |
| 25. स्वर्ण प्रभा | 26. आत्म दर्पण |
| 27. पारसमणि | 28. जीवन मंत्र |
| 29. चिंतन निधि | 30. अप्पो दीवो भव |
| 31. जगमग ज्योति | 32. मानस मोती |
| 33. जैन आगम साहित्य : एक अनुशीलन | 34. पानसर तीर्थ |
| 35. भगवान महावीर ने क्या कहा ? | 36. गुरुदेव |
| 37. परमयोगी परम ज्ञानी | 38. परम योगी श्रीमद् राजेन्द्र सूरी |
| 39. चिर प्रवासी (मुक्तक) | 40. जयन्तसेन सतसई, आदि आदि। |
- इनके अतिरिक्त पूजा साहित्य, सम्पादित साहित्य और प्रेरणा से प्रकाशित साहित्य।

प्राप्ति स्थान

श्री राज राजेन्द्र तीर्थ दर्शन ट्रस्ट, जयन्त सेन, म्युजियम
श्री मोहनखेड़ा तीर्थ, राजगढ़, जिला धार (म.प्र.)